

‘नरेंद्र कोहली कृत ‘महासमर’ उपन्यास में  
जीवन मूल्य’

A

Thesis

Submitted to



**L** OVELY  
**P** ROFESSIONAL  
**U** NIVERSITY

For the Award of  
**DOCTOR OF PHILOSOPHY (Ph.D)**

IN

**HINDI**

By

**MANJU ARORA**

**41400117**

Supervised By

**DR. VINOD KUMAR**

**LOVELY FACULTY OF BUSINESS AND ARTS**

**LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY**

**PUNJAB**

**2019**

## DECLARATION

### I do hereby acknowledge that:

1. The thesis entitled 'नरेंद्र कोहली कृत महासमर उपन्यास में जीवन मूल्य' is a presentation of my original research work done under the guidance of my thesis advisor/supervisor Dr. Vinod Kumar. Wherever contributions of others are involved, every effort has been made to indicate this clearly, with due reference to the literature, and acknowledgement of collaborative research and discussions.
2. The thesis is free from any plagiarized material and does not infringe upon any rights of others. I also confirm that if any third party owned material is included in my thesis which required a written permission from the copyright owner, I have obtained all such permissions from respective copyright owners.
3. I have carefully checked the final version of printed copy and soft copy of the thesis for the completeness and for incorporation of all suggestions of Doctoral Committee.
4. This final submission of the FINAL VERSION of the printed copy of my thesis is as per the guidelines and the exact content is in the CD in a separate PDF file to be uploaded to 'Shodhganga'.

Date:

**Manju Arora**



## CERTIFICATE BY ADVISOR

I hereby affirm as under that:

1. The thesis entitled “नरेंद्र कोहली कृत ‘महासमर’ उपन्यास में जीवन मूल्य” submitted to the Department of Hindi, Lovely Professional University, Phagwara, presented by Manju Arora is worthy of consideration for the award of the degree of Doctor of Philosophy.
2. She has pursued the prescribed course of research.
3. The work is original contribution of the candidate carried under my supervision and guidance.
4. The thesis has not formed the basis for the award of any degree/ diploma/associate ship/fellowship or any other similar title to any candidate by any University.
5. The candidate has incorporated all the suggestions made by the Department Doctoral Board during Pre-submission Seminar held on 15<sup>th</sup> of February 2019.

Date:

**Dr. Vinod Kumar**

(9876758830/Vinod17203@lpu.co.in)

Associate Professor

Department of Hindi

School of Social Sciences & Languages

Lovely Professional University

Phagwara-144411 (Punjab)

## प्राक्कथन

होश सँभालते ही जीविनी आवश्यकताओं के बाद, जिस इच्छा और जूनून ने आकांक्षा का रूप ले मेरे मन को घेरा, वह थी पुस्तकें, पुस्तकों का संसार। किसी खास मौके पर उपहार स्वरूप और कुछ मिलता, तो वह प्रसन्नता नहीं मिलती थी, जो एक पुस्तक के मिलने पर मिलती। माता-पिता का ज्ञान-पिपासु स्वभाव विरासत में मिला, इसके लिए उन्हें शत-शत नमन करती हूँ। उनके आसीस से पुस्तकों के संसार से, इतना सब अपने अन्तर में ग्रहण करने के योग्य होने में आज तक प्रयासरत हूँ। एक जिज्ञासु मन के चलते देह, मन और आत्मा के प्रश्न हमेशा मन को उद्वेलित करते रहे, और इस शोध के द्वारा उस मार्ग पर ले आये, जहाँ कई प्रश्न अपने उत्तर खोज पाने में सफल हुए।

मेरी रूचि, हिंदी साहित्य के प्रति सदा से ही रही और कई मूर्धन्य रचनाकारों के साहित्य को पढ़ने का सौभाग्य मिलता रहा। अपनी संस्कृति के प्रति भी बहुत लगाव सा है। और इसके चलते पौराणिक साहित्य के प्रति रूचि ने डॉ.नरेंद्र कोहली द्वारा लिखे साहित्य के नव-रूप-सारगर्भित साहित्य से परिचय कराया। उनकी कलम को देखने का अवसर मिला - इस देखने को प्रत्यक्ष नैनों का देखना न मानकर उस दृष्टि से लें कि, वह दिखने लगता है, जो वह अपने एक-एक अक्षर में कह जाते हैं। यूँ तो भारतीय जन मानस में राम और कृष्ण का अवतार रूप रचा-बसा है ही। किन्तु उनका धरती पर अवतरण कर उनके सभी संस्कार करता हुआ, कोहली जी का लेखन श्रीराम और श्रीकृष्ण को हमारे प्रत्यक्ष खड़ा कर देता है। यदि समझे, तो ऐसा लगेगा जैसे वो देख रहे हैं हमें, जिन्हें हम पुस्तकों में लिखे अक्षरों में स्वयं भी देख पा रहे हैं। ऐसा दैवीय संसार जिसे एक पल भी त्यागने का मन न हो, वह दृश्य परिदृश्य रचने वाले उपन्यास हैं, जिन्हें डॉ.नरेंद्र कोहली ने संस्कृति के प्राचीन धरातल से उठा कर नवीन प्रासंगिकता के साथ एक जीवंत रूप दिया है।

राम कथा और महाभारत दोनों ही भारतीय समाज में अपने स्थान पर बहुत महत्वपूर्ण आयाम रखते हैं। डॉ कोहली ने इन दोनों ही पुराणों पर लिखा। और सौभाग्य से राम कथा पर आधारित 'अभ्युदय' भी मैंने पढ़ा और महाभारत पर

आधारित 'महासमर' भी पढ़ा। मेरा यह प्रस्तुत शोध महाभारत की कथा पर आधारित डॉ. कोहली द्वारा रचित 'महासमर' उपन्यास के नौ खंड हैं। इस उपन्यास को पहले मैंने सामान्य रूप से ही अन्य साहित्य की तरह ही पढ़ा। कबीर और गुरु नानक की शिक्षाओं और उनके उपदेशों की तरह ही इस उपन्यास ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला। यह तो उसी संसार की ओर ले जाने वाला कथ्य है। जो मेरे मन को उद्वेलित करता है। कितने ही इसी प्रकार के प्रश्न है ! जो मन में निरंतर उठते हैं। बारम्बार मन में उठते, वही मूल्यपरक अच्छे संस्कार हैं, संस्कृति से भरे विचार हैं। जिस साहित्य में ऐसे-ऐसे पात्र हैं, जिनका मार्गदर्शन किन्ही दैवीय संसार की ओर ले जाने में सक्षम है, फिर संसार में इतनी भटकन क्यों है ? इतना विरोधाभासी संसार क्यों है, मनुष्य जानता सब है और करता कुछ नहीं ! मन का उद्वेलन बहुत सवाल करता है ! एक एक प्रश्न उस परम सत्ता के आगे उड़ेल देना चाहता है। और मांगता है उसका उत्तर ! इतना तो पता लगता ही है कि, एक संसार है, जिसे सत-चित्त-आनन्द की राह से पाया जा सकता है, बस वही सदा ही आकर्षित करता सा है। इसी सन्दर्भ में कुछ पंक्तियाँ लिखीं —

“हुआ संवाद इक दिन खुदा से, थी भरी बहुत शिकायत मन में,  
रुकी नहीं जो किसी जतन से ! पूछा मैंने !  
'आँखे देकर, कैसा प्रभु ये, अँधा एक इन्सान बनाया ?  
दो कर्ण हैं, पर सुने न कुछ वो, एक जुबां कितना बुलवाया ?  
ये करो ! ये न करो ! कहे वो सबसे ! खुद क्या करे ? ये समझ न  
पाया !

मन पाथर कर-शून्य हृदय ले, संगमरमर सा तन सजवाया !  
दानव-देव का अभिमंचन करने, जग में खेला करने क्या आया ?  
सतयुग तेरा, त्रेता तेरा, द्वापर में भी, तूने भरमाया !  
बचा ये कलयुग, क्यूँ अभी रचाया ?  
मैं हूँ त्रस्त — प्रभु इस सबसे — कैसी तेरी विरल है माया ?  
हुई परेशां, रूठी जब प्रभ से ! हंस के बोले, प्रभ तब मुझसे ...  
'ईश-रब-प्रभु कभी स्वामी, शब्दों का इक जाल बनाया,  
मेरा वंदन, मेरा ही पूजन, फिर शिकवों का भ्रम फैलाया,

करता खुद ! और दोषी मैं हूँ ? कैसा है यह जाल फैलाया ?  
 क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर दे, मैंने तो इक मनुज रचा था !  
 आसीस दिया था-तू खुश रहना। शुभ जो हो, वो करते रहना !  
 भूला तू ! दिया मन्त्र जो ! तूने रची ये तेरी माया !  
 अपने ही भ्रमों में उलझा, कहता है यह मेरी माया ?  
 जो सोचेगा-वही पायेगा ! सांचे मन की साँची छाया !  
 मैंने चेतन चिंतन देकर बस केवल है तुझे बनाया,  
 मूंद नयन, तज मैं-मेरी को  
 पाले, स्व में- मेरी छाया॥”

इसी मनस्थिति में जब ‘महासमर’ उपन्यास पढ़ा तो लगा कि उदाहरण तो सामने ही है। किसी एक ही परिदृश्य का नाम नहीं है यह सृष्टि, इसके कई रूप हैं, और हमारी दृष्टि इतनी व्यापक नहीं कि समस्त को एक जीवन में देख सकें। कितने पात्र कितनी परिस्थितियाँ, कितनी विरोधाभासी मनःस्थितियाँ। क्यों है इतना भेद ? सब एक से क्यों नहीं ? कौन से ऐसे सिद्धांत और मूल्य हैं ? जिन पर चलकर ही व्यक्ति वह सब करने को बाध्य होता है जिसे आचरण कहते हैं ? कभी आवेश में ! कभी इच्छा से ! कभी विरोध से ! और कभी विवश होकर भी। कैसे कुछ पात्र दर्शाते हैं-कितना आदर्श, कितना त्याग, कितनी उच्चता। और वहीं इसके विपरीत कुछ पात्र दर्शाते हैं-कितना लोभ ? कितना द्वेष ? कितना मोह ? कितनी ईर्ष्या ? उद्वेलित मन के सारे प्रश्न जैसे महासमर के एक-एक पात्र और घटना ने मुझसे लेकर, उसको हल करना शुरू किया और शोध-कार्य आरम्भ हुआ। थोड़ा भावुक विवरण है, किन्तु अक्षरशः सत्य है। इस तरह इस शोध का शीर्षक ‘डॉ. नरेद्र कोहली द्वारा रचित ‘महासमर’ उपन्यास में जीवन मूल्य’ तय हुआ और मैंने डॉ.श्री विनोद कुमार जी के निर्देशन में कार्य का शुभारम्भ किया।

प्रस्तुत शोध के सात अध्याय हैं। जिनमें लगभग मूल्यपरक सभी विचारों और विभागों का विवेचन करने का प्रयास बेहद बारीकी से किया गया है। प्रथम अध्याय के पहले परिशिष्ट में ‘महासमर’ का परिचय और समस्या का औचित्य बताते हुए कार्य के दौरान आई चुनौतियों, उसके उद्देश्यों के बारे में विवरण दिया है।

कार्य करने के लिए प्रयुक्त प्रविधियों के बारे में विवेचित किया है। साथ ही शोध के धरातल और मर्म को समझने के लिए जो साहित्याब्लोकन किया गया उसका विस्तार पूर्वक ब्यौरा दिया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में जीवन मूल्यों के विषय में चर्चा की गयी है। जिसमें उसके अर्थ, महान विचारकों द्वारा दी गयी परिभाषाएं, उसके भेदों के बारे में चिंतन को शब्द दिए गये हैं। साथ ही मूल्यों की आवश्यकता और अपरिहार्यता के विषय में उल्लेख किया गया है। प्रथम अध्याय के तृतीय परिशिष्ट में रचनाकार डॉ. नरेंद्र कोहली के जीवन का वृत्त उकेर कर उन्हें नमन किया गया है। जिनका जीवन, परिवार, विद्याध्ययन, व्यवसाय-आजीविका, विवाह, संतान के विषय में बताते हुए उनकी रचनाओं, उनकी उपलब्धियों, सम्मानों और उनकी भिन्न क्षेत्रों में सदस्यता एवं सहभागिता के विषय में विवरण दिया है। अध्याय द्वितीय से अध्याय सप्तम महासमर की पृष्ठभूमि में मूल्यों के विभिन्न रूपों के बारे में कहता है। इस द्वितीय अध्याय में मुख्य रूप से 'प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक' मूल्यों की चर्चा की गयी है। महाभारतकालीन राजा अथवा प्रशासक किन राजनीतिक मूल्यों पर आधारित अपने राज्य की व्यवस्थाओं को निर्णीत करते थे और उसमें प्रजा का हित या अहित किस रूप में उसे प्रभावित करता था। तुलनात्मक रूप से आज सामयिक राज्य के प्रशासनिक विधानों का प्रासंगिक रूप क्या उस समय से कहीं साम्य रखता है ? इसकी विस्तार से चर्चा की गयी है। साथ ही दंड और पुरस्कार की आवश्यकता, युद्ध और त्रास की राजनीति का जन सामान्य पर प्रभाव भी विश्लेषण के द्वारा प्रकट किया गया है। तृतीय अध्याय 'वैयक्तिक एवं सामाजिक' मूल्यों के विषय में है। व्यक्ति और समाज का आपसी तालमेल किन स्थानों पर आवश्यक है ? और इनकी उपयोगिता क्या है ? क्यों यह दोनों धुरे एक दूजे के सहायक हैं ? एक का विकास दूसरे के विकास के लिए आधार क्यों बन जाता है ? कैसे एक व्यक्ति का विकास समाज की जन्म सम्बन्धी, वर्ण सम्बन्धी, शिक्षा और व्यवसाय सम्बन्धी व्यवस्थाओं पर टिका है ? एक व्यक्ति का विकास कैसे समाज को प्रभावित करता है ? और समाज की उन्नति के लिए स्वविकास एवं परमार्थ का बोध होना कैसे आवश्यक है, इन सब विभागों का महासमर के पात्रों के चरित्रों की पृष्ठभूमि में विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ अध्याय 'मानवीय एवं नारी सम्बन्धी' मूल्यों के विषय में है। मानव समाज की एक ऐसी ईकाई है, जिसको एक

अप्रतिम योग्यता देकर ईश्वर ने रचा है। किन्तु अब्दुत बात यह है कि हर योग्यता को सीखना पड़ता है। प्राणियों में केवल मनुष्य ही है जिसे सीखने का हुनर देकर, सीखने के लिए ईश्वर ने धरती पर भेजा है। और मानव के महामानव बनने के भिन्न चरणों में उसकी मानवीयता की अवहेलना कतई नहीं की जा सकती। उसी की विवेचना इस अध्याय का एक विभाग है। चूँकि इस अध्याय में मानवीयता की बात है तो नारी की संवेदनात्मकता को कैसे भूल सकते हैं जिस पर स्वयं ईश्वर ने अर्धनारीश्वर रूप धर कर आधी सृष्टि का भेद दिया है। उसके ओजस्वी, तेजोमयी, विदुषी रूप को यदि शास्त्रों में स्थान मिला है, तो उसकी बुद्धिमत्ता उसके अधिकार की संचेतना को भी स्वर मिला है। कहीं वह दैवीय गुणों से ओतप्रोत है, तो कहीं वह साधारण मानवी बन कर प्रदर्शन प्रिय बन अपने रूप सौन्दर्य का प्रदर्शन करने का लोभ स्वरण नहीं कर पाती। और कभी, अपने अपमान और सम्मान से भरी, वह प्रतिकार और प्रतिशोध से भर कर विध्वंसक रूप में भी बदल जाती है। इन सभी रूपों की व्याख्या विस्तार से इस अध्याय में की गयी है। जिसमें महासमर के नारी पात्रों का चरित्र चित्रण बखूबी करने का प्रयास किया गया है। पंचम अध्याय में 'धर्म, नैतिक एवं अध्यात्मिक' मूल्यों की विवेचना की गयी है। व्यक्ति के जीवन में धर्म का अपना एक स्वतंत्र किन्तु बहुत वैक्तिक स्थान है। किन्तु विडम्बना यह है कि व्यक्ति इसको समझने में भूल कर इसे एक सामूहिक परम्परा मान बैठता है। धर्म जीवन की रीति-नीति निर्धारित करने का एक निर्देश देता है। जिसके अनुरूप मनुष्य अपने आचरण को एक धरातल पर मान्यता प्राप्त व्यवहारों के अनुसार करता है। जैसे-जैसे व्यक्ति को धर्म का वास्तविक महत्त्व और अर्थ समझ आने लगता है, वह एक प्रथक संसार में विचरण करने लगता है। यही संसार उसे अध्यात्म की ओर आकृष्ट करता है, और व्यक्ति अपनी अंतःप्रज्ञा के दर्शन करता है। यहाँ आकर ही जीवन के चार चरणों-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- के अंतिम लक्ष्य का द्वार दिखाई देता है। इसी विषय से सम्बंधित मूल्यपरक विचार और विवेचन करते हुए महाभारत कालीन चरित्रों के मुख से जिन शब्दों और संवादों का उल्लेख डॉ.नरेंद्र कोहली ने अपने उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उसी को समझने और उसकी विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में की गई है। षष्ठम अध्याय 'भौतिक मूल्यों' की विवेचना करता है। महासमर वैसे तो युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखा गया एक ऐसा



उपन्यास है जिसके अंत में एक भयावह युद्ध है। किन्तु आरंभ से अंत तक एक संघर्ष गाथा है जो संबंधों की कथा कहती है। जिसमें लोभ की राजनीति है। जिसके पात्र सब कुछ लील लेने के प्रपंचों को करने में कोई गुरेज नहीं करते। वारणावत का अग्नि काण्ड हो अथवा भीम को विष देकर जल समाधि देने का कृत्य हो। कोई भी कार्य उनके लिए विजय का रास्ता है जिसमें मानवीय तत्व का कदाचित् अभाव है। जो दुर्योधन और धृतराष्ट्र को अपनी असीम लालसाओं का दास बना कर नित्य नये षड्यंत्र करने की ओर उकसाता है, और विपरीत इसके युधिष्ठिर जैसे पात्र से त्याग और बलिदान के उपरान्त भी शांति का पाठ देने की बात कहता है। यह केवल महाभारतकालीन समय की ही कथा नहीं कहता, बल्कि वास्तव में आज भी उतना ही सामयिक और प्रासंगिक है। ऐसे ही दो तरह के चरित्रों से भरी है, आज की दुनिया भी। कोई कुछ छोड़ देने को तैयार नहीं। जानते सब हैं कि मृत्यु उपरांत भौतिक साधन साथ ले जाने का कोई मार्ग नहीं फिर भी संचय और संग्रह का मोह त्यागना उन्हें अति दुष्कर लगता है। इस विषय को कतई माया के और अर्थ के सूत्र में देखें तो यह खोखला सा लगता है किन्तु यदि जीवन के उपयोग की दृष्टि से इसकी उचित मात्रा का होना इसकी उपयोगिता को मलिन नहीं कर सकता। हमारे शास्त्र इस क्षेत्र में भौतिक समृद्धि को अनिवार्य मानते हैं। जहाँ दूसरे पक्ष आपकी आत्म रक्षा के लिए घातक हों, वहाँ शक्ति और आर्थिक समृद्धि की अवहेलना न कर के, उसका संग करने का आदेश हमारे शास्त्र और मनीषी देते हैं। किन्तु ध्यान रहे इस समृद्धि की प्रेरणा धर्म हो, न कि उसका प्रयोजन। यदि धन जीवन की प्रेरणा बन जायेगा तो व्यक्ति अपने सात्विक स्तर से कहीं नीचे गिर जाता है। इसलिए शक्ति संपन्न होना ही होगा ताकि कोई और आपको दुर्बल समझ कर आप पर बल का अन्याय पूर्ण प्रयोग न कर सके। स्मरण यह रखना होगा कि लाभ हो लेकिन शुभ मार्ग से। लक्ष्मी की कृपा हो किन्तु शुभ गणेश के निर्देश में। सप्तम एवं अंतिम अध्याय में 'सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक' मूल्यों की बात पर मनन किया गया है। प्रकृति के रूप में सौंदर्य को ईश्वर ने हर एक स्थान पर छिटका कर रख दिया है। अब दृष्टि भी है मानव के पास, उसे देखने के लिए और समझने के लिए दृष्टिकोण भी। यह दृष्टिकोण वास्तव में क्या है? यह दृष्टिकोण है-उसका मनोविज्ञान! जो वह देखना चाहता है, जिसका उसे मन कहता है, या चाहता है। सौन्दर्य के कितने ही

रूप है। एक रूप है मनुष्य और अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों का स्थूल रूप। और एक है उनकी प्रकृति—अर्थात् उनकी मनस्थिति। अब इन दोनों का प्रथक होना लगभग कठिन ही है। जैसे स्थूल के साथ ही सूक्ष्म चरित्र अपना प्रभाव छोड़ता है। वैसे ही मन भी सौंदर्य के हर प्रभाव को लेने का और समझने का एक प्रयास करता है। ईश्वर ने प्रकृति की रचना की और उसे निहायत ही परमार्थ स्वभाव देकर मानव को ऐसा इशारा दिया जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि के सर्वहितकारी कल्याण की संकल्पना छुपी है। उसे समझना ही सौंदर्य और मनोवैज्ञानिक मूल्यों की आवश्यकता है। जिसे इस अध्याय में समेटने का कार्य किया गया है। इन सब अध्यायों में योग्य एवं महान विचारकों के साधु लेखों के सन्दर्भ उदाहरण रूप में देने का कार्य किया गया है, जिनसे इस विषय को समझने में सहायता मिली। निष्कर्ष में इस विषय की उपादेयता और उसके नवीन मान्यताओं सम्बन्धी मूल्यों को समक्ष रखने का प्रयास किया गया है। उसके सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक रूप से जीवन में उपयोगी होने की अनिवार्यता को बल मिले। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में मूल्य सम्बन्धी आचरण करता हुआ समाज के लिए अपनी उपादेयता सिद्ध कर सके और न केवल अपना विकास करे वरन अपने योग्य और साधु कार्यों द्वारा समष्टि का भी भला कर सके। इसे ही समझने और समझाने का प्रयास किया गया है। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है, कि जिन प्रश्नों के उत्तर मुझे चाहिए थे वो उत्तर अन्य किसी खोजी को भी लाभ देकर उसके आचरण को भी दिशा दे सकें। एक विद्यालय की प्राचार्या होने के नाते चाहती हूँ कि जिस लाभ और नवीन दृष्टि कोण को मैं इस शोध के द्वारा पा सकी हूँ, वह औरों को भी लाभान्वित कर उनका कल्याण मार्ग खोले।

इस मार्ग में चलते हुए रचनाकार के साथ मिलने का और उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का अवसर मिला। यह एक दैवीय अनुभव था। किसी रचना को पढ़ना उसे समझना एक अलग बात होती है किन्तु रचनाकार के सृजन की प्रसव-पीड़ा को महसूस करना बेहद अलग अनुभूति है। उनसे मिल कर उनकी मनोस्थिति का बहुत अच्छे से परिचय मिला। जान सकी कि दैवीय पात्र अपने सात्विक चरित्र केवल पुस्तकों में ही नहीं दर्शाते वरन वास्तव में होते भी हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा आभास दे रहा था जैसे उपन्यास से ही कोई दैवीय पात्र समक्ष उपस्थित होकर

अपने उत्तम आचरण का उदाहरण देता हुआ मूल्यों की आदर्श व्यवस्था की ओर इशारा कर रहा है। लिखना एक बात है और उसे जीना दूसरी। मन से दुआ निकली कि काश मेरा शोध ऐसा बन सके कि मूल्यपरक विश्वास भरे आचरण करने वालों को एक दिशा दे कर उत्तम एवं कल्याणकारी समाज की संकल्पना को साकार करने में सहायक हो सके। मन को प्रसन्नता है कि जिन मूल्यों की खोज के लिए चली थी प्रस्तुत शोध मानव के शाश्वत एवं सनातन व्यवहारों एवं मूल्यों को विवेचित और उल्लेखित कर सका। यह वह मूल्य हैं जिनके द्वारा मानव जीवन के दिशा निर्देश का प्रकाश पुंज दिखाई देता है। जीवन में इसकी सर्वकालिक भूमिका महत्वपूर्ण है। न कभी विगत थी न कभी हो पायेगी। यह वह चिरन्तन प्रक्रिया है जो भूतकाल में भी जीवित थी वर्तमान में भी जीवित है और भविष्य में भी सदैव जीवित ही रहेगी। इसका लाभ अधिकांश जन तक पहुंचे ऐसी मंगल कामना करती हूँ।

\_\_\_\_\_, 2019

जालंधर, पंजाब।

विनीत

मंजु अरोरा

## आभार ज्ञापन

प्रस्तुत शोध लेखन से यदि मुझे आंशिक सफलता भी मिली है तो इसका समस्त श्रेय मैं अपने दिग्दर्शक आचार्य प्रवर डॉ. विनोद शर्मा जी को देना चाहती हूँ। लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में कार्यरत डॉ. विनोद शर्मा जी अति सघन व्यस्तता के कारण पहले ही बहुत से शोधार्थियों के निर्देशन में व्यस्त थे। किन्तु मेरी प्रार्थना स्वीकार कर उन्होंने मुझे कृतार्थ किया। उन्होंने न केवल मेरे शोध को एक प्रकाश मार्ग दिखाया वरन स्थान स्थान पर बेहद संवेदनात्मक होकर मेरे स्वभाव के अनुरूप मेरा शब्द संसार भी सहज-सरल किया। इतने सरल, विनम्र एवं हर क्षण सहायता को तत्पर निदेशक पाना मेरे सौभाग्य का सूचक रहा। उमीद करती हूँ उनके ज्ञान की वर्षा सदा मुझ पर होती रहे। उनके ऋण से मुक्त न होते हुए उनके प्रति आभार से भरी रहना चाहती हूँ। और उनके निर्देशन का सौभाग्य सदैव पाने के लिए उत्सुक और अभिलाषी भी।

इस शोध में हमसाया बन कर मेरे साथ जो हरपल, हरक्षण रहे वह हैं- मनीष अरोरा, जो डी.ए.वी.कालेज, जालंधर के कॉमर्स.डिपार्टमेंट में एसोसिएट प्रोफेसर हैं। मेरा शोध बिना उनकी उपस्थिति के संभव ही नहीं था। मेरे दाखिले से लेकर विश्वविद्यालय में लगभग पांच माह निरंतर बिना अवकाश के मेरी कोर्सवर्क की उपस्थिति, मेरी परीक्षा, मेरे सेमिनार, सभी जगह उनका होना उनकी महत्वपूर्ण अहमियत को ब्यान करता है। वास्तव में यह प्रमाणपत्र मेरे नाम का है लेकिन कार्य उनका है। मेरे पुत्र मानस और अंकित को भी श्रेय देना भूल नहीं सकती, जिन्होंने मेरे उत्साह का निरंतर अभिवर्धन कर के मेरे कार्य को सराहा भी और प्रोत्साहित भी कर मेरी आत्म-शक्ति को दोगुना किया। मेरी कार्य की गति में कुछ अवरोध आने के बावजूद यदि मैं अपना कार्य संपन्न कर पायी तो उसका श्रेय मैं उस परमपिता की परमसत्ता को देना चाहती हूँ जिसका बीजारोपण मेरे अभिभावकों ने जन्म के साथ ही संभवतः मेरे अंदर कहीं रोप दिया था। यही चाहती हूँ कि जिज्ञासा का यह सफ़र यूँ ही चलता रहे और नित्य नवीन रहस्यों को जानने का सौभाग्य पाती रह सकूँ।

भिन्न भिन्न महाविद्यालयों के पुस्ताध्यक्षों को भी श्रेय देना चाहती हूँ, जिनके सहयोग से बहुत सी पुस्तकों का अध्ययन कर सकने में समर्थ हो सकी। साथ ही उन विद्यालयों के हिंदी विभागों के प्रति भी आभारी हूँ जहाँ जा कर विषय से सम्बंधित सेमिनारों में भाग लेकर नवीन जानकारियों को प्राप्त कर सकी जिससे शोध में बहुत सहायता मिली। साथ ही उन सभी महानुभावों के प्रति भी आभारी हूँ, मेरे विषय से सम्बंधित जिनके शोधपत्रों के माध्यम से साहित्याड्डोकन में मुझे सहायता मिली। विषय के विस्तृत विवरण एवं विश्लेषण में इन सभी विद्वानों के विचार लेख एवं शोधपत्र बहुत सहायक सिद्ध हुए।

\_\_\_\_\_, 2019

जालंधर, पंजाब।

विनीत

मंजु अरोरा

# अनुक्रमणिका

पृष्ठ :

➤ प्रथम अध्याय

परिशिष्ट- 1: भूमिका

1-25

प्रस्तावना, समस्या कथन, समस्या औचित्य, महासमर: संक्षिप्त परिचय, शोध कार्य में चुनौतियां, शोध कार्य : उद्देश्य, शोध प्राविधि, परिकल्पना, साहित्यालोचन.

परिशिष्ट-2: जीवन मूल्य सैद्धांतिक प्रारूप

26-32

जीवन मूल्य: अर्थ, जीवन मूल्य: परिभाषा, जीवन मूल्य: प्रकार, जीवन मूल्य: आवश्यकता एवं आधार.

परिशिष्ट-3: डॉ.नरेंद्र कोहली: परिचय

33-37

डॉ. नरेंद्र कोहली: व्यक्तित्व, डॉ.कोहली: जीवन परिचय, डॉ.कोहली: परिवार एवं परम्परा, डॉ.कोहली:आजीविका एवं व्यवसाय, डॉ.कोहली: रचनाएँ एवं कृतित्व, डॉ. कोहली: उपलब्धियां एवं सम्मान, डॉ.कोहली: सदस्यता एवं सहभागिता.

परिशिष्ट-4: महासमर एवं साहित्य

38-43

प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक मूल्य, वैयक्तिक एवं समाजिक मूल्य, मानवीय एवं नारीवादी मूल्य, धार्मिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्य, भौतिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्य.

➤ द्वितीय अध्याय

**जीवन मूल्य: प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक**

44-92

राजा के प्रशासकीय गुण, अधिकार चेतना, मानवता के प्रति चैतन्य, धर्म-अधर्म का ज्ञान, मर्यादा एवं संस्कार किन्तु न्याय-परक निर्णयकर्ता, न्याय एवं जागरूकता, सबल नेतृत्व, अपराधी मानसिकता का प्रतिकार, न्यायप्रिय-दंड एवं पुरस्कार का प्रावधान, प्रजावत्सलः सुख दुःख का सहभागी, नीति-अनीति का ज्ञान, सुशासनः आदर्श, अनुकरणीय एवं त्रास, अर्थवान, भौतिक समृद्धि तथा सैन्य शक्ति संपन्न, लोभ-मोह से विरक्त, सजग, गणतंत्र का सम्मान.

➤ तृतीय अध्याय

**जीवन मूल्य: वैयक्तिक एवं सामाजिक**

93-159

सामाजिक अधिकार बनाम दायित्व अथवा वैयक्तिक त्याग, भारतीय समाज एवं वर्ण व्यवस्था, समाज विभाजन का अध्यात्मिक धरातल, वैयक्तिक विकास के भिन्न आयाम, सामाजिक विदुपतायें एवं वैयक्तिक निर्णय-प्रभाव, मानवतावादी साम्यवाद एवं समाजवाद, सामाजिक न्याय व् दंड व्यवस्था, व्यष्टि विकास से समष्टि विकास.

➤ चतुर्थ अध्याय

**जीवन मूल्य : मानवीय एवं नारी सम्बन्धी**

160-222

भारतीय दर्शन एवं मानवतावादी सांस्कृतिक विधान, विद्घा का ध्येय श्रेष्ठ मानव-निर्माण, वैयक्तिक आकांक्षाएं एवं मानवीय मूल्यों का क्षरण बनाम मूल्य-अपरिहार्यता, श्रेष्ठ मानव चरित्र-श्रेष्ठ मानवीय आचरण, मानवीयता-प्रेरणा एवं प्रयत्न, अर्ध-सृष्टि-अर्धनारीश्वर, नारी-तेजस्विता, विदुषी, परिपक्व, धैर्यमयी एवं संतुलित, कोमल किन्तु-अधिकार चैतन्य, परमार्थ चेतना, मर्यादित व् समन्वयवादी, आत्मविकास-बहुआयामी व्यक्तित्व.

➤ **पंचम अध्याय**

**जीवन मूल्य : धार्मिक , नैतिक एवं आध्यात्मिक** **223-315**

भारतीय जीवन:धर्म की सतत-अनिवार्य उपस्थिति, धर्म-मानसिकता, व्यापक अथवा संकीर्ण, नैतिकता; नीति एवं न्याय विचार, धर्म-युक्त कर्म का सत्य, धर्म वैक्तिक नहीं सामूहिक सत्य ,धर्म हित आत्मीय संबंधों से व्यापक, व्यष्टि हित नहीं समष्टि हितार्थ, विनम्रता एवं शौर्यदाता, अध्यात्म एवं जीवन सत्य, धर्म जीवन का प्रयोजन नहीं वरन प्रेरणा , साधुवाद-धर्म एवं न्यायमार्ग, धर्म आचरण से मोक्ष प्राप्ति, सर्व-कल्याण के लिये मान्य एवं मर्यादित व्यवहार,

➤ **षष्ठं अध्याय**

**जीवन मूल्य : भौतिक एवं आर्थिक** **316-389**

भारतीय संस्कृति एवं चार आयाम-धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, भौतिकता बनाम अनिवार्य आकांक्षा, सांस्कृतिक समृद्धि-शुभ द्वारा लाभ प्राप्ति, सुविधाजनक विकास के लिए आर्थिक समृद्धि, प्रजा की सुविधा हेतु प्रशासकीय प्रयत्न, व्यवस्था, विकास एवं निर्माण में विशुद्ध योजनाओं द्वारा प्रशासकीय समृद्धि, शक्तिसंपन्न भविष्य की वर्तमान संकल्पना, धन, लोभ-मोह की विदूषताओं की महा-माया, वास्तविक शिक्षा एवं भौतिक मूल्यों का उदाहरण, धर्मपूर्ण आचरण एवं अनिवार्य समृद्धि, आकांक्षाओं का भौतिक सत्य, धर्म प्रयोजन नहीं जीवन-प्रेरणा, रामराज्य व् वर्तमान.



➤ सप्तम अध्याय

जीवन मूल्य : सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक

390-462

सौन्दर्य की उच्च संवेदनशीलता, मन की सुन्दरता व सात्विक चेतना, मनोविज्ञान-सूक्ष्म दृष्टि, सौन्दर्य-स्थूल पक्ष, सौन्दर्य-मनोविज्ञान का समन्वयकारी निर्माण, सौन्दर्य एवं सांस्कृतिक सदाचरण, संगीतमयी सौन्दर्य की उच्चता, मनोविज्ञान का प्रभाव.

➤ अष्टम अध्याय

उपसंहार

463-485

वैशिष्ट्य और प्रदेय का मूल्याङ्कन, शोधध्ययन आस्था एवं प्रयोजन की दृष्टि से.

डॉ.नरेंद्र कोहली : साक्षात्कार

➤ ग्रन्थानुक्रमणिका : बिल्लियोग्राफी

486-492

आधार ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

शोध ग्रन्थ

कोश ग्रन्थ

पत्र-पत्रिकाएं एवं इन्टरनेट

अध्याय - 1  
परिशिष्ट : 1  
विषय परिचय  
महासमर : प्रस्ताविक

संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत शोध, जिसका शीर्षक-

“डा.नरेन्द्र कोहली कृत ‘महासमर’ में जीवन मूल्य” है ;

का आधार हैं, डा. कोहली कृत ‘महासमर’ उपन्यास के 9 खंड (भाग 1 से 9 तक); महासमर गाथा है, उस महाभारत पुराण की —जिसमें विभिन्न घटनाएँ हैं, दुर्घटनाएँ हैं, अवांछनीय परिस्थितियों में किये जाने वाले संतुलित धर्म व्यवहार हैं, कई चरित्र हैं, पात्र हैं, और उनके विभिन्न व्यवहारों को प्रभावित करते मूल्यों का संसार है। इस शोध का उद्देश्य यह विश्लेषण करना है, कि मूल्यों के अनुसार किये गये व्यवहार क्या हैं ? उनकी अपरिहार्यता क्यों है? वे आज भी क्यों प्रासंगिक हैं? इस का अध्ययन आलोचनात्मक, मनोविश्लेशात्मक, तुलनात्मक, आगमन, निगमन, ऐतिहासिक विधियों के द्वारा किया गया है। शोध की पृष्ठभूमि में वह सर्वग्राही और समाजिक रूप से मान्य मूल्य निर्देश हैं, जो संपूर्ण मानव जाति के लिए अनुकरणीय एवं स्वीकार्य होते हैं। यह मूल्य कहीं न कहीं मानव के अंतः संबंधों को भी प्रभावित करते हैं; अब चाहे वह अंतर्संबंध-मानवीय हों, सामाजिक हों, आर्थिक हों, राजनैतिक हों अथवा सांस्कृतिक हों।

मानवीय व्यवहार सामान्य एवं असामान्य परिस्थितियों एवं स्थितियों में अपना संतुलन खो भी सकता है, वह बनी हुई मान्य परिपाटी से हट कर अपने मूल्यों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी कर सकता है। इन मोड़ों पर उसे सामाजिक एवं सनातन मूल्य कैसे संबल देकर संभालते हैं, इसी परिकल्पना एवं

संकल्पना को लेकर विश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है। मानव चाहे वैक्तिक, चाहे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कोई भी मूल्य अपनाये, यदि वे मूल्य संपूर्ण मानवीय जाति एवं संतति को मान्य हों, जिससे समाज एवं विश्व के कल्याण को कोई चोट नहीं लगती तो वह सर्वमान्य होने की कसौटी पर खरे उतरते हैं। महासमर के पात्रों एवं घटनाओं के परिपेक्ष्य में सर्वग्राही, मान्य एवं मर्यादित, विकासपूर्ण सिद्धांतों की प्रतिस्थापना के सनातन एवं कल्याणकारी मूल्यों की विवेचना करना एवं उनकी प्रतिस्थापना करने का लक्ष्य संभवतः पूर्ण हो इसके लिए निरंतर अध्ययन और शोध की संभावनाओं को टटोल कर उन निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयास अवश्य किया गया है, जहाँ आकर मनुष्य को मूल्य रहित जीवन व्यर्थ एवं निस्सार लगने लगता है।

‘महासमर’ उपन्यास भाग 1 से भाग 9 अंक में लिखा गया एक ऐसा कथा सागर है, जिसे “महाभारत” के पौराणिक कथानक का आधार लेकर रचा गया है। महान रचनाकार डॉ. नरेन्द्र कोहली ने इस कथा में महाभारत के पात्रों को ही सम्मिलित नहीं किया, वरन कभी वह मेरी, कभी आपकी कथा कहते से लगते हैं। भारतीय जन मानस की जीवन-चर्या में रामायण और महाभारत उसके मूल्यों के साथ-साथ रची बसी है। अर्थात् महासमर की कथा भारतीय संस्कृति एवं चिंतन की शाश्वत गाथा है। जिसे बिना नए संदर्भों के डाले, बिना छेड़े, मौलिकता से लेखक ने प्राण फूंक कर रचा है। उसका एक-एक पात्र एवं घटनायें पाठकों के सामने जीवंत होकर खड़ी हो जाती हैं। भारतीय पाठक के सन्मुख युधिष्ठिर कृष्ण, कुंती, कर्ण, अर्जुन, भीष्म, द्रौपदी, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि सभी पात्र अपनी विभिन्न परिस्थितियों में नवीन रूप धर के प्रकट हो जाते हैं। लोभ, त्रास, स्वार्थ, मोह के विरुद्ध त्याग, ओज, सत्य, सदाचरण, धर्म, न्याय आदि अंतःप्रज्ञा के युद्ध सा सजीव होकर दृष्टि के सन्मुख आ उपस्थित होता है। अपनी मौलिकता एवं सजीवता को प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करता कथानक कहीं भी प्राचीनता की ध्वनि नहीं देता। वरन ऐसा लगता है जैसे अभी ही कोई यहाँ से उठ कर गया है, जिसकी गाथा प्रस्तुत हो रही है। लेखक ने बहुत सूक्ष्मता से पुरातन प्रमाणिकता को बनाये रखते हुये, नयी व्याख्याओं के साथ उसकी सर्वकालीनता को आधुनिक सन्दर्भों में उजागर करने का

दुरूह, परन्तु सराहनीय कार्य किया है। उपन्यास का प्रस्तुतीकरण पाठक को सिर्फ कथा ही नहीं कहता वरन एक-एक पात्र के मनोविज्ञान को परत दर परत उधेड़ता हुआ, उसके व्यवहारों एवं प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि भी उजागर करता सा चलता है। प्रत्येक पात्र अपनी सम्पूर्ण मानसिकता को तर्कपूर्ण धरातल पर प्रस्तुत करता है। देश, काल, स्थितियां एवं आदर्श, कौन-किस प्रकार मानवीय व्यवहारों को प्रभावित करते हैं ? धर्म क्यों मूल्यों का आधार है ? क्यों विपरीत परिस्थितियों में भी युधिष्ठिर शांत एवं धार्मिक है और अनुकूल परिस्थितियां होते हुए भी दुर्योधन अशांत एवं उद्दिन है ? मानव के व्यवहारों को उसकी सत-रज-तम वृत्तियाँ कितना प्रभावित करती हैं, और क्यों ऐसा व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं ? मूल्य की प्रेरणा धर्म एवं न्याय क्यों होना चाहिए ? और समाज का कल्याण चाहे भूत हो या वर्तमान अथवा भविष्य—क्यों मूल्यों पर आधारित है? इन्ही समस्त प्रश्नों का उत्तर है- 'महासमर उपन्यास', जिसको आधार बनाकर प्रस्तुत शोध-कार्य संपन्न करने का प्रयास है-यह शोध ग्रन्थ।

हमारी संस्कृति त्रिगुण संस्कार की बात कहती है, सत-रज और तम। मानव व्यवहार भी इन्हीं तीन गुणों के प्रभावों से निर्देशित रहता है। यह तीनों गुण व्यक्ति के मनोभाव-मनोदशा और मनोस्थिति—किसी भी नाम अथवा संज्ञा से कहें—उससे आदेश-निर्देश प्राप्त करते हैं। व्यक्ति की आचरण वृत्तियां भी इन्ही उपर्युक्त गुणों के प्रभाव का परिणाम हैं। निष्कर्ष में कहें; तो मनुष्य का अथवा समाज का प्रत्येक व्यवहार इन्हीं त्रिगुणात्मक संस्कृति से चलायमान है। मनुष्य या तो धर्म-सत्य की अवधारणा से भय अथवा श्रद्धा के रहते सात्विक आचरण की ओर प्रेरित रहता है; अथवा सांसारिक सुख समृद्धि के रहते कुछ मोह से कुछ भौतिक संचयों के लोभ से ग्रस्त होकर राजसी व्यवहार करता है। किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं, जो मानवीय दुर्बलताओं के प्रतीक बन कर जीवन के स्याह पक्ष को अपने व्यवहार से दर्शाते हैं। वह वास्तव में तामसिक गुण के प्रभाव से ग्रस्त होते हैं।

केवल एक मनुष्य से नहीं बनता संसार ! और न ही केवल एक ही होता है उसका व्यवहार। केवल एक ही तरह की परिस्थिति भी नहीं होती ! वस्तुतः

परिवर्तनशील समय जीवन के समस्त उतार-चढ़ावों के साथ मानव के व्यक्तित्व को सतत प्रभावित करता है और फलस्वरूप उसका व्यवहार उसके प्रतिक्रियास्वरूप परिवर्तित होता है। एक सिद्धांत अथवा एक ही राह पर चलना जीवन नहीं, नित्य नवीन परीक्षाओं से गुजरते हुए संभल कर कदमों को उठाना ही वास्तव में जीवन है। महाभारत की एक एक घटना जैसे जीवन के इन्हीं मन्त्रों के उच्चारण को दोहराती है।

महासमर की कथा का आरंभ होता है—हस्तिनापुर के महाराज शांतनु के सत्यवती के प्रति कामनाग्रस्त होने से। एक राजा जो सम्राट है, जो अपनी पत्नी गंगा के वियोग से दुखी है, जिसके एक युवक पुत्र है-देवव्रत। किन्तु अब वह एक अत्यंत रूपवती कन्या सत्यवती के अप्रतिम रूप का दर्शन कर उसकी कामना कर बैठा है। उस कन्या का पिता अपनी पुत्री का विवाह राजा के साथ करने के लिए अपनी कुछ मांगें रखता है। युवराज देवव्रत को उन मांगों का पता लगता है— एक—उसकी पुत्री की संतान ही युवराज की गद्दी प्राप्त करेगी, और राजा के बाद सिंहासन की अधिकारी होगी। देवव्रत को अपना अधिकार छोड़ना होगा। कदाचित यदि देवव्रत विवाह करता है, तो उसकी संतान भी सिंहासन की अधिकारी नहीं होगी। अपने पिता की कमाना पूर्ति के लिए देवव्रत महान भीष्म बन जाते हैं-और लेते हैं दो भीषण व्रत। ‘युवराज के रूप में अपने राज्याधिकार का त्याग एवं आजीवन ब्रह्मचर्यव्रती रहकर विवाह न करने का व्रत।’ जीवन पर्यंत केवल राज्य की सेवा करेंगे। इन्हीं त्यागमयी सौगंधों-प्रतिज्ञाओं से आरंभ होता है- महाभारत का वृहद् कथानक। क्या कहा, किसने कहा, क्यों कहा, कैसे कहा, कब कहा? कितने ही अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर देता महासमर न केवल बाहरी महासमर को कहता है, वरन अंतर मन के महासमर की गाथा को भी उपन्यास में उड़ेलता जाता है। अपने पुराणों से अवगत करता-कराता यह उपन्यास कब अपने साथ बैठे व्यक्ति की कहानी बन जाता है, और पाठक को बारम्बार अचंभित करता है, मालूम नहीं होता। भीष्म कहने को प्रतिज्ञाएँ-व्रत लेकर बंधन रहित होते हैं; किन्तु वास्तव में वह बंधन में बांध लेते हैं खुद को ! प्रतीकात्मक रूप से महासमर के प्रथम खंड का नाम ‘बंधन’ है। द्वितीय खंड ‘अधिकार’ के प्रति चेतन करता है, तो तीसरा खंड

‘कर्म’ की ओर प्रेरित करता है। चतुर्थ खंड में ‘धर्म’ की मीमांसा है। पंचम खंड में वनवास का ‘अन्तराल’ है। षष्ठं खंड में सब होते हुए भी अज्ञात वास का ‘प्रछन्न’ स्वरूप है। सप्तम खंड में युद्ध की विभीषिका का, और कृष्ण के विराट स्वरूप का ‘प्रत्यक्ष’ रूप समक्ष आ खड़ा होता है, और अष्टम खंड में जिस बंधन में बंधे हैं भीष्म-वह निर्बंध’ हो कर मोक्ष की ओर प्रस्थान करते हैं। नवम खंड में लेखक ने पाठकों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के उत्तर प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें तर्कों के साथ समझा जा सकता है। इस बृहद् उपन्यास में जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं जिसे सम्मिलित न किया गया हो। जीवन के प्रत्येक रूप का प्रत्येक प्रश्न का उत्तर समेटे हैं यह उपन्यास। उपन्यास का प्रत्येक पात्र—चरित्र अपने मूल्य परक व्यवहार द्वारा एक उदाहरण सा प्रस्तुत करता है। जिसे हर एक घटना और परिस्थिति के परिपेक्ष्य में देखते हुए उसकी विवेचना द्वारा समझा जा सकता है। आज की स्थितियां मूल्यों को किस प्रकार लेती हैं और उनकी अनिवार्यता का क्या वर्तमान है। मूल्यों की मीमांसा वास्तव में मानव के व्यवहार ही तो नियत करते हैं, और मानव मन का, उसके मनोविज्ञान का, उसके धर्म का, उसके भौतिक मोह का, उसके त्याग का, बृहद चित्रण महासमर की स्थितियों और घटनाओं के अतिरिक्त और कहाँ मिल सकता है।

## समस्या औचित्य

मानव एक विवेकशील प्राणी है, जो एक समाज का निर्माण करता है और सभ्य एवं सामाजिक कहलाता है। इस उदबोधन के पीछे उसकी सभ्यता और संस्कृति परिलक्षित होती है, और इस संस्कृति और सभ्यता को रचते हैं; उसके सिद्धांत, जिन्हें हम मूल्यों की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः जीवन क्या है अर्थात् यथार्थ क्या है? और जीवन क्या होना चाहिए अर्थात् सुसंस्कृत आदर्श से सज्जित। इन दो भागों का समरूप ही यह मानवीय जीवन है। मनुष्य का विवेक ही उसे अन्य प्राणियों से पृथक करता है, और उचित-अनुचित, ग्रहणीय-त्याजीय, वांछनीय-अवांछनीय में भेद करना सिखाता है। और फिर निर्धारित होते हैं उसके व्यवहार। जिन व्यवहारों से-चाहे वह मानवीय हों अथवा सामाजिक, सर्वव्यापी कल्याण हो, सतत उन्नति एवं

विकास हो। वह व्यवहार कुछ सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के अनुरूप किये जाते हैं। इन सर्वमान्य सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को मूल्यों के रूप में सर्व सम्मति से स्वीकार किया जाता है। प्रस्तुत शोध भी जीवन मूल्यों के द्वारा समाज के कल्याण के पथ को प्रशस्त करने का प्रयास है। यह विषय निरंतर है। जिस प्रकार मानव जीवन सतत है, उसी प्रकार इस विषय की निरंतरता सदैव अनिवार्य है। इस दिशा में किये जाने वाला कार्य सदैव उपस्थित जीवनी-शक्ति की तरह निरंतर उपयोगी है। एक स्वस्थ, समृद्ध, सहज एवं सौहार्दपूर्ण अविभाज्य समाज के लिये कुछ सर्वग्राही मूल्यों का प्रमाणिक रूप से होना जीवन की ऊर्जा के लिए चिरंतन अनिवार्यता है। समसामयिक परिस्थितियों में इनकी अपरिहार्यता और भी आवश्यक है। अतएव इस विषय की उपयोगिता स्पष्ट एवं चुनौतीपूर्ण है। जिसे शोधकर्ता ने अपने महती प्रयास से पूरा करने का संकल्प लिया, और उसी के अनुरूप कार्य की रूपरेखा निर्धारित हुई। कितनी ही बातें जीवन में होती हैं। नित नवीन परिस्थितियों से जूझता मनुष्य उसी हालत के अनुरूप अपने निर्णय करता है। और हाँ! सीखता भी बहुत कुछ है। यही सीखना उसके अनुभव बन जाते हैं और आगे चल कर कालांतर में समाज को दिए जाने वाले उदाहरण भी। कुछ विषय एकदम व्यक्तिगत होते हैं और कुछ अपने सर्व व्यापक रूप द्वारा समाज को भी प्रभावित करते हैं। वास्तव में जो मुख्य है, वह है निरंतर सीखना। और यह वरदान ईश्वर ने सम्पूर्ण सृष्टि में केवल मनुष्य को ही दिया है। उसकी असीम उपलब्धियों के पीछे उसका ज्ञान है, और ज्ञान तभी उसके पास है, क्योंकि उसके पास है सीखने की अनमोल एवं असीमित क्षमता। श्री गुरु नानक हों अथवा अन्य महान मनीषी, एक एक संत, ऋषि एवं गुरु ने यही सन्देश दिया है कि उस परमपिता का सदैव 'शुकराना' अर्थात् आभार माना जाये। यही से मूल्यों के अनुरूप किये जाने वाले आचरण की यात्रा आरंभ होती है। यह ऐसा विषय नहीं कि कहा ! सुना ! लिखा ! और समाप्त ! वरन ऐसा विषय है, जिसका सतत व्यवहार-विचार और सबसे बढ़कर आचार होना सार्वभौमिक रूप से सत्य है, और अनिवार्य भी। तो इसका औचित्य तो कभी न समाप्त होने वाली गाथा है और रहेगा।

## शोध कार्य में चुनौतियां

महासमर उपन्यास एक ऐसी वृहद कृति है, जिसका कथानक 'महाभारत' की पौराणिक कथा पर आधारित है। भारतीय संस्कृति एवं मानस के अंतर्मन तक पहुंचा हुआ यह महाकाव्य एक ग्रन्थ ही नहीं जीवन की दिशा और दशा को निर्धारित करने वाला एक निर्देश भी है। साहित्यकार ने अपनी रचना को बिना किसी परिवर्तन और नए सन्दर्भों के डाले उसे प्रामाणिक एवं सजीव रूप से प्रस्तुत कर पाठकों को चमत्कृत एवं उद्वेलित कर दिया है। वस्तुतः जिस मानसिकता को लेकर साहित्यकार अपनी कृति की रचना करता है, उस मानसिकता तक पहुंचना एवं उसकी गहराई तक पैठना एक शोधकर्ता के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। इस विषय पर अन्यत्र विद्वानों ने भी शोधकार्य किया है, उन सब के शोधकार्यों का विवेचन करना भी एक चुनौती भरा काम है। जीवन मूल्य, मानवीय व्यवहारों को निर्देशित करते वे सिद्धांत हैं जो देश, काल एवं युग परिवर्तन के साथ-साथ प्रभावित और परिवर्तित होते रहते हैं। इन पर लिखा गया लेखन-कार्य बहुतायत मात्रा में है कुछ उपलब्ध भी और बहुत कुछ अनुपलब्ध भी। समस्त कार्यों की उपलब्धता एवं उन सब को अध्ययन में सम्मिलित करना भी एक चुनौती रही। अतएव निर्धारित समय सीमा एवं विषय सीमा को ध्यान में रखते हुए, शोध को परिपूर्णता से करना, जिससे अपेक्षित लक्ष्य पाया जा सके, अपने आप में एक चुनौती भरा कार्य रहा। कार्य का विषय अत्यन्त वृहद् था और समय के अनुरूप पूर्ण करने की सीमा भी थी। कितने ही महान लेखकों एवं साहित्यकारों ने मूल्यों एवं महाभारत के विषय को लेकर कितना कुछ लिखा और विश्लेषित किया। किन्तु उन सब को शोध में सम्मिलित करना कठिन कार्य था। यद्यपि शोधार्थी ने अपने भरकस प्रयासों से अनथक श्रम द्वारा अधिक से अधिक सामग्री को शोध के सन्दर्भ में सम्मिलित करने का प्रयास किया है। किन्तु विषय की व्यापकता को देखते हुए समस्त सम्बंधित साहित्य का अध्ययन एक दुरूह कार्य रहा।



## शोध कार्य: उद्देश्य

‘डा. नरेन्द्र कोहली कृत ‘महासमर’ उपन्यास में जीवन मूल्य’ यह विषय कभी भी विगत नहीं हो सकता, मानव समाज जिस प्रकार निरंतर है, वैसे ही उसे संचालित करने वाले जीवन मूल्य भी वो सिद्धांत है, जो उसके सार्थक वैयक्तिक व्यवहारों को दिशा देते हैं। वर्तमान जीवन, समाज एवं विश्व का नित-दर्शन, उपभोक्ता मानव की संकल्पनाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ, उसका आत्मबल एवं विकास की प्रक्रियाएँ, उदात्त जीवन शैली का समर्थन, पुरातन एवं नवीन व्यवहार परम्पराओं को अनुपातिक रूप में सहेजना एवं मूल्य-परक समाज का निर्माण, यह विषय न कभी भूतपूर्व था न कभी हो सकता है। अतः इसी तथ्य की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध के निम्न उद्देश्यों को पूर्ण करने का साधु प्रयास किया गया जिसके द्वारा सर्व-कल्याण का, ज्ञान का, एवं जीवन के भिन्न रूपों का ज्ञान हो सके और जीवन के सत्य शिव एवं सुंदर रूप का वास्तविक दर्शन मिल सके -

- 1) महासमर के पात्रों, चरित्रों, घटनाओं, एवं स्थितियों में उपस्थित जीवन मूल्यों का विवेचन करना।
- 2) समसामयिक परिस्थितियों में मूल्यों की स्थापना हेतु महासमर के माध्यम से रचनाकार के प्रयास को स्पष्ट करना।
- 3) मूल्यों के धरातल पर महासमर के पात्रों एवं घटनाओं का साहित्यकार की अन्य रचनाओं के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करना।
- 4) वर्तमान समाज में मूल्यों के क्षरित होते रूप का उदघाटन करना।
- 5) मानवीय जीवन में मूल्यों की अपरिहार्यता एवं आवश्यकता को महासमर के परिपेक्ष्य में स्पष्ट करना।

## शोध प्रविधियां

किसी भी कार्य को सम्पूर्णता देने के लिए उसकी एक रूपरेखा बना लेना आवश्यक है, और उस विषय को निर्धारित अवधि में अपने निष्कर्ष तक पहुँचाने के लिए कुछ प्रविधियों का सहयोग लिया जाता है। प्रस्तुत शोध “डा.नरेन्द्र कोहली

कृत 'महासमर' उपन्यास में जीवन मूल्य" के लिए भी निम्नलिखित शोध प्रविधियों की सहायता से कार्य सम्पन्न किया गया है :

### 1) आलोचनात्मक शोध प्रविधि

साहित्यकार अपने कृतित्व की रचना के समय जिस मनोस्थिति एवं पृष्ठभूमि से सम्बंधित होता है, उस तक तो पाठक का एवं शोधकर्ता का पहुँच पाना कठिन होता है, परन्तु निरंतर अध्ययन, विवेचन, व्याख्या एवं चिंतन के द्वारा आलोचना करने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है। इस शोध कार्य में भी आलोचनात्मक शोध प्रविधि के द्वारा रचनाकार एवं उसकी कृति में उल्लेखित सूत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए नवीन निष्कर्षों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। वास्तव में आलोचना सार्थक विधि से करने पर बहुत से ज्ञान देने वाले निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है, जिसे शोध द्वारा सफलता से किया गया है।

### 2) मनोविश्लेशात्मक शोध प्रविधि

महासमर 'महाभारत' कथा पर आधारित उपन्यास है। यह उपन्यास अपनेआप में इतने अधिक पात्र एवं घटनाएं समेटे है जिन्हें उनके मनोविज्ञान का अध्ययन एवं चिंतन किये बिना समझा ही नहीं जा सकता। पौराणिक सूत्रों को विश्लेषित करते हुए पात्रों के चरित्र का मनोविज्ञान समझना आवश्यक है। प्रत्येक स्थिति की प्रक्रिया एवं प्रतिक्रियात्मक गतिविधि का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए इस प्रविधि का प्रयोग किया जाना उचित रहा।

### 3) आगमन शोध प्रविधि

समाज में कई सिद्धांत प्रतिपादित करने के लिये साहित्यकार उसके पूर्व कई दृष्टान्त देता है, अपनी बात एवं विचार को रखने के लिए कई उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं तब वह विचार, सिद्धांत बन कर समाज द्वारा स्वीकृत होता है। इस प्रक्रिया को उदाहरणों एवं दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए शोधकर्ता ने आगमन

शोध प्रविधि की सहायता लेने का प्रयास भी किया है। यदि 'धर्म का मार्ग ही औचित्यपूर्ण है' के सिद्धांत को कहा गया है, तो इस सिद्धांत को अनवरत घटनाओं से प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। जिसे शोध में विश्लेषण द्वारा उसके तथ्यों सहित व्याख्या दी गयी है।

#### 4) निगमन शोध प्रविधि

मानवीय एवं सामाजिक व्यवहार प्रणाली बहुत जटिल है, और इस जटिलता को प्रामाणिक बनाने के लिए कई तर्क भी प्रस्तुत किये जाते हैं। महासमर के पात्र, परिस्थिति एवं घटनाओं के कारण कई ऐसे निर्णय लेते हैं, जो सैद्धांतिक रूप से उसके घटित होने के पश्चात् चर्चा एवं विचार का कारण बनते हैं। जैसे दुर्योधन के लिए धर्म-अधर्म अपनी विजय के लिए साधन मात्र हैं। अर्थात् उसके लिए उसकी विजय महत्वपूर्ण है न कि धर्म के नियम। इसके लिए धर्म का कोई बंधन उसे मान्य नहीं। अतः ऐसे सिद्धांत, जिन्हें साहित्यकार ने उनके क्या और क्यों अर्थात् कारण-कारण संबंधों को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिए हैं, उनका अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत निगमन शोध-प्रविधि का प्रयोग शोधकर्ता द्वारा अपने कार्य के लिए किया गया है।

#### 5) तुलनात्मक शोध प्रविधि

साहित्य में अनेक विद्वानों ने जीवन-मूल्यों पर अपने कार्यों द्वारा अनेकाएक सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। उन कार्यों का भी अध्ययन करते हुए शोधकर्ता ने अपने निष्कर्षों को तुलनात्मक विवेचन द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। कहीं कहीं महासमर के रचनाकार ने स्वयं भी अपने पात्रों के लिए प्रथक ग्रन्थ लिखे हैं। उदाहरण स्वरूप यदि वसुदेव, द्रौपदी, हिडिम्बा, श्री कृष्ण महासमर के पात्र हैं, तो लेखक के अन्यतम प्रथक उपन्यासों के एकल नायक-नायिका भी। उनकी तुलना करते हुए लेखक की मनस्थिति समझने से भी पात्रों का मनोविज्ञान और स्पष्टतः से उभर कर प्रस्तुत हुआ। महाभारत का कथानक और उसके पात्र ऐसे हैं

जिनपर यत्र तत्र सर्वत्र कार्य हुआ ही है, उन्हें भी विवेचना में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है।

## 6) ऐतिहासिक शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध में महाभारत आधारित 'महासमर' में मूल्यों पर विचार किया गया है। इसलिये इतिहास में उपलब्ध मूल्यों के स्वरूप, उनके आधार, उनके पालन सम्बन्धी सिद्धांतों का अध्ययन करने हेतु इस विधि का प्रयोग किया जाना अनिवार्य था। महाभारत एक पौराणिक ग्रन्थ है। अतः भारतीय जन मानस के अतीत और प्राचीन विरासत का द्योतक है। भारतीय मनीषा रामायण और महाभारत की कथा के बिना अधूरी है। साहित्य इन कथाओं की प्रेरक सह-कथाओं से भरा है। अतः इतिहास का सम्बन्ध इस शोध में सहायक रहा। ऋषि, मुनि, गुरु एवं ईश्वर के अवतार स्वरूप राम-कृष्ण के जीवन का चित्रण अक्सर ही हमारे पुराणों का आधार रहा है। इसलिए यह विधि इस कार्य में अति सहायक हुई।

## 7) अन्य सहायक प्रविधियां

वर्तमान काल, संचार-माध्यमों का काल है। शोधकर्ता के विषय का रचनाकार सौभाग्यवश वर्तमान है। अतएव डा.नरेन्द्र कोहली, जो 'महासमर' रचना के महान कृतिकार हैं। उनसे दूरभाष एवं ई-मेल पर वार्ता की जाती रही। उनके विचारों एवं उपन्यास की पृष्ठभूमि जानने के लिए उनका समक्ष-प्रत्यक्ष साक्षात्कार लिया गया। जिसकी रिकॉर्डिंग की गयी और वह शोध के साथ संलग्न है। वास्तव में रचना के मनोविज्ञान को गहरायी से जानने के लिए उसके रचनाकार के मन की थाह लेना बहुत आवश्यक है। और यह शोधार्थी का सौभाग्य है कि प्रत्यक्ष साक्षात्कार के द्वारा डॉ. नरेन्द्र कोहली जी को सुनने और समझने का दुर्लभ अवसर मिला।

इसके अतिरिक्त सोशल मीडिया एवं इन्टरनेट पर उपलब्ध जानकारियों को भी सहायक यंत्रों की तरह उपयोग किया गया। कुछ पुस्तकें बाजार में उपलब्ध नहीं थीं। महाविद्यालयों में भी नहीं मिल रहीं थीं। वर्तमान संचार क्रांति के विकास ने यह

सब साहित्य इन्टरनेट पर उपलब्ध कराया। कई महान बुद्धिजीवियों से भी वार्ता का लाभ प्राप्त करने का अवसर मिला और उनके विचारों से भी सहायता प्राप्त हुई।

## परिसीमांकन

किसी भी विषय का अध्ययन उसके समय और अध्ययन की सीमाओं को देखते हुए ही किया जाता है, अन्यथा वह अपनी मान्यता को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रस्तुत शोध 'डा.नरेन्द्र कोहली कृत 'महासमर' उपन्यास में जीवन मूल्य' भी अपने आधार ग्रंथों की पृष्ठभूमि में किया गया। चूँकि इस विषय में अन्य साहित्यकारों ने भी अन्यान्य कार्य किये हैं, यदि उन सबका कार्य अध्ययन किया जाता तो शोधार्थी न केवल अपने विषय से भटकता, वरन प्रमाणिकता एवं कुशलता से अपना कार्य भी पूर्ण कर सकने में सफल नहीं हो पाता। साहित्यकार भी अपने कार्य को एक समयकाल की सीमा में रहकर ही पूर्णता प्रदान करता है। उसी प्रकार शोधार्थी ने भी इसी लक्ष्य को धारण करते हुए अपने कार्य को समय एवं विषय की सीमा के अंतर्गत ही पूर्ण किया, जिससे वह अपने कार्य की गुणवत्ता को अक्षुण्ण बनाये रख सकने में कुशलता से सफल हुआ। कहते हैं कि कार्य को करना एक बात है और कार्य को समय सीमा के अंतर्गत पूर्ण कुशलता से करना उसकी गुणवत्ता को बढ़ाता है। प्रस्तुत शोध को समयानुसार पूर्ण करने में इसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

## परिकल्पना

किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसके संभावित निष्कर्षों का अनुमान लगाना अथवा उसकी संभावनाओं की कल्पना करना उसकी परिकल्पना कहलाता है। अतएव प्रस्तुत शोध में भी कुछ परिकल्पनाओं पर विचार किया गया था, जो निम्नतः हैं:

- 1) साहित्यकार अपनी कृति से जो संसार रचता है, वह उसके दृष्टिकोण एवं व्यक्तित्व को कमोबेश प्रस्तुत करता है, अर्थात् उसके विचार एवं अनुभव उसकी लेखनी को प्रभावित करते हैं।

- 2) डा. नरेन्द्र कोहली ने यद्यपि पौराणिक गाथाओं को अपने कृतित्व का आधार बनाया है, परन्तु उसमें कहीं भी प्राचीनता परिलक्षित नहीं होती।
- 3) डा. नरेन्द्र कोहली महाभारत के पात्रों एवं चरित्रों से पाठकों का परिचय कराते हैं, किसी संशोधन बिना यह परिचय नित्य नवीन लगता है।
- 4) डा. नरेन्द्र कोहली जीवन मूल्यों को उपन्यास के सन्दर्भ में उस धरातल पर ले आते हैं, जहाँ वह एक चिकित्सक एवं जीवन मूल्यों के प्रबल समर्थक के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

बेहद सौभाग्य का विषय है कि उपरोक्त संकल्पनाएँ-परिकल्पनाएँ न केवल सार्थक हुईं, वरन् सकारात्मक परिणामों में परिवर्तित होकर शोध का निष्कर्ष बनीं।

## साहित्यावलोकन

शोध करने से पूर्व विषय की वृहत् जानकारी हेतु संबंधित क्षेत्र में जो साहित्यिक कार्य, शोधकार्य आदि हुए हैं, अथवा उपलब्ध साहित्य है, उसका अध्ययन एवं अवलोकन आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया से शोधकर्ता को न केवल अपने विषय को समस्त कोणों से समझने में सहायता मिलती है, वरन् समय की भी बहुत बचत की जा सकती है। समय, धन एवं शक्ति की बचत से शोधकर्ता को दिशा निर्देश भी प्राप्त होता है। जिससे वह कार्य की पुनरावृत्ति से बच सकता है, और अपने कार्य को सही मार्ग से निर्णय तक पहुंचाता है।

प्रस्तुत शोध से सम्बंधित जो आवश्यक साहित्यावलोकन किया गया, उसे सजगता से न केवल पढ़ा गया, वरन् विश्लेषण करते हुए अध्ययन द्वारा उसका सन्दर्भ भी स्थान स्थान पर उल्लेखित किया गया। जिससे शोध में बहुत सहायता प्राप्त हुई।

- ❖ चरणदास शर्मा ने गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्यों पर शोध किया और पाया कि मानवीय और धर्मपूर्ण आचरण के प्रति उनका अत्यधिक आग्रह है। शोधकर्ता अपने शोध द्वारा तुलसीदास के साहित्य के परिपेक्ष्य में मर्यादित और न्यायपूर्ण जीवनमूल्यों का अनुमोदन करता है। (शर्मा 28)

शोध में शोधकर्ता ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि जीवन में मर्यादित आचरण के लिए मूल्यों की नैतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि को आवश्यक रूप से ध्यान में रखना चाहिए। धर्म और नैतिक आचरण यदि मूल्यपरक हैं तो व्यक्ति का चरित्र संस्कृति एवं ऋषियों द्वारा निर्धारित निदेशों पर ही चलने लगता है। महासमर के पात्रों के आचरण में मूल्यों का धरातल समझने में यह शोध सहायक रहा।

- ❖ कृष्ण मुरारी शर्मा अपने शोध, 'मूल्य संकट तथा गीता में अंतःरूपांतरण दर्शन' में व्यैक्तिक और सामजिक जीवन मूल्यों के क्षरण और उनकी पुनःस्थापना की सार्थक विवेचना द्वारा मूल्यों की अपरिहार्यता को प्रस्तुत करते हैं। (शर्मा 15)

गीता और कृष्ण, जीवन का सत्य हैं। वर्तमान शोधार्थी स्वयं अपने शोध में इस बात को प्रतिपादित करने का प्रयास करना चाहता है। उसका एक यह भी उद्देश्य है कि मूल्यों के क्षरण को किस प्रकार रोका जा सकता है और उसकी पुनर्स्थापना के लिए क्या प्रयत्न किये जाने चाहिए। अतः श्री कृष्णमुरारी जी के मूल्य संकट तथा गीता में अंतःरूपांतरण दर्शन' सम्बन्धी शोध ग्रन्थ से बहुत सहायता प्राप्त हुई।

- ❖ ए. क्लिवन ने अपने जीवन मूल्यों सम्बन्धी शोध में विचार प्रक्रिया, मूल्य, उसके विभागों, और मानवीय संबंधों में उद्देश्यपूर्ण एवं सतत चिंतन प्रक्रिया की विवेचना की है। प्रस्तुत शोध में भी शोधार्थी के कार्य का एक उद्देश्य है कि मानवीय संबंधों में मूल्यों की अनिवार्यता को पुनर्जागरण के मार्ग पर ला कर उसमें पुनः सात्विकता के प्राण फूँके जा सकें और इस उद्देश्य की प्राप्ति में डॉ.ए. क्लिवन के शोध ने कुछ नये तथ्य प्रेषित किये। (क्लीवन 140)
- ❖ रेखा अग्रवाल ने मूल्यों के विकास पर न्याय पृच्छा शिक्षण प्रतिमान का प्रभाव स्पष्ट किया। वह अपने शोध द्वारा विद्यार्थियों को न्यायिक शिक्षण एवं कल्याणकारी मूल्यों द्वारा सैद्धांतिक, धार्मिक, मानव महत्ता में विश्वास का प्रभाव प्रस्तुत करती हैं। (अग्रवाल 143)

कहते हैं पूरा जीवन ही मूल्यों की भूमि का आधार लिए हुए होता है। व्यक्ति जिन सिद्धांतों पर अपने व्यवहारों को आंकता है, उसे न्याय पर, मानवीयता पर, धर्म पर, सर्व कल्याण के उद्देश्य पर निर्देशित करने का प्रयास करता है। किसी न किसी क्षेत्र में उसे इन मूल्यों को अपने व्यवहार से उत्तर देना ही पड़ता है। और इस शोध ने इन पक्षों को दृष्टि दी।

- ❖ सत्य प्रकाश पांडेय ने भी न्यायिक पृच्छा शिक्षण प्रतिमानों के अतर्गत अनुदेशात्मक प्रभावों को ज्ञात करने के लिये कुछ सामाजिक समूहों पर प्रयोग किये एवं सामाजिक मूल्यों एवं उनके प्रभावों का अध्ययन किया। विशेष रूप से न्याय, समानता, भ्रातृत्व, सहनशीलता आदि पर अध्ययन किया। (पाण्डेय 14)

इस प्रकार उन्होंने न्यायिक मूल्यों के प्रभाव पर शोध किया। शिक्षा का एक उद्देश्य न्याय बुद्धि देना भी है। इस शोध द्वारा सत्य प्रकाश पाण्डेय जी ने सामाजिक मूल्यों को व्यक्ति के आचरण में पिरो कर प्रस्तुत करने का कार्य किया है जिससे समाज को सद्वृत्तियों के मार्ग पर डाला जा सके।

- ❖ हृदय नारायण मिश्रा ने मूल्य मीमांसा में कहा कि मूल्य—मीमांसा का विवेचन प्रायः अच्छे और बुरे व्यवहार से संबंधित होता है। इसी में आगे वह पाश्चात्य दार्शनिकों प्लेटो और अरस्तु के आचारशास्त्र एवं तत्त्वविज्ञान की विवेचना करते हैं और अरस्तु के उच्चतम मूल्य को ईश्वर से तादात्म्य करने का उपयुक्त साधन बताते हैं। मूल्य मीमांसा का सम्बन्ध भिन्न प्रकार के मूल्यों के भेदों से है, मानव उन सब भेदों के बीच कैसे समन्वय करता हुआ उनसे न्याय पूर्ण ढंग से व्यवहार कर सकता है, इसकी विवेचना में प्रस्तुत शोध सहायक रहा।
- ❖ मोरील ने अपने मूल्य-परक शोध में अध्ययन करते हुए व्यक्ति के नैतिक विकास, उसके नीतिपरक बोध तथा मूल्य शिक्षा का व्यवहारों पर प्रभाव प्रस्तुत किया। उनके अनुसार इन प्रयोगों द्वारा व्यक्ति को विकास के उच्च एवं नैतिक आयामों की तरफ प्रोत्साहित किया जा सकता है। (मोरील 34 )



डॉ. नरेंद्र कोहली कृत महासमर इस बात का ही ज्ञापन करता है कि नैतिकता को पुनः उच्च चेतना के शिखर पर लाया जाये। अतः मोरील द्वारा किया शोध इस कार्य में बहुत सहायक रहा।

- ❖ शकुन्तला पंड्या ने अपने शोध में विद्यालयों के छात्रों पर स्वच्छता, सार्वजनिक सम्पत्ति, सुरक्षा, श्रम, निष्ठा, सहयोग आदि मूल्यों के परीक्षण एवं विकास के लिए कई प्रयोग किये। इसमें कथा, कहानी, समूह-चर्चा के द्वारा उन पर नाटकीय माध्यमों के प्रभाव एकत्र किये, जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक उत्तरदायित्व के भाव एवं समय के पालन का मूल्य उनके सन्मुख आया। (पंड्या 27) इस शोध के द्वारा भी सामाजिक एवं वैयक्तिक मूल्यों का विश्लेषण करने में सहायता प्राप्त हुई।
- ❖ संध्या चौरसिया ने 2016 में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से शोध किया 'निर्मल वर्मा के कथा साहित्य में जीवन मूल्य' शीर्षक पर। इसमें जिस बात पर उन्होंने बल दिया वह है परिवार संस्था और उसका स्वरूप। आधुनिक जीवन की विसंगतियां, अकेलेपन का त्रास व्यक्ति के मूल्यों को बहुत प्रभावित करता है। यहाँ पात्र अपने संबंधों को बचाने का प्रयास न करते हुए उनसे स्वतंत्र हो जाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। मूल्य संक्रमण और योरूप के प्रभाव को भी विवेचित किया है। जिस में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त सांस्कृतिक संकट और अस्मिता की खोज पर बल दिया है। मूल्य क्षरण पर भी विवेचना की है।
- ❖ 'मीडिया बनाम साहित्य अंतर्संबंध' के शीर्षक के अंतर्गत योगेन्द्र प्रताप सिंह ने कानपुर विश्वविद्यालय से 2010 में शोध किया। इसमें शोधकर्ता ने अपने शोध कार्य का केंद्र रखा, डा. नरेन्द्र कोहली के पौराणिक कथानकों पर लिखे उपन्यास। इन कथानकों पर कई टी.वी. सीरियल आदि बने हैं, और निरंतर बनते भी रहते हैं, इसी संदर्भ को लेते हुए शोधकर्ता ने साहित्य एवं मीडिया के पारस्परिक प्रभावों पर अपने निष्कर्षों को स्थापित करने का प्रयास किया है।

- ❖ अमृता अवस्थी ने देवी अहिल्या विश्वविद्यालय इंदौर से 'डा. नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में निहित शैक्षिक तत्वों का विश्लेषण' शीर्षक लेकर 2008 में अपना शोध कार्य किया। साहित्य के द्वारा कृतिकार अपने उपन्यासों में कुछ शैक्षिक उपदेश और सन्देश अवश्य देता है। इस शोध में शोधकर्ता ने उन्ही संदेशों को अपने कार्य द्वारा प्रस्तुत किया है।
- ❖ 'डा. नरेन्द्र कोहली के उपन्यास: आधुनिकता के सन्दर्भ में' यह विषय लेकर रिज़ा आर. एस. ने केरल विश्वविद्यालय से 1999 शोध कार्य संपन्न किया। डा. कोहली के उपन्यासों की पौराणिक कथा-वस्तु के उपरांत भी वह आधुनिक समसामयिकता को कैसे प्रभावित करते हैं और वर्तमान में भी कैसे अपनी प्रासंगिकता के लिये उतने ही महत्वपूर्ण हैं। यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए शोधकर्ता इस शोध को पूर्ण करता सा प्रतीत होता है।
- ❖ 'डा. नरेन्द्र कोहली के कृष्ण-कथा पर आधारित मिथकीय उपन्यासों में समसामयिक चेतना' विषय लेकर रेखा बी. शर्मा ने मुंबई विश्वविद्यालय से 2013 में शोध कार्य किया। श्री कृष्ण के निर्देशों, उपदेशों एवं जीवन प्रसंगों की समसामयिकता न कभी विगत हो सकती है न समाप्त। उसे भारतीय मानस की चेतना में हर क्षण महसूस किया जा सकता है। यही अध्ययन इस शोध के द्वारा प्रस्तुत किया गया।
- ❖ ठाकुर संजय प्रताप सिंह ने डा.बाबा साहेब अम्बेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से 2007 में शोध कार्य किया। इनका शोध का विषय था 'नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में युगबोध'। शोध का अध्ययन वर्तमान सन्दर्भों को डा.कोहली के उपन्यासों में ढूंढता है, और प्रस्तुत करता है। वास्तव में साहित्यकार समाज के दर्पण को ही अपने साहित्य से दर्शाता है। इसलिए उससे ज्यादा युगद्रष्टा कौन होगा। इसी तथ्य की प्रस्तुति इस शोध द्वारा प्रस्तुत की गयी है।
- ❖ गुरचरण सिंह ने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से 2004 में शोध किया और शोध का शीर्षक था 'नरेन्द्र कोहली की साहित्य साधना'। शोधकर्ता ने डा. कोहली

के साहित्य के बहुआयामी पक्षों का अध्ययन करते हुए रचनाकार के अमूल्य साहित्यिक क्षेत्र को प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

- ❖ गुंजन शर्मा ने 'नरेंद्र कोहली के रामकथा आधृत उपन्यासों का समीक्षात्मक अनुशीलन' शीर्षक से शोध किया, जिसमें उन्होंने राम के आदर्श जीवन को आधार मानते हुए समाज को मर्यादित जीवन की उपादेयता का सन्देश देने का प्रयास किया।
- ❖ 'रामायण और महाभारत की कथा वस्तु पर नरेन्द्र कोहली के उपन्यास— एक अनुशीलन', प्रस्तुत शीर्षक पर राजेश नड्डू भाई चौहान ने 2010 में शोध कार्य किया और इसे संपन्न किया एम. एस. विश्वविद्यालय बड़ोदरा गुजरात से। इसमें शोधकर्ता ने रामायण एवं महाभारत के पौराणिक कथानकों के ऊपर किया गया डा.कोहली का साहित्य अध्ययन एवं विवेचन किया है। शोधकर्ता साहित्यकार के प्राचीन साहित्य के प्रति लगाव को दर्शाता हुआ उसके नवीन प्रस्तुतीकरण को प्रस्तुत कर रहा है। इस शोध से विषय को प्राचीन और नवीन दृष्टि से देखने में सहायता मिली।
- ❖ ओम प्रकाश वर्मा ने राजस्थान विश्वविद्यालय से 2011 में शोध कार्य किया जिसका शीर्षक था 'नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में महाभारत की कथा का रचनात्मक प्रयोग'। इस शोध में शोधकर्ता ने महाभारत की कथा की परिस्थितियों, देश, काल एवं वातावरण की विवेचना प्रस्तुत की है। और इस शोध में महाभारत काल की उन सभी परिस्थितियों का बृहद विवरण, विवेचन में सहायक रहा।
- ❖ 'महासमर: एक अनुशीलानात्मक अध्ययन' इस शीर्षक के अंतर्गत डा. हेलन ने 2012 में कोचीन विश्वविद्यालय से शोध कार्य किया। इसमें शोधकर्ता ने महासमर को आधार बनाकर उसके पात्रों तथा उनकी मानसिकता के प्रत्येक पहलुओं का अध्ययन करने का प्रयास किया है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को जानने में यह शोध सहायक रहा।

- ❖ रेणु गुप्त ने दार्जलिंग (पश्चिम बंगाल) विश्वविद्यालय से 2013 में शोधकार्य किया और विषय था-‘नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में समकालीन जीवन बोध’। इस शोध में शोधकर्ता ने साहित्यकार के उपन्यासों में ली गयी पौराणिक गाथाओं की समकालीन एवं सामयिक प्रासंगिकता का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस शोध ने तुलनात्मक अध्ययन में सहायता की।
- ❖ टी.हेमावती ने ‘आधुनिक हिंदी मिथकीय उपन्यासों में मानवीय संबंध’ शीर्षक से 2014 में शोध कार्य किया और इसे दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, चेन्नई से किया। इसमें शोधकर्ता नरेन्द्र कोहली के पात्रों एवं चरित्रों के परस्पर, सामाजिक एवं मानवीय व्यवहारों एवं संबंधों को केंद्र में रखता हुआ अपना शोध प्रस्तुत करता है।
- ❖ एन.सुजाता ने भी दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा चेन्नई से 2011 में शोध कार्य किया, एवं शोध का विषय था, ‘आधुनिक हिंदी मिथकीय उपन्यासों में सामाजिक चेतना’। साहित्य समाज को प्रभावित करता है और उसके पात्र एवं चरित्र समाज का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसे ही आधार बनाता हुआ शोधकर्ता अपने अध्ययन के निष्कर्षों पर पहुँचता है।
- ❖ माधुरी शर्मा का शोध शीर्षक था ‘आधुनिक हिंदी कृष्ण काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन’। यह शोध उन्होंने अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से 1985 में सम्पन्न किया। उनका मत है कि आधुनिक कवि का अवचेतन युगीन विषमताओं से आक्रांत है, जिसका परिणाम मूल्य क्षरण हो सकता है। इसलिए कृष्ण के दर्शाए रास्ते पर चलना अभीष्ट हो सकता है।
- ❖ निधि बाजपेयी ने अपने कार्य-शीर्षक ‘नरेन्द्र कोहली के महासमर उपन्यास में पौराणिक आख्यान और भौतिक उद्भावनाएँ’ में, पौराणिक वस्तु-विन्यास को आधार मानते हुए अविश्वसनीय, चमत्कारिक, अलौकिक आदि घटनाओं का औचित्य समझने का प्रयास किया है। राम और कृष्ण का चिंतन अधिक उकेरा गया जिससे समाज आदर्श सीखे।

- ❖ एक और साहित्य-अध्ययन किया जिसमें शोध लेखक सुनीता ने अपने कार्य 'महाभारत के उपख्यानों का सांस्कृतिक अध्ययन' में भिन्न संस्कृतियों का अंतर्द्वंद्व दिखाने का प्रयास किया। वास्तव में यह संघर्ष न होकर व्यापक अन्तर्विरोध ही है। आधुनिक अहम् पाले हुए व्यक्ति ने अपना मनोबल न केवल क्षीण किया है वरन उसने स्वयं को बाक्री समाज से थोड़ा प्रथक भी कर लिया है।
- ❖ चौधरी चरण सिंह यूनिवर्सिटी से शोध करने वाली शोधार्थी किरण अपने लेख 'डॉ. नरेंद्र कोहली के उपन्यास महासमर का आधुनिक परिपेक्ष्य में मूल्याङ्कन' से यह तथ्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न करती हैं कि अधिकारों का दुरूपयोग जीवन में उथल पुथल कर देता है और व्यक्ति प्रत्यक्ष अपने हास को नहीं देख पाता जबकि कृष्ण प्रछन्न रहते हुए भी प्रत्यक्ष में प्रभावी हैं।
- ❖ कविवर रामधारी सिंह दिनकर का महाकाव्य कुरुक्षेत्र पढ़ा, इसे अध्ययन करते हुए व्यक्ति के श्वेत-श्याम रूप ने बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रभावित किया। कवि कितने तर्क पूर्ण तरह से न्याय का पक्ष लेते हुए युद्ध की अनिवार्यता को दर्शाता है। भीष्म का युधिष्ठिर के मनोविज्ञान पर आश्चर्य और विराट शक्ति को पुकार इस युद्ध की विभीषिका के वीभत्स अंत का उल्लेख बहुत मार्मिक बन पड़ा है।
- ❖ नरेश मेहता का 'संशय की एक रात' का अध्ययन करने पर एक अन्य सत्य से साक्षात्कार हुआ जहाँ युधिष्ठिर की भांति राम भी युद्ध नहीं शांति को अधिक महत्व देते हैं। उनके लिए व्यक्ति निर्णय पर सार्वजनिक निर्णयों का अधिक बोझ है। वह अपने निर्णय से अधिक सार्वजनिक मर्यादा का पालन करते हुए राम चरित्र की निष्ठा को प्राप्त करते हैं। वह सीता की मुक्ति को स्वीकार करते हुए भी सार्वजनिक निर्णय के प्रश्न से जूझते हैं। मानव की चेतना आज कितनी खंडित होकर अपने व्यक्तित्व के टुकड़ों को समेट रही है इसका उदाहरण पूरे काव्य में दर्शाया गया है।

- ❖ कविवर नरेश मेहता ही का एक और काव्य पढ़ा 'शबरी'। समाज के विभाजन की विद्रूपता और सद्वृत्तियों और मानवीय गुणों से ओतप्रोत शबरी का गृह त्याग कर राम तत्व को समर्पित होना राम के विराट तत्व का प्रतीक है। एक स्त्री जिसका जन्म एक ऐसे परिवेश में हुआ जहाँ की राक्षसी परम्पराएँ उसके व्यक्तित्व को धुंधला करती हैं और उसकी सद्वृत्तियाँ और उच्च आदर्श उसके पलायन को न्यायसंगत ठहराती है।
- ❖ श्री राम आहूजा की पुस्तक भारतीय समाज का अध्ययन किया। वे अपने दृष्टिकोण द्वारा भारतीय समाज के आर्य व् हिन्दू समाज के संगठन की बात करते हैं। उसका ऐतिहासिक परिदृश्य प्रस्तुत करते हुए उसके आधारभूत मत और सिद्धांतों का बयौरा देते हैं। भारतीय संस्कृति, उस पर पड़े इस्लामिक एवं पच्छिम के प्रभाव का विवेचन करते हुए उसमें आये परिवर्तन और उसकी सतत निरंतरता की बात करते हैं। समाज की विवेचना करते हुए उसके जाति, वर्ण, उपजाति और वर्गों का भी उल्लेख करते हुए उसके विघटन के कारकों का अध्ययन करते हैं। समाजिक व्यवस्था के प्रति विश्लेषण करते हुए वह सामाजिक न्याय के निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।
- ❖ डॉ. रामशक्ल पाण्डे एवं डॉ. करुणा शंकर मिश्र मूल्य शिक्षण में शिक्षा के सन्दर्भों में मूल्यों के अर्थ उसके भेदों की व्याख्या का वर्णन करते हैं। साथ ही मूल्यों की उपादेयता, भारतीय सन्दर्भों में उसका अनिवार्य तत्व विवेचित करते हुए बहुत सारगर्भित सार प्रस्तुत करते हैं।
- ❖ इसी से सम्बंधित भारत-भारती काव्य रचना में मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संवेदना और स्वतंत्रता से सम्बंधित मूल्यों की विवेचना करते हुए राष्ट्र प्रेम से सम्बंधित मूल्यों को लेखनी का विषय बनाते हैं।
- ❖ मैथिलीशरण गुप्त का ही काव्य प्रबंध साकेत अपने मूल्यपरक विश्लेषण में उत्कृष्ट रचना बन कर मन को झकझोरता है। यदि सीता का राम की अनुगामी होकर व्यवहार करना आदर्श है तो उर्मिला का पीछे रह कर सास-

शवसुर की देखभाल का कार्य भी मर्यादा का अप्रतिम उदाहरण है। त्याग यदि जीवन में उच्च स्थान रखता है तो उर्मिला के त्यागपूर्ण आचरण को मूल्य परक आचरण में सर्वोपरि देखना उचित ही होगा।

- ❖ रामधारी सिंह दिनकर के संस्कृति के चार अध्याय में संस्कृति की परिभाषा ने दृष्टि को नये आयाम दिए। सांस्कृतिक उत्तर चदावों को समझने में बहुत सहायता मिली।
- ❖ संपादिका के रूप में सरला भारद्वाज ने मूल्य परक शोध ग्रंथों का एक संकलन प्रस्तुत किया, 'संस्कृत साहित्य में मानवीय मूल्य' इसमें अनेक बुधिज्ञों के विचार अध्ययन करते हुए उनके लेखों से रूबरू हुई। सरला जी का स्वयं का लेख श्री मदभागवतगीता में प्रतिपादित मानवीय मूल्य-कर्म में वे इस बात का उल्लेख करती हैं कि श्री कृष्ण का कर्म का सिद्धांत विश्व का एक ऐसा मूल्य है जिसे आधार भूत मूल्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसे समझने, करने और ग्रहण करने के पश्चात् समाज में सभी मानव मूल्य स्वतः ही जीवन में सम्मिलित हो जाते हैं।
- ❖ होशियारपुर के सरकारी कालेज की डॉ. शोभा रानी के निष्कर्ष अपने लेख 'वाल्मीकि रामायण में मानवीय मूल्य' में यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि मूल्य तो सार्वभौम की शिक्षा है, जिस विश्व बंधुत्व की बात भारतीय दर्शन करता है वही सर्वोच्च मूल्य है।
- ❖ वेदों के दर्शन को भी संक्षिप्त रूप से अध्ययन किया। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भरे ज्ञान में ही भारतीय सांस्कृतिक चेतना को विश्व में अमूल्य और सर्वोच्च स्थान दिलाया है, उसी के कारण इतने आक्रमणों के पश्चात् भी भारतीय मानस का अस्तित्व अक्षुण्ण है।
- ❖ महाभारत के कथानक का परिचय पाने के लिए उसका हिंदी अनुवाद पढ़ा। भिन्न पर्वों की जानकारी देता यह महान ग्रन्थ जीवन के वास्तविक अर्थों को समझाता है। जीवन केवल जी लेने का नाम नहीं, उसको लक्ष्य प्रेरित कर और समझकर जीने का नाम है।

- ❖ तुलसीदास कृत रामचरितमानस का अध्ययन अनेकों बार करने के उपरान्त जब इस शोध के सन्दर्भ में किया तो मूल्य सम्बन्धी नए अर्थ समझ में आये। राम की कथा, सीता का चरित्र, लक्ष्मण का त्याग, रावण का अहम्, विभीषण का द्वन्द सभी आचरण सम्बन्धी मूल्यों को अन्यत्र अर्थों में समझाते से लगते हैं।
- ❖ डॉ नरेंद्र कोहली के अन्य उपन्यास पढ़े, जैसे आत्मदान, अभिज्ञान, कुंती, वासुदेव, अभ्युदय आदि। उनका मनोविज्ञान समझने में सहायता मिली। कहीं वह चरित्र की आलोचना करते हैं और कहीं वह चरित्र में स्वयं ही डूब जाते हैं। पात्रों के आचरण और उनके मन की बात करते हुए वे परोक्ष रूप से एक प्रछन्न सन्देश देते जाते हैं।
- ❖ हिडिम्बा एक राक्षसी है। नरेंद्र कोहली जी के उपन्यास 'हिडिम्बा' में उसका चरित्र एक अन्यतम उदाहरण देता है। वह अपने पति भीम की संतान को राक्षसी गुणों से परे कर उसे आर्य जाति के अनुसार शिक्षा देने का प्रयास करती है। नारी के रूप में अस्तित्व का यह समर्पण उसके व्यवहार के मूल्यपरक आदर्श का दर्पण है।
- ❖ महासमर के समस्त भाग अपने आप में एक ऐसा अनुपम संग्रह हैं जिन्हें जितनी बार पढ़े उतना ही वह अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। युद्ध के कथानक के आस पास रचा गया यह उपन्यास कहीं भी युद्ध का अनुमोदन नहीं करता। महात्मा विदुर का भरसक प्रयास है कि युद्ध की विभीषिका से बचने के लिए नीति का पालन किया जाये। भीष्म युद्ध को रोकने के लिए किसी भी तरह का त्याग स्वयं तो करते ही हैं वह युधिष्ठिर से भी यही उम्मीद करते हैं। महामुनि वेदव्यास अवश्यम्भावी प्रारब्ध की पुष्टि करते हैं और युद्ध का अनुमोदन करते हैं। उनके अनुसार यदि न्याय के लिए युद्ध अनिवार्य है तो उसे ग्रहण करना चाहिए। कृष्ण तो धर्म के साथ हैं यदि धर्म नहीं तो युद्ध ही एकमात्र माध्यम है। कुंती और द्रौपदी अपने अधिकार के प्रति सचेत स्त्री शक्ति के रूप में मानवीय एवं स्त्री सम्मान की द्योतक हैं।



- ❖ डॉ. रामजी लाल सहायक का ग्रन्थ अध्ययन किया, 'कबीर-दर्शन'। इस बात को निर्विरोध मानना होगा कि कबीर का जीवन मूल्यों की, उनके अनुसार किये गये आचरण की प्रतिछाया है। यदि किसी को जीवन में आदर्श और उत्तम जीवन का अनुगामी होना है तो केवल कबीर अथवा गुरु नानक के मार्ग पर चल कर वह एक अनुपम अनुकरणीय जीवन का राही बन सकता है। उन्हीं निरक्षर कबीर के कथ्यों और साखी के अर्थों की समीक्षा करता हुआ यह दर्शन शोध के लिए बेहद सारगर्भित प्रेरणा बना। जब वह इस तथ्य को उजागर करते हैं कि आत्मा अजर अमर है और उसका कोई अंत नहीं। तो अध्यात्म के वास्तविक अर्थों को प्रकट करते हैं यही गीता में कृष्ण भी कहते हैं कि आत्मा पुरातन वस्त्र त्याग कर नव जीवन की ओर प्रस्थान करती है। मोक्ष का बहुत अमूल्य एवं सूक्ष्म चिंतन किया गया है।
- ❖ डॉ. दर्शन सिंह निर्वैर की वग्ज्योति का अध्ययन भी बहुत प्रेरणास्पद रहा। भारत की आर्य संस्कृति की व्याख्या करते हुए लेखक उसके सांस्कृतिक समन्वय और पुनर्मूल्यांकन की बात करता है। आत्म ज्ञान की आवश्यकता की विवेचना करता है। अध्यात्म को जीवन का विज्ञान और जीवन की कला कहने और प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए एक सुसंगत जीवन निर्वहन का सन्देश देने का प्रयास करता है।
- ❖ डॉ. कोहली कृत विवेकानंद के जीवन की गाथा को आधार बना कर लिखी गयी उपन्यास श्रृंखला 'तोड़ो करा तोड़ो' के छः भाग भी अध्ययन किये। मन के अभिन्न तारों को झिंझोड़ते हुए जीवन की अप्रतिम यात्रा का वृतांत है यह उपन्यास। किसी का जीवन इतने कष्टों के पश्चात् भी इतना निर्मल, उच्च, अध्यात्मिक, संवेद्रात्मक, और मानवीय गुणों से लबरेज हो सकता है ! कितना धनी है हमारा साहित्य ! हमारे रचनाकार ! हमारा ऐतिहासिक साहित्य ! और महान व्यक्तित्व ! जिनके उदाहरण भारत को भारत बने रहने में सहायक हैं। यह मूल्य ही तो हैं, जिनके कारण हम, हम हैं।

- ❖ स्वामी दयानन्द सरस्वती का सत्यार्थ पढ़ा। अपने तत्कालीन समाज में रहते हुए इतना आधुनिक विचार केवल उस महान आत्मा का ही दर्पण प्रेषित करता है। जीवन को कैसे जिया जाये, किन आचरणों के द्वारा समाज की स्वीकृति और मान्यता प्राप्त करनी आवश्यक है और किन आदर्शों के पालन से व्यक्तित्व के निर्माण में विकास संभव है। इस ग्रन्थ ने जीवन को जिस दृष्टि से सराबोर किया वह शोध को आगे बढ़ाने में बहुत सहायक यंत्र बनीं।
- ❖ रांगेय राघव की पुस्तक पढ़ी 'यशोधरा जीत गयी', महात्मा बुद्ध के त्याग एवं वन गमन का वृत्तांत कहते हुए यह अपने अंत तक पहुँचते हुए उस साध्वी के अन्यतम जीवन दर्शन और उस अप्रत्यक्ष त्याग का विश्लेषण करती है जहाँ वह अपने पुत्र को भी भिक्षा में पति को दान में दे देना चाहती है। नारी के रूप में उच्च मानवीय मूल्यों की पराकाष्ठा के दर्शन है यह।
- ❖ गुरु की बाणी श्री गुरु ग्रन्थ साहेब का हिंदी अनुवाद अध्ययन किया। गुरुओं की, भगतों की बाणी किसी दृष्टान्त की मोहताज़ नहीं अपने आप में स्वयं ही मूल्यों का पर्याय है और आचरण के सत्य मार्ग का दर्शन है।

सत्य कहाँ है? वास्तव में इस साहित्याब्लोकन से दृष्टि को एक अन्यतम दृष्टिकोण मिला जिसने जीवन का वास्तविक अर्थ समझने में बहुत सहायता की।

## परिशिष्ट: 2

### जीवन मूल्य: सैद्धांतिक प्रारूप

सृष्टि चर (चेतन) एवं अचर (जड़) का प्रारूप है। सभी चेतन प्राणियों में मानव अपने विवेक के कारण विकास की दशाओं को निरंतर प्राप्त करता रहा है। अपने प्राकृतिक एवं मूल-स्वरूप को विकास एवं कल्याणकारी बनाने के लिए ही मानव-वैयक्तिक से सामाजिक बना। इस प्रक्रिया को सफल बनाने के जो सिद्धांत थे, उन्हें ही हम मूल्य की संज्ञा देते हैं। जिससे जीवन कैसे जिया जाए, इसके निर्देश मिले। जिस प्रकार मानव जीवन सतत है, उसी प्रकार उसके व्यवहारों का नियमन एवं निर्देशन करते मूल्य भी सदैव निरंतर हैं। एक अप्रतिम विवेक का वरदान ईश्वर ने व्यक्ति को दिया है। जिससे जीवन को सौंदर्य के उत्तम धरातल पर जीने में सहायता मिले, जो सर्व-मान्य हों, सर्व कल्याणकारी हों, समाज सापेक्ष हों, जिनसे किसी का अहित न हो, जिनका अनुसरण अपने पूर्वजों, ऋषिओं, मनीषियों ने न केवल किया हो, वरन जिनका उपदेश और निर्देश भी दिया हो, ऐसे सिद्धांतों और आचरण सम्बन्धी विश्वासों को मूल्यों के सैद्धांतिक रूप में कहा जाता है।

### जीवन मूल्य अर्थ

वस्तुतः मानव जीवन, क्या है ? अर्थात्-तथ्य ! एवं, क्या होना चाहिये? अर्थात्—आदर्श ! इन दो आयामों से निर्धारित होता है। मानव सदैव अपने विकास के लिए क्रियाशील रहा है। और ऊपर उठकर गतिशील एवं कल्याणकारी विकास की ओर बढ़ता रहा है। यही निर्देश एवं नियम जो मनुष्य को सामाजिक बनाते हुए एक कल्याणकारी एवं शुभ दिशा की ओर अग्रसर करें, वे प्रतिमान एवं सिद्धांत ही मूल्य कहलाते हैं।

भारतीय संस्कृति एवं चिंतन ने प्राचीन काल से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के महत्व को जीवन में प्रतिपादित किया है। अतएव ये ऐसे जीवन मूल्य हैं जो सदैव उपस्थित रहे हैं। जिस चिंतन ने पाश्चात्य जगत को भी झिंझोड़ा है, यह वह

चिंतनधारा है। जिसके अनुसार मानव जीवन उन व्यवहारों को करने के लिए तत्पर होता है जिससे वह समस्त जगत को कल्याण एवं विकास का देय दे सकने के योग्य बनता है।

मानव को अन्य जीव जगत से पृथक करता है उसका जागृत विवेक ! और यही विवेक उसे वांछनीय और अवांछनीय में भेद समझाता हुआ उन्नत मूल्यों के अनुसार जीवन जीना सिखाता है।

## जीवन मूल्य :परिभाषा

जीवन मूल्य धर्म एवं संस्कृति के अनुसार व्यक्ति को व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं। अतः कई विद्वानों ने संस्कृति एवं मूल्यों के विषय में निम्न परिभाषाएं दी हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं:

राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा, “असल में संस्कृति (मूल्य) जिंदगी का एक तरीका है और वह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।” (दिनकर 656)

भारतीय संस्कृति में जीवन मूल्यों पर विशेष बल दिया जाता है। प्रत्येक विचारक एवं मनीषी के विचार मौलिक होते हुए भी निर्विवाद रूप से साम्यता रखते हैं और जीवन को सार्थक एवं आदर्श बनाते हैं।

महादेवी वर्मा जी ने लिखा है, “वास्तव में थोड़े से सिद्धांत, जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं, हम उन्हीं को मूल्य कहते हैं।” (तारा इन्टरनेट)

सिद्धांत शब्द मानवोचित आदर्शात्मक कृत्यों की ओर संकेत करता है। अतः सदाचरण तथा सदगुण स्वयं ही मूल्य को निरूपित एवं उद्धाटित कर देते हैं। गुण स्वयं में मूल्यवान होने से मूल्य शब्द का समानार्थक बन जाता है। महान भक्त एवं रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास जी का सम्पूर्ण साहित्य एवं उनकी जीवन यात्रा एक भक्त की महायात्रा है जिसमें श्री रामकथा का अनवरत गान है। परन्तु उनका साहित्य केवल राम-गाथा नहीं वरन संस्कृति एवं मूल्यों का एक ऐसा दस्तावेज़ है

जिस के द्वारा कवि ने मानवीय एवं जीवन मूल्यों को अपने चरम शिखर पर पहुंचा दिया है। कवि ने स्पष्ट रूप से पर-हित मूल्य की प्रतिष्ठा करते हुए उसे परम धर्म स्वीकारा है। वस्तुतः- “पर-हित जीवन का ऐसा पक्ष है जिसे शाश्वत मूल्य माना जा सकता है।” (तुलसीदास 7/41/1)

जेम्स पी. शेवर तथा विलियम स्ट्रॉंग के अनुसार, “मूल्य महत्व के बारे में निर्णय के मानदंड तथा नियम हैं। यह वे मानदंड हैं जिनसे हम चीजों (लोगों, वस्तुओं, विचारों, क्रियाओं तथा परिस्थितियों) के अच्छा, महत्वपूर्ण व वांछनीय होने अथवा महत्वहीन व तिरस्कारणीय होने के बारे में निर्णय करते हैं।” (पाण्डेय 3)

सी.वी. गुड के अनुसार, “मूल्य वह चारित्रिक विशेषता है जो मनोवैज्ञानिक सामाजिक और सौन्दर्य बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है। लगभग सभी विचार मूल्यों के अभीष्ट चरित्र को स्वीकार करते हैं।” (गुड 2)

मिल्टन का मानना है, “जीवन मूल्य ओस की बूंदों के सदृश्य नहीं है जो मौसम के अनुसार दिखाई दे। इनकी जड़ें प्रत्येक प्राणी में बहुत गहरी होती हैं तथा इनका वास्तविकता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।” (मिल्टन 2)

## जीवन मूल्य : प्रकार

जीवन को यथार्थ के साथ-साथ आदर्श एवं उत्तम धरातल दें, ऐसे मूल्य वस्तुतः कई प्रकारों में उल्लिखित किये गये हैं। विभिन्न विद्वानों ने जीवन मूल्यों के कई प्रकारों का वर्णन एवं विश्लेषण किया है जिनमें निम्न मुख्य हैं:

### 1) भौतिक मूल्य

प्रकृति एवं सृष्टि के उद्गम एवं विकास से सम्बंधित मूल्य इस प्रकार में लिए जाते हैं। जीवन है तो उसकी आवश्यकताएं भी हैं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन और भौतिक संसाधनों की अनिवार्यता को झुठलाया नहीं जा सकता। इसके लिए भी तो कुछ नियमों को मानना होगा, तो यही नियम

भौतिक मूल्यों के रूप में जाने जाते हैं। बस जानना यह है कि किस श्रेणी का संसाधन जीवन के लिए अति की सीमा को पार नहीं करता।

## 2) आर्थिक मूल्य

जीवन के कार्य-व्यापार, आवश्यकता संबन्धी, एवं व्यवसाय से संबंध रखने वाले सिद्धांत एवं मूल्य इसमें आते हैं। भारतीय जन मानस किसी भी कार्य से पूर्व पूजन की परम्परा पर श्रद्धा रखते हुए शुभ कार्यों द्वारा लाभ की प्राप्ति चाहता है। बस यह विधि ही आर्थिक मूल्यों को स्थापित करती है। क्या कार्य मूल्यों के अंतर्गत आते हैं और कौन से अहितकर और अमर्यादित हैं। इसकी चेतना ही आर्थिक मूल्य कहे जाते हैं।

## 3) मनोवैज्ञानिक मूल्य

चिंतन, मनन, सत्यम-शिवम्-सुन्दरम को मानवीय एवं सामाजिक धरातल पर गरिमा देने के सिद्धांत इस विभाग में सम्मिलित हैं। विवेक मनुष्य को प्रकृति से मिला एक ऐसा अप्रतिम वरदान है, जिसके द्वारा वह न केवल अपने मनोविज्ञान का दर्शन करता है वरन अपने आचरण से औरों के सन्मुख अपने मन की स्थिति को प्रकट करने में समर्थ होता है।

## 4) सौन्दर्यात्मक मूल्य

भौतिक सुन्दरता, मानसिक सुन्दरता एवं कलात्मक और सांस्कृतिक सुन्दरता सम्बन्धी मूल्य इस प्रकार में आते हैं। सौन्दर्य सदा ही जीवन और जीवनी शक्ति का आधार रहा है। मन को मोहने वाली प्रकृति की रचना तो स्वयं ईश्वर ने कर दी है। और स्थूल सौन्दर्य के साथ-साथ सूक्ष्म सौन्दर्य की दर्शन-दृष्टि भी स्वयं उस रचनाकार ने प्रदान की है, तो बस जागरण और दृष्टि-प्रज्ञ होना ही आवश्यक है। तभी जीवन एवं जीवनी शक्ति के सत्य सुंदर और शिवम् स्वरूप का वास्तविक सौन्दर्य दर्शन हो सकता है।

## 5) व्यैक्तिक एवं सामाजिक मूल्य

व्यक्ति और समाज के प्रति धैर्य, सहिष्णुता, प्रेम, न्याय, पारस्परिक एकता एवं क्षमाशीलता आदि मूल्य आते हैं। महर्षि पतंजलि के योग के आठ अंगों में प्रथम 'यम' अर्थात् सामाजिक और द्वितीय 'नियम' आदि दो अंग इन्हीं गुणों और मूल्यों को ही प्रतिपादित करते हैं। इन्हीं दो अंगों में भारतीय मानस अपने और समाज की विकास प्रक्रिया को समझता है और यह भी निर्देश प्राप्त करता है कि वह कौन से कार्य—कारण हैं जिनके द्वारा व्यष्टि और समष्टि दोनों का हित साधन हो सके।

## 6) राजनैतिक मूल्य

राज्य को अधिकार तथा कर्तव्य उसके प्रशासनिक, नीति निर्देशक सिद्धांत बताने वाले मूल्य इस प्रकार में सम्मिलित हैं। व्यक्ति जब सामाजिक बना तो उसने कुछ व्यवस्थाओं और विधानों की रचना की, और उस नियमावली को राज्य के प्रशासनिक क्षेत्र में सम्मिलित किया। इन समस्त मूल्यों को राजनैतिक मूल्यों के रूप में जाना जाता है।

## 7) मानवीय एवं नारी संबंधी मूल्य

मर्यादा एवं मानवीयता, नारी की तेजस्विता एवं धैर्यशीलता उसकी विकासशीलता से सम्बंधित मूल्य इस प्रकार में आते हैं। सृष्टि का आधा हिस्सा नारी के रूप में प्रकृति ने निर्मित किया है। जीवन के प्रत्येक विभाग को नारी की उपस्थिति के बिना विचारना दुरूह है। अतः समाज के अन्यतम रूपों को, अंगों को प्रभावित करने वाले नारी सम्बन्धी मूल्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती।

## 8) नैतिक मूल्य

जीवन की आधारभूत मान्यताओं, पवित्रता, व्यवहार, धर्म, सुरक्षा आदि मूल्य इसमें आते हैं। मानव के व्यवहार में आदर्श एवं मर्यादित आचरण का होना उसके विवेक का द्योतक है। अतएव इन मूल्यों को जीवन को आदर्श स्थिति देने के लिए जाना जाता है।

## 9) आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्य

भारतीय विश्वासों एवं व्यवस्था के अनुसार श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, मोक्ष से सम्बंधित निर्देश एवं सिद्धांत इसमें आते हैं। भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के चार आयामों के विषय में इंगित करती है। अतः मनुष्य कभी विश्वासों के लिए, कभी भय के लिए, कभी श्रद्धा के लिए, इन मूल्यों की पालना अवश्य करने को बाध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त सद्गुणों के लिए भी यह मूल्य प्रेरणा बन कर मनुष्य को राह दिखाते हैं।

## 10) सहायक मूल्य

इस प्रकार में मानव अपनी स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति, सौहार्द एवं आचरण संबन्धी नीति एवं न्याय निर्धारित करता है और वह व्यवहार जो उसकी क्रिया और प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करते हैं, वे मूल्य आते हैं।

## जीवन मूल्य : आवश्यकता एवं आधार

कहा जाता है कि जिसका ध्येय लोक कल्याण हो और जो मानव को उदात्तता के सोपानों पर ले जाये, ऐसे सिद्धांत मूल्य कहलाते हैं। अतः कह सकते हैं कि जीवन में जो श्रेय है, जो उत्तम है, जो शुभम है, जिन आचरणों से व्यक्ति श्रेयस्कर मानव बने वह मूल्य समाज एवं संस्कृति के लिए अति आवश्यक हैं। मानव एक विवेकशील प्राणी है, वह जानता है कि उसके वयक्तिक व्यवहार संपूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। अतः वह अपने व्यवहारों को मूल्यों के साथ सामंजस्य बैठा कर करता है, तभी एक उत्तम समाज का निर्माण होता है। व्यक्ति एवं समाज की स्वतंत्रता, श्रेष्ठता, मान्यता एवं संतुलन तभी बना रह सकता है जब व्यक्ति अथवा मानव मूल्यों को समझे और सार्वजनिक जीवन से अनास्था, कुंठा, निराशा, और असंतोष को समाप्त कर सके, और यह तभी संभव है, जबकि समाज का व्यवहार उत्तम एवं वांछनीय मूल्यों द्वारा निर्धारित होता हो। कोई भी साहित्यकार जीवन मूल्यों को ज्यों का त्यों अपनाकर अपनी कृति में प्रस्तुत नहीं करता वरन वह भी अपनी लेखनी से समसामयिक समाज का अध्ययन करते हुए समाज की



परिस्थितियों के अनुसार उन्हें विकसित रूप में उल्लेखित करता है। भारतीय हिंदी साहित्य अपने आप में इतना अधिक धनी है कि जितना इसे अध्ययन करते जाएँ, नए-नए निष्कर्षों से मूल्यों की अपरिहार्यता और आवश्यकता के विचार को सबलता से सहमति मिलती जाती है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति जब व्यवहार करता है तो एक बार अवश्य विचार करता है कि इस व्यवहार की प्रतिक्रिया अथवा परिणाम क्या होगा। यही तो है चेतना; और चेतना सिखाती है मूल्यों की ओर बढ़ना, उसके अनुरूप आचरण करना।

जीवन का सत्य, शिव और सौन्दर्य का दर्शन क्या है, इसका भी संज्ञान एक मूल्य निर्देशित व्यक्ति ही कर पाने में सक्षम होता है। व्यक्ति ने प्रकृति से भय खा कर और श्रद्धा के भाव के कारण एक सर्व शक्ति की संकल्पना को रचा और उसे धर्म के नाम से पहचाना। धर्म ने नैतिक और सर्व-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया। कुछ नियम बने और न्याय की अवधारणा ने अपनी कोंपलें खोलीं। समाज की स्थापना हुई, राज्य की व्यवस्था और कल्पना को साकार रूप देने में मानव आगे बढ़ा। अब यह सब हो रहा है; उस चेतना के रहते जिसे मानव ने अपने विवेक से जाना और समझा कि यदि जीवन के सौन्दर्य को पाना है, तो कुछ विधान आवश्यक रूप से मानने होंगे। यह चिंतन कहाँ से अवतरित हुआ? उस आवश्यकता से ही ! जिसे मनुष्य अपने लिए भी चाहता है, और-औरों के लिए भी। ऐसा इसलिए, क्योंकि अब वह अकेला, एकांत में रहने वाला प्राणी नहीं। वह समाज में एक दूसरे के साथ समन्वय बैठाता हुआ, अधिकारों के साथ कर्तव्यों के बारे में जागरूक होने वाला, विवेकशील प्राणी बन गया है। उसका आचरण अपनी समस्त परिकल्पनाओं में, दर्पण की दूसरी ओर दिखाई देता है। साथ ही अब वह, अन्य लोगो के व्यवहार को भी सूक्ष्मता से देखने-जानने की क्षमता रखता है। वह इन आचरणों को, प्रतिक्रियात्मक स्वरूप, अपनी अनुभूतियों में सहेज कर, स्थान-स्थान पर उदाहरण देता है। वह अपने बेहद समृद्ध इतिहास से शिक्षित हो रहा है और गढ़ रहा है नया इतिहास भी। तो अनिवार्य हैं न ! जीवन मूल्य ! जो प्राणी को जीवन की राह दर्शाने वाले ज्योति पुंज हैं।

## परिशिष्ट: 3

### डा.नरेन्द्र कोहली :परिचय

#### व्यक्तित्व एवं कृतित्व

एक विचारवान, ज्ञानवान एवं सर्वथा मौलिक कृतिकार डा. नरेन्द्र कोहली एक उत्कृष्ट उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, व्यंग्यकार एवं निबंधकार हैं। समकालीन साहित्यकारों में उनका मूर्धन्य एवं नितांत पृथक स्थान है। अपने साहित्य के द्वारा समाज के कल्याण एवं प्रगति में उनका योगदान अतुलनीय एवं अनमोल है। भारतीयता एवं संस्कृति की प्रस्तुति में उनका कोई साहित्यिक सानी नहीं। उनके साहित्य में दिए गये योगदान-उनके लेखन कृतित्व को अमर हस्ताक्षर के रूप में सदा जीवंत रखने में सक्षम हैं।

#### डा.नरेन्द्र कोहली : जीवन परिचय

डॉ. नरेन्द्र कोहली का जन्म स्यालकोट में ई. 1940 में हुआ। यह स्थान अब पाकिस्तान में स्थित है।

#### डा.नरेन्द्र कोहली :परिवार एवं परंपरा

डा.नरेन्द्र कोहली की माताजी श्रीमती विद्यावंती एवं पिता श्रीमान परमानन्द कोहली स्यालकोट में ही जन्मे और बड़े हुए। अपने साधारण परिवेश के चलते वह अधिक शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके। उनके पिता भी लेखन में रूचि रखते थे अतएव उन्होंने कुछेक उपन्यासों की पांडुलिपियाँ भी विरासत के रूप में डा.कोहली के लिए छोड़ी। सन 1985 ई .में उनका स्वर्गवास हो गया।

#### डा.नरेन्द्र कोहली :शिक्षा एवं व्यवसाय

डा. कोहली ने लाहौर से अपनी प्रारंभिक शिक्षा शुरू की। देश के विभाजन के उपरांत वह अपने परिवार के साथ जमशेदपुर आ गये तथा तीसरी कक्षा से

ग्यारहवीं कक्षा तक की पढाई उर्दू माध्यम से जमशेदपुर के ही विद्यालयों में संपन्न हुई। जमशेदपुर रांची विश्वविद्यालय से बी.ए. किया। उसके बाद दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम्.ए. करने के पश्चात् 1970 ई . में हिंदी साहित्य में ही पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सन 1963 में डा. कोहली ने पी.जी.डी.ए.वी. सांध्य कालेज में हिंदी विभाग में अध्यापन कार्य आरंभ किया। तत्पश्चात् सन 1965 में दिल्ली के ही मोतीलाल नेहरु कालेज में हिंदी अध्यापन किया। वहां उन्होंने 1995 तक अध्यापन कार्य किया। उसके उपरान्त लेखन में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण, अंततः 1995 ई.में स्वैच्छिक अवकाश लेकर व्यवसाय का कार्य समाप्त कर दिया।

### डा.नरेन्द्र कोहली :विवाह एवं परिवार

श्री नरेंद्र कोहली ने सन 1965 में डा. मधुरिमा से विवाह किया। श्रीमती मधुरिमा कोहली भी हिंदी साहित्य में एम्.ए.पी.एच.डी. हैं। डा.कोहली के दो पुत्र हैं, कार्तिकेय एवं अगस्त्य। कार्तिकेय अर्थशास्त्र में एम्.ए.एम्.फिल.पी.एच.डी. हैं, एवं वर्तमान में दिल्ली में ही रामलाल आनंद सांध्य कालेज में अध्यापन कर रहे हैं। कार्तिकेय की पत्नी डा. वंदना एक चक्षु विशेषज्ञ हैं। डा. कोहली के छोटे पुत्र अगस्त्य यान्त्रिकी की शिक्षा पूरी कर शिकागो में चले गये और अमेरिका में नेटवर्क अभियंता के रूप में कार्यरत हैं। इनकी पत्नी भी नाटक विषय में एम्.ए. है।

### डा. नरेंद्र कोहली : रचनाएँ एवं कृतित्व

डा.कोहली में शैशव से ही लिखने की इच्छा थी। जब वह कक्षा छ :में थे, तो उनकी प्रथम रचना कक्षा की हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित हुई। फिर कक्षा आठ में विद्यालय की मुद्रित पत्रिका में भी एक कथा प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था 'हिंदुस्तान:जन्नत निशां', यह कहानी उर्दू में प्रकाशित हुई। इसी बीच कुछ अन्य रचनाएँ बाल लेखक के रूप में पटना, धनबाद तथा 'सरिता' पत्रिका दिल्ली, के 'नये अंकुर' स्तम्भ में प्रकाशित हुईं। परन्तु नियमित लेखन 1960 से आरंभ हुआ। रचनाकार महोदय, इलाहाबाद में सन 1960 में प्रकाशित अपनी रचना 'दो हाथ' को प्रथम प्रकाशित रचना के रूप में मानते हैं। डा. कोहली ने उपन्यास, कहानी,

नाटक, व्यंग्य तथा निबंध, सभी विधाओं में अपने योगदान एवं लेखन से साहित्य को समृद्ध किया। उनके लेखन में न तो कहीं पुरातनपंथ झलकता है न ही वह पाश्चात्य दर्शन की ओर झुके हैं। उनके साहित्य की मौलिकता, भारतीयता एवं सांस्कृतिक चेतना सराहनीय एवं अनुकरणीय है। पौराणिक रामकथा को आधार बना कर उन्होंने 'अभ्युदय' नाम से उपन्यास लिखा जिसे पहले पांच अंकों में लिखा गया था कालांतर में इन उपन्यासों के खण्डों को दो अंकों में समेट कर 'अभ्युदय' के नाम से संकलित कर दिया गया है। कई सांस्कृतिक और बौद्धिक प्रश्नों का उत्तर देता यह उपन्यास बहुत से ज्ञानी शोधकर्ताओं के शोध का विषय बना। इसके पश्चात् महाभारत कथा के आधार पर 'महासमर' नाम से नौ खण्डों में एक वृहद उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में डा. कोहली ने पाठकों के सन्मुख महाभारत की विराट कथा मूर्त रूप में जीवंत कर दी। इस के पात्र, चरित्र, घटनाएँ, परिस्थितियाँ, मूल्य, चिंतन, दर्शन तथा व्यवहार अपने काल के साथ साथ सामयिक सन्दर्भों से भी जूझते से लगते हैं। लेखक की उत्कृष्ट लेखनी ने इस महा-उपन्यास से साहित्य को एक बहुमूल्य रत्न उपहार दिया है। इसी प्रकार कृष्ण कथा पर 'अभिज्ञान' नाम से उपन्यास लिखा जिसमें 'गीता' के 'कर्म' सिद्धांत की व्याख्या की। स्वामी विवेकानंद पर 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिख कर डा. कोहली ने पाठकों को चमत्कृत कर दिया। इसके अतिरिक्त 'वासुदेव', 'हिडिंबा', 'आंतक', 'पुनरारंभ', 'साथ सहा गया दुःख' और 'हम सब का घर' बाल उपन्यास आदि पौराणिक एवं सामाजिक उपन्यास लिखे। डा. कोहली ने 'परिणिति', 'कहानी का अभाव', 'गणित का प्रश्न', 'शटल', 'नमक का कैदी', 'निचले फ्लैट में', 'संचित भूख', आदि कहानियाँ रचित की। डा. कोहली के सुप्रसिद्ध नाटक हैं; 'शम्बूक की हत्या', 'निर्णय रुका हुआ', 'हत्यारे', 'गारे की दिवार', 'नींद आने तक' तथा 'प्रतिद्वंदी' आदि। व्यंग्य विधा में लिखी गयी डा. कोहली की रचनाएँ हैं, 'एक और लाल तिकोन', 'पांच अब्सर्ड उपन्यास', 'आश्रितों का विद्रोह', 'जगाने का अपराध', 'परेशानियाँ' आदि। अन्य लेखों में प्रेमचंद के साहित्य सिद्धांत, प्रेमचंद समीक्षा, हिंदी उपन्यास: सृजन और सिद्धांत, नेपथ्य आत्मपरक निबंध, (बाबा नागार्जुन) संस्मरण, (स्मृतियों के गलियारे से) संस्मरण आदि लिखे। इसके अतिरिक्त 'प्रतिनाद' नाम से पत्र संकलन भी

लेखक ने रचना रूप में साहित्य को दिए। डा. कोहली की 'आत्म स्वीकृति—आत्मकथा' भी नव शिल्प का अनूठा, अद्भुत उदाहरण है। यहाँ यह वर्णनीय है कि डा. कोहली के उपन्यास एवं कहानियाँ नेपाली, कन्नड़, मराठी, उड़िया, मलयालम, अंग्रेजी, एवं संस्कृत आदि भाषाओं में अनुवादित एवं प्रकाशित हुई हैं, जिससे अन्य भाषाओं का साहित्य भी समृद्ध हुआ।

## डा. नरेंद्र कोहली: उपलब्धियाँ : पुरस्कार एवं सम्मान

डा. कोहली को प्राप्त हुए सम्मानों एवं पुरस्कारों की सूची अति ब्रह्म है, परन्तु कुछ निम्नलिखित उद्धृत हैं:

राज्य साहित्य पुरस्कार, शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ से प्राप्त किया। इलाहाबाद नाट्य संघ पुरस्कार, इलाहाबाद नाट्य संगम, इलाहाबाद से मिला। मानस संगम साहित्य पुरस्कार, मानस संगम, कानपुर से मिला। श्री हनुमान मंदिर साहित्य अनुसन्धान संस्थान विद्यावृत्ति, श्री हनुमान मंदिर साहित्य अनुसन्धान संस्थान, कोलकाता से प्राप्त हुई। साहित्य सम्मान, हिंदी अकादमी, दिल्ली से, साहित्यिक कृति पुरस्कार, हिंदी अकादमी, दिल्ली से और डा. कामिल बुल्के पुरस्कार, राजभाषा विभाग, बिहार सरकार, पटना से प्राप्त हुआ। चकल्लस पुरस्कार, चकल्लस पुरस्कार ट्रस्ट, मुंबई से ग्रहण किया। साहित्य भूषण, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ से, भाषा भूषण, साहित्य मंडल, श्रीनाथद्वारा, राजस्थान से मिला। श्री शिवकुमार शास्त्री शताब्दी सम्मान, साहित्य मंडल, श्रीनाथ द्वारा, राजस्थान से सम्मान के रूप में प्राप्त हुआ। डी.लिट्. की मानिंद उपाधि, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार से सम्मान स्वरूप मिली। व्यास सम्मान, के.के. बिरला. फाउंडेशन, नई दिल्ली से, और मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय सम्मान, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल से मिला। स्वामी विवेकानन्द प्रेस्टीजियस अवार्ड, रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट ऑफ़ कल्चर, कोलकाता में सम्मान रूप में मिला। साहित्य सेवी सम्मान, 2016 ई. केंद्रीय हिंदी संस्थान, नयी दिल्ली ने दिया। ऐसे कितने ही सम्मानों से उनका साहित्य कृत-कृत हुआ जिन सबका उल्लेख कर पाना संभव नहीं। उनकी

रचनाएँ केवल हिंदी साहित्य को ही नहीं वरन अनुवादित रूपान्तरणों में अन्य साहित्यों को भी धन्य करती हैं।

### डा. नरेंद्र कोहली : सदस्यता एवं सहभागिता

महान साहित्यकार डा. नरेंद्र कोहली अनेक प्रतिष्ठापित संस्थानों के सदस्य भी रहें हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नतः है;

सदस्य नचिकेता सम्मान चयन समिति नई दिल्ली। सदस्य, पुस्तक चयन समिति, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, मानव संसाधन मंत्रालय, भारत सरकार। सदस्य, विश्व हिंदी सम्मलेन, प्रबंध समिति। सदस्य, विदेश मंत्रालय, हिंदी सलाहकार समिति, सूचना प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार। नाट्य सलाहकार बोर्ड, सदस्य संचालन समिति, साहित्य कलापरिषद्, दिल्ली सरकार। संरक्षक, संस्कार भारती, दिल्ली प्रदेश, दिल्ली। न्यासी, स्नेह भारती, दिल्ली। डॉ. कोहली उद्योग मंत्रालय, जल संसाधन मंत्रालय, पर्यटन मंत्रालय, केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड सूचना और प्रसारण मंत्रालय, मूल्यांकन समिति भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार योजना, केंद्रीय अनुदान समिति, मानव संसाधन विकास मंत्रालय आदि में हिंदी सलाहकार समिति के माननीय पूर्व सदस्य भी रहें हैं।

## परिशिष्ट4 :

### जीवन मूल्य-महासमर एवं साहित्य

#### 1) प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक मूल्य

‘महासमर-उपन्यास’ महाभारत-गाथा एवं उसके चरित्रों को आधार बना कर लिखा गया है। डा. कोहली की इस कृति में एक शासक को किस प्रकार शासन करना चाहिए एवं राजा तथा प्रजा के बीच न्याय के क्या मापदंड होने चाहिए, इसे कई दृश्यों एवं घटनाओं के द्वारा रचनाकार ने स्पष्ट किया है। महासमर ‘धर्म’ भाग 4, में युधिष्ठिर ने प्रजा का दायित्व राजा पर बताते हुए सुशासन की परिभाषा दी और कहा कि प्रजा की सुरक्षा, कृषि के लिए भूमि, उपज की सुरक्षा, पशुपालकों का गोधन, व्यापारियों के मार्ग की सुविधा, श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक, ये सब राजा का दायित्व एवं कर्तव्य होता है। (कोहली, महासमर भाग 4,17)

युधिष्ठिर ही नहीं वरन एक राजा जो किसी भी देश का हो सकता है, उसका उदाहरण है यह ! श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि प्रजा को सुशासन देने के लिए ‘राजा को उनके सुख-दुःख को साथ साथ जीना पड़ता है।’ (कोहली, महासमर 4, 19 )

स्वयं के लिए सुख का साधन और प्रजा के दुःख की अवहेलना किसी राजा के आचरण एवं चरित्र को क्षीण करती है। श्रीकृष्ण के अनुसार न्यायपूर्ण राजा के लिए पांच गुण आवश्यक होते हैं: ‘शत्रु विजय, प्रजा पालन, तपःशक्ति, धन समृद्धि तथा उत्तम नीति।’ (कोहली, महासमर 4, 304)

जीवन के समस्त विभागों का ही उल्लेख श्री कृष्ण के इस वाक्य में स्पष्ट है। महाराज विराट के दरबार में महासेनापति कीचक व उसके साथियों की मृत्यु पर बल्लव बनाम भीम से उसकी प्रसन्नता के बारे में जब राजा पूछता है तो वह प्रशासन का एक सुगम नियम प्रस्तुत करता है कि, “अपराधी, अन्यायी एवं समाज के महत्वपूर्ण परन्तु अपराध में लिप्त लोगों को तुरंत दंड मिलना चाहिए जिससे सामान्य प्रजा का मनोबल बना रहे। (कोहली, महासमर 6, 545)

न्याय और दंड व्यवस्था का इससे उत्तम प्रावधान और कैसे मिल सकता है।  
विधान के सन्मुख सब समान।

साहित्य के अन्य उदाहरण में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी प्रशासन को अखिल विश्व के कल्याण का मार्ग, राजा द्वारा प्रस्तुत किया:

“एक देश क्या, अखिल विश्व का, तात चाहता हूँ मैं त्राण।” (गुप्त, साकेत, 437)

प्रशासक अथवा राजा किसी एक स्थान तक सीमित नहीं उसके अंदर समस्त विश्व के कल्याण की संवेदना होनी चाहिए।

## 2) व्यैक्तिक एवं सामाजिक मूल्य

समाज के मुख की झलक साहित्य के दर्पण में झलकती है। श्री नरेंद्र कोहली कृत महासमर में व्यैक्तिक एवं सामाजिक मूल्य उभर कर सामने आते हैं। भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के चार सोपान हैं, परन्तु उसमें भी व्यक्ति का विकास और उसकी क्षमता अधिक प्रभावशाली होती है। महासमर में अक्षय नाम से एक पात्र है, जिसे पांडू पुत्र भीम उसका उचित स्थान प्रदान करते हुए न्यायपूर्ण आदर से जीने की स्थिति उपलब्ध कराता है। अपना निरंतर विकास करता हुआ अक्षय ऋषि धौम्य से वर्ण, वृत्ति, शिक्षा, क्षमता, आचरण, एवं व्यवसाय के अनुकूल विकास एवं समाज में अपने स्थान के विषय में प्रश्न करता है। सामाजिक एवं व्यैक्तिक उदात्तता के विभिन्न चरणों के विषय में रचनाकार बहुत स्पष्ट विचार इस प्रकरण के माध्यम से रखता है। (कोहली, महासमर 4, 96)

कैसे होगा व्यक्ति के वैयक्तिक मूल्यों का मूल्याङ्कन? इस एक पात्र से ही मनुष्य यदि कुछ सीखना चाहे तो शास्त्र सम्मत सभी बातों का मर्म जान सकता है।

साहित्य का एक अन्य उदाहरण है जहाँ महाकवि मैथिलीशरण गुप्त अपने मानवतावादी साम्यवाद एवं समाजवाद को अपनी लेखनी द्वारा प्रस्तुत करते हैं:

“हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।” (गुप्त, साकेत, 233)



व्यक्ति विकास समष्टि विकास के बिना अपूर्ण एवं अधूरा है। एक राह पर एकान्तिक चलना कहाँ संभव है; सबका साथ होना ही वास्तविक विकास है।

### 3) मानवीय एवं नारी संबंधी मूल्य

मानवीय परिपेक्ष्य में स्त्री अथवा नारी भी एक स्वयं सिद्ध आयाम है। महासमर में द्रौपदी के अग्निशिखा से प्रदीप्त शास्त्रयुक्त एवं अधिकार के लिए क्षत्रिय धर्म से पूर्ण प्रतिशोध-भाव से भरा रूप नारी दृष्टिकोणों की अनेक परतें खोलता है। वहीं कुंती का तपस्वनी सा ओजस्वी व्यक्तित्व, न केवल मानवीय मूल्यों के वरन उच्चतम स्त्रीगत मूल्यों की भी प्रतिस्थापना करता है। विदुर से मानवीय उदात्तता के विकास की चर्चा करती कुंती, स्वयं किसी इंतजार में अपने जीवन प्रवाह को रोककर ठहरी नहीं रहना चाहती, वरन वह अपने हृदय की मलिनता को दूर करते हुए स्व-विजय करते हुए व्यक्तित्व एवं मानवीय विकास की चरम दिशा को प्राप्त करने के लिए अग्रसर है। वह नारी के बहुआयामी चरित्र की द्योतक है, जिसके माध्यम से उच्च आदर्श चरित्र एवं मानवता का उत्थान प्रस्तुत किया है। (कोहली, महासमर 6, 247)

साहित्य में एक अन्य उदाहरण के अनुसार डा. रांगेय राघव के उपन्यास 'यशोधरा जीत गयी' में यशोधरा के चरित्र द्वारा साहित्यकार ने अपनी लेखनी से नारी के व्यक्तित्व में ओज के कई गुण दर्शाये हैं। यशोधरा महलों में रहते हुए भी वनवासी जीवन जीकर अपने त्याग को दर्शाती है, और समस्त वैभव को ठुकरा कर सन्यासिनी सा जीवन जीती है। अपने दुःखः पर काबू पाना एक तेजस्वी नारी का ही चरित्र प्रस्तुत करता है। (राघव, 104)

### 4) नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

महासमर उपन्यास में युधिष्ठिर एक स्थान पर कहते हैं कि "जिस तपस्या से ईश्वर मिल सकता है, तुच्छ प्राणी उसे अपनी शत्रुता के विस्तार का माध्यम बनाते हैं।" (कोहली, महासमर 6,297)

इसे आध्यात्मिक मूल्यों की पराकाष्ठा कहा जा सकता है। मनुष्य जानता है कि वह परम सत्ता कुछ भी दे सकने में समर्थ है, पर वह अपनी लघुता में मांगता भी है तो निकृष्ट माया सम्बन्धी दुश्चतियों की शांति, जिससे उसे जीवन के सम्पूर्ण सत्य और शिवम् का कभी भान नहीं हो पाता।

श्रीकृष्ण के अनुसार धर्म व्यैक्तिक नहीं सामूहिक सत्य होता है, किसी भी सत्ता, संस्था या समाज के कल्याण के मार्ग को एक हिंसक व्यक्ति के हाथों नष्ट या भ्रष्ट हो जाने देना अधर्म है, उसकी रक्षा के लिए युद्ध करना भी धर्म है। (कोहली, महासमर 6,91)

यह एक वाक्य सम्पूर्ण न्याय और धर्म की विश्लेशा करने में समर्थ है। कृष्ण ने कंस को मातुल होने पर भी क्यों मारा? जिसमें व्यक्ति का नहीं समष्टि का कल्याण था।

एक साधारण ब्राह्मण दुर्योधन के यज्ञ के पश्चात् उसे धर्म की मीमांसा समझाता हुआ कहता है कि, “मनुष्य को तो धर्म के मार्ग पर ही चलना चाहिए। धर्म ही प्रेरणा हो। जीवन यापन के लिए मनुष्य धन को प्रयोजन के रूप में और धर्म को प्रेरणा के रूप में रखे, तभी वो धर्म के मार्ग पर चल सकता है।” (कोहली, महासमर 5, 185) धन यदि प्रेरणा बन जाता है तो वह व्यक्ति को पतन में गिरने से रोक पाने में असमर्थ हो जाता है।

साहित्य ने धर्मपूर्ण कल्याणकारी कृत्यों की सदैव ही महत्ता स्वीकार की है। महाकवि मैथिलीशरणगुप्त कर्तव्य के मूल में भी न्याय व्यवस्था को आधार बनाने की प्रेरणा देते हैं। उच्च आध्यात्मिक आदर्शों को ही धार्मिक नैतिक मूल्यों का आधार बनाया जाता रहा है:

“अधिकार खोकर बैठे रहना, यह महा दुष्कर्म है !” (गुप्त, 5)

गोस्वामी तुलसीदास कृत ‘रामचरितमानस’ में प्रत्येक पंक्ति में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का चर्मोत्कर्ष ही विवेचित हुआ है। मर्यादा एवं समर्पण-मूलक मूल्य जिससे न्यायपूर्ण एवं कल्याणकारी समाज की व्यवस्था रहे और प्रत्येक जन

सहज, सरल एवं संतुष्ट रह सके। ऐसे श्रीराम-चरित्र ने अपना सम्पूर्ण जीवन दरिद्र, शोषित एवं पीड़ितों के उद्धार के लिये समर्पित कर दिया। (तुलसीदास)

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतगीता तो भारतीय जनमानस एवं संस्कारों में गुंथा वह ग्रन्थ है जिसमें कर्तव्य एवं धर्म क्षेत्र की ऐसी मीमांसा की गयी है, जिसे कोई भी पाठक पढ़ने के बाद न्यायोचित एवं वांछनीय राह पर चलने का निर्देश स्वतः ही पा जाता है'। (भागवत गीता)

## 5) भौतिक एवं आर्थिक मूल्य

महासमर में द्यूत क्रीड़ा के पश्चात् जब युधिष्ठिर वन-प्रस्थान करते हैं, तो साथ आने वाले नगरवासियों की सुविधा और रहन सहन की चिंता धौम्य ऋषि से करते हुए धन की अनुपलब्धता के विषय में कहते हैं। (कोहली, महासमर 5, 18)

एक अन्य उदाहरण में कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की प्रेरणा देते हैं। यह सब इसलिए क्योंकि जीवनयापन के लिए धर्म पूर्वक आर्थिक और भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है।" (कोहली, महासमर 4,249)

डॉ. चरणदास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास काव्य में नैतिक मूल्य' में लिखा कि तुलसीदास का साहित्य मूल्यपरक सिद्धांतों में अपना एक प्रथक स्थान रखता है। साहित्य में उपलब्ध रामचरित मानस में तुलसीदास ने भी लिखा है, "नहिं दरिद्र कोऊ दुखी न दीना, नहिं कोऊ अबुध न लच्छन हीना।" (शर्मा, 277)

ऐसे रामराज्य की परिकल्पना जीवन में आर्थिक एवं भौतिक संसाधनों की उपयोगिता को दर्शाती है।

## 6) मनोवैज्ञानिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्य

कहते हैं कि मनुष्य की बौद्धिक शक्तियां उसे पशु से पृथक करती हैं, "पश्यतीति पशु" जिसमें उच्च संवेदनशीलता है जो सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की यथार्थ रचना कर सकता है, वो ही अपने मूल्यों का व्यावहारिक आचरण एवं निर्वाह करता है। भारतीय संस्कृति में उपलब्ध वेद एवं महासमर के पात्र यही तथ्य

प्रेषित करने का प्रयास करते हैं। यह सर्वविदित है कि मानव जीवन सृष्टि कृत एवं ईश्वर प्रदत्त अत्यंत दुर्लभ कृति है। इसके सत्यम, शिवम एवं सुन्दरम रूप को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयास किये जाते रहे हैं।

जीवन की उपयोगिता और अनिवार्यता अपने उत्तम एवं विकसित रूपों में बनी रहे, इसके लिए साहित्य एवं समाज सदा प्रयत्नशील रहता है। मानव एक जिज्ञासु प्राणी है, और हमेशा कुछ नया खोजने का प्रयास करता रहता है। कुछेक परिस्थितियों में कमोबेश देश, काल एवं स्थितियों में परिवर्तन होते रहते हैं, शोधकर्ता के प्रस्तुत शोध द्वारा भी ऐसा प्रयास किया गया है, जिससे समाज एवं मानव व्यवहार का कल्याणकारी एवं विकासमय पथ प्रशस्त हो सके।

\*\*\*\*\*

## अध्याय: 2

### जीवन मूल्य

#### प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक

मानव जीवन सतत एवं निरंतर है और जीवन को जीने के मूल्य भी उसके साथ जुड़े हुए वो अनवरत सिद्धांत हैं, जिन्हें उसके जीवन से पृथक करके देखा नहीं जा सकता। व्यक्ति, समाज अथवा राज्य जो भी व्यवहार करते हैं, उनके पीछे होते हैं कुछ मनोभाव, कुछ सिद्धांत, कुछ चेष्टाएँ जिन्हें मूल्य की संज्ञा दी जाती है। अतएव मूल्यों के बिना मनुष्य का जीवन अकल्पनीय है। उसके प्रत्येक व्यवहार के अर्थ हैं, क्रियाएं एवं प्रतिक्रियाएं हैं, जिन्हें बिना मूल्यों के समझना असंभव है।

मनुष्य के जीवन का वैयक्तिक, समाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, भौतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक अर्थात् कोई भी क्षेत्र हो, वह जो भी करे, उसके व्यवहार और आचरण को निर्धारित और निर्देशित करतें हैं उसके मूल्य। इन्हीं मूल्यों में से प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक मूल्यों की विवेचना करने का प्रयास शोधकर्ता द्वारा किया गया है।

महाभारत एक पौराणिक गाथा है जो भारतीय जन मानस को उद्वेलित करती रही है, और जिसके सन्दर्भ आज भी उतने ही प्रासंगिक एवं सामयिक हैं जितने तात्कालिक समय में रहे होंगे। महासमर उपन्यास इसी कथा पर आधारित है, जिसे साहित्य के मूर्धन्य रचनाकार डॉ. नरेंद्र कोहली ने बहुत कलात्मक एवं नवीन शैली में रच कर साहित्य को समर्पित किया है। यह मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए उन मूल्यों का उदाहरण के साथ दर्शन कराता है, जिसे देखकर वह व्यक्ति, परिवार एवं समाज की इकाइयों को समझता हुआ अपने त्रिगुणात्मक स्वभाव को जांचता परखता है। मानवीय मानस के सत-रज-तम—त्रिगुण, उसे जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर कभी प्रभावित और कभी प्रेरित करते हैं, और उसके जीवन की दिशा निर्धारण करते हैं।

महासमर की कथा पांडवों के आस-पास घूमती है। अतः इन्हीं को धुरी बनाकर यह उपन्यास मानवीय, सामाजिक, राजनैतिक, न्यायिक, प्रशासनिक, नैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि मूल्यों के धरातल पर व्यक्ति को प्रत्येक भूमिका में आचरण सम्बन्धी मूल्य समझाता है।

मूलतः यह कथा राजवंशों एवं राजपरिवारों की है, अतएव वैयक्तिक, एवं सामाजिक के साथ-साथ प्रशासनिक, राजनैतिक एवं न्यायिक मूल्यों की व्याख्या भी प्रस्तुत उपन्यास पूर्ण विश्लेषण के साथ करता है।

राज्य अर्थात् एक राजा, कुछ भौगोलिक सीमायें, जनसँख्या (प्रजा), एवं प्रशासनिक नीतियां, ये वो अनिवार्य तत्व हैं जिनके बिना किसी राजा और राज्य की कल्पना असंभव है।

चरणदास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य' में उल्लेख किया है, "वैदिक युग के आरंभ में राज्य व्यवस्था के अस्तित्व का बहुत अधिक प्रमाण नहीं मिलता। जिस-जिस प्रकार से कबीलों आदि की वृद्धि होती गयी, उसी प्रकार से दृढ व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव होता गया। परिणामतः पहले विश्वपति (कबीले का रक्षक) और बाद में अनेक विशों (सामयिक अर्थों में राज्य) को मिला कर उस समुदाय की सुव्यवस्था हेतु राजा की कल्पना की गयी। उस युग में भी राजा का निर्वाचन हुआ करता था।" (शर्मा 45) अतः वैदिक काल का प्रारंभ भी राज्य की संकल्पना को दर्शाता है।

महासमर उपन्यास के नौ खण्डों में यत्र-तत्र ऐसे प्रकरण हैं जिनमें कुछ प्रश्नों को उनके उत्तरों एवं तात्कालिक और सैम-सामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। ये प्रश्न निम्न हैं —

- # राजा को कैसा होना चाहिए?
- # उसके राज्य की प्रकृति कैसी हो ?
- # क्या प्रजा की रक्षा का भार राजा का दायित्व है ?

- # राजा के मानवीय गुण अथवा अवगुण उसके शासन को कैसे प्रभावित करते हैं ?
- # धर्म राज्य की अवधारणा एवं आवश्यकता का क्या तात्पर्य है ?
- # महाशक्तियां छोटे राज्यों एवं राजनीति को कैसे और क्यों प्रभाव में ले लेती हैं?
- # राज्य की विदेश नीति किन आयामों पर निर्धारित होनी चाहिए ?
- # शक्तिशाली एवं निर्बल राज्यों की अपनी सीमायें क्या हों ?
- # दंड की व्यवस्था क्यों होनी चाहिये ?
- # युद्ध की आवश्यकता किन परिस्थितियों में अनिवार्य हो जाती है ?
- # न्याय व्यवस्था की अनिवार्यता क्यों है ?
- # क्या न्याय के लिए मूल्य आधारित व्यवस्था को अनिवार्यता मिलनी चाहिए ?
- # उत्तम सम्राज्य की व्यवस्था क्या हो ?
- # शासन का अधिकार किसे है ?
- # शासक-प्रशासक की मनोवैज्ञानिकता राज्य की नीतियों को कैसे प्रभावित करती है ?

उपरोक्त समस्त प्रश्न महाभारत काल से लेकर वर्तमान समसामयिकता के लिए भी उतने ही प्रासंगिक हैं। महासमर का युद्ध, उसकी हिंसा आज भी अपने अनेक रूपों में समाज को निरंतर त्रास दे रही है। युद्ध का विभीषिका के बावजूद अधिकारिक और अनाधिकारिक आधिपत्य का प्रश्न आज भी राजनीति को उतना ही उद्वेलित किये हुए है। चूँकि प्रस्तुत प्रश्न परिदृश्यों एवं सन्दर्भों में आज भी अपनी पूरी भयावहता के साथ उपस्थित एवं प्रासंगिक हैं, अतएव शोधकर्ता ने समसामयिक प्रसंगों को भी तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

विचारणीय है कि राजा या शासक कैसा हो ? महासमर के महानायक श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के लिए कहते हैं, जिससे वह अपनी समस्त योग्यता और कुशलता के साथ उत्तम शासन कर सके। वे चाहते हैं कि युधिष्ठिर

को प्रतिष्ठित करके आस-पास के समस्त दुर्बल राज्यों को निर्भयता का वरदान मिले, धर्म का बोल-बाला हो और पूरा जम्बुद्वीप सुरक्षित रह सके।

## राजा के प्रशासकीय गुण

“सम्राट के लिए पांच गुण होने चाहिये: शत्रु विजय, प्रजा पालन, तपः शक्ति, धन-समृद्धि तथा उत्तम नीति।” (कोहली, महासमर 4,304)

आगे श्रीकृष्ण सम्राट मान्धाता का उदाहरण देते हैं, जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके सम्राट का पद प्राप्त किया। राजा भागीरथ का उदाहरण देते हैं जिसने प्रजा पालन कर सम्राट का पद पाया। राजा कार्तवीर्य ने अपने तप बल से, राजा मरुत ने समृद्धि द्वारा और राजा भरत ने अपने सहज बल और उत्तम नीति द्वारा सम्राट की पदवी को प्राप्त किया। श्री कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि उनका चरित्र उपरोक्त समस्त गुणों को ग्रहण करता है। अतः उन्हें राजसूय यज्ञ करके सम्राट के पद को प्राप्त करके धर्म राज्य की स्थापना करनी होगी।

ज्ञातव्य हो कि सम्राट एक ऐसी संकल्पना है जो केंद्र को संभालती है और उसके प्रति उत्तरदायी है। अन्य छोटे और दुर्बल राज्य उसका नेतृत्व स्वीकार करते हैं और उसे भेंट अथवा ‘कर’ देकर उसके प्रति अपना सौहार्द दर्शाते हैं, और उसके अधीन रहते हुए उसका आधिपत्य स्वीकारते हैं। जैसे वर्तमान में केंद्र की सरकार जो राज्यों को स्वायत्ता देते हुए भी उनसे प्रश्न करने का अधिकार रखती है और आवश्यकता होने पर वित्तीय एवं अन्य सहायता देती है। इसलिए सम्राट एक ऐसा संयुक्त चरित्र है जो अपने में उपरोक्त सभी गुणों को समाहित करता है और केवल व्यष्टि न रह कर समष्टि के लिए उपयोगी हो जाता है और इस तरह योग्य प्रशासक के रूप में प्रजा को सुशासन प्रदान करता है। महासमर यह विचार प्रेषित करता है कि राज्य राजा का नहीं वरन देशवासियों का है, राजा तो केवल उनका संरक्षक है।



भीष्म पांडवों को राज्य एवं राज्यधिकारियों के विषय में कहते हैं, “पुत्र ! हस्तिनापुर ही नहीं कोई भी नगर नगरवासियों का होता है। शासक का धर्म प्रजा का न्यायपूर्ण पालन करना है। इसलिए उसे नगर अथवा राज्य का स्वामी कहा जाता है।” (कोहली, महासमर 2,39) यह उदाहरण इस बात का द्योतक है कि राजा अथवा शासक को उच्च, सशक्त, बलवान, उदार, नम्र आदि चारित्रिक गुणों से युक्त होना ही चाहिए। ऐसा ही राजा या शासक सिंहासन अथवा सत्ता का अधिकारी है।

त्रेता युग के राम राज्य के विषय में एक उदाहरण देते हुए गोस्वामी तुलसीदास रामचरित मानस में कहते हैं कि उत्तम शासक कैसा हो...

“मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहूँ एक।

पालई पोषई सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।। ”

(अयोध्याकाण्ड दो.315)

अर्थात् राजा या प्रशासक ऐसा हो जो मुंह से सिर्फ भोजन की आवश्यकता के लिए खाये और बाकी अंग उसकी प्रजा हों जिनका पालन पोषण वह अपने विवेक के साथ करे। अर्थात् मुंह की भूख जितना अधिकार हो और बाकी समस्त देह के अंग जितना और जैसा उसका कर्तव्य हो। अधिकार की मात्रा कम और कर्तव्य की मात्रा ज्यादा होनी चाहिए। युग अथवा काल कोई भी हो, यह एक अनिवार्य विशेषता है जो प्रत्येक प्रजाजन अपने प्रशासक में देखना चाहता है। महाभारत काल में जो भी उपस्थित था वह आज भी उतना ही अनिवार्य और उसकी उपस्थिति उतनी ही अपरिहार्य है।

## अधिकार चेतना

विचारणीय है कि संस्कृति सदा अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति मानव को नैतिक आचरण की ओर प्रेरित करती है, और परिस्थितियाँ मानव को अधिकार और आधिपत्य के झंझावातों में उलझा देती हैं। सत्ता एवं शासन का संघर्ष हर युग

में, राजवंशों में, बड़े-बड़े व्यावसायिक घरानों में, यहाँ तक कि परिवारों में भी दृष्टिगोचर होता है। युद्ध की अपेक्षा शांति अवश्य ही उत्तम विकल्प है परन्तु यदि वह आत्मसम्मान एवं जन-कल्याण के मूल्य पर हो तो उसकी अपेक्षा युद्ध ही अंतिम अस्त्र के रूप में ग्रहणीय है। महाकवि रामधारी सिंह दिनकर अपने काव्य कृति 'कुरुक्षेत्र' में लिखते हैं-

“छीनता हो स्वत्व कोई और तू  
 त्याग तप से काम ले यह पाप है।  
 पुण्य है विछिन्न कर देना उसे  
 बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।  
 युद्ध को तुम निंध कहते हो मगर  
 जब तलक हैं उठ रही चिंगारियां  
 भिन्न स्वार्थों के कुलिष-संघर्ष की  
 युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है। ” (16)

महासमर में युधिष्ठिर शांति बनाये रखने के लिए अपना अधिकार छोड़ने के लिए तत्पर है, इस पर माता कुंती उसके मन में अधिकार की चेतना जगाते हुए परामर्श देती हैं, “मैं तुम्हारे मन में प्रासाद का लोभ नहीं जगा रही। मैं तुम्हें अपने अधिकार के लिए संघर्ष करना सिखा रही हूँ।” (कोहली, महासमर 2,11) वास्तविकता तो यह है कि जहाँ राजनीति है, सत्ता है, शासन है, वहाँ अधिकार का प्रश्न सदैव उपस्थित है और उसके लिए बल एवं शक्ति परीक्षण भी आवश्यक होता है। कुंती जानती है कि राजनीति हिंसा शून्य नहीं हो सकती। जो भी राजनीति में प्रवेश करता है उसे न केवल अपने विरोधी की हिंसा का सामना करना होता है अपितु कभी कभी स्वयं भी हिंसा का आश्रय लेना पड़ सकता है। कैसी क्रूर सच्चाई है जो तब से लेकर आज तक शत-प्रतिशत विद्यमान है। युद्ध के विषय में ही कुंती का एक और वक्तव्य है। कृष्ण अंतिम बार शांति एवं संधि की चेष्टा करने हस्तिनापुर जाते हैं और असफल हो वापिस आते हैं। युद्ध की अनिवार्यता के सिवाय और कोई विकल्प नहीं बचता। वापिस आने से पूर्व वे कुंती से मिलने जाते

हैं और पांडवों के लिए कोई सन्देश देने के लिए कहते हैं। ऐसे समय कुंती युद्ध धर्म पर और राजा के कर्तव्य पर युधिष्ठिर के लिए सन्देश देती हुई कहती है, “प्रजा पालक के लिए युद्ध रूपी कठोर धर्म का भी निर्वाह करना पड़ता है। राजा दंड नीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम लेता है तभी जगत में सतयुग नामक उत्तम काल का प्रादुर्भाव होता है। वह तो प्रजा को क्षति से त्राण देने वाला क्षत्रिय है, उसे वैसा ही आचरण करना चाहिये। राजधर्म के अनुरूप युद्ध करे। अपने शत्रुओं का आनन्द न बढ़ाये उन्हें ताप दे।” (कोहली, महासमर 7,266)

कुछ ऐसा ही भाव महाकवि दिनकर भी अपनी कविता ‘कुरुक्षेत्र’ में प्रस्तुत करते हैं-

“व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा  
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी  
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का  
भूलना पड़ता हमे तप त्याग को  
जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में  
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही  
किन्तु उसके पास भी जो समुदायगत जो भाव हैं  
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था ?” (17)

वास्तविकता वही है-जन-कल्याण। उसके लिए युद्ध भी अभीष्ट है, और उसका अनुमोदन महासमर भी करता है। समसामयिक परिस्थितियों को यदि देखें तो पिछले कुछ समय पूर्व हुई पाकिस्तान के विरुद्ध हुई सर्जिकल स्ट्राइक को किन अर्थों में लिया जायेगा ? जबतक भारत सरकार चुप थी, जनता एवं शहीदों के परिवार शिकायत से भर त्राहि-त्राहि कर रहे थे। शहीद हुए भारतीयों के परिवार पाकिस्तान के विरुद्ध तुरंत कार्यवाही की मांग उठा रहे थे। आतंकवाद को प्रश्रय देने वाला एक राष्ट्र पाकिस्तान, उसके द्वारा उरी और पठानकोट पर किये गये आतंकवादी हमले किसे उद्वेलित नहीं करेंगे। अतः युद्ध और प्रतिरोध कभी कभी

टाला न जाकर अवश्यम्भावी हो जाता है। यह ऐसे निर्णय हैं जिन्हें न करने पर राष्ट्र में असंतोष छा जाता है। इसे क्या कहा जायेगा ? अनावश्यक हिंसा या आवश्यक सम्मान और सुरक्षा की कार्यवाही ? रचनाकार स्वयं इस बात का अनुमोदन करता है। उसके अनुसार, “धर्म राज्य का पहला लक्षण दुर्बल प्रजा के सम्मान की रक्षा है।” (कोहली, महासमर 9,239)

हाँ, ‘यह अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि युद्ध हो किन्तु बर्बरता का तांडव न हो। अनावश्यक प्राण न लिए जाएँ। यदि लक्ष्य पूरा हो जाये तो शत्रु सैनिकों के साथ भी हिंसा से बचा जाये। महासमर में इस सन्दर्भ में राजा द्रुपद का एक उदाहरण है, जिससे यही तथ्य उजागर होता है। गुरु द्रोणाचार्य कुरु राजकुमारों से अपनी गुरुदक्षिणा के रूप में राजा द्रुपद को बंदी बनाने की इच्छा प्रकट करते हैं। जब पांडव राजा द्रुपद के विरुद्ध युद्ध करते हुए द्रुपद को बंदी बना लेते हैं, उसी समय अर्जुन अपने सैनिकों और साथियों को पांचाल के अन्य सैनिकों पर वार करने से रोक देता है। वह अनावश्यक हिंसा नहीं चाहता। साथ ही वह देखता है कि राजा द्रुपद के राज्य की सामान्य जनता जो युद्ध में प्रशिक्षित नहीं है, सधारण शस्त्र लेकर अपने राजा की ओर से लड़ रही है। वह देखता है कि उसके मंत्री भी स्वयं समर्पण कर रहे हैं, ताकि उनका राजा बंदी होने पर एकाकी न महसूस करे। ऐसे प्रजा वत्सल राजा के गुणों पर अर्जुन मुग्ध है। राजा द्रुपद भी अर्जुन के लक्ष्य प्रेरित युद्ध तथा अनावश्यक हिंसा से बचाव के साथ युद्ध रोकने के निर्णय के गुण को परिलक्षित करता है।” (कोहली, महासमर 2,304)

## मानवता के प्रति चैतन्य

एक शक्ति संपन्न परन्तु न्यायपरक राजा की बुद्धि का उदाहरण, न केवल देखने योग्य वरन अनुकरणीय है। राजा द्रुपद कोई कमजोर अथवा दुर्बल राजा नहीं है। न्याय के प्रति वह जागरूक है। अपनी पुत्री शिखंडी का विवाह वह हिरण्यवर्मा की पुत्री से करता है। शिखंडी पुरुष न होकर स्त्री है, इस आक्षेप को जब वह खोजबीन में सत्य पाते हैं तो युद्ध न करने का निर्णय करते हैं न्याय और नैतिकता

के अनुसार वह अपना दोष स्वीकार करते हैं और शक्तिशाली होते हुए भी युद्ध का फैसला नहीं करते। वह एक सुशिक्षित और न्यायप्रिय राजा हैं, जो अपने दोष का दंड किसी और को नहीं देता। उसके अनुसार, “अपनी शक्ति का दुरूपयोग हम नहीं करेंगे। मैं क्षत्रिय राजा हूँ, अनार्य दस्यु नहीं।” (कोहली, महासमर 3,42) कहाँ है ऐसा न्याय प्रिय राज-समाज ?

किसी भी काल में ऐसे कितने लोग हैं जो अपना दोष स्वीकार करते हैं ? कौन ऐसा साहस ही करता है कि अपना दोष मानकर दूसरों से न केवल दंड की अपेक्षा करे वरन उसे स्वीकार करने का आत्मबल भी दिखाएँ ? ऐसे सात्विक मूल्यों की अपरिहार्यता का लक्षण आज के नेतृत्व में दुर्लभ क्यों है ? महात्मा विदुर युधिष्ठिर को कहते हैं कि, “राज्य वस्तुतः उनके लिए होता है, जिन्हें उसका मोह नहीं होता, जो उसके दास नहीं स्वामी होते हैं।” (कोहली, महासमर 3,29)

परन्तु वर्तमान समय में तो ऐसा दिखता है कि केवल मोह नहीं यह तो आसक्ति की पराकाष्ठा है। जब धृतराष्ट्र जैसे ज्ञानचक्षु व्यक्ति अनाधिकृत रूप से प्राप्त राज्य का मोह नहीं छोड़ पाते तो साधारण जन की आकांक्षा क्यों और कैसे नियंत्रित हो सकती है ? सामयिक राजनीति में व्यक्ति चुनाव लड़ता है और पांच वर्षों के लिए निर्वाचित होने पर उसका व्यवहार हो जाता है कि न केवल वह संसाधनों का वरन मनुष्यों का भी स्वामी है। राज समाज की इस विद्वेषता को क्या राजा द्रुपद से शिक्षा नहीं लेनी चाहिए ? जो एक राज कर्मचारी है, राज्य का सेवक है वह स्वामी बन भूल बैठा है कि उसे यह उत्तरदायित्व मिला है वह भी केवल पांच वर्षों के लिए। इसी तथ्य को बल देते हुए उपन्यास में राजा को शस्त्र के साथ साथ शास्त्र का ज्ञाता होना भी उतना ही अनिवार्य बताया गया है। कौरव राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा के लिए आचार्य कृपाचार्य गुरु के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, जिससे वे भावी राजपुरुषों के रूप में योग्य एवं प्रतिभाशाली बन सकें। भीष्म कहते हैं, “जिन बालकों को तुम्हें सौंपा है, वे कच्ची मिट्टी हैं, तुम उन्हें आकार भी दोगे और पकाओगे भी।” भीष्म यह भी जानना चाहते हैं, “क्या उन्हें धर्म शास्त्र, न्यायशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र भी पढ़ाया जा रहा है ?” (कोहली, महासमर 2,41)

## धर्म-अधर्म का ज्ञान

शिक्षा के लिए एक शासक को क्या अनिवार्य हो और एक सच्चे व वास्तविक शासक में क्या गुण हों यह भीष्म के आगे के वक्तव्य से ज्ञात होता है, “क्षत्रिय के लिए शस्त्र ज्ञान भी आवश्यक है और शस्त्र परिचालन अभ्यास भी, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है, न्याय और अन्याय का ज्ञान, धर्म और अधर्म का निर्णय।” भीष्म चाहते हैं कि शिक्षा के माध्यम से कुरु राजकुमार “परस्पर निकट आयें, स्नेह करना सीखें, दूसरों की सुख सुविधा के लिए त्याग और बलिदान करना सीखें। उनमें स्वार्थ शुन्यता और सहिष्णुता का भी विकास होना चाहिए। अच्छे योद्धा बनने से पहले वह अच्छे मानव बनें।” (कोहली, महासमर 2,43)

एक शासक के रूप में उन्हें धन, सत्ता, शासन का लोभी नहीं वरन अपना बलिदान देकर भी प्रजा का कल्याण करने वाला और निर्बलों की रक्षा करने वाला बनना होगा, जिनमें पूज्य के प्रति आदर भाव हो। साहित्यकार भी महासमर के खण्ड 9, अनुषांगिक में इस तथ्य का अनुमोदन करता है कि सयंम, संतोष, समता, न्याय इत्यादि का शिक्षण और संस्कार मनुष्य को उसके शैशव से दिया जाना चाहिए।

राजा कैसा हो; उसके राजकीय मूल्य कैसे हों ? जिसमें युद्ध की कुशलता हो, शस्त्रों की जानकारी के साथ-साथ उनके सञ्चालन का भी उचित ज्ञान हो, धर्म शास्त्र का ज्ञान हो, न्याय करना जानता हो, अन्याय का प्रतिकार कैसे करना है- इसके लिए तैयार हो, दंड देना जानता हो, दूसरों के प्रति संवेदनशील हो, पर-दुःख कातर हो दूसरों की सुविधा के लिए स्वयं त्याग करने के लिए तैयार रहे, किसी भी परिस्थिति में सहिष्णु न त्यागे, आवश्यक हो तो बलिदान के लिए सदैव तत्पर रहे।

कहा जाता है, ‘नरंन पतीति नृपः’, व्युत्पत्ति के अनुसार नृप कहलाने का अधिकारी वाही व्यक्ति हो सकता है जो पूर्ण वीर हो तथा प्रजापालन एवं उसके संरक्षण के लिए पूर्ण उत्साह से कटिबद्ध हो। शास्त्रों में शौर्य गुण का लक्षण स्पष्ट

करते हुए यही कहा गया है कि शौर्य नामक गुण वह होता है जिस में सभी ओर से भय का राहित्य तथा कीर्ति के लिए युद्ध का उत्साह बना रहे। यह शौर्य गुण राजाओं के लिए स्वर्ग प्रदत्त तथा यशस्वकारी होता है। ऐसा ही चरणदास कृत तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य पुस्तक में दर्शाया गया है —

सर्वस्माभ्दीती रहित्थ्य युधोत्साहश्च कीर्ति ये ।

शूरेः शौरिर्मिध्म प्रोक्तं राज्ञा स्वर्ग्य यशस्क्रम ॥” (शर्मा 233)

क्या ऐसा ही नेतृत्व देश एवं विश्व पटल पर अपेक्षित नहीं है ? क्या आज की परिस्थितियों में राज्याधिकारियों के चुनाव के समय उनकी शिक्षा को उनकी योग्यता एवं परीक्षा की कसौटी नहीं बनाना चाहिए ? विचार करें तो यही पाएंगे कि उपरोक्त रूप से पायी गयी शिक्षा ऐसी प्रशासक तैयार करेगी जो कुशल होगा और जनता को आश्वासन ही नहीं वरन बल्कि कार्य करके दिखा सकेगा। जनता अपने निर्वाचित सदस्यों से और क्या चाहती ही है ? वह उस पर भरोसा करके अपने देश को उसे सौंपती है जिससे वह उसे सुरक्षा दे सके और इसके लिए वह राज्य द्वारा आरोपित समस्त कर चुकाती है। यदि, फिर भी, जब वो यह पाती है कि शासनाधिकारी अपने कर्तव्यों के विपरीत अधिकार और सत्ता का उपभोग करने में लगा है, तो उसका न केवल मनोबल और भरोसा टूटता है, बल्कि वह देश के प्रति धीरे धीरे संवेदनशून्य भी होने लगता है। जिस वोट से वह सरकारें बदल सकता है, उसके उपयोग के प्रति भी उदासीन हो जाता है। फलस्वरूप अपराधी और अनाधिकारी व्यक्ति शासक बन बैठते हैं। मूल्यों के हास का इससे वीभत्स परिणाम और क्या होगा ?

महासमर न केवल श्रेष्ठ मूल्यों की गाथा है बल्कि उसमें उपस्थित पात्रों एवं चरित्रों द्वारा समय-समय पर और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उनकी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं तुलनात्मक अध्ययन का अवसर देती हैं। मनुष्य सीखता है उदाहरणों से और अनुभव करता हुआ अपने लिए दिशा का चुनाव करता है। महासमर ऐसी घटनाओं-दुर्घटनाओं का क्रमवार ब्यौरा देता है। उपस्थित चरित्र एक से नहीं हैं। कोई न्याय और धर्म को अपने सुख और सुविधा से अधिक मान्यता देता है, जैसे

पांडव, जो किसी भी परिस्थिति में अपना धर्म नहीं त्यागते। और एक पक्ष ऐसा भी है, जो अधिकार एवं आधिपत्य के लिए किसी भी नैतिक नियम की बलि चढ़ा देने को तत्पर है, जैसे, दुर्योधन। ऐसी परिस्थितियां कथानक में मूल्यों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए शोध में बहुत सहायक हुईं।

एक तरफ युधिष्ठिर है जो धर्म के लिए, जानते समझते हुए भी पितृव्य धृतराष्ट्र की आज्ञा को मानते हुए धूत खेलते हैं, और अपना सब कुछ हार जाते हैं। परन्तु धर्मानुसार वनवास की शर्त पूरी करते हैं। दूसरी ओर है शकुनि और दुर्योधन की राजनीति, जिसमें आधिपत्य ही राजनीति का सबसे बड़ा नियम है। एक ओर पक्ष है त्रिगतराज सुशर्मा तथा शल्य राजकुमार रुक्मथ का, जिस में वे राजनीति की भिन्न परिभाषा करते हुए समझाते हैं कि 'राजनीति में उन संबंधों को भुलाना पड़ता है जो प्रकृति ने बनाये हैं। राजनीति तो अपने बनाये संबंधों पर चलती है। हम मूर्ख मित्रों का चुनाव नहीं करते।'..उनके अनुसार, यह सही है कि प्रजा को संतान मानो पर दूसरों से युद्ध में छीना हुआ धन प्रजा पालन लगा दें तो स्वयं क्या सूखी रोटी खाएं। जीवन का भोग भी तो जरूरी है। अपने बुरे दिनों के लिए भी तो संचय जरूरी है नहीं तो पांडवों की तरह वन-वन भटकेंगे और पत्नी को अनावृत कराकर समाज में हास्य के पात्र बनेंगे।' (कोहली, महासमर7,142)

पांडवों की राजनीतिक परिभाषा किसी के लिए नितांत अनचाही है। और आश्चर्य यह है कि कथा में वे धर्म का प्रतिरूप लगते हैं ! क्या महासमर का हर पात्र अपने ढंग से आज भी वर्तमान नहीं लगता ? आज के नेता और राजनीतिज्ञ क्या इसी मानसिकता का प्रदर्शन नहीं करते कि अपने भविष्य के लिए संचय और जनता को कोरे आश्वासन !

## मर्यादा एवं संस्कार किन्तु न्याय-परक निर्णयकर्ता

धृतराष्ट्र जो राज्य का सिर्फ कार्यवाहक संरक्षक है, स्वयं को पूर्ण राजा समझता है। अपनी कुटिल चालों के चलते वह पांडू को सदा हस्तिनापुर से दूर ही



रहने को प्रेरित करता है और शासन पर पूरी तरह अपना अधिकार स्थापित कर लेता है। उसे लगता है कि, 'राजा को अपने निर्णय स्वयं लेने का अधिकार है उसे किसी को उनके औचित्य के विषय में सफाई देने की आवश्यकता नहीं है।' (कोहली, महासमर 2,34)

यहाँ सामयिक दृश्य पुनः उद्धृत करते हैं, सोचने योग्य प्रश्न है कि क्या सरकार के उच्च पदासीन अधिकारी और शासनाध्यक्ष, शासन से सम्बंधित किसी प्रश्न या अपने कर्तव्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ? क्या प्रजा तंत्र में जनता इतनी अपेक्षा अपने चयनित उम्मीदवार से नहीं करेगी? परन्तु यदि अधिकारी ही अपने कर्तव्य से विमुख है तो जनता किससे प्रश्न करे ? यही सत्य है आज के राजनीतिक परिदृश्य का भी ? ऐसे न्याय विहीन मूल्याँ का अनुमोदन महासमर में शकुनि जैसे पात्र करते हैं कि, 'राज्य मिलता नहीं उसे प्राप्त किया जाता है। अर्थात् अधिकार विहीन उधम की प्रेरणा प्रस्तुत है। 'जहाँ न धर्म है, न न्याय, न नियम, बस है तो केवल अनाधिकार, अनैतिक एवं नियम विरुद्ध आधिपत्य!' (कोहली, महासमर 1,133)

वर्तमान नेता के मूल्य दुर्योधन से प्रथक नहीं लगते जो उपरोक्त मानसिकता के साथ शासन पर अधिकार चाहता है। वह अश्वतथामा से इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहता है, "जो हाथ बड़ा कर वस्तु प्राप्त कर सकता है वह नियम नहीं बनाता।" (कोहली, महासमर 1,244)

विश्व साहित्य में एक ऐतिहासिक पात्र है जुलियस सीजर। जिस पर बहुत साहित्य रचा गया। अंग्रेज साहित्यकार शेक्सपियर ने इस कथानक को लेकर एक दुर्घांत नाटक लिखा। मूलतः महासमर की तरह यह एक राजनैतिक कथा है। जिसमें राजा, प्रजा और स्वतंत्रता से सम्बंधित प्रश्नों पर गहरा विवेचन है। नायक जुलियस के मित्र ब्रूटस का मनोविज्ञान किसी भी तरह महाभारत के कर्ण से विलग नहीं लगता। उसका खलनायकत्व इतना मनोवैज्ञानिक है कि कहीं-कहीं वेदना का संचार करता है। ब्रूटस एक सम्मानीय देशभक्त व्यक्ति है और सीजर का परम मित्र

भी। एक अन्य पात्र ब्रूटस की देशभक्ति को आड़ में लेकर उसे इस बात के लिए भड़का देता है कि सीजर अति महत्वाकांक्षी है और उसकी इस महत्वाकांक्षा से देशहित में हानि हो सकती है। अतः उसकी बातों में आकर सीजर की हत्या का षड्यंत्र रचा जाता है। षड्यंत्र के चलते अन्य भयभीत छः दुश्मनों के साथ मिल कर सीजर को मारक प्रहार करके मार दिया जाता है। कितना मनोवैज्ञानिक चित्रण है। मनुष्य के स्वार्थों और सापेक्ष सत्यों का अत्यंत सूक्ष्म विवरण है यह कथा। सीजर बेहद आहत है कि उसको मारने वाला स्वयं उसका अभिन्न मित्र है। उसके मुख से इस बात का दुःख प्रकट होता है कि ब्रूटस का विश्वासघात सबसे अधिक भारी है। इतिहास चाहे विश्व का हो अथवा समक्ष विषय, महासमर का, इस बात का अनुमोदन करता है कि कमोबेश भावनाएं और निर्णय व्यक्ति के स्वार्थ और उसके आचरण को प्रभावित करने वाले मूल्य ही करते हैं। (<http://w.m.wikipedia.org>)

विडंबना है कि न नैतिकता और न्याय की आवश्यकता है, न ही किसी कर्तव्य के प्रति उत्तरदायित्व की। क्या ऐसे राज समाज में नहीं हैं आज का जन-गण-मन ? यह एक ज्वलंत प्रश्न है, और उतनी इस विषय में चर्चा और उत्थान की आवश्यकता है। आजकल समाचार चैनलों में आये दिन राजनीति से सम्बंधित चर्चाएँ आयोजित की जाती हैं, परन्तु उसका कोई सकारात्मक परिणाम देखने को नहीं मिलता। चैनल भी अपनी विज्ञापन क्षमता को बढ़ाने के साधन के रूप में इन वार्ताओं का प्रयोग करते हैं, जिसमें विभिन्न राजनैतिक दल आकर एक दूसरे के कार्यों का मजाक उड़ाते हैं, और अपने मुंह मियां मिट्टू बनते जाते हैं। अफ़सोस तब होता है जब जनता के साथ लगते किसी भी मुद्दे या समस्या पर कोई उपयोगी बात नहीं की जाती, और अंततः वार्ताएं शोर बन कर रह जाती हैं।

प्रत्यक्ष है, मूल्यों की अपरिहार्यता और उसका तुलनात्मक क्षरण ! वर्तमान इन भूले बिसरे मूल्यों के कारण ही सुशासन से रहित है। सुंदर राजनीति की कल्पना तो है, अपेक्षाएं भी, परन्तु उसका वास्तविक रूप कहीं उपलब्ध नहीं। इसलिए आज जनता सुशासन से लाभान्वित नहीं हो पा रही। यदि राज्याधिकारियों

के मूल्य शकुनि, धृतराष्ट्र और दुर्योधन जैसे चरित्रों से प्रेरित हैं तो सुशासन की परिकल्पना व्यर्थ है।

## न्याय एवं जागरूकता

न्याय व्यवस्था के लिए राजा को सदैव चैतन्य, जागरूक एवं तत्पर रहना आवश्यक है। धृतराष्ट्र नेत्रहीन है, किन्तु उसने अपनी इस कमी को अपना सुरक्षा कवच बना रखा है। भीष्म उसे बार-बार आगाह करते हैं कि, “व्यक्ति चाहे अंधा हो लेकिन राजा को अंधे नहीं बने रहना चाहिए। उसके सहस्र नेत्र होने चाहिए।” (कोहली, महासमर 2,84)

हस्तिनापुर की वीथियों में एक सारथि की खुले चौरस्ते पर दुर्योधन द्वारा हत्या करवाने की सूचना के सन्दर्भ में भीष्म जब धृतराष्ट्र से प्रश्न करते हैं तो वह इस सूचना के प्रति अनभिज्ञता जाहिर करता है। इस पर भीष्म उसे उपदेश देते हैं कि राजा को न्याय के लिए शिकायत की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, वरन राज्य में ऐसी त्वरित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे न केवल राज्य में अपराध पर रोक लगे बल्कि अपराधी को तुरंत दंड भी मिले। भीष्म के अनुसार ‘क्षत्रिय का सबसे बड़ा दायित्व दुष्ट दलन है। जो न्याय व्यवस्था के आभाव में कदाचित संभव ही नहीं। यदि राजा एवं राजकुमार स्वयं ही अपराधी हो जाएँ तो देश में सुशासन असंभव हो जायेगा। ऐसे अधिकारी केवल दुर्बल प्रजा पर ही अपने अधिकारों का प्रयोग करके स्वायत्त बनते हैं। कमजोर चरित्र एवं अपने मोह से ग्रस्त राजा कभी भी प्रजा के प्रति न्याय पूर्ण नहीं हो सकता। राजा अथवा प्रशासक का व्यक्तिगत जीवन भी न्यायपूर्ण नियमों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। ऐसा ही दायित्व दिनकर अपनी कविता कुरुक्षेत्र में शासक को समझाते हुए उसे न्याय दृष्टि देते हैं —

“शांति नहीं तब तक, जब तक  
सुख भाग न नर का सम हो,  
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,

नहीं किसी को कम हो। ..  
न्याय शांति का प्रथम न्यास है,  
जब तक न्याय न आता,  
जैसा भी हो महल शांति का  
सुदृढ़ नहीं रह पाता।  
सच पूछो तो शर में ही  
बसती है दीप्ति विनय की,  
संधि-वचन संपूज्य उसी का  
जिसमें शक्ति विजय की।” (दिनकर, कुरुक्षेत्र 23)

उपरोक्त काव्य पंक्तियाँ इस बात को सुदृढ़ करती हैं कि न्याय के लिए जितना शांतिमय शासन आवश्यक है उतना दृढ़ और शक्ति संपन्न शासक भी होना आवश्यक है जो इस वास्तविकता को समझता हो कि न्याय के लिए शांति और कठोरता दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।

ऋग्वेद के अनुसार:

“प्रति यत्स्ता नीथादर्शी दस्योरोको नाछा सदनं जानती गात।  
अर्ध स्मा नो मघवंचकृतादिन्मा नो मघेव निष्पी प्रा दाः।।”

(ऋ १।१०४।५॥)

अर्थात् किसी भी राष्ट्र में राजा पिता तुल्य और प्रजा पुत्र तुल्य होती है अतैव प्रजा राजा से आशा करती है कि वो न्याय, धर्म एवं मर्यादा में रहकर संतान की तरह पालन करे। ऐसे करने पर प्रजा भी उस राजा का पिता समान आदर करती है। अर्थात् प्रजा न्याय चाहती है। क्योंकि अन्यायी को दंड न देने वाला राजा न्याय न देने पर असंतोष का कारण बनता है और राज्य में अराजकता उत्पन्न करने में सहायक होता है।

एक उदाहरण तुलसीदास कृत रामचरित मानस का देखें:- लंकापति रावण की सभा में रोती हुई सरुपनखा आती है और अपने कर्ण और नासिका के कट जाने का वृतांत सुनाते हुए उसे धिक्कारती है। यद्यपि वह एक अनीतिपूर्ण कार्य के लिए भाई को उकसाती है, परन्तु अनायास ही शासक की ओर ध्यान दिलाते हुए कहती है...

‘करसी पान सोवसि दिन राती । सुधि नहि तव सर पर अराती ॥  
 राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा । हरिहि समर्पे बिनु सत्कर्मा ।  
 विद्या बिनु बिबेक उपजाएँ । श्रम फल पड़े किये और पाए ॥  
 संग ते जती कुमंत्र ते राजा । मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥  
 प्रीती प्रनय बिनु मद ते गुनी । नासिहीं बेगि नीति अस सुनी ॥”

(अरण्यकाण्ड 20/4/5 /6)

सरुपनखा अपने भ्राता रावण से कहती है कि मदिरा पी कर पड़े रहने वाले, दिन भर उदासीन होकर सोनेवाले राजा को खबर नहीं कि उसके सर पर शत्रु आन खड़ा है। नीति के बिना राज्य और धर्म के बिना धन प्राप्त करने वाले, विवेक के बिना विद्या ग्रहण करने वाले को केवल श्रम ही करना पड़ता है, उसे कोई उचित लाभ प्राप्त नहीं होता। जो अपने न्यायपूर्ण कर्मों को परमपिता को अर्पण नहीं करता। ऐसा राजा, जो सन्यासी होकर भी विषयों का संग करे और अहंकार करे, उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है। मदिरा पान से लज्जा का सामना करना पड़ता है। यदि राजा में नम्रता नहीं है, प्रीति में अहंकार है, तो गुणवान के समस्त गुण नाश को प्राप्त होते हैं। अपने भाई को सचेत करते हुए सरुपनखा ने जैसे तुलसीदास के अक्षरों द्वारा राजा के गुणों और कमियों का पूरा नीति ज्ञान ही दर्शा दिया है।

राजा और नीति अर्थात् सु-नीति दोनों का आविभाज्य संगम ही उत्तम शासक का दर्पण हो सकता है। केवल ऐसा राजा ही उत्तम नीति का निर्माण कर सकता है जिसमें शौर्य का तेज हो, न्याय का बल हो तथा धर्म बुद्धि हो। अन्यथा दुर्व्यसनी और दुर्बल शासक किसी भी कार्य में मनोबल नहीं दर्शा पाता।

## सबल नेतृत्व

दुर्बल मानसिकता एवं मोह का एक उदाहरण महाराज शांतनु का है, जो अपनी पत्नियों के मोह के कारण उनके कार्यों का विरोध न कर सके। प्रथम पत्नी गंगा ने उनके सात पुत्रों को जन्मते ही गंगा के सुपर्द कर दिया और वह सम्राट होते हुए भी चुपचाप देखते रह गये ? जीवन अमूल्य है ! क्या समाज अथवा शासन तंत्र को उसका विरोध नहीं करना चाहिए ? यह कार्य निरीह हत्याकांड ही तो था। परन्तु जब शासक होते हुए भी स्वयं शांतनु, उसका, न पति के रूप में, न जिम्मेदार नागरिक के रूप में, न ही राज के रूप में, विरोध कर सके। जब राजा ही चुप है, तो समान्य प्रजा की शक्ति क्या होगी, जो वह विरोध करे ? दुर्बल राजा के रूप में ऐसा अधिकारी कैसे राज्य संभाल सकता है ? द्वितीय पत्नी सत्यवती की अपने पुत्रों की पालना-पोषण और शिक्षा के निर्णय राज्य परम्पराओं के विपरीत होने पर भी उससे साधारण सा रुष्ट भी नहीं होते। महारानी सत्यवती अपने राजकुमारों को गुरुकुल में नहीं भेजना चाहती और राजा शांतनु में इतना साहस नहीं कि वह उसे कठोरता से मना कर सकें। ऐसा दुर्बल मूल्यहीन शासक कैसे न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना में सक्षम होगा ? जो अपनी कामेच्छा पर नियंत्रण नहीं कर पाते और अपने युवा पुत्र देवव्रत को प्रतिज्ञा के मार्ग पर जाने को बाध्य कर देते हैं। ऐसा शासक जो दूरदर्शी नहीं है। जो यह जानता है कि शासन पर उसके योग्य, न्यायप्रिय और लोकप्रिय पुत्र बनाम युवराज देव व्रत का हक है। फिर भी उसे प्रतिज्ञाबद्ध करके अपने अभीष्ट को प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसे ज्ञात है कि जिस कन्या को पाने की वह चेष्टा कर रहा है वह राजसमाज के संस्कारों और व्यवहारों से अनभिज्ञ है। ऐसा राजा अथवा शासक जिसे अपने उद्वेगों पर नियंत्रण नहीं है वह प्रजा और देश के लिए त्याग का महत्व कैसे जानेगा ? जागरूक शासक को न केवल चेतना को स्थिर रखना चाहिए, वरन उसे सदैव चैतन्य भी रहना चाहिए अन्यथा जुलियस सीजर की तरह हत्या का षड्यंत्र उसके अपने अभिन्न मित्र भी कर सकते हैं और वह अनजान और अनभिज्ञ रहकर दुष्चक्र और दुर्घटना का शिकार हो जाता है।

‘राज्य वस्तुतः एक धरोहर है, जो प्रजा वर्ग की सम्पत्ति तथा स्वत्व होता हुआ राजा के पास सुरक्षा के भाव से रखी गयी है। अधर्मशील राजा इस धरोहर को निजी वास्तु जानकर मनमानी आरम्भ कर देगा और पूर्ण उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ रहेगा।’ (शर्मा 230)

“मोहि हठी राज देइहहु जबहि । राज रसातल जाइही तबही ॥”

(बालकाण्ड)

यद्यपि ये काव्य का उदाहरण रामचरित मानस से लिया गया है, जहाँ भरत राम से कहते हैं कि हठ करके राज्य न दो मैं उसके योग्य नहीं। अतः इस बात का उदाहरण है कि अयोग्य को कभी शासन का अधिकार नहीं देना चाहिए।

## अपराधी मानसिकता का प्रतिकार

युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के आदेश पर, अपने भाइयों एवं माता कुंती के साथ वारणावत जाते हैं, वहाँ वे पाते हैं कि वहाँ की शासन व्यवस्था बहुत अनीतिपूर्ण है। उत्कोच एवं भ्रष्टाचार से भरे अधिकारी जनता के लिए त्रास बने हुए हैं। जनता में उनका होना सुरक्षा के विपरीत भय का कारण है, तो अनीतिपूर्ण व्यवस्था के विरोध में धर्म राज युधिष्ठिर वारणावत की व्यवस्थाओं के प्रति अपने उदगार प्रकट करते हुए कहते हैं कि, “जहाँ का प्रशासक अपराधी मनोवृत्ति का हो, अथवा अपराधियों को आश्रय देता हो, जहाँ प्रतिदिन अपराध होते हों, जहाँ की प्रजा अपनी अपराधी मनोवृत्ति के कारण अथवा प्रतिदिन अनिवार्य रूप से घटित होने वाले अपराधों के कारण, बाध्यता में ही सही, अपराधों को दैन्यदिन की घटना के रूप में स्वीकार कर, उसके प्रति सहिष्णु हो चुकी हो-वहाँ बड़े से बड़े अपराधों को भी सहज रूप से पचा लिया जाता है, उन अपराधों का विरोध नहीं होता।” (कोहली, महासमर 3,83)

कितनी ज्वलंत समस्या है। अफ़सोस होता है। वर्तमान राजनीति में यत्र-तत्र यही तो दृष्टिगोचर है। राजा को एवं राज्याधिकारियों को रिश्वत एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध होना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो किसी भी शासन व्यवस्था में

अपराधियों एवं हत्यारों का बोलबाला हो जायेगा। यदि हत्यारों को राजाओं का अधिकार और सम्मान मिल जायेगा तो प्रजा का क्या होगा ? इन्हीं मनो-परिस्थितियों के चलते आज मनुष्य संवेदन-शून्य हो रहा है। समाज की यह तस्वीर नैतिक, न्यायिक एवं उत्तम राजनीति से कितनी विलग है। ऐसा समाज मनुष्य एवं उसके मूल्य-परक व्यवहार को कहाँ ले जायेगा?

महासमर कहीं भी सिर्फ इतिहास का विषय नहीं लगता। यह क्षण क्षण घटता वर्तमान है। आश्चर्य तो तब होता है जब राज्याधिकारी होता कुछ है दर्शाता कुछ है। झूठ और मिथ्या व्यवहार, दिखावटी मुखौटे वाले आवरण में शासक अपने वास्तविक चरित्र को छिपाकर स्वार्थ सिद्धि किये चले जाते हैं। वर्तमान में पकिस्तान का दिखावटी मुखौटा यही दृश्य तो दर्शा रहा है। है कुछ और, और दिखा क्या रहा है ? किसी से छुपा नहीं ! अब पाखंड की पराकाष्ठा तब होती है, जब कुप्रशासक अपने साधू रूप को ज्ञापित करने के भरसक प्रयत्न करता है। जनता का मत प्राप्त कर चुनाव जीतने के पश्चात् निर्वाचित प्रत्याशी कितने आश्वस्त होकर दायित्वहीन व्यवहार करने लगते हैं।

अभी कुछ समय पूर्व पांच राज्यों में विधान सभा के चुनाव संपन्न हुए। एक रैली के दौरान कुछ ग्रामीण महिलाओं से पूछा गया कि वे किसे वोट देंगी ? उन अशिक्षित महिलाओं को यह तो पता था कि उन्हें किसे वोट देना है पर वो जनता के लिए क्या करने वाले हैं ? कुछ नहीं ज्ञात। उदाहरण के लिए महासमर में उपस्थित धृतराष्ट्र का चरित्र, उसका भी एक मुखौटा दर्शनीय है वह दुर्योधन से कहता है, “राजा की इच्छा शासन का सर्वोपरि तर्क नहीं है। कुरुकुल के राजा अपने मंत्रियों जन प्रतिनिधियों तथा कुल वृद्धों की सहायता से शासन किया करते थे। मैं वह नहीं करता, किन्तु उसक नाटक अब भी करता हूँ।” (कोहली, महासमर 3,347)

कितना विदूष चित्रण है ? क्या है ? क्या प्रदर्शित होता है ? वर्तमान सत्यों के कितना निकट ! जनमानस जिस विश्वास को लेकर चयन प्रक्रिया में भागीदारी करते हैं, वह कहीं उसके परिणामों के साथ ही दूषित परिदृश्यों में बदल जाता है।



जब भीष्म एवं द्रोणाचार्य जैसे महापात्र न्याय, धर्म, नीति का समर्थन नहीं करते, मोह और पूर्वाग्रहों में ग्रस्त होकर चुप रह जाते हैं, तो राजनीति की स्वच्छता का बीडा कौन उठाएगा?

भारतीय मानस के अनुसार मूल्य और सिद्धांत वैदिक काल से ही ऋषियों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा निर्देशित आचरण के वह मापदंड हैं जो मानव समाज को दिशा ज्ञान देते हैं, परन्तु समय एवं परिस्थितियों के अनुसार इन में परिवर्तन भी अपेक्षनीय है। त्रेता युग में श्री राम भरत को चित्रकूट में राज्य का भर सँभालने का उत्तरदायित्व देते हैं और समझाते हैं,

“राज काज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम ।

गुरु प्रभाऊ पालिहि सबही भल होइही परनाम ॥”

(तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड दो.305)

अर्थात् राज्य का सब काम लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथ्वी, आर्थिक एवं गृह सम्बन्धी सब के पालन और समाधान के लिए गुरुओं के अनुसार काज करना और प्रजाजनों के कल्याण को प्राप्त करना। ज्ञातव्य हो कि ऋषियों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा बनाये प्रशासनिक नियम उस समय भी मान्य थे। मूल्यों की राजनीति हर युग में अपेक्षनीय रही है और इसकी अनिवार्यता एवं अपरिहार्यता आज भी उतनी ही बड़ी जरूरत है।

पितामह भीष्म भी किसी धर्म विशेषज्ञ से कमतर नहीं। वे महासमर के एक महान चरित्र, अपने पिता की इच्छा पूरी करने के लिए दो प्रतिज्ञाएँ करते हैं। एक, राज्य पर अपना अधिकार छोड़ने की, एवं दूसरी, जीवनपर्यंत विवाह न करके ब्रह्मचर्य का पालन करने की। माता सत्यवती को भी वो वचन देते हैं कि हस्तिनापुर के सिंहासन की सदैव रक्षा करेंगे। इस प्रतिज्ञा के चलते वह कालांतर में कुशासन के अंग बनते हैं और तपस्या तथा प्रतिज्ञा के अहंकार का धर्म पालते हुए राजा के दुष्कार्यों का विरोध नहीं करते। अब ऐसे धर्म प्रेरित व्यक्ति नहीं बोलेंगे तो आवाज कौन उठायेगा? द्रोणाचार्य जानते हैं कि दुर्योधन का पक्ष अधर्म का पक्ष है, परन्तु

अपनी महत्वाकांक्षा के चलते एवं अपने पूर्व में किये निर्णयों का परिणाम उन्हें मोहग्रस्त करता है। यदि ऐसे नीतिज्ञ, महानुभाव, सबल चरित्र भी आवाज़ उठाने से पीछे हट जाते हैं, तो राजनीति में कौन न्याय का आग्रह करेगा ? ऐसा कहा जाता है कि बुराई संगठित हो जाती है, परन्तु अच्छाई अपनी समग्र चेष्टाओं के पश्चात् भी निरीह एवं एकाकी और शक्ति विहीन प्रतीत होती है। यही तो है वर्तमान परिस्थितियों की त्रासदी और मूल्य हीनता !

### न्यायप्रिय:दंड एवं पुरुस्कार का प्रावधान

न्याय के लिए दंड का प्रावधान अति आवश्यक है। कोई भी कार्य या तो आदरभाव से होता है अथवा दंड प्रावधान के भय से। आदर जनमानस को इतना प्रभावित नहीं करता, परन्तु दंड ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति को कदाचित विवश करती है कि वह नियम पालन को बाध्य हो। अगर ऐसा न हो तो जनमानस सीमाहीन होकर मनमाना व्यवहार करके शासन को अराजकता और कुशासन में परिवर्तित करने में कतई समय न लगायें। राजा विराट की रानी सुदेष्णा प्रशासक के गुणों के विषय में कहती है, “न्याय तो वही कर सकता है जो समर्थ हो।” (कोहली, महासमर 6,448) वह जानती है कि समय आने पर सत्ताधारी का स्वेच्छाधारी होना अधिक समय नहीं लेता। जैसा उसके भाई कीचक ने किया। अपनी भगिनी के पति राजा विराट को शक्ति विहीन करके अपने अनुसार सत्ता और समस्त प्रशासन पर नियंत्रण कर लिया ऐसे में जनता की त्राहि-त्राहि तो दिखेगी! सो न तो शासक को दुर्बल होना चाहिए न अन्यायी। महावीर भीम सेनापति कीचक की मृत्यु पर प्रसन्न है। महाराज विराट उसकी प्रसन्नता का कारण जानना चाहते हैं तो भीम का कथन दुष्ट को दिए गये दंड और न्याय की परिभाषा का सटीक उदाहरण है, “शक्तिशाली और प्रशासन में ऊँचे पदों पर बैठे लोगों को जब उनके अपराधों का दंड नहीं दिया जाता तो समाज की शुभ एवं कल्याणकारी शक्तियां हतोत्साहित हो जाती हैं। सामान्य जन भयभीत हो जाता है। वह अधिक, फिर उससे भी अधिक कायर होता जाता है। उसके विपरीत संसार की अशुभ शक्तियों का साहस और भी बढ़ने लगता है। वे मानते हैं कि उन्हें रोकने वाला कोई

नहीं है। वे अधिक से अधिक पाप करने लगते हैं जैसे कीचक ने किये।”..“अपराध का दंड वैसे तो सबको ही मिलना चाहिए पर समाज के महत्वपूर्ण लोगों को तो उनके अपराधों का दंड तत्काल एवं कठोरता से मिलना चाहिए।” (कोहली, महासमर 6,545)

महासमर का ही एक और प्रसंग है जब श्रीकृष्ण युद्ध पूर्व शांति का एवं संधि का अंतिम प्रयास करने हस्तिनापुर जाते हैं। शांति की बात सुनकर द्रौपदी का तेज जागृत होता है और वह श्रीकृष्ण से प्रश्न करती है, “पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए और उसे सांत्वना देने के लिए अपराधियों को दण्डित करना भी राज धर्म है या नहीं? पापियों को दण्डित न करना अधर्म है या नहीं ?..करुणा एक महान गुण होते हुए भी क्षमा अपराधियों को मिले यह सामाजिक धर्म नहीं। ऐसे कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध कोई उद्दात भाव नहीं है किन्तु न्याय तो सात्विक है और न्याय के लिए संघर्ष करना धर्म है।” (कोहली, महासमर 7,171)

दंड का न्यायिक रूप कितना विचारणीय और आवश्यक है। अब सामयिक परिस्थिति को देखें-क्या परिदृश्य है ? यही सब ही तो दृष्टिगोचर हो रहा है। तमिल नाडू की भूतपूर्व मुख्यमंत्री जयललिता और उनकी सचिव शशिकला पर आय से अधिक सम्पत्ति का मामला आज से 21 साल पहले दायर हुआ था और मई 2017 में उसका न्यायलय द्वारा निर्णय आया, दोनों को पांच वर्ष की कैद और दस करोड़ रुपये के जुर्माने की व्यवस्था की गयी। अब विडंबना देखें इसी बीच जयललिता की मृत्यु हो गयी। अब ऐसी सजा का क्या ? अपना पूरा जीवन वैभव और सत्ता के उपभोग में बिताया। एक सम्राज्ञी की तरह उसकी मृत्यु का प्रपंच हुआ। क्या न्यायालय द्वारा दिया गया दंड किसी भी तरह प्रासंगिक रह गया ? जब इतनी देर से आने वाले निर्णयों से किसी की कोई हानि ही नहीं होगी तो सामान्य जन की निराशा कैसे कम होगी ? इसीलिए न्याय व्यवस्था को दुरुस्त करना अति आवश्यक है। दंड सबको बल्कि समाज के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को तुरंत मिले जिससे सामान्य जन का मनोबल क्षीण होने की अपेक्षा उन्नत और न्याय के प्रति विश्वासपूर्ण हो।

## प्रजावत्सलः सुख दुःख का सहभागी

महासमर में सद्बुद्धि, शिक्षा, सदाचार, शास्त्र एवं धर्मानुसार विचार कर अपने शासक को चुनने का अधिकार बनाम कर्तव्य जनसमुदाय को देने का मूल्य प्रस्तावित है, और इसका सबसे बड़ा उदाहरण द्वारका की सुधर्मा सभा है। जहाँ सभी को समान न्याय और स्वतंत्र विचार रखने की स्वाधीनता है। यहाँ राज्यसभा में विचारविमर्श के पश्चात ही प्रशासन निर्णय लेता है। यदि इस प्रकार की व्यवस्था हो तो जनमानस को अपने राज्य के प्रति विश्वास होगा ही। साथ ही शासक पर भी इस बात का दबाव रहेगा कि वो प्रतिनिधि है न कि अधिकारी। उसका कार्य शासन देना है करना नहीं। जैसा कि श्री कृष्ण भीम से कहते हैं, “सिंहासन पर बैठे बैठे कोई राजा प्रजा का हित नहीं साध सकता उसके लिए राजा को प्रजा के सुख दुःख में उसके साथ जीना और मरना पड़ता है।” (कोहली, महासमर 4,19)

शासन के लिए व्यक्तिगत हित की अपेक्षा जन हित का ध्यान रखना उचित है। शासक को अनेक प्रकार से प्रजा की देखभाल और सम्मान पूर्ण जीवन की सुरक्षा करनी होती है। जिसके लिए उसे अपने समस्त स्वार्थों को त्यागना पड़ता है। निम्न पंक्ति में शासक का गुण देखने योग्य है-

“एक देश क्या अखिल विश्व का,  
तात चाहता हूँ मैं त्राण।” (गुप्त, साकेत 437)

यहाँ मैथिलीशरण गुप्त जीवन में कर्तव्य को सर्वोपरि समझते हैं। उनके राम ऐसे शासक हैं जो लोक हित और विश्व बंधुत्व की भावना को प्रबलता एवं दृढ़ता से पूरी करने को कृत संकल्प हैं और इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए वह अयोध्या का त्याग कर सम्पूर्ण मानवता को शांति देने का संकल्प करते हैं।

समय की यह पुकार है कि राष्ट्र में शास्त्र ज्ञाता एवं शक्ति और न्याय संपन्न नेतृत्व का अविर्भाव हो। एक अच्छे शासन का यही मूलमंत्र है। ‘सबका साथ सबका विकास’। खांडवप्रस्थ एक वृद्ध से वार्ता करते हुए कृष्ण और पांडव

तुलनात्मक रूप से शासन और उसकी कमियों की चर्चा करते हैं। वृद्ध का विचार है, “जहाँ सुशासन नहीं होता, वहाँ उपजाऊ भूमि भी बंजर हो जाती है और विशाल से विशाल नदी का जल सूख जाता है।” श्री कृष्ण इस बात का अनुमोदन करते हैं, “सुशासन न हो तो वर्षा जलप्लावन बन जाती है, गोरस बच्चों के उदार में जाने के स्थान पर रानियों के स्नान सरोवर में पहुँच जाता है। और अन्न प्रजा का खाद्वय बनने से पूर्व ही पशुओं का चारा बन जाता है।”..यह तो कुव्यवस्थाओं की बात है। अब सुशासन का मन्त्र देते हुए युधिष्ठिर प्रजाजनों को आश्वस्त करते हुए कहते हैं, “जो प्रजाजन धर्म राज्य के अधीन रहना चाहते हैं, उनकी सुरक्षा का दायित्व हमारा है। हम प्रजा की सुरक्षा ही नहीं प्रजा का पालन भी करेंगे। जो कृषि करना चाहेगा उसकी भूमि और उपज की रक्षा की जाएगी। पशु पालकों के गोधन की पूरी रक्षा होगी। व्यापारियों को निष्कण्टक मार्ग प्रदान किये जायेंगे। श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक दिलाया जायेगा, तथा धन के विनिमय इत्यादि में वचन का पालन करवाया जायेगा।” (कोहली, महासमर 4,17)

वृद्ध का मन अभी भी आशंकित है, उसे लगता है ऐसा सुशासन कैसे संभव है प्रभावशाली व्यक्ति किसी न किसी रूप में महाशक्तियों एवं उच्च अधिकारियों द्वारा संरक्षित एवं पोषित हैं, और वह सुव्यवस्थाओं में बाधा उत्पन्न करेंगे। वृद्ध के अनुसार, “हमारा नगर तो अपराधी सेनाओं की छावनी बन गया है।”

यही डर ही तो है वर्तमान अराजकता एवं अव्यवस्था का सामयिक परिदृश्य और भ्रष्ट राजनीति का वीभत्स चित्रण। बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप, कमजोर नेतृत्व, संकुचित विदेश नीति एवं बढ़ता आतंकवाद-ये सभी समस्याएं किसी भी राज्य को दुर्बल और महाशक्ति के हाथ की कठपुतली बनाने में जरा सा भी वक्त नहीं लगाती। अपराध और अपराध को प्रश्रय देने वाले व्यवसाय-मदिरा एवं धूत क्रीडा, इन पर भी चर्चा आवश्यक है। यह विषय महासमर काल में इतना महत्वपूर्ण था, सो आज भी उतना ही प्रासंगिक और ज्वलंत है। वर्तमान में भी ये मनोरंजन के व्यवसाय हैं। रात्रि-क्लबों की संस्कृति जोरों पर है। यदि इस प्रकार की

गतिविधियों को नियमों के अंतर्गत अनुशासित न किया जाये तो अनियंत्रित चेतना के उच्छिखल होने में जरा सा भी समय न लगे। महासमर की कथा में हाट-बाजार का एक दृश्य है। जहाँ दो व्यक्ति मदिरापान करके, धूत क्रीडा करके झगडा करते हैं और दुकानों पर लूटपाट करते हैं। परिणामस्वरूप दोषी बनाकर युधिष्ठिर की सभा में लाये जाते हैं। यहाँ युवराज युधिष्ठिर अपनी न्यायपूर्ण नीति का परिचय देते हुए उत्तम शासक का आचरण दर्शाते हैं और कहते हैं, “दोनों व्यक्ति मदिरा पीकर धूत क्रीडा में सलंग्र थे। मदिरापान और धूत क्रीडा राज्य की ओर से निषेध नहीं है, किन्तु शांति भंग का निषेध है। इसलिए उन लोगों को बंदी बनाकर उपयुक्त दंड दिया जाना चाहिए, ताकि वह पुनः ऐसा अपराध न कर सकें, जिससे अन्य लोग भी शिक्षा ले। दूसरी ओर वह व्यापारी हैं जिनकी दुकानें लूटी गयी हैं। उनकी क्षतिपूर्ति राज्य की ओर से हो, क्योंकि राज्य उनकी सुरक्षा के लिए उनसे कर लेता है। राज्य ‘कर’ लेकर उनकी सुरक्षा में असफल रहा है, इसलिए यह दोष राज्य को अपने उपर लेना होगा। तीसरे, नगरपाल और उसकी व्यवस्था को भी देखना होगा। जिस समय यह घटना घटित हो रही थी, उस समय नगरपाल के सैनिक, प्रहरी तथा दंडधर कहाँ थे ? उन्होंने झगड़ा आरम्भ होते ही उसे क्यों नहीं रोका? हाट से वो लूटपाट के समय क्यों अनुपस्थित थे ? उन्होंने लूटपाट को क्यों नहीं रोका और अंत में उन सारे अपराधियों को बंदी क्यों नहीं बनाया गया ? हमें राज्य की नीति पर भी पुनर्विचार करना चाहिए।” (कोहली, महासमर 3. 20)

इस विचार के दो पक्ष हैं-एक जो इनका पक्षधर है-उनके अनुसार उपरोक्त व्यवसाय राज्य की आय के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, जैसा कि दुर्योधन आदि ने राज्यसभा में तर्क दिए। दूसरा पक्ष-समाज के कल्याण को प्रमुखता देता हुआ कहता है कि आय के लिए और भी विकल्प हैं। वह पक्ष इन व्यवसायों पर प्रतिबंध करने का सुझाव देता है। वर्तमान में राज्य-बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने भी पूरे राज्य में मदिरा पर प्रतिबंध लगा रखा है। यद्यपि उनके इस निर्णय के पक्ष-विपक्ष में चर्चाएँ होती रहती हैं।

युधिष्ठिर के अनुसार मदिरा और धूत से विवेक नष्ट होता है और लोभ जागता है, इन दोनों से सत्त्वृतियों का नाश होता है और अनेक अनार्थी दुर्घटनाओं की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

## नीति-अनीति ज्ञान

नीति निपुणता का गुण शासक में अत्यंत आवश्यक है, “नीति में दोनों प्रकार की नीति का समावेश हो जाता है, प्रथम ‘पारस्परिक नीति’, तथा द्वितीय ‘स्वतंत्र नीति’। पारस्परिक नीति में राज अन्य मंत्रियों आदि से विचार विमर्श कर निर्णय करता है और स्वतंत्र में जैसा कि शब्द ही कहता है-राजा व्यक्तिक रूप से स्वतंत्र निर्णय लेता है। तुलसी कृत रामचरित मानस में प्रथम निर्णय का उदाहरण देखते हैं,

“साधू सुजन सुसील नृपाला । ईस अंस भाव परम कृपाला ॥  
सुनी सन्मानहि सबही सुबानी । भनति भगति नती गति पहिचानी ॥”  
(बालकाण्ड दो.28/8/9)

द्वितीय उदाहरण के लिए तुलसी कृत दोहावली का उदाहरण देखते हैं,

“अथा अमल पावन पवन पाई कुसंग सुसंग ।  
कहिअ कुबास सुबास तिमी काल महीस प्रसंग ॥” दोहावली 505)

यदि नीति का परिणाम उम्मीद के विपरीत हो तो उसमें किस प्रकार परिवर्तन किया जाये ? महात्मा विदुर इसी प्रकरण में नीति सम्बन्धी अपनी राय देते हुए कहते हैं, “अपनी नीतियों का प्रजा पर प्रभाव देखकर उन पर पुनर्विचार करना प्रत्येक बुद्धिमान, न्यायप्रिय तथा प्रजा वत्सल राजा का धर्म है।” (कोहली, महासमर 3,20)

युधिष्ठिर के रूप में महासमर एक नीतिप्रज्ञ प्रशासक और राजनीतिज्ञ का सात्विक और उत्तम रूप पाठकों और दर्शकों को दर्शाता है। वे एक सारगर्भित बात

कहते हैं कि, “नीति की चर्चा करते हुए मेरे सामने व्यक्ति नहीं होते। नामों को सन्मुख रखकर हम नीति निर्धारण नहीं कर सकते। हमें नीति को व्यक्ति से बड़ा मानना होगा, चाहे वह व्यक्ति अपने आप में कितना ही बड़ा क्यों न हो। व्यक्ति के व्यसन अथवा राज्य की नीति में प्रजा के अकल्याण का निषेध होना ही चाहिए।”  
(कोहली, महासमर 3,24)

कितने लोग इस सांस्कृतिक तथ्य का समर्थन करते हैं ? विचार करने योग्य तथ्य है ! राजनैतिक सन्दर्भों में उपरोक्त सभी तथ्य प्रासंगिक हैं। आज भी वही परिस्थितियाँ हैं और वैसे ही राज्याधिकार-राज्याधिकारी ! ऐसा है तो नीति के पुनरुत्थान की आवश्यकता तो आज भी वर्तमान है। जन-सधारण तो इस का अनुमोदन करता है किन्तु जिनके स्वार्थ बाधित होंगे वह अवश्य ही विरोध पक्ष में खड़ा होगा।

एक प्रखर राजा इस बात का भी ध्यान रखेगा कि अपराध चाहे व्यक्ति करे या समूह। किसी को छोड़ा नहीं जाये बल्कि दंड मिले। भीड़ के पीछे छुप के अपराध करने वालों के लिए युधिष्ठिर कहते हैं, “सामूहिक कृत्य होने के कारण कोई अपराध क्षम्य नहीं हो जाता। अपराध चाहे व्यक्ति करे या समूह करे,..यदि आज हम इस उपद्रव को क्षमा कर देंगे, क्योंकि इसमें बहुत सारे लोग सम्मिलित थे, तो अपराधी समय-समय पर अपना लाभ देखते हुए इस प्रकार के उपद्रवों का आयोजन करते रहेंगे। निरपराध लोगों की हत्याएं होंगी और उनकी सम्पत्ति लूटी जाएगी। अपराधियों को कठोरतम दंड दिया जाना चाहिए, न कि उनके लिए अपराध करने की एक सुविधा जनक विधि का निर्माण करना चाहिए।”

आश्चर्य तो तब होता है जब ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए और होती नहीं ! क्यों नहीं, ऐसी व्यवस्था और नियम-नीति की पालना हर जगह कठोरता से होती। नगरपालिका अपने दायित्वों से भागती है। वर्तमान में स्थानीय पूरे जिले में गन्दला जल आवंटित हो रहा है। जिसे जनता पीने को बाध्य है। प्रतिदिन रोगों से लड़ते निरीह नगरवासी प्राणों पर संकट झेलने को विवश हैं। समाचारपत्र नित्य इन



शिकायतों से भरे हैं पर प्रशासन के कानों पर जू नहीं रेंगती। और तो और दो मुख्य राज्य—पंजाब एवं हरियाणा जल का विवाद ले कर एक दूसरे के साथ भयंकर लड़ाई लड़ रहे हैं। एस.वाई.एल. (सतलुज-यमुना-लिक-नहर-योजना)पर सत्ता गत विवाद एवं नदियों के जल पर अधिकार का प्रश्न राजनीति का सामयिक परिदृश्य बना हुआ है। पंजाब राज्य के तात्कालिक उप-मुख्यमंत्री सुखबीर बादल कहते हैं कि हरियाणा को एक बूंद पानी भी नहीं दिया जायेगा। ‘और वहां महासमर में दुर्योधन कहते हैं कि सुई की नोक जितनी भूमि भी पांडवों को नहीं दी जाएगी। दोनों ही स्थितियों में उन्हें युद्ध स्वीकार है। महासमर में कुरुक्षेत्र का, और वर्तमान जल समस्या में न्यायालयों द्वारा। क्या अंतर है दोनों स्थितियों में? इस विवाद में समाज के सर्वमान्य मूल्य कहां तिरोहित हो जाते हैं? अफसोस है! पर पिसता निरीह सामान्य जन ही है।

## सुशासन: आदर्श, अनुकरणीय एवं त्रास

सुप्रशासन का एक और महत्वपूर्ण मूल्य है सजगता। श्रीकृष्ण कहते हैं, “शासन को ईश्वर के ही सामान सर्वव्यापी और अदृश्य होना चाहिए। जो प्रकट है, वह बल है, शासन तो अदृश्य होता है। अकारण बल प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।”...वह कहते हैं कि, “तीर्थ स्थानों की शांति और सुव्यवस्था बनी रहनी चाहिए, जिससे यात्रियों को कष्ट न होने पाए। इसके लिए शासन को सजग एवं जागरूक रहना ही होगा।” उनके अनुसार, “मित्र को न भी जानो तो कोई हानि नहीं, किन्तु शत्रु को जानना बहुत आवश्यक है।” (कोहली, महासमर 4,259)

श्री कृष्ण के अनुसार, “चक्रवर्ती सम्राट को आदर्श, अनुकरणीय तथा त्रास तीनों ही होना चाहिए। शासन का अधिकार उसे ही है, जिसे शासन में आसक्ति नहीं है, जो भोग के लिए, वैभव विलास के लिए, अपने अधिकार और अहंकार के लिए शासन नहीं करता। शासन करता है तो केवल धर्म स्थापना के लिए।” (कोहली, महासमर 4,205)

कितना सटीक उदाहरण देते हैं श्रीकृष्ण—सम्राट कैसा हो ! यदि शासक ही दुर्बल होगा तो शक्तियां उसके विरुद्ध संगठित हो जाती हैं और यदि सम्राट त्रास बनकर एक आदर्श भय का वातावरण तैयार करता है तो प्रजाजनों के साथ-साथ राज्याधिकारी भी नियम एवं नीति पालन को बाध्य होते हैं ।

शक्तिशाली होना और आदर्श होना, यह वह चारित्रिक गुण हैं जो शासक को उत्तम नेतृत्व बना कर प्रस्तुत करते हैं । अन्यथा महाशक्तियां उसका लाभ उठा कर उन्हें नेस्तनाबूद कर देती हैं । राज्य जितना छोटा और शक्तिहीन होगा उतना ही वह महाशक्ति पर निर्भर भी होगा । इसीलिए कृष्ण युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के द्वारा धर्म राज्य के लिए तैयार करते हैं जिससे वह आसपास के छोटे राज्यों को उद्वंड महाशक्तियों के त्रास से मुक्त करा कर उन्हें अभयदान दे सके ।

श्री दामोदर सातवलेकर ने साम्राज्य-वाद का विधान आज के सदृश्य न मानते हुए स्पष्ट कहा है, “प्राचीन काल में शत्रु को परस्त करना और उसे आर्य विधान देना-इतना ही साम्राज्य का अर्थ था ।” उनके अनुसार, “भगवान राम ने रावण के साम्राज्य का नाश करके उसे अपने राज्य में मिलाया नहीं, वरन उसी के भाई विभीषण के अधीन करके उसे देकर वापिस आ गये । ऐसा ही विश्लेषण सत्त्वेकर, अपने लेख ‘वैदिक शासन’ (हिन्दू संस्कृति) में करते हुए कहते हैं, “उस समय की साम्राज्य-पद्धति में किसी के स्वातंत्र्य को अपहरण करने की नीति मान्य नहीं थी ।” (सत्त्वेकर 228)

केंद्र में चक्रवर्ती सम्राट अथवा केंद्र सरकार दोनों ही संघ राज्य की अनिवार्यता की द्योतक हैं । स्पष्ट है कि सम्राट एक ऐसी सत्ता थी, जो आस-पास के समस्त राज्यों पर अपना वरदहस्त रखती थी । जिसके संरक्षण में राज्य एवं राजा स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते थे । ऐसे प्रशासन में संघ में सम्मिलित राज्य अपनी प्रभुसत्ता बनाये रखते हुए आपसी तालमेल भी बनाये रख सकते हैं, जिससे एक दूसरे के विकास कार्यों में सहायक हो सकें । इन राज्यों को मनमानी करने वाले उत्पाती शासकों का भय नहीं रहता था और जिसके बदले वह सम्राट को उपहार या

कर देते थे। इस आश्वासन के अंतर्गत सभी छोटे और बड़े राज्य, सम्राट अथवा केन्द्रीय शक्ति के अधीन होकर अपना शासन स्वायत्ता से चलाते थे। लगभग ऐसा ही संघीय शासन, वर्तमान भारत एवं युनाईटेड स्टेट ऑफ़ अमेरिका में देखने को मिलता है।

महासमर में एक छोटे से राज्य कुलिंद का राजा सुबाहु जो राजसुय यज्ञ के समय से धर्मराज के अधीन है, वनवास के समय भी युधिष्ठिर आदि की सहायता को तत्पर है। धौम्य ऋषि के पूछने पर वह बहुत सारगर्भित उत्तर देता है, “हम चाहते हैं कि सारे जम्बुद्वीप में धर्म राज्य की सत्ता पुनः स्थापित हो, ताकि हमारा भविष्य सुरक्षित रहे।” (कोहली, महासमर 5,225) एक और जगह वह कहता है, ‘सत्ता के केंद्र में यदि कोई क्रूर अन्यायी व्यक्ति बैठा हो तो सारी सृष्टि भय और आतंक से कांपती रहती है।’ अतः यह सिद्ध होता है कि अधिकांशतः सभी राज्य शांति और सुरक्षा चाहते हैं। वह चाहते हैं इसके लिए उन्हें केंद्र में निर्भय और बलवान शासक और सात्विक सत्ता चाहिए। जैसे मगध का राजा जरासंध अपनी अधर्मपूर्ण शक्ति का संबल लेकर एवं विदेशी शक्तियों के बल पर आर्याव्रत को अपने अधीन करना चाहता है। जिसके लिए वह विदेशी आक्रान्ता कालयवन का सहारा लेता है। ध्यान रहे, आज भी न आक्रान्ताओं की और न देशद्रोहियों की कमी है और उस पर त्रासदी यह है कि किराये के हत्यारों की सहायता लेकर कुछ लोग अपने लोभ और स्वार्थ की सिद्धि करते रहते हैं। मानवता की हत्या करने वाले इन देश द्रोहियों को अपने देश से गदारी करते जरा सी लज्जा नहीं आती।

“आज भी आतंकवाद के नाम पर जो नर संहार हो रहा है, या अधिक शक्तिशाली देश दुर्बल देशों का दमन कर रहे हैं, वह जरासंध, कालयवन, बाणासुर के कृत्यों से ही नहीं, धृतराष्ट्र और दुर्योधन के अनाचारों से भी कुछ भिन्न नहीं हैं।” (कोहली, महासमर 9,236)

कृष्ण ऐसी स्थितियों के विरुद्ध ही शक्ति प्रदर्शन के लिए कहते हैं। जिससे अपराधिक वृत्ति वाले आक्रान्ताओं को भय हो। उनके अनुसार, ‘अनेक अवसरों

पर शक्ति प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है।' श्रीकृष्ण न केवल शक्ति और समृद्धि के पक्षधर हैं वरन मित्रों और शत्रुओं की सूचनाओं के प्रति भी अपनी गुप्तचर व्यवस्था के चलते जागरूक और सजग रहने का मन्त्र युधिष्ठिर को देते हैं। राज्य के विकास और उसकी शक्ति सम्पन्नता के लिए उसकी गुप्तचर व्यवस्था, उसकी विदेश नीति उत्तम होनी चाहिए।

## अर्थवान, भौतिक समृद्धि तथा सैन्यशक्ति सम्पन्न

खांडवप्रस्थ में नारद मुनि का आगमन होता है, उन्हें राज्य का निरीक्षण कराते हुए सहदेव, नगर के विकास का उल्लेख करता है, 'नगर का विकास बहुत हुआ है, जनसंख्या बढ़ गयी है, व्यापार में वृद्धि हुई है। आजीविका की खोज में प्रतिदिन अनेक श्रमिक, सैनिक, कृषक, कलाकार, व्यापारी और उद्द्यूमी बहुत प्रकार से आ रहे हैं। उनके लिए निरंतर भवन और मार्ग बन रहे हैं। गतिविधि बढ़ रही है और हमे निरंतर सावधान रहना पड़ता है कि आजीविका की खोज में आये इन लोगों की ओट में कहीं दुष्ट और साहसिक लोग नगर में न आ जाएँ।' सुरक्षा के विषय में सहदेव का कथन है कि "उन आंगतुकों के पास विकसित शास्त्रशस्त्र होते हैं, वे राज्य के प्रहरियों और सैनिकों पर भारी पड़ते हैं।"(कोहली, महासमर 4,62)

यह समस्या उस काल की ही न होकर आज के सन्दर्भों में भी उतनी ही वर्तमान है। प्रश्न यह है कि जो आंगतुक छद्म वेश में देश में प्रवेश करता है प्रशासन उसके प्रति कितना जागरूक है ? उनके सामान, पहचान आदि की खोज खबर ली जाती है या नहीं ? यदि वह राज्य के प्रहरियों पर भारी पड़ते हैं तो उनके पास ऐसे शस्त्र कहाँ से आते हैं? उनका उपयोग करना, वह कहाँ सीख रहे हैं ? हथियारों का संकलन अपने ही देश की किसी संस्था के पास है या कोई बाहरी शक्ति उनकी सहायता कर रही है ? ऐसे गुप्त प्रश्नों का उत्तर सत्ता के पास है या नहीं? ऐसे लोग कहाँ से और क्यों आते हैं ? यह सब सवाल न केवल सजगता को उद्वेलित करते हैं वरन एक जागरूक शासन के अनिवार्य गुण हैं।

हाँ यह सत्य है कि कुछ राजनैतिक अनुमति के प्रावधान होते हैं जिसके अंतर्गत विकसित धनी और व्यवसायी देशों में प्रवासी सदैव कार्य और आजीविका की तलाश में स्थान पाते हैं। वर्तमान में भी एशिया मूल के लोग अधिकतर अमेरिका, यूरोप, गल्फ आदि देशों में आजीविका की तलाश एवं अधिक धन के लोभ में जाते हैं। इन प्रवासियों के आगमन और प्रवास सम्बन्धी एवं स्वयं राज्य की अपनी सुरक्षा सम्बन्धी भिन्न मूल्यों के प्रति राज्य को सजग-एवं जागरूक रहना चाहिए-

- 1) विकसित राज्यों में बाहर से व्यापारियों एवं श्रमिकों का आना।
- 2) प्रवासियों की सुरक्षा व्यवस्था।
- 3) आंगतुकों के भेष मे अराजक तत्वों का एवं आंतक वादियों का राज्य में प्रवेश।
- 4) सीमाओं की सुरक्षा व्यवस्था।
- 5) सुशस्त्रित सैन्य बल एवं उनके अस्त्र शस्त्रों की उत्तम अभ्यास व्यवस्था।

प्रवासी न केवल व्यवसाय के लिए आते हैं वरन कई और कारणों से भी आते हैं जैसे पर्यटन आदि जिससे राज्य की अछि आय भी होती है। रामराज्य में राज्य की सुव्यवस्था और सुन्दरता के चलते पड़ोसी राज्यों के लोग पर्यटन के लिए आकर्षित होते हैं। तुलसीदास, रामचरितमानस में लिखते हैं —

छ० “बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहर्ही ।  
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहिं ॥  
बहु रंग कंज अनेक खग कुजही मधुप गुंजारही ।  
आराम रमय पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारही ॥”

(उत्तरकाण्ड छ०.2/9)

यहाँ अनुपम बावलियों, तालाब और मनोहर तथा विशाल कुएं शोभायमान हैं। जिनकी रत्नजडित सीड़ियाँ और निर्मल जल का दर्शन करके देवता भी मोहित हो जातें हैं। ऐसे दृश्य वहां आने वाले आंगुतकों को आक्रष्ट करते हैं।

वस्तुतः राज्य किसी एक विभाग का नाम नहीं है- पर्यटन है, गुप्तचर है, सुरक्षा संस्थाएं हैं। यदि देश के सामयिक वातावरण को देखें तो पाएंगे कि वर्तमान में —

सी.बी.आई.(सेन्ट्रल ब्यूरो और इन्वेस्टिगेशन) केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो.

आई. बी. (इनटेलीजेंस ब्यूरो)

रा. (रिसर्च एंड अनालिसिस विंग.)

ए.टी.एस. (एंटी टेरीरिस्ट स्कैड) आदि अनेक सुरक्षा संस्थाएं कार्य कर रही हैं।

सीमाओं पर बी.एस.ऍफ़. (बार्डर सिक््योरिटी फ़ोर्स) के जवान तैनाद हैं।

विडंबना यह है कि इतनी बड़ी और शक्ति शाली सेना और सुरक्षा ऐजेंसियों के होते हुए भी विदेशी शक्तियां अपना आंतक जताती रहती हैं। पठानकोट, उरी, संसद भवन, बंबई आदि में हुए हमले इस बात के साक्षी हैं कि या तो व्यवस्था भ्रष्ट है अथवा सैनिक बलों का प्रशिक्षण कमजोर है। युधिष्ठिर इसी तथ्य का अनुमोदन करते हुए कहते हैं, “बाहरी महाशक्तियां मित्रों के राज्य में शत्रुओं का और शत्रुओं के राज्य में मित्रों का पोषण करती हैं।” “और इस प्रकार यह क्षेत्र अपराधियों के लिए स्वर्ग हो जाता है।” तो फिर और कैसे पाप और अपराध पनपता है ? ऐसी परिस्थितियाँ ही तो अराजक तत्वों के लिए अनुकूल होकर उन्हें उकसाती हैं।

अमेरिका जैसी महाशक्ति भी पकिस्तान को मोहरा बनाकर अन्य देशों में उत्पात का सूत्रपात करती हैं। ऐसे देश ही तो शक्ति सम्पन्न होकर आसपास के राज्यों में दुर्घटनाओं के कारण बन उन्हें चक्रव्यूह में उलझाये रहते हैं जिससे वो विकास के ध्येय से भटक कर अन्य समस्याओं में उलझे रहें।

महासमर में यह आंतकवादी महाशक्तियां मगधराज जरासंध एवं मथुरा नरेश कंस के रूप में विद्दुमान हैं। मगध के स्वेच्छाचारी एवं भ्रष्ट व्यवहार की

पराकाष्ठा तो तब समक्ष आती है जब वहां का एक साधारण व्यवसायी लोभ और भ्रष्ट व्यवस्था के बारे में कृष्ण और अर्जुन को कहता कि इस राज्य में लाभ धर्म के रूप में कहाँ नहीं मिल सकता। यदि वे लोग किसी लाभ की योजना लेकर इस राज्य में आयें हैं तो वे भी इस लूट और अव्यवस्था में सम्मिलित हो जाएँ और स्वाभिमान को समाप्त कर दें। आज के राजनैतिक संगठन भी इन्हीं दुर्गुणों के कारण धर्म एवं मानवीय गुणों से अपदस्थ होते जा रहे हैं, चुनावों के समय अपने वादों का प्रचार करते हुए अन्य दलों के कार्यों का दुष्प्रचार उनका अभीष्ट कार्य बन जाता है और जब चुनाव पश्चात् परिणाम आते हैं और सत्ता में आने के लिए अपने पद पूरे नहीं होते तो उन्हें दलों से सांठ-गाँठ करने में कतई नहीं हिचकते। जनता के विश्वास और भरोसे का मजाक बना कर रख देते हैं। मिली जुली सरकार बनाने का उपक्रम कर जनता को धोखा देने से जरा भी नहीं चूकते। अर्थात् परिस्थितियाँ तो लगभग एक सी ही हैं, परन्तु नाम, काल, चेहरे आदि में कुछ परिवर्तन होता रहता है।

सुशासन का अर्थ मुख्यतः लोक कल्याण, समता, न्याय का राज्य है। कहीं अन्याय न हो, अधर्म न हो, सबको उनका अधिकार मिले। इतिहास में कितने ही उदाहरण आज भी अपनी कथा से मानवता को सन्देश देते हैं। मानवता की पीड़ा के कितने ही उदाहरण भारत के इतिहास में भी भरे हैं। मुगल, मंगोल, अंग्रेज आदि जातियों ने मानवता को कितना शोषित किया, ये तथ्य किसी से अनजान नहीं है। जखम गहरे हैं, अभी अधिक समय नहीं हुआ भारत की आज़ादी को ! इन त्रासदियों के नेपथ्य में कौन से मूल्य कार्य करते हैं ? महासमर के एक-एक पात्र को आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। उसमें धर्म का पक्ष भी है। वही संसार आज भी है जिसमें आज का मनुष्य सांस ले रहा है। किन्तु भारतीय मूल्य कुछ और भी कहते हैं ! उदाहरणतः अर्जुन ने राजा दुपद को बंदी बनाने के पश्चात् बाकी रक्तपात और नरसंहार रोक दिया-यह है भारतीय मानस का हृदय और उसके मूल्य ! अंत तक युद्ध की उपेक्षा करता युधिष्ठिर का अंतस और शांति प्रयास-यह है शासक के रूप में राजा के मूल्य !

सामयिक बात करें तो 1971 के पाकिस्तान और भारत का युद्ध ले लें। भारत ने विजय के पश्चात् पाकिस्तान के 90 सैनिकों को, जो बंदी बनाये जा सकते थे, पाकिस्तान को सुरक्षित लौटा दिया। यही हैं भारतीय मूल्य जिसने कभी किसी अन्य देश की स्वायत्ता हड़पने की कोशिश नहीं की। अमेरिका और चीन परदे के पीछे से अन्य देशों की सहायता करते हुए भारत को नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करते रहते हैं, और अपने देश में जब ट्रेड सेंटर पर हमला होता है तो तिलमिला कर उसी देश में घुस कर वार करने से नहीं चूकते। खांडवप्रस्थ में युधिष्ठिर के राज्य को दुर्बल करने के लिए इसी प्रकार इंद्र और तक्षक शांति विरोधी गतिविधियाँ करते रहते हैं। इस प्रकार से दुर्बल होते राज्य कभी भी स्वायत्त होकर शासन नहीं कर पाते और न्याय क्षेत्र में कमजोर हो जाते हैं। अन्याय के रास्ते पर चलते हुए अंततः राज्य स्वयं भी अपने लिए हानिकारक हो जाते हैं। एकचक्र नगरी में राक्षक द्वारा दुर्बल किया गया राजा, कीचक द्वारा राजा विराट की मान हीनता, उन्हें न्याय का पक्ष लेने नहीं देती। यदि एक बार अपने मनोबल को त्याग कर राजा अन्यायी के सामने हथियार डाल देता है तो सुशासन का स्वप्न कभी पूरा नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए- 'नेपाल में अभी-अभी 2001 में राज्य लोभ के कारण पूरे राज परिवार की हत्या कर दी गयी, सम्भावना है कि घर के ही भाई ने यह हत्याएं की। पाकिस्तान में पूर्व प्रधान मंत्री बेनजीर भुट्टो की हत्या हुई। अमेरिका में कनेडी भाई मारे गये। यह सब इस आंतकवादी नीतियों का ही परिणाम है। ऐसी घटनाएँ बताती हैं कि महासमर की घटनाएँ कतई अस्वाभाविक और असाधारण नहीं, न ही वो अप्रासंगिक हुई हैं ! राजनैतिक हत्याएं आज का भी सामान्य सत्य हैं। व्यक्ति का लोभ, अपने शत्रुओं का ही नहीं, अपने परिजनों की भी हत्याएं करवाता है। देश के शासकों का लोभ, पहले अपने परिवार में रक्त की होली खेलता है और फिर विभिन्न देशों के मध्य युद्धों का सूत्रपात करता है। वर्तमान पुलवामा हत्याकांड और किस वीभत्सता का द्योतक है ? बेकसूर 42 सैनिकों की निर्मम हत्या किस वीरता की निशानी है भला?



यह परिस्थिति आज भी वर्तमान है, पाकिस्तान और अफगानिस्तान द्वारा पोषित तालीबान भारत के विरुद्ध उपयोग होते रहे और आज स्वयं के लिए त्रास का कारण बने हुए हैं।

## लोभ मोह से विरक्त

महासमर के पात्र धृतराष्ट्र और दुर्योधन सत्ता के लोभ की अंतिम सीमा तक पहुंचे हुए हैं। धृतराष्ट्र तो सत्ता लोलुप होने की पराकाष्ठा पूर्ण करता है। वह जीवन पर्यंत सिंहासनसीन रहना चाहता है और अपने बाद भी वह सिंहासन अपने पुत्र के लिए ही चाहता है। मोह का भ्रम मनुष्य को कितना धर्म शून्य कर देता है। युद्ध की विभीषिका एवं अनिवार्यता जानते हुए भी वह किसी अर्थ में स्वार्थ को त्याग नहीं पाता। पुत्र मोह राजा को मूल्य हीन करने में तनिक सा वक्त नहीं लगाता। स्वतंत्र भारत में पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंहराव जब शासनासीन थे, उस समय की घटना है- यूरिया कांड घपले में उनके पुत्र पर जब आरोप लगा तो उन्होंने सिर से ही इस तथ्य को नकारते हुए सत्य से मुंह फेर लिया। कहा जा सकता है कि यद्यपि यह व्यक्तिगत एवं मनोवैज्ञानिक व्यवहार है परन्तु जब इसमें राजनीति सम्मिलित हो जाती है, तो युद्ध की विभीषिका अनिवार्य हो जाती है। व्यक्ति कितनी भी ऊंची जगह पर आसीन हो जाये पर व्यक्तिगत स्वार्थ फिर भी नहीं त्यागता। बचपन में एक कथा पढ़ते थे- प्रेमचंद रचित 'पञ्च परमेश्वर'। मूल्यों को स्वार्थ और व्यक्तिगत स्वार्थों से कहीं ऊंचा उठने का सन्देश देती हुई। इतने घनिष्ठ मित्र जो एक दूसरे पर प्राण न्यौछावर कर दें, पंचों की गद्दी पर बैठते ही न्याय के पक्ष में निर्णय देते हैं। इससे उत्तम उदाहरण क्या होगा? क्या न्याय को रिश्तों और स्वार्थों से ऊपर नहीं उठाना चाहिए ?

जहाँ अधर्म हो, पाप हो, अनाधिकार आधिपत्य हो वहाँ युद्ध का होना अवश्यम्भावी हो जाता है। ऐसा महासमर की कथा में प्रतीत होता है। किन्तु कथा कहीं भी, किसी मायने में युद्ध का समर्थन नहीं करती। महा-ऋषि वेदव्यास, श्रीकृष्ण, महात्मा विदुर अदि अपने पूर्ण संकल्पों के साथ अंत तक युद्ध को रोकने का प्रयास करते हैं परन्तु जब प्रश्न धर्म का, मानवता के कल्याण का हो तो हिंसा

एवं प्रतिहिंसा को धर्म पर बलिदान होना ही पड़ता है। उस काल से वर्तमान तक किसी भी देश एवं समय ने युद्ध का समर्थन नहीं किया, परन्तु न्याय, दुष्ट दलन एवं सबसे बढ़कर आत्मरक्षा के लिए युद्ध की अनिवार्यता को रोका नहीं जा सकता। और दुष्ट दलन भी कैसा ? जिसे धर्म में कोई रूचि ही नहीं ! जो किसी तर्क को सुनना ही नहीं चाहता, जिसे न्याय का अर्थ स्वार्थ से बढ़कर नहीं लगता जो नियम अपने अनुसार रचना चाहता है।

महासमर का पात्र दुर्योधन ऐसे किसी नियम को नहीं मानता जो उसके प्रतिकूल हों। उसका उनके प्रति कोई आग्रह नहीं। वह सारे नियम खुद बनाना चाहता है। उसके अनुसार, “शास्त्रों की रचना वन में बैठे ऋषि करते हैं, जिनके पास न अपना राज्य है, न किसी का राज्य उन्हें छीनना है। उन्हें क्या पता कि भाइयों में सबसे बड़े होने पर भी राज्य का न मिलना कितना कष्टप्रद है ? ..तो फिर उन ऋषियों को राज्य सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार किसने दिया ? जिनके पास न राज्य है, न जिन्हें राज्य मिलने की सम्भावना है ? वंचना की संभावना भी उसको ही होती है जिसके पास कुछ हो। ऋषियों का क्या है ?..तो क्यों न नियम बनाने की अनुमति भी केवल उसे ही हो, जिसका राज्य से कोई सम्बन्ध हो।..उसे बनाने नहीं दिया जायेगा तो वह तोड़ देगा।” उसे सिर्फ शकुनि का बताया नियम सिद्धांत ही समझ आया कि अधिकार से अधिक महत्वपूर्ण है आधिपत्य, “जो कुछ तुम्हें चाहिए उस पर अपना आधिपत्य जमाओ, अधिकार की चिंता मत करो।” यदि बल है तो नैतिकता और नियम की चिंता क्यों करना ? बस दुर्योधन के लिए इस पाठ को पढ़ते ही बल की प्रतिष्ठा और नियमों की अवहेलना का सिद्धांत प्रशासन का एकमात्र मन्त्र बन गया। दुर्योधन प्रशासन का केवल एक ही मन्त्र जानता और मानता है कि जो कोई भी राज्य से जुड़ा कर्मचारी है, चाहे वह पितामह भीष्म हों अथवा द्रोणाचार्य, उस पद की पहली प्रतिज्ञा है, हस्तिनापुर के सिंहासन के प्रति निष्ठा।..और निष्ठा के निर्वाह के मार्ग में न व्यक्तिगत सम्बन्ध आना चाहिए न तटस्थता, न धर्म विचार। दुर्योधन को तो शुद्ध निष्ठा चाहिए, राज सिंहासन के प्रति निष्ठा। राजा के प्रति निष्ठा। उन्हें केवल राजा का हित देखना होगा।’ विचार करने

योग्य है कि जीवन के मूल्य कितने स्वार्थी रूप में कुछ पात्रों के लिए संभव हो सकते हैं। अपने प्रति निष्ठा तो बिना शर्त है और जनता के प्रति न्याय पूर्ण शासन का कोई ध्यान ही नहीं ! स्वेच्छाचारिता का अनन्य उदाहरण है यह तो ! यही तो सिद्धांत थे जिनका अनुमोदन दुर्योधन, धृतराष्ट्र, कर्ण, शकुनि, दुशासन करते थे और इसे ही राजनीति कहते थे। उनके लिए राज्यसत्ता, भोग एवं धन की उपयोगिता-धर्म, न्याय एवं कल्याण से कहीं ऊपर थी। इस तरह महासमर के कुछ पात्रों के आचरण के अनुसार राज्य नियमों की अवमानना बहुतायत में हो रही थी। जिन बुद्धिजीवियों, ऋषियों के बनाये नियमों से सुशासन की परिकल्पना की जाती थी, वह स्वार्थ एवं लोभ लिप्सा के कारण टूट रहे थे।

त्रेता युग के रामराज्य की एक बानगी में भी यह तथ्य उजागर होता है। तुलसीदास श्रीराम के श्री मुख से भारत को चित्रकूट की धरती पर प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान देते हैं-

“गुरु प्रभाऊ पालिहि सबही भल होइही परनाम ।”

(अयोध्याकाण्ड, दो.305)

यहाँ राम भरत को दिलासा देते हुए कहते हैं कि ऋषियों के अनुसार आचरण करते हुए राज्य चलाना, जिससे सबका कल्याण ही होगा। अतः यह स्पष्ट है कि उस काल में भी बुद्धिजीवी ही शास्त्रों के अनुसार राजाओं को दिशा निर्देश दिया करते थे। जो महाभारत काल तक आते-आते स्वार्थ और पशुवत वृत्तियों के कारण अपने आरंभिक विघटन की ओर अग्रसर होता परिलक्षित होता है। दुर्योधन जैसे सत्ता लोलुप और स्वार्थी शासक महासमर में कहते हैं कि, “सुई की नोक जितनी भूमि भी पांडवों को नहीं दूंगा।” तो युद्ध को कौन रोकेगा ? अधिकार और मानवता के कल्याण के लिए धर्म युद्ध अनिवार्य ही तो हो जायेगा। सामाजिक परिस्थितियों में भी ऐसे ही दृश्य विद्यमान हैं। पंजाब एवं हरियाणा राज्य के बीच में सतलुज नदी के जल का विवाद घना होता जा रहा है। ‘सतलुज-यमुना-लिंग’ नहर मुद्दे पर पंजाब के तात्कालिक उपमुख्यमंत्री सुखबीर बादल कहते हैं, ‘कुछ भी हो

जाये एक बूंद पानी भी हरियाणा को नहीं देंगे।' और युद्ध का मैदान है-उच्च न्यायालय जहाँ दोनों राज्यों ने अपने पक्ष में निर्णय की अपील कर रखी है। क्या परिदृश्य बदले हैं ? हाँ यह कि युद्ध के रूप में अधिक सांस्कृतिक हो गये हैं ? पिसता कौन है ? निरीह आम आदमी !

परिवर्तित परिस्थितियों में नियमों के प्रति रूढ़ होने के विपरीत उसका आग्रह छोड़कर उसे जनकल्याण के लिए लचीला बनाना जाना चाहिए। जैसे विदुर अपने संभाषणों में कहते हैं, “न्याय, धर्म एवं कल्याण के लिए जीवन की नीतियों को अपने प्रभाव के अनुसार परिवर्तित करते रहना चाहिए।” महामुनि व्यास भी खांडवप्रस्थ में जाकर उत्तम शासन के लिए मूल्यों के विषय में युधिष्ठिर को शिक्षा देते हुए कहते हैं, “युधिष्ठिर ! धर्म वही है जहाँ न्याय है। न्याय का अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त होना।” आगे बढ़ने का मार्ग तो सबके लिए प्रशस्त हो, किन्तु किसी को भी अन्य लोगों का मार्ग रोककर अपने लिए कुछ अधिक प्राप्त करने का अधिकार न हो। प्रजा के एक भी व्यक्ति को न लगे कि क्षमता होते हुए भी वह जीवन में आगे नहीं बढ़ सका। उसको कभी यह न लगे कि उससे कम क्षमतावान व्यक्ति उसके प्रति अन्याय कर जीवन में उससे आगे बढ़ गया है। अतः शासन का विधान बहुत सोच समझ कर बनाया जाये और उस विधान को उसकी भावना सहित पूर्णरूपेण, बिना किसी अपवाद के, प्रजा पर लागू किया जाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल कार्य मिले, जो उसकी आजीविका का साधन हो। अनाधिकारी का सम्मान और अधिकारी की अवमानना दोनों ही समान कोटि के पाप हैं।” आगे वह कहते हैं, ‘राजा के रूप में तुम्हारे लिए आवश्यक है कि तुम किसी की भी उपेक्षा मत करो। किसी भी व्यक्ति को न शोषण करने दो, न शोषित होने दो। तुम्हारी सभा में सभी वर्णों, वर्गों तथा श्रेणियों के प्रतिनिधि हों।..ध्यान रहे तुम्हारा नगर भोग और अत्याचार का केंद्र न बनें, वह न्याय और सौहार्द की राजधानी हो।” (कोहली, महासमर 4,55)

वर्तमान समय में राजनैतिक दल और उनकी मनोवैज्ञानिकता को इस विचार की बहुत आवश्यकता है, जो विभिन्न वर्णों, श्रेणियों और वर्गों में भेद भाव

पूर्ण विभाजन करके राजनीति को भ्रष्ट करने से नहीं चूकते। मतदान के वक्त दलों के नेता विभिन्न श्रेणियों को विभाजित कर के सीटों का बटवारा करते हैं। जिससे विभिन्न जातियों और वर्गों के अधिक से अधिक वोट उन्हें प्राप्त हों। इतने प्रतिशत सवर्णों को, इतने प्रतिशत दलितों को, इतने प्रतिशत मुसलामानों को आदि। इस प्रकार की बंदर बाँट द्वारा वो समाज में विभाजन की भ्रष्ट नीति द्वारा अपने स्वार्थ सिद्ध करते हैं जिससे जागरूक नागरिक को बचने का प्रयत्न करना ही चाहिए और इस विभाजन का विरोध करके क्षमता के बल पर और मुद्दों के विषय पर राजनीति हो, ऐसे नियम का प्रमाणिक अनुमोदन करना चाहिए।

बहुत शर्म की बात है जब इतने शास्त्र ज्ञाताओं के रहते समाज में शासन के आधार पर जाति विभाजन होता है। महासमर में महाभारत युद्ध के समय द्वाका के वृष्णि, अन्धक और भोज जातियां अपने अपने वर्गों में बंट गयीं और युद्ध में भी उनके पक्ष न्याय के न होकर जाति के हो गये। इस विभाजन का श्रीकृष्ण विरोध करते हैं, किसी भी प्रशासक को इस असंगत सोच और मानसिकता से बचना चाहिए। लोभी शासनाधिकारी इस प्रकार अपने स्वार्थों की अंधी दौड़ में प्रजा का अहित करता जाता है।

महर्षि वेदव्यास उत्तम राज्य और राजा एवं उसकी राजनीति का धर्म एवं न्याय पूर्ण विश्लेषण करते हुए सूची बद्ध करते हैं-

- 1) राज्य की नीतियां लचीली होनी चाहिए, जिसका आधार जनकल्याण हो। परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन की संभवना बनी रहनी चाहिए।
- 2) राज्य की नीतियां न्याय और धर्म पर आधारित होनी चाहिए।
- 3) प्रशासक को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि धर्म वहीं है जहाँ जनमानस के लिए न्याय है।
- 4) राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को विकास का सामान अवसर प्राप्त हो, ऐसा नीति निर्धारण होना चाहिए।

- 5) विकास का सबको समान अवसर इस प्रकार प्राप्त हो जिससे किसी के साथ भेदभाव न हो। किसी को न लगे कि उसके साथ अन्याय हुआ है।
- 6) किसी भी परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए किसी दूसरे को वंचित न करे।
- 7) किसी को अन्य से अनाधिकार रूप से, अधिक न मिले।
- 8) प्रजा के किसी जन की क्षमता व्यर्थ न हो।
- 9) सामयिक दृष्टि से देखें तो अनधिकार आरक्षण न प्राप्त हो।
- 10) किसी भी व्यक्ति को ऐसा न लगे कि उसे अवसर नहीं मिला। दोष राज्य पर न आये।
- 11) शासन का विधान सबके लिए समान हो।
- 12) विधान को उसकी पूर्ण आत्मा के साथ सब पर लागू किया जाये।
- 13) विधान का निर्माण समाज के बौद्धिक वर्ग के सहयोग से सोच समझ कर किया जाये।
- 14) विधि और विधान में कोई कमी न छोड़ी जाये जिससे किसी को कोई भी पक्षपात करने का अवसर मिले।
- 15) न्याय व्यवस्था को दोष मुक्त होना चाहिए।
- 16) प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं का आकलन हो और उसे क्षमतानुसार रोजगार मिले।
- 17) प्रत्येक अपनी जीविका के प्रति आश्वस्त हो।
- 18) अनाधिकृत एवं अनुपयुक्त व्यक्ति का सम्मान न हो जिससे साधारण व्यक्ति का मनोबल क्षीण हो।
- 19) जो भी सम्मान योग्य हो उसकी अवहेलना न हो।
- 20) किसी भी वर्ग या वर्ण की उपेक्षा न हो सबको राज्य की ओर से सम्मान और अवसर प्राप्त हो।
- 21) कोई भी वर्ग न शोषित हो न शोषण करे।

- 22) सामयिक परिस्थितियों में जातिगत वर्गों का बोलबाला देखते हुए राज्य को सचेत होना चाहिए और किसी भी तरह के ऐसे समीकरणों से बचते हुए समान न्यायपूर्ण व्यवस्थाओं पर बल देना चाहिए। जिससे न किसी वर्ग विशेष को विशेष महत्व मिले न उसे विशेषाधिकार के अंतर्गत किसी और वर्ग को प्रेषण करने का अवसर मिले। अर्थात् धर्म निरपेक्ष राजनीति हो।
- 23) भोग और लाभ की राजनीति का त्याग हो और न्याय, सौहार्द तथा धर्मपूर्ण समृद्धि से राज्य का विकास हो।

उपरोक्त सभी तथ्यों के अनुसार राज्य करने वाला शासक जनता में लोकप्रिय तो होगा ही, साथ ही राज्य में शांति और न्याय का वातावरण तैयार करने में सफल होगा। समसामयिक परिस्थितियों में भी जन समाज यही चाहता है-शांति, न्याय का वातावरण ! यही चाहता है व्यक्ति अपने निर्वाचित प्रतिनिधि से !

## चाटुकारिता से सजग शासक

राज्य व्यवस्था में प्रशासक को चाटुकारों से भी बचना होगा जो अपने लाभ के लिए सदैव असत्य और भ्रान्तिपूर्ण सूचनाएं प्रचारित करते हैं, जिससे शासन न केवल प्रदूषित होता है वरन प्रजा एवं राजा के बीच का वार्ता सेतु भी प्रतिबंधित हो जाता है, और जनता अपने शासक पर विश्वास खो बैठती है।

महासमर में युधिष्ठिर युद्ध के पश्चात् हस्तिनापुर आते हैं, आसपास के अनेक लोग उनकी जयजयकार करने लगते हैं। युधिष्ठिर सोचते हैं, 'ये हैं सत्ता के गलियारों में घुसने को व्यग्र लोग। सत्ता किसी की भी हो, ये सत्ता के साथ हैं। इनका जयजयकार प्रत्येक राजा के कानों को अच्छा लगता है; किन्तु इन ही लोगों से सावधान रहने की आवश्यकता है। इनके लिए राजसत्ता प्रजा के शोषण का एक साधन है। इन ही के प्रभाव से सत्ता भ्रष्ट होती है। ये राजा को इस प्रकार घेरते हैं कि राजा अपनी प्रजा से दूर हो जाता है और प्रजा अपने राजा से। राजा अँधा और बहरा हो जाता है, ये उसके कान इस प्रकार भर देते हैं।

रावण की राजसभा का एक उदाहरण तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य रामचरित मानस में दिया है, जहाँ रावण का पुत्र उसे चाटुकारों से सावधान करता है-

“कहिहिं सचिव सठ ठकुर सोहती । नाथ न पुर आव एहिं भांती ॥  
बारिधि नाधि एक कपि आवा । तासु चरित मन महुँ सबु गावा ॥  
छुधा न रही तुम्हीही तब काहू । जरत नगरू कास न धरी खाहू ॥  
सुनत नीक आगें दुःख पावा । सचिवन अस मत प्रभुहि सुनावा ॥”

(लंका कांड.चौ.8/1-2)

रावण की सभा में उसका पुत्र प्रहस्त अपने राजा एवं पिता को सचेत करते हुए कहता है कि ये सब दरबारी मुंह देखी बात करते हैं। आज जो कानों को अच्छा लग रहा है, भविष्य में उसी से ही कष्ट पाएंगे। इसलिए इन चाटुकार मंत्रियों की बातों की ओर ध्यान न दें। यह वह लोग हैं जो प्रजा की मासूमियत का भरसक लाभ उठाते हुए सत्तासीन प्रशासक की ओर से अपनी चलाते हैं। इसी लिए प्रजातंत्र जैसे देशों में इस प्रकार के भ्रष्ट लोगों और उनके भ्रष्ट विचारों, व्यवहारों से अपना बचाव करते हुए अपने मत (वोट) के प्रति जागरूक होना प्रजा न केवल अपना अधिकार है वरन कर्तव्य भी है।

## गणतंत्र का सम्मान

श्रीकृष्ण एवं उनकी द्वारका का उदाहरण महासमर में अनेक बार आया है। जहाँ की सुधर्मा सभा का उल्लेख किया है। उस सभा में विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों के मत का आदर और आम सहमति से निर्णय की प्रशंसा की गयी है। ‘ऋग्वेद काल में भी राजा की नियुक्ति तथा कर्तव्यों का संकेत अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाता है। उस युग में राजा का निर्वाचन हुआ करता था। बाद में यही प्रथा परम्परा का रूप धारण कर गयी। तात्कालिक राजा लोग सभासदों का पूर्ण आदर करते थे। राजा और समिति (नियम-निर्देश-कत्री परिषद) परस्पर विचार विनिमय के बाद ही निर्णय किया करते थे और राजा समिति के निर्णय का पूर्ण आदर करता था।’



“राजा न सत्यः समितिरियानः ।” ऋग्वेद ॥

ऋग्वेद का दसहराजन्य सूक्त इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि निर्णय करने के समय सभाओं में किस प्रकार वाद विवाद हुआ करता था। इस विषय पर चरणदास शर्मा ने अपनी पुस्तक तुलसी काव्य में नैतिक मूल्य में विस्तार से लिखा है जिससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि, ‘वैदिक युग की राजनीति प्रायः धर्म नीति पर आधारित थी जिस में अधिनायकवाद का अभाव और गणतंत्र-भावना का समावेश प्रचुरता से लाखिस होता है।’ (शर्मा 46)

ऋग्वेद में ही एक और स्थान पर राजा द्वारा तीन प्रकार की सभाओं को बनाने का संकेत किया गया है —

‘त्रीणी राजाना विदथे पुरूणि परी विश्वानि भूषथ स्दांसी ।

अप्यमत्र मनसा जग्वं व्रते गन्धर्वा अपि व्युकेशान ॥’ ऋग्वेद ०3138।6॥

राजनीति मानव के जीवन की महत्वपूर्ण घटना है इसलिए वेदों में राजनीति के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी और उच्च कोटि का उपदेश है।..महर्षि दयानंद ने इन तीन सभाओं का नाम राजार्य सभा, विधार्य सभा, धर्मार्य सभा दिए हैं।..कार्य विभाजन की दृष्टि से जैसे आजकल प्रजातंत्र राज्य में सविधान निर्मात्री, कार्यपालिका और न्यायसभा होती है। ऐसा ही निर्देश इस मन्त्र में दिया गया है। स्वामी देवव्रत सरस्वती अपनी पुस्तक वेद स्वाध्याय में इस विषय को गम्भीरता से उद्धृत करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि सभासद ‘व्रते मनसा’ अर्थात् पढ़े लिखे सत्य, न्याय और धर्म पर चलने वाले हों। ‘गन्धर्वा’ अर्थात् राज्य सञ्चालन की योग्यता रखने वाले हों। ‘वायु केशान’ अर्थात् वायु की तरह अपने क्षेत्र में गमनागमन कर सकें।’ (सरस्वती, वेद स्वाध्याय 65)

जैसा कृष्ण ने भी कहा है राजा को प्रजा के साथ-साथ उसके सुख-दुःख का भागीदार होना चाहिए। अतः ऋग्वेद में प्रजातंत्र का स्पष्ट उदाहरण है। मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी साकेत में साम्यवाद और समाजवाद की कतिपय उक्तियाँ लिखी हैं। एक स्थान पर शत्रुघन कहते हैं, ‘विगत हों नरपति, रहें नर मात्र ।

और जो जिस कार्य के हों पात्र-  
 दे रहें उस पर समान नियुक्त,  
 सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त ॥' (गुप्त, साकेत 202)

इसी प्रकार की विवेचना हुकुमचंद भी अपनी पुस्तक आधुनिक क्वाव्य में नवीन जीवन मूल्य में उल्लेखित करते हैं, 'इससे साम्यवाद और समानता की विचारधारा का आभास होता है, जहाँ सब सामान्य हैं, कोई छोटा कोई बड़ा नहीं। कोई राजा कोई प्रजा नहीं सब के अपने-अपने कार्य हैं जिसे वो योग्यतानुसार करें।' (हुकुमचंद 190)

राज्य की सुशासन और सुव्यवस्था के उदाहरण प्रत्येक युग में, हर समय और काल में साहित्य के दर्पण में दर्शनीय हैं। यदि उत्तम सुव्यवस्थित सुशासन के दर्शन सुलभ हैं तो तुलनात्मक रूप से त्रिकोणात्मक गुणों के आधार पर तामसी गुणयुक्त राज्य और राजाओं का भी दर्शन उपलब्ध है —

“भुजबल बिस्व वस्य करी राखेसि कौउ न सुतंत्र ।  
 मांडलिक मनी रावन राज करइ निज मन्त्र ॥”

(बालकाण्ड दो.182 क)

प्रशासन, राज्य, राजा न्याय, नीति, सुव्यवस्था आदि ऐसे तथ्य हैं जो हर युग में एक ही और उत्तम ही परिदृश्य उत्पन्न करें यह अवश्य नहीं। जैसे मानव के रूप में देव वृत्तियां और दानव वृत्तियां सदैव उपस्थित हैं। उसी प्रकार उसके द्वारा संचालित विभिन्न संस्थान, राजनैतिक, प्रशासनिक, न्यायिक अथवा जो कोई भी हो, उसके आचरण का दर्पण होते हैं, जो उसके द्वारा अपनाये गये मूल्यों से संचालित होते हैं। अन्यथा राम रावण में, युधिष्ठिर और दुर्योधन में इतना अंतर क्यों होता ?

प्रजातंत्र के लिए महासमर का एक उदाहरण लेते हैं। पितामह भीष्म मृत्यु शैया पर पड़े हैं, और युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ उनसे मिलने जाते हैं। भीष्म उनसे राजनीति के विषय में चर्चा करते हैं। वह पूछते हैं कि हस्तिनापुर की क्या वयवस्था की है ? जिसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं, “युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कर

दिया गया है। युवराज भीम बने हैं। आय-व्यय का दायित्व संजय को दिया गया है। वे ही देखेंगे कि कौन सा काम हुआ है और कौन सा अभी शेष है ? नकुल सेना की गढ़ना और पंजीकरण आदि देखेंगे। उसके भोजन और वेतन का दायित्व संभालेंगे। शत्रुओं पर आक्रमण और दुष्ट दलन का कार्य अर्जुन करेंगे। सहदेव सदा राजा के साथ रहेंगे और उनकी सुरक्षा का दायित्व को वहन करेंगे। महाराज धृतराष्ट्र, माता गांधारी की सेवा और देखभाल का दायित्व महात्मा विदुर, युयुत्सु तथा संजय को दिया गया है। दीन दुखियों और अपंगों के लिए आवास, भोजन तथा वस्त्र की देखभाल महाराज युधिष्ठिर स्वयं करेंगे।

तत्कालीन सुशासन व्यवस्था का कौन सा तथ्य है जो आज भी प्रासंगिक नहीं है ? देश में प्रधान मंत्री है, वित्त मंत्री है, विदेश मंत्री है, जनकल्याण विभाग है, रक्षा मंत्रालय है, जो सैनिकों के आवास, भोजन और अन्य विभागों का रख-रखाव करता है। गृह-मंत्रालय है, जो देश के सभी हालातों में उसकी देखभाल करता है। आवास एवं खाद्य मंत्रालय है। गरीबों के कल्याण की कई योजनायें जिन्हें क्रमशः समय-समय पर लागू किया जाता रहता है। देश/राज्य के प्रथम नागरिक अर्थात् प्रधान मंत्री की सक्रियता सदैव अपेक्षणीय है। कौन से कार्य पूरे और कौन से अधूरे हैं इसे देखना भी राज्य का ही दायित्व है। जिससे असत्य आश्वासन की राजनीति से दूर रहा जा सके। वर्तमान में ऐसे बहुत से निर्वाचित कर्मचारी हैं जो चयनित होने के बाद अपने वादों को भूल कर झूठे आश्वासन देते रहते हैं और जनता की आस्था का मजाक उड़ाते हैं। सैनिकों के रहन-सहन, उनकी सुरक्षा और भोजन आदि का ध्यान रखना भी सरकार की जिम्मेदारी है। निकट भूतकाल में एक वीडियो सोशल मीडिया पर बहुत प्रचार में था। जिस में देश के एक सैनिक ने भोजन सम्बन्धी गलतियों को उजागर करते हुए शासन की त्रुटियों की तरफ न केवल ध्यान खींचा वरन् भ्रष्ट अधिकारियों के प्रति भी सचेत करने का प्रयास किया। इस तरह के दूषित प्रचार जनता के विश्वास को खंडित करते हैं और वह सरकार को संशय की दृष्टि से देखने लगती है। इन कुव्यवस्थाओं से शासन को बचना चाहिए।

मानव, दानव और महामानव, विवेकधारी मनुज के ही भिन्न रूप हैं। व्यक्ति न्याय देने वाला सु-शासक बने या त्राण देने वाला कु-शासक बने प्रजा को एक राजा की आवश्यकता तो है ही। मूल्यों के अनुसार अपने आचरण को क्रियान्वयन करने वाले शासक के लिए दिनकर अपने काव्य कुरुक्षेत्र में कहते हैं-

“नृप चाहिए नरों को, जो  
समझे उनकी नादानी,  
रहे छींटता पल-पल  
पारस्परिक कलह पर पानी।  
नृप चाहिये, नहीं तो आपस  
में वे खूब लड़ेंगे,  
एक दूसरे के शोणित में  
लड़कर डूब मरेंगे ॥” (दिनकर, कुरुक्षेत्र 86)

ज्ञातव्य हो कि सभी प्राणियों में एक मनुज ही परमात्मा द्वारा विवेक से नवाजा गया है। यदि यही विवेक न्याय और धर्म बुद्धि से चले तो रामराज्य की संकल्पना प्रत्यक्ष हो सकती है। किन्तु युधिष्ठिर के साथ-साथ सुयोधन का भी अभाव नहीं संसार में —

“क्योंकि युधिष्ठिर एक, सुयोधन  
अगणित अभी यहाँ हैं,  
बड़े शांति की लता हाय,  
वे पोषण द्रव्य कहाँ हैं ?  
शांति बीन तब तक बजती है  
नहीं सुनिश्चित सुर में,  
स्वर की शुद्ध प्रतिध्वनि जब तक उठे नहीं उर-उर में।”

(कुरुक्षेत्र 30)

देवत्व और दानत्व, किसी भी वृत्ति का संसार में अभाव नहीं हो सकता क्योंकि मनुज की प्रकृति में इन दोनों का ही समावेश है। जागृत मनुष्य किस को जगाता है और किस को नेपथ्य में सुला देता है ? ये उसका कर्मक्षेत्र और पुरुषार्थ ही बताता है। शोधकर्ता तो यह विश्वास करना चाहता है कि मूल्यों की और सहज नियमों की सक्रियता राजनीति में हो जिससे प्रजा अथवा जन-गन-मन संतुलित और न्याय जनित आदर्श जीवन को प्राप्त कर सके।

\*\*\*\*\*

## अध्याय: 3

### जीवन मूल्य

#### वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्य

महाभारत अर्थात महासमर। जीवन की गतिशीलता की एक महा-गाथा है। जिसमें व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि के कई रूप परस्पर प्रभाव देते हुए, और कभी दैव, कभी दानव रूपों में दृष्टि गत होते हैं। कह सकते हैं, कि दैववृत्तियाँ और पशुवृत्तियाँ दोनों ही मानव के दायें बाएं पहलु हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। कितने ही प्रश्न हैं, जो विचार प्रक्रिया में उत्पन्न होते रहते हैं। कभी उत्तर हैं ! और कभी अनुत्तरित हैं। लेकिन हर युग में, हर समाज में यह प्रश्न सदैव ज्वलंत बने रहते हैं। इन प्रश्नों की निम्न बानगी देखिये:-

- # व्यक्ति क्या है ?
- # समाज क्या है ?
- # व्यक्ति की रचना कैसे हुई ?
- # समाज कैसे बना ?
- # क्यों व्यक्ति और समाज का अवलंब एक दूसरे को पूर्णता देता है ?
- # एक दूजे का अवलंब अगर उन्हें अविभाज्य करने पर उनकी स्वायतता कैसे बनी रहती है ?
- # दोनों को स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता और सहजता कैसे प्राप्त होती है ?
- # व्यक्ति से क्या आचरण अपेक्षित है और समाज से क्या अपेक्षा करते है ?
- # समाज एवं व्यक्ति के बीच संतुलन और सामंजस्य कैसे है ?
- # कौन से मूल्य व्यक्ति आचरण को निर्धारित करते हैं ?
- # सामाजिक मूल्य क्या हैं ?
- # स्वतंत्र होते हुए भी समाज एवं व्यक्ति का अंतर्संबंध क्या और कैसे निर्धारित होता है ?

- # कौन किसे रचता है ?
- # व्यक्ति समाज को अथवा समाज व्यक्ति को ?
- # वह कौन सी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें समाज एवं व्यक्ति की क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ अपना प्रभाव प्रेषित करती है ?
- # दोनों का तुलनात्मक अध्ययन क्यों आवश्यक है ?
- # कैसा हो—एक आदर्श, मर्यादित, अनुकरणीय व्यक्ति ?
- # कैसा हो समाज—जिसे आदर्श समाज की संज्ञा दी जा सकती है ?

उपरोक्त प्रश्न निरंतर कई कालों एवं युगों से मनन और चिंतन का विषय रहे हैं। कभी उत्तर के रूप में साहित्य और समाज के सिद्धांत बने कभी परिवर्तित काल में पुनः प्रश्न बन कर विद्वत जनो के बौद्धिक मंथन का विचार और सार बने।

महासमर के पात्र-चरित्र-घटनाएँ-विभिन्न परिस्थितियाँ इन प्रश्नों का परोक्ष एवं अपरोक्ष उत्तर देते से प्रतीत होते हैं। वास्तव में महासमर उस युग की ही केवल गाथा नहीं कहता वरन वर्तमान में भी पल-पल समक्ष घटती जीवन-समर कथा है। यह युद्ध न केवल व्यक्ति के बाहरी संसार का है, वरन यह वह युद्ध है, जिसे व्यक्ति स्वयं से, अपने अंतर्मन से निरंतर लड़ता रहता है। कभी व्यक्ति का मन उसे ही उद्वेलित कर चुनौतियाँ देता है। कभी समाज उसे ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है, जिसकी प्रतिक्रियाएँ उसके आचरण को चाहे अनचाहे निर्देशित और निर्धारित करती है।

जो दुनिया हमारे आस-पास है—जिसमें हम रहते हैं—वह जड़ और चेतन से ओतप्रोत है। अनेक प्राणी और पक्षी इसको अस्तित्व देते हैं। कहीं ऊँचे पर्वत हैं, तो कहीं गहरे समुन्द्र हैं, कहीं घने विराट वृक्ष, तो कहीं नरम और कोमल पुष्प-वहलियाँ हैं। हमारे पूर्वज भी अन्य प्राणियों की तरह एक प्राणी ही थे। परन्तु अन्य प्राणियों से उनकी देह रचना पृथक होने के कारण उसका भिन्न होना उसके गतिमान एवं विकासमय होने का कारण बना। इस प्रकार मनुष्य उस नैसर्गिक दुनिया से बाहर निकल कर अपनी सृष्टि एवं समाज के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ। अपने

प्रयत्न से सृष्टि को स्वानुसार बनाना कोई सरल कार्य नहीं था। प्रकृति के रौद्र रूप से वह डरता था। उसे प्रकृति से लड़ने के लिए शक्ति, बल और साथ की आवश्यकता थी। इसके लिए उसने साधन और उपाय ढूँढने का प्रयत्न किया। इस व्यग्रता ने उसे स्वयं को जानने के बारे में प्रोत्साहित किया। उसकी बुद्धि को गतिशीलता मिली और वह सोचने की शक्ति से अनुप्राणित और प्रतिभा युक्त होने लगा। यहीं से हुआ 'मनुष्य' का अविर्भाव। वह विवेक के सौभाग्य से परिपूर्ण होने का अहसास करने लगा और स्वयं की सत्ता को सृष्टि के रूबरू महसूस करने लगा। आवश्यकता मुताबिक जीने का गुण विकसित होने के उपरांत मन मुताबिक जीने के लिए उसे मदद की अनिवार्यता महसूस हुई, और इसके लिए उसने अपने आस-पास औरों को देखना आरंभ किया। तात्पर्य यह कि अब वह समूह बना कर एक दूसरे की सहायता से उदर-निर्वाह के सभ्य तरीके ढूँढने और सीखने लगा। यहीं से हुआ समाज की परिकल्पना का यथार्थ रूप और इन्सान—इन्सान के बीच अनुशासन, कार्य वितरण, आपसी रिश्ते, कार्य व्यवहार और सुरक्षात्मक रवायतें।

“मान्विकीविद कहते हैं कि ‘मानव यानि ह्यूमन स्पीशीज किसी भी बाहरी शक्ति की देन नहीं है। किसी भी बाहरी शक्ति ने उसे जन्म नहीं दिया है। इन्सान प्रकृति का एक हिस्सा है। प्रकृति के सानिध्य में उसका विकास हुआ है। प्राणी से मानव बनने में उसे अनेक कसौटियों पर अपनी निपुणता दर्शानी पड़ी है। मानव रूप धारण करने की उसकी यात्रा आसान नहीं थी। काफी उबड़-खाबड़ थी।”..“माँ के गर्भ से बाहर आने का मतलब मानव के रूप में जन्म लेना नहीं कहा जा सकता। वह तो जन्म की शुरुआत होती है। उसके बाद ही इन्सान बनने की कवायद शुरू होती है। अनेक बातों का ध्यान रखना होता है।”..... “यह तो जन्म—श्रंखला की चलती रहने वाली अखंड प्रक्रिया है। कुछ मृत्यु पूर्व तक इन्सान पद हासिल कर लेते हैं, तो कुछ उस तक पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं। इसीलिए मानव मूलतः प्राणी होते हुए भी उसमें एवं अन्य प्राणियों में बहुत भेद है। अतः उसका विचार हमें मानव के रूप में ही करना पड़ेगा।” (राणोजी 67,68)



अतः प्राणी से मानव के रूप में खड़ा होकर अपने विकास की ओर अग्रसर होने का आरम्भ हुआ अपने विवेक एवं विभिन्नता की चेतना से। व्यक्ति को अपने मन का, अपनी आत्मा का ज्ञान हुआ, और इस प्रकार निर्मित हुई प्राणी-सृष्टि और मानव सृष्टि के बीच विभाजक रेखा के रूप में 'संस्कृति और सभ्यता'। जिस पर आज के मूल्य आधार लेते हैं और व्यक्ति का व्यवहार निर्देशित करते हैं। मानव विकास, संस्कृति एवं मूल्यों के मूल में है-व्यक्ति और उसके आचरण। इन का विवेचन और मूल्यांकन तभी हो सकता है, जब व्यक्ति के विभिन्न पात्र-रूपों और चरित्रों का अध्ययन करें। और इस अध्ययन के साक्षी एवं हेतु बनें, वह घटनाक्रम जो उनकी मानसिकता, क्रियाशीलता को निरंतर प्रभावित, उद्वेलित, निर्देशित, उत्तेजित और अंततः निर्मित करते हैं।

महासमर एक ऐसा ही उपन्यास है, जो अनेक चरित्र, घटनाक्रम उपस्थित करता है, जिनको उपरोक्त सन्दर्भों में मनन का विषय बनाया जा सकता है। यहाँ वह सब, व्यक्ति-व्यवहार हैं, जो व्यक्ति एवं समाज के परिपेक्ष्य में मूल्यों की अपरिहार्यता को प्रस्तुत ही नहीं करते, उनके कार्य और कारणों को भी प्रमाणों सहित प्रतिबिम्बित करते जाते हैं। अब जिन सहायक साधनों के लिए मानव ने नव-समुदायों में रहना आरम्भ किया और फलस्वरूप समाज का निर्माण करता हुआ सामाजिक बना। आज उसी का अविभाज्य अंग बन कर वर्तमान के विकसित आयामों को निरंतर प्राप्त कर रहा है।

अतः व्यक्ति और समाज दोनों ही किसी न किसी धरातल पर अंतरिम रूप से सन्नद्ध ही नहीं, वरन परस्पर गुथें हुए, और एक दूजे को प्रभावित करते हैं। उपरोक्त प्रभावों का वृहद् विवेचन-विश्लेषण ही प्रस्तुत अध्याय का आधार है। जिसमें विभिन्न चरित्रों का चित्रण, व्यवहार की विभिन्न कसौटियों पर कसते हुए आकलन की दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया।

महासमर के विभिन्न नायकों में से एक महानायक हैं-शांतनु-गंगा पुत्र, देवव्रत-भीष्म पितामह। जिनके मूल्य, सिद्धांत, आचरण, विचार एवं कार्य कलाप

एक व्यक्ति के रूप में तो उन्हें विशेष स्थान देते ही हैं। परन्तु उनके व्यवहार कई प्रश्नचिह्न भी छोड़ते हैं। समाज एवं राज्य को उनके कार्यों, निर्णयों के परिणामस्वरूप किन प्रतिक्रियाओं से गुजरना पड़ता है, यह भी उल्लेखनीय रूप से उजागर करते हैं। यह महान चरित्र अपने विराट व्यक्तित्व से पूरी गाथा को प्रभावित करता चलता है। उनकी धर्म-व्याख्या, नीति अनीति, उनके निर्णय, राज्य के प्रति उनकी निष्ठा, हर जगह उनकी उपस्थिति को दर्शाती है।

व्यक्ति और समाज का निर्माण बहुत सूक्ष्म तरीके से होता है। इसकी प्रक्रिया प्रतिक्षण गतिमान है।

“आकाश—पहाड़ स्थिर हैं, समुन्द्र—नदी की सीमा भी तय है, हवा भी कहीं ऊपर जाकर रुक जाती है। नहीं रुकता तो “मैं”!-मनुष्य। तुम मुझे क्यों रोकना चाहते हो ?” (अज्ञात)। मेरी कोई विचार धारा नहीं है। मेरे तो विचार हैं। और बहुत सारे हैं। और बदलते भी रहते हैं। कुछ नहीं ही बदलते। और मुझे इसपर गर्व है। यही मुझे मनुष्य बनाता है। एक साधारण मनुष्य। शून्य विचारधारा। अनंत विचार।” इस विचार को एक लेख के द्वारा दैनिक भास्कर के संपादक वरिष्ठ पत्रकार कल्पेश याज्ञनिक ने लिखा। लेख का शीर्षक था; ‘असंभव के विरुद्ध-मैं साधारण मनुष्य हूँ, मेरी कोई विचारधारा नहीं, और होनी भी क्यों चाहिये ?’ (याज्ञनिक 6)

तो यह विचार ही हैं जो मनुष्य और समाज की परिकल्पना और रचना को सतत प्रभावित करते चलते हैं। महापात्र भीष्म सदैव धर्मपूर्ण व्यवहार के लिये तत्पर, त्याग की मूर्ति, राज्य के प्रति निष्ठावान, सर्वस्व तिरोहित करने वाले महात्मा। फिर ऐसा क्या हुआ कि उन्हें मुक्ति के लिए धर्म की मीमांसा को बार-बार समझते हुए भी कई प्रश्नों से जूझना पड़ा ? क्यों सारी चारित्रिक विशेषताओं के पश्चात् भी कोई गति नहीं मिलती ? क्यों इतना द्वन्द ? उनके चरित्र और व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके जीवन के कुछ संदर्भों से उदाहरण लेते हुए विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। महाराज शांतनु और गंगा की अष्टम संतान देवव्रत। लेकिन

पूर्व सात संतानों को राजा से समझौते के अनुसार गंगा ने—उन्हें (गंगा नदी में बहा कर) जीवन मुक्त कर दिया, और शांतनु ने कोई विरोध नहीं किया। आश्चर्य है कि एक राजा के सात पुत्र जीवन मुक्त किये गये और वह चुप है ! क्योंकि उन्हें गंगा की आवश्यकता है, फिर चाहे संतान मृत्यु-प्राप्त हो जाती रहे। लेकिन देव व्रत के जन्म के समय वह विरोध कर उठे और पुत्र को राजा की गोद में डाल कर वादे के अनुसार गंगा स्वयं उनके जीवन से चली गयी। अब देवव्रत के पालन-पोषण के विपरीत शांतनु जंगल-जंगल शिकार और तपस्या आदि के नाम पर भटकते रहे। जब तक कि उन्हें सत्यवती नहीं मिली। सत्यवती को देखकर उनकी काम भावना पुनः जाग जाती है और वह उस से विवाह को आतुर हो उठते हैं। परन्तु सत्यवती के पालक पिता दासराज की शर्त के अनुसार राजकुमार युवराज देवव्रत न केवल राज्य अधिकार छोड़ेगा, वरन अविवाहित रहकर के अपनी किसी संतान की उत्पत्ति की सम्भावना का भी अंत करेगा। शांतनु हैरान और परेशान तो हैं, परन्तु देवव्रत के त्याग करने पर विरोध भी नहीं कर पाते। जिस पुत्र को पालने में उनका कोई योगदान नहीं, उस से इतना बड़ा बलिदान लेते हुए ठिठकते नहीं। और देवव्रत अपने पिता की इच्छा पूर्ति के लिए तत्पर हो जाते हैं। यहाँ कुछ प्रश्न हैं !

क्या एक अधेड़ राजा की इस अवस्था में इस प्रकार की कामना करना औचित्यपूर्ण है? जिसका मूल्य इतना समाजद्रोही हो! समाज द्रोही क्यों? एक युवराज जिसको अपने उत्तरदायित्वों का पूर्ण भान हो, जिसे प्रजा, राजा के रूप में देखने को लालायित हो। उसे इतने बड़े त्याग की ओर अग्रसर करना उचित है? कहा जाता है कि कामना जब तक काल्पनिक है और सोच के दायरे में होती है वह समाज का अहित नहीं करती, परन्तु जैसे ही वह यथार्थ के धरातल पर कार्य रूप में परिणित हो जाती है। समाज को न केवल प्रभावित वरन दुष्प्रभावित भी करती है। यदि वह उसके प्रतिकूल हो तो! “कामना व्यक्तिगत विषय है, वह तब तक सामाजिक विषय नहीं बनती, जब तक कर्म में परिणित न हो जाये। कर्म पर समाज का नियंत्रण है। कामना तो बंधन रहित है, उस पर समाज का नियंत्रण नहीं।” (कोहली, महासमर 1,66)

अर्थात् समाज कामना से नहीं कर्म से प्रभावित होता है। यहीं पर तो मानव मन अपना नियंत्रण खो कर समाज के मूल्यों से खिलवाड़ कर बैठता है। वार्तालाप में स्वयं शांतनु स्वीकार करते हैं कि 'ऐसा पुत्र पाकर उस पर गर्व होगा, पर स्वयं पर नहीं। विडम्बना है न ? व्यक्ति की इच्छा उसके उत्तरदायित्व को कितना बौना और दुष्प्रभावी बना सकती है ? समाज के प्रति क्या कर्तव्य बनता है राजा के रूप में व्यक्ति का ? स्वयं की इच्छा अथवा राज्य का हित ! और देव व्रत के सामने है उसका कर्तव्य ! क्या करना चाहिए उन्हें ? पुत्र रूप में पिता की कामना पूर्ति ? या युवराज के रूप में समाज—राज्य का हित साधन ? प्रश्न यह है कि युवराज के रूप में अपने अधिकार के लिए लड़ना आवश्यक है अथवा पिता की कामना पूर्ति के लिए पुत्र का त्याग ? मानसिकता का अतीव उदाहरण है। व्यक्ति के मूल्य क्या हैं और समाज पर उसका प्रभाव क्या है। देवव्रत का निस्संकोच त्याग उसे भीष्म प्रतिज्ञा के कारण भीष्म नाम प्रदान करता है। वह दास राज (सत्यवती के पिता) को अपने सभी अधिकार त्यागते हुए कहते हैं, "अपने सारे भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर पिता के इस खंड में उनकी मनोकामना पूर्ण करता हूँ।" (कोहली, महासमर 1,35-37)

लेकिन यह सब शांत दीखता सा त्याग कितने प्रश्न मन में समेटे है ? इसकी बानगी देखते हैं—“पिता और पुत्र की इच्छाएं दो स्वतंत्र व्यक्तियों की इच्छाएं होने के कारण सामान रूप से महत्वपूर्ण हैं। फिर पिता की इच्छा पूर्ति ही क्यों उनका धर्म है? शास्त्र किन नियमों की ओर इशारा करते हैं ?”(कोहली, महासमर 1,40)

...“अबोध बालक या उन्मादी व्यक्ति की इच्छाएं तो पूरी नहीं भी की जा सकती ! देवव्रत यदि सचमुच पिता को सुखी देखना चाहता है तो उन्हें इस कन्या के मोह से मुक्त करना चाहिए। यह कन्या उनकी यातना है। अग्नि को पकड़ने वाले बालक की इच्छा पूरी करने जैसा। वे चाहें तो अपना राज्याधिकार त्यागना अस्वीकार करके इस विपत्ति से भावी जीवन को सुरक्षित कर सकते हैं।” (कोहली, महासमर 1,27)

“देवव्रत से यदि निजी वस्तु मांगी जाती तो दान करना उचित था, परन्तु अधिकार और अनुचित असामाजिक इच्छा के लिए अपना न्यायोचित अधिकार छोड़ना धर्मसंगत है क्या? अपने अधिकारों के लिए लड़ना समाज का धर्म है ? या त्यागना ? प्रजा का न्याय भी तो प्रश्न है। क्षात्र धर्म क्या चाहता है ? समाज या राष्ट्र का कल्याण सोचें या अपने कुल को कलह से बचाएं ? एकाकी बने रहें या सामाजिक होकर सोचें ? सामाजिक जिम्मेदारी क्या यह नहीं कहती कि एक सम्राट को मोह से मुक्त कराना चाहिए ? एक पिता की इच्छा पूर्ति ही क्यों उनका धर्म है ?” (कोहली, महासमर 1,24,26)

भीष्म को विचारों के नाग डंक मार रहे हैं। वह दोनों रूपों में गौरवान्वित होना चाहते हैं—एक—कि —“तूने भौतिक कष्टों से बचने के लिए भौतिक सुखों को त्यागा है या पिता की कामना पूर्ति के लिए अपने सुखों की तिलांजलि देकर स्वयं को जीवन के प्रत्येक सुख से वंचित किया है ?”.....“और-दूसरा-यदि ये सुख आसार हैं तो वे पिता के लिए उन सुखों को क्यों जुटा रहे हैं ? क्यों उनको भी इन सुखों की निस्सारता नहीं दिखाते ? उन्हें क्यों उन सुखों की ओर उन्मुख कर रहे हैं ? क्या पुत्र रूप में वे वास्तव में कर्तव्य का पालन कर रहे हैं ?” (कोहली, महासमर 1,38,39)

भीष्म के मन में विचारों का अंधड़ चल रहा है—वह देख रहे हैं कि, “संतान के समर्थ होने पर, पिता उसे अपने सुख का उपकरण मानने लगता है। पिता क्यों चाहता है कि उसके असमर्थ बुढ़ापे को सुखी बनाने के लिए युवा संतान अपनी सारी जिजीविषा का दमन कर ले? अवसान की और बढ़ता पौधा क्यों चाहता है कि विकासोन्मुखी पौधा पल्लवित और पुष्पित न हो? क्यों वह चाहता है—कि वह अपना सामर्थ्य अपना उल्लास, अवसानोमुखी पिता की झोली में डाल दे? “देवव्रत अपने इन विचारों से चौंक जाते हैं ! यह क्या चल रहा है उनके मन में? पितृद्रोह ? क्या वे अपने निर्णय से असंतुष्ट हैं? उन्हें पहली बार लगा कि उनके चिंतन और कर्म का धरातल अलग-अलग है। गुरुकुल के पढ़े शास्त्र और नीतियां उनके रक्त में हैं,

जिन्हें वे धर्म मानते हैं। पर चिन्तन के क्षणों में उनका मन इन नियमों के विरुद्ध अनेक प्रश्न उठाता है। शास्त्र और धर्म की मूलभूत सत्ता को चुनौती देता है :-

- 1) पिता की एक अनुचित इच्छा की पूर्ति उनका धर्म क्यों है ?
- 2) स्थापित अधिकार को चुपचाप मान लेना धर्म है या अधिकार के औचित्य का प्रश्न उठाना धर्म है?
- 3) धर्म क्या है ? यही प्रश्न गूंजता सा है।
- 4) भीष्म का ही धर्म क्यों था कि वे अपने अधिकारों की रक्षा न करते ? उनका धर्म त्याग क्यों था?
- 5) पुत्र के रूप में उनका धर्म था-त्याग और व्यक्ति के रूप में उनका धर्म था — अपने अधिकारों की रक्षा।
- 6) वे पुत्र हैं या व्यक्ति ? प्रत्येक के साथ यह उहापोह है। वह पुत्र पहले है या व्यक्ति? (कोहली, महासमर 1,40,41,85)

कितनी त्रासदी है, कुछ एक निर्णय समाज को ऐसे विनाशक मोड़ पर लाकर खड़ा कर देते हैं, जिन्हें आत्मबल से रोकना संभव किया जा सकता है। परन्तु रिश्तों के मोह में आकर गलत निर्णय अपनी परिणिति को प्राप्त होते हैं और समाज को विद्रूप परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। मूल्य ऐसे ही तो प्रभावित होते हैं। कभी द्वंदों, कभी अंतर्द्वंदों, कभी प्रतिकूल निर्णयों द्वारा परिणाम को प्राप्त होते हुए। सारा जीवन धर्म और शास्त्रों में पढ़े ज्ञान के झूले में झूलते पितामह भीष्म कभी भी सही और त्वरित निर्णय नहीं कर पाये और फलस्वरूप हस्तिनापुर का राज्य अनैतिक हाथों की कठपुतली बन कर अन्याय का पर्याय बन गया।

पांडवों की सत्य निष्ठा और धर्म पूर्ण आचरण को जानते समझते हुए भी पितामह भीष्म, परिवार की एकता बनाये रखने के लिए दुर्योधन का पक्ष लेते हैं, जिससे आपसी द्वंदों को रोका जा सके। परिवार के बुजुर्ग के रूप में उन्हें लगता है कि यदि पांडवों के कुछ सहन करने पर पारिवारिक सौहार्द बना रहता है, तो युद्ध को टाला जा सकता है। परन्तु मानव का स्वभाव बदलना थोड़ा मुश्किल है। पंजाबी

के लोक गायक गुरदास मान अपने एक गीत में कहते हैं कि, “वारिस शाह न आदता जान्दियाँ, चाहे कटिए पोरिया पोरियां वे।”(गुरदासमान, लोकगीत)

उपरोक्त निर्णय धैर्यवान को अधिक धैर्यवान बनाते गये और अनैतिक को अधिक निर्लज्ज बनाते गये। परिणाम हुआ महाभारत और महा संहार ! कहते हैं कि सही समय पर सही निर्णय समाज और व्यक्ति को सही दिशा की ओर ले जाता है। इसलिए अपने अधिकार के प्रति चैतन्य होना प्रत्येक का कर्तव्य है। राष्ट्रकवि मैथिलिशरण गुप्त ने अपने काव्य जयद्रथ वध में इन्हीं भावों को शब्द दिए हैं-

“अधिकार खोकर बैठे रहना, यह महा दुष्कर्म है।

न्यायार्थ अपने बंधु को भी दंड देना धर्म है।

इस बात पर ही कौरवों और पांडवों का रण हुआ।

जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ।”

(गुप्त, जयद्रथ वध, भाग 1)

व्यक्ति के हिस्से में जो कार्य और कर्तव्य हैं उन्हें यदि वह अनुपातिक ढंग से नहीं करता तो अपना और समाज का संतुलन भी बिगड़ सकता है। और यही हुआ महानायक भीष्म के त्याग का परिणाम। जिसे उन्होंने महान कार्य समझ कर किया वह राज्य के अवसान का कारण बन गया। अतः व्यक्ति के द्वन्द, समाज को प्रभावित करते ही हैं। न केवल प्रभाव बल्कि आचरण मूल्यों को भी अछूता नहीं छोड़ते।

कवि दिनकर भी कहते हैं, “छीनता हो स्वत्व कोई, और तू

त्याग ताप से काम ले, यह पाप है।

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे

बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है। ”

(दिनकर, कुरुक्षेत्र, 16)

समाज में जो उथल पुथल हो उसका सीधा असर व्यक्ति पर, और व्यक्ति के प्रत्येक निर्णय का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज पर पड़ना अवश्यम्भावी है। इस तथ्य को

झुठला नहीं सकते। इसी तथ्य को इंगित करते हुए हस्तिनापुर राज्य के महामंत्री विदुर विचार करते हैं, ‘विदुर स्वयं समझ नहीं पाया कि वह पितृत्व को करूणा का पात्र समझे अथवा दया का ?.....पिछली पीढ़ी के दृढ-बद्ध धारणाओं वाला ये हिमालय !..अपनी सारी चारित्रिक विशेषताओं के साथ भी समाज को कोई उचित गति नहीं दे पाए।’ (कोहली, महासमर,112)

अतः धर्म और कर्म के बंधन में बंधे भीष्म महासमर में पुत्र रूप में किये त्याग और व्यक्ति रूप में सामाजिक योगदान के द्वन्द में फंसे रहे। और उनके निर्णयों की छाया समाज के और व्यक्ति के मूल्यों को निरंतरता से प्रभावित करती रही। विडंबना यह है कि जब धृतराष्ट्र ऐसा ही त्याग युधिष्ठिर से चाहते हैं तो भीष्म सकपका जाते हैं। वह सोचते हैं, “जिस राज्य के लिए ये पिता पुत्र प्राण दिए हुए हैं, उसका कोई मोह नहीं है, युधिष्ठिर को। कभी-कभी भीष्म के मन में एक बिम्ब उभरता है...उन्हें लगता है कि काल चक्र घूम कर पुनः वहीं आ गया है, जहाँ उस समय था, जब उन्होंने दास राज के सन्मुख राज्य त्यागने की प्रतिज्ञा की थी...आज उनके स्थान पर युधिष्ठिर खड़ा था और दास राज के स्थान पर स्वयं धृतराष्ट्र था..और भीष्म का मन बार-बार यह कहता है, वह प्रतिज्ञा दुहराई नहीं जानी चाहिए। उस प्रतिज्ञा से किसी का कोई भला नहीं हुआ—उनका भी नहीं, जिनके लिए यह प्रतिज्ञा की गयी थी। अतएव भीष्म स्वयं भी मानते हैं कि ऐसे त्याग का कोई समाजोपयोगी परिणाम नहीं मिला। न व्यक्ति-हित साध सके न समाज को योगदान दे सके, और परिणाम हुआ समाज का हास। ऐसे में नैतिक और सामाजिक मूल्यों की हानि होना तो अवश्यम्भावी ही है।

## सामाजिक अधिकार बनाम दायित्व अथवा वैयक्तिक त्याग

पितामाह भीष्म राज्य और सिंहासन के प्रति स्वयं को उत्तरदायी समझते हैं। इन्ही परिस्थितियों के चलते धृतराष्ट्र के अन्याय तथा अनैतिक कार्यों का चाहे-अनचाहे समर्थन करते जाते हैं। कृष्ण जानते समझते हैं कि, ‘वे अपनी अगली पीढ़ियों के चारित्र्य पर लज्जित हैं किन्तु उनके सन्मुख असहाय हैं।’ वे किसी समय



अपने सहयोगियों से चर्चा करते हुए यह कह चुके हैं कि, “जो राजा की रक्षा का दायित्व ग्रहण करता है, उसे यह देखने और विचारने का अधिकार नहीं रहता कि, ‘सिंहासन पर बैठा व्यक्ति राजा नहीं दस्यु है। वह तो सिंहासनासीन की रक्षा करता है। मैं जब क्षत्रियों को राक्षस बनते और दस्युओं की रक्षा करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर बहुत दया आती है।” (कोहली, महासमर 7,209) यानि भीष्म विचारहीन, नेत्र हीन रक्षक की तरह धर्म सम्बन्धी पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर राज्य और राजा की सुरक्षा करने के लिए स्वयं को बाध्य हैं।

संधि का अंतिम प्रयास करने आये कृष्ण को भीष्म अपने भवन में आमंत्रित करने आते हैं। कृष्ण से उनका विमर्श व्यक्ति और समाज के कल्याण और अकल्याण की संभावनाओं की, नीति अनीति की, और मानव मन के द्वंदों की अनेक परतें खोलता है। कृष्ण उन्हें कहते हैं कि, “मेरी इच्छा है कि मैं आपके घर पर आपके साथ कुछ समय व्यतीत करूँ।....किन्तु....मैं उस व्यक्ति का अन्न नहीं खा सकता, जो पांडवों के विरुद्ध युद्ध करेगा। क्या आप मुझे यह आश्वासन दे सकते हैं कि यदि युधिष्ठिर और दुर्योधन में युद्ध हुआ तो आप दुर्योधन के पक्ष से नहीं लड़ेंगे ? आप दुर्योधन की रक्षा नहीं करेंगे ?” यद्यपि भीष्म युद्ध के विरुद्ध हैं, पर कृष्ण के समक्ष वे स्वीकार करते हैं कि वे चाहकर भी युद्ध को रोक नहीं सकेंगे। युद्ध में तटस्थ रहने का अनुरोध करने पर भीष्म कहते हैं, “आपसे मेरा कोई विरोध नहीं है। विरोध मेरा पांडवों से भी नहीं है। वे मेरे पौत्र हैं और मुझे दुर्योधन से अधिक प्रिय हैं। .... किन्तु मैं अपने धर्म के बंधन में बंधा हूँ। मैं धर्म के विरुद्ध नहीं जा सकता। जहाँ धर्म मुझे खड़ा करेगा, मैं आपको वहीं खड़ा मिलूँगा।”

प्रति-उत्तर में कृष्ण कहते हैं, “क्या ऐसा नहीं हो सकता पितामह कि कोई अपना धर्म समझने में ही भूल कर रहा हो।...वह अपने मोह को ही धर्म मान कर चल रहा हो।” भीष्म इस पर आश्चर्यचकित होकर पूछते हैं, “मैंने आजीवन धर्म की साधना की है। मुझसे ही धर्म को समझने की भूल हो रही है ?” कृष्ण कैसे भीष्म को धर्म की मीमांसा बताते हैं, “कोई वृद्धा इस कारण तो संसार की सर्वश्रेष्ठ पाककला विशेषज्ञ नहीं हो सकती, क्योंकि उसने अपनी किशोरावस्था से अपने ढंग

की रोटियां सेंकी हैं। कोई वृद्ध श्रमिक इसलिए तो सर्वश्रेष्ठ वास्तुशिल्पी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे ईंटे जोड़ते हुए पचास वर्ष हो गये।”....“आप जिसे धर्म समझ रहे हैं वह आपका बंधन मात्र है। धर्म बांधता नहीं, मुक्त करता है। धर्म और मोह का निर्वाह एक साथ नहीं हो सकता।” कृष्ण भीष्म को चकित करते जा रहे हैं। आगे पूछते हैं कि शांतनु और धृतराष्ट्र के समय की कौरवों की सभा में अंतर है न ! भीष्म के समर्थन करने पर और कहने पर कि हमारी अगली पीढ़ियां पतनोन्मुखी होती गयी है। कृष्ण कहते हैं, “क्यों होती गयी हैं ? कौन उत्तरदायी है इसके लिए ? वे लोग ही तो, जो अपने मोह के कारण अधर्म को अधर्म नहीं कह सके। वे लोग ही तो जो पारिवारिक शांति के लिए, धर्मराज युधिष्ठिर के साथ होता हुआ अन्याय देखकर मौन रहे और दुर्योधन का समर्थन करते रहे। अपने उत्तराधिकारी को चुनने की भूल ही तो कारण है इसका। आज फिर दुर्योधन और युधिष्ठिर आमने-सामने खड़े हैं। आप से धर्म आज भी पूछ रहा है, किसे चुनेंगे आप? आज फिर आप दुर्योधन का पक्ष लेंगे, युधिष्ठिर के वध का कारण बनेंगे और समय को कोसेंगे कि कलयुग आ गया है, अथवा आ रहा है। युग तो आपके कर्म में हैं पितामह! आप सत्य का पक्ष लें तो सत्ययुग है और आप असत्य का संरक्षण करें तो कलयुग है ही।” (कोहली, महासमर 7,218,219,220)

कृष्ण और भीष्म के उपरोक्त वार्तालाप से पूर्णतः स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ उसका आचरण और उसकी निष्ठा, उसके अपने मूल्यों को तो प्रभावित, प्रेरित करती हैं ही। बल्कि समाज के प्रत्येक भाग को उद्वेलित करते हुए भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं।

महासमर के घटना क्रम को अधिकारिक रूप से प्रभावित करने वाले एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति पात्र की विवेचना करते हैं। वह है महाराज धृतराष्ट्र। पांडू के स्थान पर राज्य का प्रतिनिधित्व करते हुए सामयिक राजा एवं दुर्योधन के पिता। इस पात्र के आस-पास उसकी पत्नी गांधारी है, शाल्यक शकुनि है, और है उसका दुश्चृतियों से भरा पुत्र दुर्योधन! यह ऐसा चरित्र है जो कभी छिपता है, कभी दीखता है। प्रत्यक्षतः उसका व्यवहार तो धर्मपूर्ण है, परन्तु जो अप्रत्यक्ष है, वो है-उसका

लोभ, मोह, एवं स्वार्थ। धृतराष्ट्र के अनुसार, “व्यक्ति का मन कैसा भी हो, उसकी संगति और उसका वेश साधुओं जैसा होना चाहिए।” (कोहली, महासमर 5,56)

राजा के रूप में धृतराष्ट्र इतना मलिन मनोबल के अधिकारी है कि स्वत्व की चिंता के अतिरिक्त उसे कुछ और नहीं सूझता। दुर्योधन उनका आकलन करते हुए सोचता है, “एक है...हमारे पिता राजा धृतराष्ट्र ! चिड़िया भी चिहुंक जाये तो उनका आसन डोल जाता है। यह तो अच्छा है कि भगवान ने उन्हें दृष्टि नहीं दी, नहीं तो दिन भर कुछ न कुछ देखते रहते और घबराते रहते।..चिड़िया का सा हृदय कहें या छिपकली सी प्रवृत्ति ! सामने से कुछ आया नहीं कि अपने बचाव के लिए उन्होंने हाथ—पैर चलाये नहीं। शायद उनकी इसी प्रवृत्ति को जान कर ही माँ ने मातुल को कभी गंधार लौटने नहीं दिया।” (कोहली, महासमर 8,44)

लोभ की पराकाष्ठा, उसके व्यक्तित्व का अटूट हिस्सा है। कितना विरोधाभास है ! धृतराष्ट्र साधुओं का संग करना चाहता है, और है किसके संग?..गंधार के राजकुमार शकुनि के संग ! एक कहावत है ‘एक तो करेला ऊपर से नीम चढ़ा।’ तुलसीदास अपने महाकाव्य रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में इस प्रकार उद्धृत करते हैं-

“लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्त्रोदर पर जमपुर त्रासन।

काहू की जों सुनहि बड़ाई। स्वास लेहीं ज्यूँ जुड़ी आई। ”

(तुलसीदास, रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, दो.39)

“त्याग का विचार ही धृतराष्ट्र को कंपा जाता है।..वह अपने सांसारिक सुखों की वृद्धि और उनकी रक्षा के लिए, अध्यात्मिक शक्तियों की सहायता चाहता है।..और अपने लिए समस्त सुखों को आरक्षित करना चाहता है।” (कोहली, महासमर 5,71)

ध्यान देने योग्य तथ्य है कि, “धृतराष्ट्र अपनी छवि एक धर्मात्मा सी बनाये रखना चाहते हैं।” (कोहली, महासमर 5,79) और अपरोक्ष कुटिलता और धूर्तता

में उन्हें कोई जीत नहीं सकता। व्यक्ति के स्वार्थ और आकांक्षा अपनी चरम परिणिति में धृतराष्ट्र में दिखाई देते हैं। वह किसी को कुछ देना नहीं चाहता और उसे ऐसा महसूस भी नहीं होने देना चाहता। अर्थात् अन्याय हो तो, लेकिन उसका पता न चले। दुर्योधन मातुल शकुनि को अपने पिता के बारे में कहता है, “वे चाहते हैं कि पांडवों से सब कुछ छीन तो लिया जाये, किन्तु उन्हें पीड़ा का अनुभव न होने दिया जाये। उनसे ऐसा व्यवहार किया जाए कि वे अपने हाथों अपना राज्य हमें सौंप कर स्वयं वन में जाकर निवास करें, और इस विश्वास के साथ जीवित रहें कि वे अपने धर्म का निर्वाह कर रहे हैं, और उस धर्म का परिणाम अत्यंत शुभ होने वाला है।...महाराज चाहते हैं कि यदि पांडवों को पीड़ा का अनुभव हो ही, तो उन्हें समझाया जाये, कि उस पीड़ा के लिए कोई अन्य व्यक्ति दोषी नहीं है। उसके लिए वे लोग स्वयं ही उत्तरदायी हैं।” (कोहली, महासमर 6,29)

और देखिये—“धृतराष्ट्र को हस्तिनापुर की रक्षा और समृद्धि के लिए इन पांडवों की बहुत आवश्यकता थी। किन्तु धृतराष्ट्र उन्हें हस्तिनापुर की राजसभा में देखना भी नहीं चाहता था।....क्या पांडु के ये पुत्र, अपने पिता के ही समान, हस्तिनापुर के बाहर—बाहर नहीं रह सकते ? हस्तिनापुर को इनके बल और वीरता का लाभ तो मिलता रहे, किन्तु हस्तिनापुर पर इनका कोई अधिकार न हो। ये राज्य के मात्र सेवक बनकर नहीं रह सकते क्या ?” (कोहली, महासमर 3,50)

कितना विद्रूप है। ऐसे पात्र पर कभी दया आती है कभी हसीं। जो साधारण मानवीय मूल्यों को भी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उपयोग करना चाहता है। वह सार्वजनिक लाभ तो चाहता है, पर स्वार्थ बुद्धि नहीं त्यागता, ग्रहण चाहता है परन्तु त्याग की इच्छा नहीं। विचारणीय है-क्या जिनके अधिकारों को ये अपनाना चाहता है, वे विवेक शून्य होंगे ? उन्हें अपने अधिकार के प्रति कोई चेतनता नहीं होगी ? क्या उनसे ऐसी अपेक्षा कि वो रक्षा तो करें पर अधिकारी किसी वस्तु के न हों, उचित है ? उचित तो बाद में, पहले तो ये प्रश्न है कि वे वंचित रह कर और अपमानित होकर ऐसा क्यों करेंगे ? और उन्हें धर्म के नाम पर वंचित करने वाले राजा का धर्म रूप से क्या और कितना अधिकार है? यह विचार कौन करेगा ? ऐसे

व्यक्ति जो लोभ और मोह से ग्रस्त होकर सबकुछ अपने वश में कर लेना चाहते हैं, वो जीवन की निस्सारता के प्रति अनजान होते हैं क्या ? अथवा स्वयं की आँख बंद करके दुनिया को अपनी कलुषित सादगी की नाटकीयता के आवरण से मोह लेना चाहते हैं। जो कुछ भी हो, ऐसे व्यक्ति जो स्वार्थ के बंधन में जकड़े होते हैं। अंततः स्वयं भी हर सुख से वंचित होते हैं। समाज को कितनी हानि पहुंचाते हैं ऐसे लोग ? और महाभारत का कारण बनकर स्वयं की भी दुर्दशा करने से गुरेज़ नही करते। गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस का एक उदाहरण देखिये-

“झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।

बोलहि मधुर बचन जिमी मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा।”

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, दो.39)

कितना नाटकीय जीवन व्यतीत करते हैं धृतराष्ट्र और चाहते हैं सब उन्हें धर्मात्मा समझें।

एक चरित्र युधिष्ठिर का है। जिसके वयैक्तिक और सामाजिक मूल्य सात्विकता को अपने चरम बिंदु पर दर्शाते हैं। एक और धृतराष्ट्र हैं जो राजा नहीं हैं फिर भी राजसी अधिकारों का त्याग नहीं कर पाते और दूसरी और युधिष्ठिर हैं जो त्याग के शिखर पर खड़े हैं।

“युधिष्ठिर को ठीक ही कहा जाता था धर्मराज ! और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो पितृ—आज्ञा को, अपना धर्म मान कर, अपना साम्राज्य इस प्रकार त्याग दे, ...त्रेता में भगवान राम ने ऐसा किया था और द्वापर में धर्मराज युधिष्ठिर ने।... धृतराष्ट्र पांडवों का राज्य छीन लेना चाहता था, जैसे कैकयी राम का राज्य छीनना चाहती थी। ...धृतराष्ट्र जानता था कि युधिष्ठिर उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे। यह सब युधिष्ठिर भी जानते थे। वे धूत का विरोध करते रहे, किन्तु धृतराष्ट्र की इच्छा का विरोध नहीं किया उन्होंने। ..... पासों में हार चुकने के पश्चात वे राज्य देना अस्वीकार कर सकते थे, इतना सैन्य बल था उनके पास। किन्तु अपने वचन के विरुद्ध नहीं जा सकते थे।”..(कोहली, महासमर 5,251) ऐसे त्यागमय चरित्र

के स्वामी धर्मराज अपने उद्दात स्वभाव के कारण मूल्यों की वास्तविक आचरण मीमांसा का प्रतीक बने।

धृत सभा में अपमानित होने और इतनी विपरीत दशा को झेलती हुई द्रौपदी युधिष्ठिर के चरित्र का मूल्यांकन करती है। उसके विचार में, ‘कौन होगा ऐसा मनुष्य, ऐसा पुरुष, ऐसा योद्धा, ऐसा राजा, जो इतना अपमान और इतना कष्ट सहकर, तनिक भी प्रतिवाद नहीं करता। प्रतिकार की चर्चा तो करता है, प्रतिशोध की बात भी अपने मन में नहीं लाता। अपने शत्रुओं को भी क्षमा कर देता है और सर्वनियन्ता के न्याय के प्रति भू तक नहीं उठाता।’....यदि हम मन की निष्कामता, उसकी पवित्रता और सात्विकता से परिचित न हों, तो हम धर्मराज को कैसे समझ सकते हैं?...धर्मराज कभी बैठे साधना करते दिखाई नहीं देते। उन्होंने मोक्ष—प्राप्ति हेतु तपस्या करने के लिए कभी राज्य छोड़कर, वन जाने का संकल्प नहीं किया। ..किन्तु वे जैसे प्रतिक्षण एक तपस्या में लीन हैं। निरंतर अपने मन और जीवन में से मैल को काट रहे हैं; विकारों को त्याग रहे हैं; लोभ, कामना और अधिकार से स्वयं को मुक्त कर रहे हैं -....लोग तो बैठकर, संकल्पपूर्वक तपस्या करते हैं, धर्म राज का तो सारा जीवन ही तपस्या है, तभी तो वे इतने क्षमाशील हैं, इतने शांत हैं, इतने निस्पृह हैं।’..(कोहली, महासमर 5,252,253)

ऐसे हैं युधिष्ठिर! जब द्रौपदी के स्वयम्बर में अर्जुन ने प्रतिज्ञा पूरी कर के उसे प्राप्त कर लिया और धर्मराज को समर्पित करते हुए कहा, ‘आप भाइयों में सब से बड़े हैं आपका विवाह सबसे पहले होना चाहिये।....धर्मराज में कामजनित ईर्ष्या भी नहीं है, परिस्थितियों का लाभ उठा कर राजकन्या पर एकाधिकार जमाना नहीं चाहते।.. द्रौपदी का मन कहता है कि वह धर्म राज के चरणों में लोट जाये।..कैसा पवित्र हृदय है। मुंडकोपनिषद कहता है, “ईश्वर पवित्र हृदय में स्वयं को प्रकाशित करता है। पवित्र और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर दर्शन प्राप्त कर, कृतार्थ हो जाता है।” (कोहली, महासमर 5,253,254)

यदि ऐसे व्यक्ति और राजा होंगे तो सामाजिक मर्यादाओं का अनुकरण करने को जन समाज स्वतः त्वरित होगा। ऐसा नेतृत्व उत्तम मूल्यों की ही तो स्थापना में योगदान करेगा। और किसे कहते हैं, उत्तम मनुष्य होना और नैतिक और न्यायिक सामाजिक आचरण करना ?

यद्यपि व्यक्ति का धृतराष्ट्र और शकुनि जैसे महा धूर्त होना भी समाज के लिए अहितकर हो सकता है, पितामह भीष्म की तरह त्यागमय होना भी समाज को अन्याय के मार्ग पर ले जा सकता है और युधिष्ठिर की तरह बेहद सभ्य, आज्ञाकारी और धार्मिक होना भी समाज को अनीति की ओर ले जा सकता है। युधिष्ठिर तो यदि वनवास कर रहे हैं तो कहते हैं कि, “सम्राट की स्थिति न हो तो मन में सम्राट का अहंकार रखना अनुचित है। जब मैं सम्राट के रूप में किसी को कुछ दे नहीं सकता, तो उनसे (प्रजा से) सम्राट का सा सम्मान पूर्वक व्यवहार मांगने का मुझे क्या अधिकार है ?” (कोहली, महासमर 5,297)

कैसा सहज, सरल आचरण है। क्या समाज में हर युग में इस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं रहती ? वे हर समय अपनी महत्ता का बोझ ढोना नहीं चाहते। ऐसा अहंकार विहीन, अनुकरणीय व्यक्तित्व है धर्मराज युधिष्ठिर का। परन्तु किसी भी आचरण की अधिकता समाज में असंतुलन को जन्म देती है। इसलिए कृष्ण इस संतुलन के लिए पांडवों को व्यक्ति चुनाव का मन्त्र देते हैं। कितनी आवश्यक है चैतन्यता। अच्छे समाज की रचना के लिए सही चुनाव और उसके सही ढंग। व्यक्ति—व्यक्ति का भेद तो मनुष्य को समझना ही होगा।

अर्जुन अपने द्वंदों की समीक्षा कर रहा है, कृष्ण से प्रश्न पूछता है, “धार्तराष्ट्रों के प्रति हमारा व्यवहार सदा ही सौहार्द पूर्ण रहा है, तो वे क्यों हमारे सौहार्द की प्रतिक्रिया—स्वरूप अपना स्नेह हमें नहीं देते ? ऐसा क्यों है कि हमारा प्रेम, उनके मन में हमारे प्रति द्वेष ही बढ़ाता है। कार्य कारण के सिद्धांत के अनुसार तो प्रेम का प्रति-उत्तर प्रेम ही होना चाहिए; और द्वेष का उत्तर द्वेष।” कृष्ण अर्जुन को नीति की शिक्षा देते हुए कहते हैं, “तुम यदि किसी बीज को उपजाऊ भूमि में बोओगे, तो

उसका परिणाम भिन्न होगा; और पथरीली भूमि में बोओगे तो भिन्न। एक कंदुक को ठोस दीवार पर मारोगे, तो वह लौटकर तुम्हारे पास आयेगा, रेत के ढेर में मारोगे, तो वहीं धंस कर रह जायेगा; और यदि उसे कीचड़ में मारोगे तो वह लौटेगा भी नहीं, और तुम पर कीचड़ के छींटे भी पड़ेंगे।”..“अब तुम्हें पहचानना होगा कि कौन ठोस दीवार है, कौन रेत का ढेर है; कौन कीचड़ का तालाब ! तुम्हें धृतराष्ट्र और द्रुपद में अंतर करना होगा; तुम्हें भीष्म तथा विदुर की प्रकृति का भेद मालूम होना चाहिए। तुम अपनी एक क्रिया की, इन सब से समान प्रतिक्रिया नहीं पा सकोगे। ऐसे में अगर तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना होती है, तो उसके लिए तुम्हारा विवेक दोषी है, प्रकृति के नियम नहीं।”.... “अब यह तो पांडवों के विवेक पर ही निर्भर करता है कि वे किस से कैसा व्यवहार करें। यदि धर्म राज यह सोचते हैं कि उनकी आज्ञाकारिता धृतराष्ट्र और विदुर में समान प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी, तो यह उनके चिंतन का ही दोष है, प्रकृति के नियमों का नहीं। बबूल के काँटों से आहत होकर, कोई बबूल को दोष नहीं देता, अपनी भूल पर ही पश्चात्ताप करता है। ....पांडव भी वस्तुतः धृतराष्ट्र रूपी बबूल से, बरगद की छाया मांगने की भूल कर रहे हैं। इसमें प्रकृति का क्या दोष ?” (कोहली, महासमर 5,110, 111)

कृष्ण कहते हैं सात्विक होना अच्छा है, परन्तु वहीं तक जहाँ अनीति और अन्याय न होने पाए। इतनी चेतना तो मनुष्य को रखनी ही होगी। अन्यथा वह अपना तो नुकसान करेगा ही, समाज को भी गर्क करेगा।

मानव एक विवेकशील प्राणी है। वह अपनी विवेक शक्ति के अनुसार मूल्यों को निर्धारित करता है। मूल्यों का बोध उसके विकास का सामान्य क्रम है। पाश्चात्य शास्त्री एमोरी कहते हैं, “प्रवृत्तियाँ तथा मूल्य पारस्परिक रूप से सम्बंधित हैं। मूल्य व्यक्ति परिवेश का एक अंग हैं। समस्त मानव जीवन, जिस का कोई अर्थ है, प्रवृत्तियों एवं मूल्यों के अंतर्गत समाविष्ट होता है।” (एमोरी, सोशियोलॉजी 74)

डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने मूल्यों का आयाम तथा सामाजिक दृष्टि से उसका महत्व स्वीकारते हुए उन्हें जीवन, परिवेश, आत्म ‘स्व’, समाज, संस्कृति तथा



समस्त आदर्शों से भी परे, मानव अस्तित्व और अनुभव के अनुभवातीत आयाम आदि से व्युत्पन्न माना है।” {Values are derived from life, from environment, from self, society and culture, and beyond all from the ideal, transcendent} (मुखर्जी 53)

### भारतीय समाज एवं वर्ण-व्यवस्था

महासमर के एक पात्र लेपक अक्षय द्वारा जीवन के और व्यक्ति के विकास और मूल्यों की व्याख्या बहुत महत्वपूर्ण और सारगर्भित बन पड़ी है। इस विवेचना में समाज की भूमिका को भी बहुत सुंदर ढंग से उकेरा गया है। लेखक ने एक चतुर चित्रकार की तरह पात्रों के रंग भर के गाथा को सामयिक दृष्टिकोण से देखने और दिखाने का साधु प्रयास किया है।

अक्षय एक लेपक है, साधारण श्रमिक। पांडवों के खांडवप्रस्थ में जाने पर वह आजीविका विहीन, भूखा प्यासा, चोरी के इरादे से रात्रि के समय प्रासाद में प्रवेश करता है। भीम द्वारा पकड़ा जाने पर उसे न केवल भीम से सुरक्षा का आश्वासन मिलता है, वरन रोजगार तथा आश्रय का साधन भी प्राप्त होता है। कार्य शुरू होने पर वह वहीं रुक जाता है ताकि वह भीम के साथ कुछ और समय व्यतीत कर सके, उसकी बातें सुन सके। वह भीम की कही बात सोचता है, भीम ने कहा था कि, “विकास का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। विकास से क्या तात्पर्य था उसका ? अधिक सुविधाएं ? समृद्धि ? अधिक ज्ञान ? स्वच्छ जीवन ? निर्मल मन...क्या है विकास ?” (कोहली, महासमर 4,41)

कैसी तो विचित्र रचना है उपरोक्त शब्दों की ! विकास के नाम पर व्यक्ति और समाज के विभिन्न रूपों के क्रमशः सभी आयाम सम्मिलित कर लिए गये हैं। कौन व्यक्ति और किस समाज में, किस आयाम का वर्चस्व है, यह देखकर ही उसकी प्रवृत्ति का और मूल्यों का ज्ञान स्वतः ही हो जायेगा। व्यक्ति ईकाई है और समाज समूह। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है। घटनाक्रम में अक्षय और ऋषि धौम्य की ज्ञान एवं विकास चर्चा इसी विषय को समझाती है।

अक्षय अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करते हुए लेपक से वास्तुकार के रूप में कार्य कुशल हो जाता है। भीम से कह कर वह अपने प्रश्नों के उत्तर के लिए ऋषि धौम्य से मिलने जाता है। ऋषि उसका स्वागत करते हैं। अक्षय भीम के उल्लेख पर कहता है, “सोचता हूँ तो चकित रह जाता हूँ ...एक चोर को इतना स्नेह देने वाला राजकुमार..!” वह प्रश्नों से भरा है। ऋषि के पूछने पर अपनी समस्या उन्हें कहता है, “मैं कुछ समझ नहीं पा रहा....!..पहले मैं एक लेपक था। मैं जानता था कि मैं एक शुद्र हूँ। लोगों को भी मेरे विषय में कोई संदेह नहीं था। मेरी अपनी और समाज की दृष्टि में मेरा स्थान निश्चित था।...अब मैं वास्तुकार हूँ। मेरा सम्बन्ध वास्तु-शास्त्र से है, और शास्त्र का अध्येता तो ब्राह्मण होता है महर्षि ! मैं समझ नहीं पा रहा कि मैं कौन हूँ। मैं अब शुद्र नहीं हूँ। केवल अपने शरीर से काम लेने वाला यंत्र नहीं हूँ। मेरा विकास हुआ है। मैं ज्ञान का आदान-प्रदान करता हूँ। सोचता, समझता और निष्कर्ष निकालता हूँ। उनको कार्यान्वित करता हूँ। मैं जो नहीं हूँ, उसे जानता हूँ, किन्तु क्या हूँ, इसे जान नहीं पाया हूँ। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं कौन हूँ। मेरी श्रेणी क्या है ? मेरा वर्ण क्या है ? समाज में मेरा स्थान क्या है?” ऋषि उससे पूछते हैं कि वह जिस प्रकार लेपक की श्रेणी के लिए आश्वस्त है, वैसे ही वास्तुकार की श्रेणी और वर्ण के लिए क्यों नहीं है ? वह कहता है कि वह लेपक के वंश में उत्पन्न होने की वजह से लेपक समाज का सदस्य रहा है। ऋषि उसे कहते हैं कि यह सही है कि, ‘व्यक्ति का जो व्यवसाय होता है, वह उसकी श्रेणी का होता है..।’ (कोहली, महासमर 4,95)

अब उत्तेजित अक्षय का प्रश्न सामाजिक परिपेक्ष्य में बहुत महत्वपूर्ण और विचारणीय है, “किन्तु वह व्यवसाय अंगीकार करता है, युवा होने पर, और उसका वर्ण उसके जन्म से ही निश्चित हो जाता है। मैं लेपक श्रेणी का काम करूँ तो लेपक श्रेणी का सदस्य हूँ,... कार्य छोड़ दूँ तो उस श्रेणी का नहीं हूँ।..किन्तु शुद्र तो मैं जनम से हूँ। कुछ करूँ न करूँ। लेपक रहूँ या वास्तुकार बन जाऊँ। वर्ण तो वही रहेगा न। मेरी श्रेणी चाहे वास्तुकार की हो जाए। किन्तु मैं नया वास्तुशास्त्र भी रच डालूँ, तो भी मेरा वर्ण तो वही रहेगा न ?”

समाज के विभाजन की आश्चर्यजनक पेचिदगी है न। विकास किस बल पर, और श्रेणी तथा वर्ण किस आधार पर ? विचार प्रक्रिया को उद्वेलित करता सा प्रश्न है।

## समाज-विभाजन का अध्यात्मिक धरातल

धौम्य उसे वर्ण का आधार समझाते हैं, “अध्यात्म की दृष्टि में सब जीव समान हैं। परमात्मा प्रत्येक जीव में आत्मा के रूप में विद्यमान है। यह सारा वर्ण विभाजन समाज ने अपनी सुविधा के लिए किया है। वर्ण का सम्बन्ध वस्तुतः व्यक्ति के स्वभाव और उसकी क्षमता से है। गुणों का सम्बन्ध आनुवांशिकता से होता है, इसलिए समाज में जन्म से वर्ण का निर्धारण भी होता है। जिस परिवार में बालक पलता है, वहाँ का शिक्षण भी उसकी रुचियों—अरुचियों, क्षमताओं—अक्षमताओं का निर्धारण करता है।....यदि पुत्र अपने पिता से उत्तराधिकार में वे ही रुचियाँ तथा वृत्तियाँ ग्रहण करता है, वैसी ही क्षमता भी पाता है, और वैसा ही आचरण भी करता है, तथा अपने पिता के ही व्यवसाय तथा जीवन दर्शन को अंगीकार करता है, तो किसी पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं होती। जन्म, वृत्ति, कर्म अथवा व्यवसाय से किसी एक वर्ण से सम्बद्ध होने पर कहीं कोई द्वन्द नहीं जागता।...किन्तु प्रकृति की लीला बड़ी विचित्र है। अनेक बार पुत्र अपने पिता के सर्वथा विपरीत चलता है। ...वह ब्राह्मण पुत्र होकर भी न उतना ज्ञान अर्जित कर सकता है .न वैसा आचरण कर सकता है।....किन्तु वह व्यवसाय ब्राह्मण का ही करना चाहता है और न ही किसी इतर वर्ण को स्वीकार करना चाहता है। संकट वहाँ उत्पन्न होता है। व्यक्ति जन्म तो ब्राह्मण कुल में ले, वृत्ति से वह क्षत्रिय हो, और कर्म वह चंडाल का करे, तो उसका वर्ण निर्णय कैसे होगा ?”....“वर्ण की आवश्यकता वहीं होती है, जहाँ व्यवसाय का प्रश्न है जहाँ हम इस बात का निर्णय करना चाहते हैं कि व्यक्ति की वृत्ति, शिक्षा, क्षमता, और आचरण उस व्यवसाय के दायित्वों के अनुकूल है या नहीं ?” अब अक्षय का प्रति प्रश्न है कि, “किन्तु वर्ण का निर्णय तो एक व्यक्ति के जीवन में एक ही बार होगा न। जब मैं एक बार शुद्ध

घोषित कर दिया गया, तो फिर मैं ब्राह्मण कैसे हो सकता हूँ ?”.... (कोहली, महासमर 4, पृष्ठ 96)

व्यक्ति की विडंबना, समाज का जातीय-करण, वर्ण-व्यवस्था, और मनुष्य की जिज्ञासाएं, उसकी अनुवांशिक रूप से बदलती इतर रुचियां, क्षमताएं और व्यवसाय चयन। विचारात्मक द्वन्द तो है ही। आज की वैचारिक क्रांति का परिदृश्य भी उपस्थित करती हैं।

महाभारत अर्थात् महासमर: चरित्रों, पात्रों, घटनाओं द्वारा प्रश्न ही नहीं व्यक्ति, और समाज को सामयिक उत्तर भी देने की पूरी सम्भावनायें प्रस्तुत करता है।

धौम्य अक्षय की समस्या का निवारण करने का प्रयत्न करते हुए उसके वर्ण निर्धारण के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि, “विकास के माध्यम से ! जिस व्यक्ति का शरीर मात्र एक उपकरण है, वह कुछ सोच समझ नहीं सकता, ...दूसरों का अनुसरण और सेवा ही कर सकता है—वह शूद्र है। वही व्यक्ति विकास प्रक्रिया में, स्वतंत्र रूप से उत्पादन, व्यवसाय अथवा उद्भ्रम से धर्मपूर्वक धनोपार्जन के योग्य होकर समाज को समृद्ध करने लगता है, तो वह वैश्य हो जाता है। अपना और अधिक विकास कर, वह समाज के संगठन, रक्षण तथा पालन में समर्थ हो जाता है, तो वह क्षत्रिय हो जाता है...और वह अपने स्वार्थ तथा भोग की इच्छा छोड़, ज्ञान के अर्जन, ग्रहण, वितरण, विकास तथा समाज-हित में शास्त्र का चिंतन—मनन करने लगता है, तो वह ब्राह्मण हो जाता है।”....“इसमें कठिनाई क्या है?...ये तो व्यक्ति के विकास के सोपान मात्र हैं।” (कोहली, महासमर 4,97) होगा वस्तुस्थिति का !

सामाजिक मूल्यों को चुनौती देते बहुत ज्वलंत प्रश्न है। एक सामान्य व्यक्ति की समस्या और एक बुद्धिजीवी की दृष्टि का आधार किस तरह भिन्न है। और कैसे निर्णय होगा वस्तुस्थिति का !

अक्षय की समस्या को अभी भी स्पष्ट होने की अपेक्षा है। उसके अनुसार, “एक बार वर्ण-निर्णय हो जाने के पश्चात् व्यक्ति, समाज के उसी वर्ग से जुड़ जाता है, उसी का अंग हो जाता है। ऐसे में वर्ण-परिवर्तन की स्थिति में समाज का कोई दूसरा अंग उसे अंगीकार क्यों करने लगा ?” (97)

प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। विशेषकर भारतीय व्यवस्थाओं के अनुसार। ऐसी समस्या का सामना कई व्यक्ति करते हैं। परन्तु समाज का उत्तर क्या हो ? व्यक्ति को उसकी अपेक्षाओं के अनुसार भिन्न वर्णानुसार अपनाए अथवा रूढिगत परम्पराओं की लीक पर ही चलता रहे?

एक तपस्वी सन्यासी का इस विषय में क्या विचार है ? उनके अनुसार यदि व्यक्ति की रुचियों, क्षमताओं और व्यवसाय में परिवर्तन आ गया है, तो वर्ण परिवर्तन के लिए उसे समाज की स्वीकृति की क्या आवश्यकता है ? उनके अनुसार “व्यक्ति स्वयं अपनी वृत्ति और स्वभाव को जानता है, तो वह उसके अनुसार अपना कर्म और व्यवसाय चुन सकता है।” (कोहली, महासमर 4,97)

पहली बात तो यह है कि समाज के बने नियम इसकी इतनी आसानी से अनुमति देंगे क्या ? दूसरा- समाज इस तथ्य को स्वेच्छा से अपना लेगा क्या ? तृतीय - क्या व्यक्ति इतना ईमानदार है जो अपने वर्ण परिवर्तन के लिए, स्वयं की इच्छा और स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेगा ? सन्यासी स्वयं तो न किसी के लेने में, न किसी के देने में। उसका तो न कोई वर्ण, न व्यवसाय, देने को न पैत्रिक संपत्ति, न रक्त सम्बन्ध। इसलिए उसका सहज और सरल उपाय उसने अपने सरल और सहज रूप में दिया, ‘वर्ण निर्धारण के लिए किसी की अनुमति की क्या आवश्यकता ?’

अक्षय का प्रश्न अभी और उत्तर मांगता है। उसके अनुसार, “व्यावहारिक जीवन में हम इतने समाज निरपेक्ष नहीं हो सकते महर्षि !” (97)

कितना सही और चुनौती पूर्ण विचार है ! समाज की नियमावली परिवर्तन की इतनी सम्भावना देती है क्या? अक्षय का प्रश्न आगे बढ़ता है वो पूछता है कि,

‘विवाह के समय जब रक्त सम्बन्ध स्थापित होता है, सामाजिक व्यवहार आरम्भ होता है, तो क्या अपने वर्ण के प्रति अन्य लोगों की स्वीकृति महत्वपूर्ण नहीं होती?’ वह कहता है, “मेरे विवाह का प्रश्न उठता है। मैं किसी ब्राह्मण कन्या की आकांक्षा करता हूँ। वर्ण के प्रति जिज्ञासा की जाने पर मैं कहता हूँ कि मैं शूद्र—पुत्र होकर भी ब्राह्मण हूँ, तो कोई ब्राह्मण मेरे इस नए वर्ण को स्वीकार करेगा ?” (कोहली, महासमर 4,97)

समस्या तो बहुत पेचीदा है। परन्तु उत्तर देने वाला चरित्र (ऋषि धौम्य) बहुत सादगी से पूर्ण सात्विकता से भरा समाधान कहता है, “यह परिवर्तन की स्थिति है इसे आक्रोश से नहीं, विश्लेषण से समझने का प्रयास करो। एक व्यक्ति यदि वंश, वृत्ति, व्यवसाय तथा आचरण से ब्राह्मण है, तो उसे कोई भी ब्राह्मण मानेगा, किन्तु यदि कहीं कोई ब्राह्मण-पुत्र बधिक का व्यवसाय अंगीकार करता है, तो उसके विवाह के अवसर पर भी अन्य निष्ठावान ब्राह्मण सोच-विचार करेंगे।” कोई तपस्वी ब्राह्मण अपनी कन्या सुविधा से रजोगुणी क्षत्रिय—कर्मा ब्राह्मण को नहीं देगा... एक वैश्य पुत्र यदि अपना वाणिज्य-व्यवसाय छोड़, भिक्षोपजीवी ब्राह्मण बनकर किसी गुरुकुल में अध्यापन कर रहा हो, तो क्या श्रेष्ठि—समुदाय अपनी कन्या का विवाह करते समय इस पर विचार न करेगा ? कन्या के विवाह के समय उसका परिवार उसके श्वशुर कुल में उसके लिए सुख, सुविधा और सम्मान की आकांक्षा तो करता है, किन्तु यह भी चाहता है उसे मायके जैसी ही जीवन पद्धति और वैचारिक परिवेश मिले ताकि उसे नए जीवन की चुनौती इतनी बड़ी न लगे कि वह उसके लिए कष्टकर हो।”.....

## व्यक्ति-विकास के भिन्न आयाम

कितने वैचारिक धरातल है समाज को समझने और उसकी रचनात्मक प्रक्रियाओं के। पर प्रश्न भी उतने ही हैं। यहाँ यह विचार मुख्य नहीं है कि अक्षय का विवाह कैसे होगा ? प्रश्न यह है कि सामाजिक सिद्धांतों को समझने के लिए कितने भिन्न-भिन्न आयामों को समझना पड़ता है। अक्षय जो एक लेपक था, अब

वास्तुकार है और ऋषि धौम्य की परिकल्पना में वह शीघ्र ही और विकास करेगा। वह अक्षय से कहते हैं, “साधारण धन का तुम्हें अभाव नहीं। किन्तु तुम्हारी वृत्ति ब्राह्मण की है। तुम यदि भवन निर्माण के सोपान पर रुक गये होते तो मैं निश्चित रूप से कह सकता था कि तुम संपन्न से धनी और धनी से धनाढ्य व्यक्ति हो गये होते।...किन्तु तुम वास्तुकला के शास्त्र में प्रवेश कर चुके हो। बहुत संभव है कि तुम वास्तु-चिन्तक का कार्य कर मनीषियों की श्रेणी में प्रविष्ट हो जाओ। तब तुम चिंतन करो — भूमि का, वायुमंडल का, भू-गर्भ का। देश के ऐतिहासिक-भौगोलिक, सांस्कृतिक-अध्यात्मिक पक्षों का।...फिर तुम्हें धन का मोह नहीं रहेगा।” अक्षय के यह पूछने पर कि जरूरी तो नहीं कि जो अतीत में कंगाल था भविष्य में भी कंगाल हो जाये। ऋषि का समाधान हुआ कि, “विकास का अंतिम चरण तो धन से अनासक्ति और धन विसर्जन में ही है।...अपना जितना विकास कर तुम वर्तमान में पहुंचे हो, यह पर्याप्त संकेत है, कि भविष्य में और भी विकास करोगे।” (कोहली, महासमर 4,99,100)

उपरोक्त प्रकरण बहुत सारगर्भित है। व्यक्ति के विकास के कितने सोपान हैं जिन्हें वह अपनी निष्ठा और चेष्टा से प्राप्त करता चलता है। एक स्थान पर महामुनि व्यास भी वन में जब पांडवों के पास जाते हैं तो किसी चर्चा में कहते हैं, “यह जीवन एक बीहड़ यात्रा है ! कैसे-कैसे उतार चढ़ाव आते हैं। यात्री तो वही है, जो निरंतर ऊपर चढ़ता जाए। कहीं पतित न हो। कहीं खलित न हो। स्वयं ऊपर चढ़ने के लिए किसी और को धक्का न दे। स्वयं आगे बढ़े और ऐसा मार्ग बनाये जिससे अन्य लोग भी अपनी चढ़ाई चढ़ सकें।” (कोहली, महासमर 6,216)

समाज के कितने स्वीकृत मानदंड हैं, जिनपर काल व स्थितियों के अनुसार प्रभाव तथा परिवर्तन अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाते हैं ? क्यों व्यक्ति अपने कर्मों को समाज की स्वीकृति दिलाना चाहता है ? रूढिगत सिद्धांत क्यों व्यक्ति विकास में बाधा बन जाते हैं ? क्या समाज के मनीषी भी इन मूल्यों और सिद्धांतों के निर्माण में अपना योगदान देते हैं ? क्यों समाज के बौद्धिक वर्ग का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है?

सामाजिक संतुलन के लिए व्यक्ति और समाज का सामानांतर विकास क्यों आवश्यक है?

महासमर काल और वर्तमान परिवेश एवं समस्याएं—एक ही धरातल पर खड़ी लगती हैं। आज भी समाज भिन्न जातिगत विभागों में बंटा है। यद्यपि भीम के मुख से-रचनाकार जाति से ऊँचे उठने की संभावनाओं का उदाहरण देते हैं, “मानसिक विकास और वृत्ति परिवर्तन से श्रेणियां और वर्ण तो अपने आप परिवर्तित हो जाते हैं। कौन अपना विकास नहीं चाहता ?”....“विश्वामित्र क्षत्रिय राजा होते हुए ऋषि बने, नहुष क्षत्रिय होते हुए सर्प हुए, हस्तिनापुर में कर्ण सूत होते हुए क्षत्रिय हो गया, और संजय सूत होने पर भी मुझे लगता है, ब्राह्मण हो जायेगा।” (कोहली, महासमर 4,35)

ऐसी उदार सोच तो पांडु पुत्र को ही शोभा देती है। परन्तु समाज के कितने ही मनस्वी गुरु एवं ब्राह्मण इसे स्वीकृति नहीं देते। और समाज इस परम्परागत विचारधारा का विश्लेषण करते हुए झिझकता है तथा नये स्वरूप को नहीं अपनाता फलतः विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वर्तमान (2014-2019) मोदी सरकार का भी तो यही नारा है, ‘सबका साथ सबका विकास’, और यह बात जातियों से कहीं ऊपर है।

जातिगत विभिन्नताओं और (भीम तथा राक्षसी हिडिम्बा पुत्र) घटोत्कच के बारे में जिज्ञासा करती पत्नी परसवी कि, ‘वह उड़ सकता है क्या ?’ महात्मा विदुर कहते हैं, “राक्षस है ! का क्या अर्थ ? उसकी भुजाओं के स्थान पर पंख हैं क्या ?” विदुर हंसते हैं, “है तो वह मनुष्य ही ! विभिन्न प्रदेशों में रहने से, विभिन्न मानव-जातियों में जन्म लेने से, तथा विभिन्न प्रकार के जीवन दर्शन अपना लेने से, मनुष्य—समूहों के नाम तो भिन्न हो सकते हैं, उनकी क्षमताओं में भेद नहीं होता।” (कोहली, महासमर 5,345)

ऐसी विचारधारा विदुर जैसे महात्मा को ही शोभा देती है। परन्तु सभी ऐसा नहीं विचारते और न ही इतनी उदारता दर्शाते हैं। आज भी समाज इस प्रकार के विभाजन से पूर्णतः ग्रस्त है।



यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास अपनी लेखनी द्वारा जातियों में मर्यादा और सोहार्द पूर्ण समाज का उत्तम उदाहरण देते हैं -

“कही मृदु बचन विनीत तिन्ह बैठारे नर नारी।

उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारी।।”

(तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, दो. 240)

सीता स्वयम्बर का समारोह है राजा जनक सभी वर्गों को यथायोग्य सत्कार के साथ उनके उचित सम्मान और स्थान दे रहे हैं। गोस्वामी जी के समय में भी वर्ग संघर्षों से समाज विभाजित था।

‘यद्यपि भारतीय समाज का ढांचा प्राचीन काल से वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा पर ही आधारित रहा है। व्यवस्था के इस मेरुदंड का हास मुगलों ओर तुर्कों से पूर्व वर्जयानियों, तांत्रिकों तथा नवीन मतावलंबियों ने तो किया ही था, पर इस्लाम युग के कुछ तथाकथित सुधारक कवियों के तीष्ण प्रहारों से यह और भी खोखला हो गया। हिन्दू तथा इस्लाम दोनों मतों में व्यापक समान तत्वों को लेकर समन्वय चाहने वाले सुधारवादी संतकवि कबीर तथा जायसी आदि ने इस पर कड़े प्रहार किये। इन सबका प्रयास रुढ़िग्रस्त वर्णाश्रम धर्म का उच्छेद करना ही था। इस दशा से प्रभावित होकर ही तुलसीदास ने पुनः वर्ण व्यवस्था के विश्वास का उद्धार करके उच्च तथा नीच दोनों वर्णों में प्रेम बढ़ा कर समन्वय उत्पन्न करने की चेष्टा की है। (शर्मा,104,107)

तुलसीदास ने एक दास के रूप में तो रामकथा लिखी ही, साथ ही एक जिम्मेदार बुद्धिजीवी का कर्तव्य निभाते हुए अपनी रचना द्वारा राम और शिव को एक दूसरे द्वारा पूजित करवा कर धर्म और देवों के नाम पर बंटे समाज में समन्वय स्थापित करने का साधु -प्रयास किया। उदाहरण प्रस्तुत है-

“होई अकाम जो छल तजि सेईही ।  
 भगती मोरी तेहि संकर देईहि ।  
 मम कृत सेतु जो दरसन करही ।  
 सो बिनु श्रम भवसागर तरही । ”

(रामचरितमानस, लंकाकांड)

वर्तमान भारतीय समाज अभी भी इसी प्रकार के विभाजन से अछूता नहीं है। विकास के कितने अधिक प्रयत्न किये जाते रहे हैं और किये जाते रहने चाहिए। संभव है, तभी हमारा समाज इस समस्या से विलग हो सकेगा। घटोत्कच वर्तमान भारतीय आदिवासियों का प्रतिनिधि सा लगता है। वह एक प्रकरण में भीम के पूछने पर कि उसकी माँ ने उसे क्या सिखाया है, कहता है, “मैं एकांत वन में रह, भूले भटके, सामने आ जाने वाले मनुष्य का मांस खाने वाला राक्षस नहीं हूँ पिताजी! ..माँ ने अपनी बुद्धि और क्षमता भर मुझे अच्छे संस्कार दिए हैं। मेरे मित्रों को देखकर आप समझ गये होंगे कि हम शेष मानवों से पृथक वन में एकांतवास करने वाले प्राणी नहीं हैं। हम स्वयं बृहत मानव समाज का अंग बनने का ही प्रयत्न नहीं कर रहे, वरन अन्य वनवासियों को भी उनकी एकांत गुफाओं से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं।....हम यह मानते हैं कि जीवन अखंड और समग्र है। उसमें खंड अथवा वर्ग नहीं हैं। ग्राम अथवा नगर में रहने से लोगों की अजीविकाएं पृथक होती हैं। व्यावसायिक कारणों से, दिनचर्या भिन्न होती है, किन्तु उनके समाज पृथक नहीं होते।” (कोहली, 5,231)

कितना सटीक चित्रण है। जैसे वर्तमान का ही दृश्य समक्ष उभर आया हो। रचनाकार सम-सामयिकता को साथ साथ तर्क देता चल रहा है।

आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि इस विभाजित जातिप्रथा का दर्शन कथा में केवल समाज के एक ही अंग में नहीं हो रहा। यह कृष्ण की अति उन्नत द्वारिकापुरी में भी परिलक्षित है। वहां वृष्णि, अंधक, और भोज जातियां निवास करती है। पांडवों के वनवास के समय विशोक द्वारका से सूचना लाता है कि, ‘उपरोक्त

जातियां अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण व्यक्तिगत राग-द्वेष को जातिगत द्वेष बनाने पर तुली हुई है।' वह उनके विभाजन और उनसे मिलने वाली सहायता के विषय में कहता है, कोई भी अपने महत्व को कम नहीं करना चाहता इसलिए भिन्न भिन्न जातियों को अपनी ओर करने का प्रयत्न कर रहा है।' (कोहली, महासमर 5,340)

समाज में फैली समस्यायें समाज के विकास को अवरुद्ध करती हैं और व्यक्ति की विचारधारा और जीवन पद्धति को भी दुष्प्रभावित करती हैं।

### सामाजिक विद्रुपतायें एवं व्यक्तिक निर्णय-प्रभाव

गुरु द्रोणाचार्य जैसा गुरु भी समाज के परम्परागत पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है। भील राज हिरंन्यधनु का पुत्र एकलव्य विद्या की आकांक्षा से द्रोण को प्रार्थना करता है जिसे वह ठुकरा देते हैं। किन्तु कालांतर में उसके प्रशिक्षित बाणों का संधान देखकर चमत्कृत हो जाते हैं। द्रोण के विचार में वे 'केवल उन्हीं लोगों को अपना समय, अपना श्रम और अपना ज्ञान देना चाहते हैं, जो उनका नाम उज्ज्वल कर सकें। यदि उसमें (एकलव्य में) वैसी प्रतिभा और तेजस्विता थी, यदि उसने सचमुच ही आचार्य द्रोण की विद्या को ग्रहण कर लिया, तो उसका अर्थ होगा— आर्यों की विद्या का भीलों में संचरण ! शक्ति संतुलन का नाश। तब भील भी आर्यों की तरह सेनाएं सजाकर युद्ध करेंगे। और तब गुरु और ब्राह्मण की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले आर्यों का वर्चस्व समाप्त हो जायेगा।' (कोहली, महासमर 2,203,204)

कितनी एकाकी विचारधारा है। उसी एकलव्य से गुरु दक्षिणा मांगते समय गुरु कितने करुणा-विहीन हो जाते हैं। जिसे कुछ दिया नहीं उससे कुछ लेने का अधिकार ? उसके दाहिने हाथ का अंगुष्ठ ! कठोरता की पराकाष्ठा ! और तर्क क्या देते हैं, "यह निरीह, सहज विश्वासी और समर्पित व्यक्ति कल कहीं और समर्पण कर बैठा तो अपना सारा ज्ञान और कौशल उसके चरणों में समर्पित कर देगा।...इसकी यह निरीहता, विश्वास और समर्पण—इसकी सरलता ही नहीं, मूर्खता का भी प्रमाण है। इतने गुणी व्यक्ति की मूर्खता हमारे लिए घातक हो सकती

है।...इसकी मूर्खता दूर नहीं हो सकती तो इसकी क्षमता को तो कम किया ही जा सकता है।” (कोहली, महासमर 2,208)

कितने त्रशंस होकर वे उस शिष्य से दक्षिणा स्वीकार कर सके। जिसका कोई देय उनकी और नहीं था। महत्वाकांक्षा व्यक्ति को कभी कभी कितना निष्ठुर बना देती है और समाज से एक योग्यता को तिरोहित कर देती है। प्रतिक्रिया स्वरूप युधिष्ठिर कहते हैं कि, “स्पर्धा अपने विकास में होनी चाहिए, दूसरे के हास में नहीं।” (कोहली, महासमर 2,211)

एक पात्र व्यक्ति की स्वार्थ वृत्ति के चलते इतना त्रशंस कृत्य करते हुए भी नहीं हिचकता और दूसरा पात्र न्याय के पथ पर चलता हुआ इसे अन्याय का नाम देता है। द्रोणाचार्य के चरित्र का एक और दृष्टान्त है, जिससे वह जाति और वर्ग विशेष में आग्रह रखते हैं, इसका प्रमाण मिलता है। वह कर्ण के बार बार अनुरोध करने पर भी उसे शस्त्र शिक्षा देने के लिए सहमत नहीं होते। वह उसे फटकारते हुए कहते हैं, “राजकुमारों को योद्धा के रूप में प्रशिक्षित किया जाता है, ताकि वे युद्ध कर सकें। अपने शत्रुओं को पराजित कर सकें। अपने राज्य की रक्षा कर सकें।..सारथि पुत्र को योद्धा के रूप में क्यों प्रशिक्षित किया जाये ? ताकि वह विप्लव फैला सके? राज-वंशों को उलट पलट सके ? प्रत्येक साधारण जन को राजकुमारों के समकक्ष युद्ध-प्रशिक्षण देना, न राज-वंशों के हित में है, न शासन तंत्र के। इसलिए यह वर्ग मात्र राजकुमारों का है कर्ण ! तुम अपने वर्ग में जाओ।”

कर्ण बार बार आग्रह करता है, “गुरुदेव ! विद्या का दान, वर्ग के आधार पर नहीं, योग्यता के आधार पर होना चाहिए। ज्ञान उनकी संपत्ति है, जो उसे ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। सरस्वती का वहन हंस करते हैं, काग उसमें असमर्थ होते हैं।” (कोहली, महासमर 2,156,157)

गुरु द्रोण एवं कर्ण का उपरोक्त वार्तालाप व्यक्ति के रूप में गुरु का चरित्र स्पष्ट करता है। उनके हृदय में सामाजिक परम्पराओं के प्रति कितना आग्रह है। वे व्यक्ति विकास के प्रति उदार नहीं हैं। और साथ ही व्यक्ति के रूप में कर्ण का

व्यक्तित्व भी समक्ष है, जो अपनी क्षमताओं के प्रति आश्वस्त है और अनुरोध करता है, एक ऊँचे वर्ग और वर्ण में समिलित होने के सभी तर्क करता है कि, “आप मुझे बताएं कि विद्या का अधिकार सबको क्यों नहीं है ? विद्या-दान के मध्य वर्ण कहाँ से आ जाता है ? मैं शस्त्र-विद्या-विशारद क्यों नहीं हो सकता ?..मानवों के वर्ण—भेद कर, वर्ग—भेद कर, कुछ को हीन, कुछ को श्रेष्ठ मानने का क्या अर्थ है ? समाज में कुछ लोगों के लिए सुविधाएँ क्यों जुटाई जाती हैं, और कुछ की इतनी उपेक्षा क्यों की जाती है ?” (कोहली, महासमर 2, पृष्ठ 219)

कितना सटीक प्रश्न है, एक उपेक्षित व्यक्ति का आग्रह। यह व्यक्ति की दृष्टि है। अब समाज के भाग को जानते हैं। कर्ण के पालक पिता अधिरथ उसके प्रश्न और समस्या का समाधान करते हुए उसे तर्क देते हैं, “विद्या का अधिकार तो सबको है, पुत्र ! क्योंकि अपने विकास का अधिकार तो समस्त जीवों को है—शारीरिक, मानसिक और आर्थिक विकास। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए भी विद्या—प्राप्ति का अधिकार सबको है। किन्तु इसके पश्चात् भी ज्ञान, चेतना तथा शारीरिक और मानसिक कौशल के अनेक क्षेत्र हैं; जिनके विषय में सामाजिक नेतृत्व यह तय करता है कि कौन सा व्यक्ति, कौन सी विद्या ग्रहण कर, समाज के लिए अधिक उपयोगी होगा।” वह प्रति प्रश्न करते हुए कर्ण से पूछते हैं, “क्या तुम्हें नहीं लगता कि लौहार बनने की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को चित्रकला सिखाने का कोई लाभ नहीं है। वह विद्या और शिक्षक-दोनों का ही अपव्यय है। संगीत शास्त्र में पारंगत होने वाले व्यक्ति को मल्लविद्या सिखाने का क्या लाभ ?...और शस्त्र विद्या की शिक्षा बहुत ही सोच समझ कर दी जानी चाहिए ! शस्त्र तो केवल उनके हाथ में दिया जाना चाहिए, जो शरीर से ही नहीं, मन और आत्मा से भी क्षत्रिय हों। जो केवल न्याय और सत्य की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करता हो। जो निर्बल की आतताइयों से रक्षा करता हो; जो अधर्म, अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरोध में अपने प्राण देने को आतुर हो।”..... (कोहली, महासमर 2, 221)

बार बार अपने प्रति होते अन्याय के लिए तर्क करते कर्ण को अंततः अधिरथ उसके व्यक्तित्व का दर्पण दिखाने को बाध्य हो जाता है, “जहाँ तक मैं

समझता हूँ, तुम्हें क्षत्रियों से घृणा से अधिक, अपना हीनता बोध पीड़ित कर रहा है। यह हीनता का भाव ही तो है, जिसने तुम्हारे भीतर इतनी प्रतिहिंसा कूट कूट कर भर रखी है। तुम्हारी महत्वाकांक्षा, अपनी विकास भावना से प्रेरित नहीं है--वह तुम्हारी प्रतिहिंसा की उपज है। तुम स्वयं ऊँचा उठने से अधिक किसी को नीचा दिखाना चाहते हो।”....(कोहली, महासमर 2,222) पिता अधिरथ कर्ण को उसकी अबोधता के बारे में कहता है। वह उसे समझाता है कि उसे अपने मन को समझाना होगा। वह उसे कहता है कि क्षत्रियों, विशेष रूप से पांडवों के प्रति द्वेष छोड़ दे। वह उससे पूछता है कि ब्राह्मण गुरुओं, द्रोणाचार्य से शास्त्र विद्या के क्षेत्र में उपेक्षित हुए। पर उनसे विरोध क्यों नहीं ? परशुराम से असत्य कह कर शिक्षा ली, उन्होंने भी ताड़ना दी, पर उनसे भी विरोध नहीं। फिर केवल पांडवों से ही विद्वेष क्यों है ? उसको समझाते हुए अधिरथ परामर्श देता है, “हमारी निष्ठा व्यक्तियों के प्रति नहीं। मैं चाहता हूँ कि तुम भी इस तथ्य को पहचानो। अपने स्थान और धर्म को समझो। राजपरिवार की राजनीति में मत पड़ो। तुम उनके पक्ष-विपक्ष मत बनो।...धरती यदि जलधारा को सोख सकती है तो समुन्द्र उसे लील सकता है। हम नहीं जानते हैं कि हमारे लिए धरती कौन है और सागर कौन !..हमारा अपना ज्ञान ही अंतिम सत्य नहीं होता। हम जिसे अपना अहित मान बैठते हैं—बहुत संभव है कि वह हमारे हित से भी बड़ा हितैषी हो। कौन जानता है, पांडव तुम्हारे मित्र दुर्योधन से भी बढ़कर तुम्हारे हितैषी बन जाएँ। तुम अपने स्थान पर स्थिर रहो पुत्र! दृढ बनो। अपना विकास करो। अपने मन में प्रतिहिंसा का विष मत पालो।” ....(कोहली, महासमर 2,223)

परन्तु कर्ण अपनी महत्वाकांक्षा के चलते अच्छा-अच्छा तो ग्रहण करना चाहता है, परन्तु प्रतिकूलताओं के लिए तैयार नहीं। वह युधिष्ठिर के वनवासी भाग्य से भी द्वेष रखता है। उसका भाग्य, कुछ हिस्सों में उससे ले लेना चाहता है। वह उसके प्रति भी ईर्ष्या से भरा है। अपना स्तुति गान चाहता है। वह अपने प्रत्येक कार्य की स्वीकृति चाहता है। अपना सुयश चाहता है। वह द्वेष से भरा सोचता है, ‘उसे युधिष्ठिर का भाग्य क्यों नहीं मिला।’ यद्यपि उसका मन जानता है कि

..‘क्योंकि उसने अपने मन को युधिष्ठिर के मन सा नहीं बनाया। पर कर्ण युधिष्ठिर का मन नहीं चाहता, उसका सा भाग्य चाहता है। वह वारणावत में जलना नहीं चाहता वह वनवासी नहीं होना चाहता वह अपना राज्य भी धूत में हारना नहीं चाहता ! ‘किन्तु इतना सब होने पर भी उसके भाइयों ने, उसकी पत्नी ने, उसकी माँ ने—किसी ने भी तो उसका त्याग नहीं किया।..कर्ण को ही क्यों लगता है कि उसके माता पिता ने उसे जन्म के बाद त्याग दिया था, वैसे ही उसे सभी परिजन उसे त्याग देंगे।’ (कोहली, महासमर 8,361)

कैसी विडम्बना है व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ, उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करती है और उसकी वृत्तियाँ उसके आचरण के मूल्यों को।

अधिरथ कर्ण के आचरण से क्षुब्ध है और उसे गुरु परशुराम से मिथ्याभाषण के लिए भी ताड़ित करते हैं। वह चाहते हैं कि कर्ण अपने स्थान को उचित सम्मान देना सीखे। वे अपने पुत्र के मन की ईर्ष्या को समझते हैं, और सोचते हैं, “कर्ण वहीं तक सत्य का समर्थक है, जहाँ तक उसे सत्य से लाभ होता है।” (कोहली, महासमर 2,219)

कैसी है व्यक्ति की प्रवृत्ति ! वह सत्य के समस्त लाभ तो लेना चाहता है, परन्तु जहाँ सत्य उसके विपरीत हो, वहाँ सत्य बोलना नहीं चाहता। और विद्वेष यह है कि कर्ण जैसा महत्वपूर्ण पात्र मिथ्याभाषण में कोई दोष नहीं पाता। उसके अनुसार, “जब सत्य बोलकर संसार में कुछ प्राप्त नहीं होगा, तो असत्य—भाषण नहीं होगा क्या ? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि प्रत्येक स्थान पर सत्य बोल कर वंचित होता रहूँ। संसार में कुछ व्यावहारिक भी होना पड़ता है।”...(कोहली, महासमर 2,219)

अपने अहंकार, ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा ने कर्ण के नयन न्याय की और से मूंद दिए हैं। गुरु परशुराम उसकी वास्तविकता जानने के बाद उसे कहते हैं, “तुम्हारी वृत्ति सात्विक नहीं है। तुम अपना विकास नहीं चाहते, तुम दूसरे का

विनाश चाहते हो।....तुम्हें अपने अहंकार की तुष्टि के लिए यह सब चाहिए। तुम्हारी ईर्ष्या और प्रतिहिंसा तुम्हें कभी भी उचित-अनुचित और धर्म—अधर्म का विचार करने नहीं देगी। तुम्हारा शस्त्र बल किसी सज्जन की रक्षा के काम नहीं आएगा। सदा ही पापियों की ओर से उसका दुरूपयोग होगा।” (कोहली, महासमर 2,241)

कितना सत्य विवरण हैं मानवीय महत्वाकांक्षा का। कर्ण सोचता है, “उसकी महत्वाकांक्षा कभी तृप्त नहीं हो सकती। वह सदा ऊँचे से ऊँचा चढ़ना चाहता है वह संसार में वह सब कुछ प्राप्त करके ही रहेगा, जिसके प्रति उसके मन में लालसा जागेगी ..।” (कोहली, महासमर 8,320)

क्यों व्यक्ति अपनी योग्यताओं का उचित प्रयोग कर के सात्विक राह पर नहीं चलता ? क्यों उसकी वृत्तियां पाप की ओर बढ़ने लगती हैं और वह अपने देवत्व को खो बैठता है। यदि कर्ण की योग्यताओं और क्षमतायों का उपयोग दुर्योधन नहीं कर पाता तो परिस्थितियों का रूप अवश्य ही थोड़ा भिन्न होता, और समाज की इतनी अधिक दुर्गति से बचा जा सकता था।

जिस महत्वाकांक्षा, पद और मिथ्या राजसी ठाट के पीछे कर्ण जीवन भर भागता रहा, उसके लिए कृष्ण कहते हैं, “सम्मान पद का नहीं प्रतिभा का होता है ! पद तो कभी भी छिन सकता है, प्रतिभा को कोई नहीं छिन सकता।” (कोहली, महासमर 7,191) और उसी प्रतिभा का कर्ण ने अन्याय के लिए दुरूपयोग हो जाने दिया।

युधिष्ठिर अपनी माता कुंती से वार्ता करते हुए व्यक्ति की महत्वाकांक्षी वृत्ति के विषय में कहते हैं, “कहने को पितृत्व हस्तिनापुर के महाराज हैं .....किन्तु सारी सत्ता दुर्योधन के पास है।... और इस सृष्टि में असंख्य ऐसे मनुष्य हैं, जो अपने छोटे से लाभ के प्रलोभन में, किसी के भी प्राण ले सकते हैं।....कर्ण को ही देखिये। नाम मात्र का एक राज्य देकर, उसने कर्ण को खरीद लिया है। इस समय कर्ण के जीवन में न अपनी कोई इच्छा है न आकांक्षा। वह दुर्योधन का दास है;..कृत दास भी इतना परतंत्र नहीं होता, जितना कर्ण को, उसी मानसिकता ने बना दिया है।”



(कोहली, महासमर 3,83, 84) कैसे व्यक्ति के विचार, आचरण और वृत्तियां उसके जीवन और कालांतर में समाज को प्रभावित करती चलती हैं।

अपने परिचय के साथ जब कुंती कर्ण को प्रत्यक्ष मिलती है तो कहती है, “मनुष्य महान होता है अपने आचरण से, अपने कर्मों से। धर्म अधर्म की पहचान नहीं है तुझको। एक पापी से महत्व मिला तो उसी का हो गया। उसे मित्र कहता है? जानता है दुर्योधन की मैत्री क्या है ? तेरी आत्मा का हनन। मित्र वह होता है जो मित्र का हित साधता है, उसे धर्म के मार्ग पर ले चलता है, उसकी आत्मा का उन्नयन करता है। तेरे मित्र तेरे साथ क्या कर रहे हैं ? या तू उनके साथ मिलकर क्या कर रहा है-राक्षसी कृत्य। नारकीय योजनायें। कहाँ जाकर रुकेगी तेरी आत्मा? रसातल में?...एक पांडवों का मित्र है कृष्ण...” (कोहली, महासमर 7,306)

‘भृत्हरि ने अपने नीतिशतक में उसी व्यक्ति को मित्र की संज्ञा से विभूषित किया है, जो पाप से हटाये, हित में लगाये, गुह्य बात को छिपा रखे और गुणों को प्रकट करे तथा आपातकाल में साथ न छोड़े और आवश्यकता के समय धन भी दे।’— “पापान्निवार्यन्ति योजयते हिताय। गुह्य निगुहती गुणान प्रकटी करोति।

आपद्रतं च न जहति ददाति काले, सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति संतः।। (भृत्हरि, नीतिशतक 66) कितना आश्चर्य है कि अपने को शास्त्र ज्ञाता कहने वाला कर्ण ये सब नहीं समझता था।

सच्चे मित्र जीवन में वास्तविक आनंद के द्योतक होते हैं। वे चाहें तो मित्र को सत्य राह पर चलने में सहायक हों सकते हैं और चाहें तो पतन के गर्त में डिगा दें। कुछ दिन पूर्व एक समाचार पत्र में लेख पढ़ते हुए मित्र की सच्ची परिभाषा मूर्त रूप में दृष्टिगत हुई। लेख का शीर्षक था- “हमारे अच्छे दोस्त जीवन में चमत्कार कर सकते हैं”, लेखक लिखते हैं, ‘सोमवार की सुबह मैं न्यूयार्क टाइम्स में 32 साल की सुनयना की कहानी पढ़ रहा था, जिसके पति श्रीनिवास कुचिभोलता की अमेरिका के एक बार में इसी साल 22 फरवरी को हेट क्राइम में गोली मारकर हत्या कर दी गयी थी। (निकट भूत में इस प्रकार की घटनाएँ अमेरिका में होती रही हैं )

श्रीनिवास के हैदराबाद में संस्कार के बाद सुनयना मई में अमेरिका लौटी। लेकिन अपने पति के बिना, लगभग दो महीने अपने घर जाने की हिम्मत नहीं जुटा पायी, और अपने दोस्तों के घर रही। हमेशा अपनी निजता को प्राथमिकता देने वाली उसकी एक दोस्त ने अपनी निजता की प्राथमिकता छोड़ कर उसे अपने साथ रखा ताकि वह हिम्मत जुटा सके और एक दिन अपने घर लौट सके।' ... एक और उदाहरण देते हुए वे आगे लिखते हैं कि इस कहानी ने मुझे, 'हमारे परिवार की 81 साल की कल्याणी की याद दिला दी। 3 साल पहले उन्हें सेरिब्रल एन्जुरिज्म हो गया था। 5 महीने वो अस्पताल में रही। वहां से आने के बाद उन्हें खाने पीने सहित हर काम के लिए सहायक की जरूरत पड़ती है। 6 महीने बाद एक पारिवारिक मित्र ने कहा कि वह अपनी 91 वर्षीय माँ सीतालक्ष्मी को लेकर आएगा। क्योंकि दोनों में उम्र के 10 वर्ष के अंतर के बाद भी अच्छी केमिस्ट्री थी।'... '91 साल की महिला के कूबड़ निकल आया है और 81 साल की महिला बिस्तर पर है। सीतालक्ष्मी को नहीं पता था कि कल्याणी अस्पताल रह कर आई है। मिलने पर वह उसे गाँव की कहानियां सुनाने लगी। जब उसे बताया गया कि वह बीमार होकर अस्पताल रही है। तो उन्होंने रुकने का फैसला किया। उन्होंने कल्याणी की बहु से वो खाने को बनाने को कहा जो दोनों सखियों को युवावस्था में बहुत पसंद था। जब भोजन परोसा गया, तो सीतालक्ष्मी ने एक ही बात कही कि आओ अपने हाथ धो लो मेरे साथ बैठकर खाओ। कल्याणी ने सभी को चकित करते हुए, थोड़ी सी मदद से उठकर हाथ धोकर अपना भोजन खुद किया। और फिर एक हफ्ते के अन्दर ही दोनों सखियाँ एक विवाह समारोह में साथ बैठे हंस-मुस्कुरा रही थी। मंदिर भी जा रही थी। जैसे 5 साल के दो बच्चे हाथ थामे बागीचे में टहल रहे हों। निशब्द हूँ, यह नहीं बता सकता कि अच्छे दोस्त एक दूसरे के लिए क्या कर सकते हैं।' (रघुरामान 6)

कुंती कर्ण से संवाद कर के समझ जाती है कि उसकी आत्मा दुर्योधन की दासी है। उस की निष्ठा को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। उसकी सुविधाएँ और स्वार्थ उसकी मैत्री द्वारा दिए गये हैं जिनका त्याग उससे नहीं होगा। कितना दास है

व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं का। कौन छोड़ ही पाता है अपनी सुविधाएँ, जिनका मूल्य उसकी तेजस्विता और सात्विकता भी हो सकते हैं। लेकिन जब होश आता है तो कितनी देर हो चुकी होती है ? अपनी जीवन पद्धति को समय रहते ही सुधारने का अवसर मिलने पर व्यक्ति को तुरंत सचेत हो जाना चाहिए। कर्ण अपनी वास्तविकता जानने के बाद उद्दिन है किन्तु अब उसके वश में कुछ नहीं। दुर्योधन से बात करते हुए वह कहता है, “जीवन में न जाने कब किसकी आँख खुल जाए और उस की समझ में आये कि उसने जब अपने जीवन की दिशा निश्चित की थी, तब वह कितना अज्ञानी था। पर जीवन जी चुकने के पश्चात् न तो अपनी की जा चुकी यात्रा में संशोधन किया जा सकता है, न उसे फिर से आरम्भ किया जा सकता है।”... (कोहली, महासमर 7,314)

कहावत है न ‘अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत।’ कितनी दयनीय स्थिति बना लेता है, व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं में फंस कर।

## मानवतावादी साम्यवाद एवं समाजवाद

इसी सन्दर्भ में, एक प्रकरण में, एकचक्रा नगरी में कुंती भी गुरुपत्नी को चरित्र और अच्छे विचारों का महत्व समझाती हुए कहती हैं, “जो लोग पद और अधिकार को ही सब कुछ मानते हैं, वे जीवन के सात्विक गुणों का महत्व समझ नहीं पाते। ” (कोहली, महासमर 3,99)

एक अन्य भिन्न मानव चरित्र का परिचय देता हुआ, एक पात्र युयुत्सु है जो सम्बन्ध से दुर्योधन का भाई है परन्तु जो इस द्वन्द में है कि कैसे वह अधर्म अर्थात् दुर्योधन का साथ देने से अपने को पृथक कर सके। उसकी चिंता है कि, “देखना है कि सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण है अथवा धर्म।” अपनी माँ से वार्ता करते हुए कहता है, “भाई का समर्थन तो कोई करे, पर पाप का समर्थन कोई कैसे करे।”.....जानता हूँ, कोई मेरा विश्वास नहीं करेगा, किन्तु मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं, न्याय के लिए जीना चाहता हूँ। सुविधा पूर्ण चाहे न हो, किन्तु मैं स्वच्छ जीवन जीना चाहता हूँ।”

(कैसी तुलना है कर्ण और युयुत्सु की?.....माँ के विरोध और विभीषण का उदाहरण और उलाहना देने पर उसका कथन है, “मैं विभीषण को तनिक भी दोषी नहीं मानता। उसने धर्म का मार्ग चुना।”.....व्यक्ति को सत्य के लिए जीना चाहिए माँ, सम्बन्धियों के लिए नहीं।” (महासमर 7,290,291)

महासमर पात्रों के माध्यम से ऐसी कथा बुनता जाता है कि पौराणिकता के साथ-साथ आज के परिदृश्य भी आँखों के समक्ष तैरने लगते हैं। क्या आज भी व्यक्ति इसी प्रकार नहीं सोचते ? क्या आज भी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा कभी उसके परिवार, कभी उसके समाज के विघटन का कारण नहीं बन जाती !

एक ओर भीष्म का मोह है, उनकी सिंहासन-निष्ठा है और दूसरी ओर युयुत्सु का संबंधों से परे धर्म और न्याय के प्रति निष्ठा ! किसे बड़ा कहें ! यह वर्तमान की ज्वलंत समस्या नहीं है क्या? राज्याधिकारी कितनी महत्वाकांक्षाओं के चलते मोह ग्रस्त होकर अपने परिवार के ही योग्य अथवा अयोग्य व्यक्तियों को ही राजनीति की विरासतें देते हुए समाज को अविश्वास सौंपते जा रहे हैं।

महासमर में टूटते परिवार की गाथा आज के परिवार की गाथा से कहाँ भिन्न है। आज के परिवार भी तो विघटन के कगार पर हैं। यदि भीष्म अपने माता पिता द्वारा पोषित नहीं हो पाये तो आज की माताएं और पिताओं को भी कहाँ अवकाश है, संतान की पालना का ? प्रत्येक प्राणी स्वयं को स्वतंत्र समझता हुआ किसी अन्य के बारे में विचार ही नहीं करता। पुत्र विवाह के पश्चात् माता पिता के उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते हैं। माता अपने पुत्र के मोह से ग्रस्त होकर उन्हें अपने से पृथक् नहीं करना चाहती। पुत्रवधू के प्रति विरोध है। पुत्र-वधु शवसुर कुल के साथ नहीं रहना चाहती। आज यदि अखबार उठाये तो इस प्रकार के मुकदमों से पूरा स्थान भरा हुआ होता है। घर-घर में इसी कथा का वाचन- श्रवण हो रहा है।

महासमर में एक पात्र है समंग और उसकी पत्नी चपला। उसकी पुत्रवधू व् उसका पति दोनों (अर्थात् उसका बेटा) हस्तिनापुर की चकाचौंध में अपने जीवन की संभावनाओं को खोजने चले जाते हैं। चपला अपने पुत्र मोह में इस विषय को

लेकर कुंती के पास आती है। उसके पुत्र और उसके प्रति मोह के विषय में सुनकर वह उसे कहती है कि इतने मोह की अब व्यस्क पुत्र के प्रति आवश्यकता नहीं। समय के साथ व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं का भान होना ही चाहिए। कुंती के अनुसार, “ईश्वर ने इस परिवर्तनशील संसार में बहुत सारे भाव और बहुत सारे पदार्थ बनाये हैं, और उन सबकी आवश्यकता भी है; किन्तु इतनी बुद्धि भी मनुष्य को दी है कि वह निर्णय कर सके कि उसे किसका उपयोग कब करना है; और कब तक करना है।”...कुंती आगे कहती हैं, “हमारा जीवन एक धारा के समान है। अपने उदगम से ले कर अपने संगम तक की यात्रा की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होतीं। यात्रा का प्रत्येक पड़ाव एक नई चुनौती ले कर आता है, और हमारे कर्तव्य परिवर्तित होते रहते हैं। सम्बन्ध बदलते रहते हैं। जीवन का रूप बदलता रहता है। हमें इस परिवर्तन को स्वीकार करना चाहिए और स्वयं को उसके अनुरूप ढालना चाहिए, न स्वयं विक्षिप्त होना चाहिए, न किसी और को विक्षिप्त करना चाहिए।” आगे चपला को समझाते हुए कुंती परामर्श देती हैं, “तुम अपना स्वतंत्र और आत्मनिर्भर जीवन जियो चपला ! पराश्रित जीवन क्यों जीना चाहती हो ? लोगों को उनके बन्धनों से मुक्त करने का काम करो, उन्हें बांधने का संकल्प क्यों कर रही हो?”.....“तुमने अपनी संतान के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण किया। अब अपना विकास करो। अपना वह जीवन जियो, जो तुम बच्चों के पालन पोषण के दायित्व के कारण अब तक जी नहीं सकी थी। हम अपनी संतान को समर्थ इसलिए नहीं बनाते कि अपने मोह के बन्धनों में उनको बांध कर उनके सामर्थ्य को कुंठित करेंगे।” (कोहली, महासमर 6,209,210)

जीवन के कई पड़ाव हैं, मानव उस पर चलते चलते कई तरह के अनुभव प्राप्त करता है। कभी अनुकूल कभी प्रतिकूल। कभी समाज सापेक्ष कभी समाज निरपेक्ष। कहीं ये कल्याण का कारण बन जाते हैं और कभी कुछ एक स्वार्थी हाथों में पड़कर समाज के बहुसंख्यक जनों को तकलीफ देते हैं। जिस सौहार्द की बात हमारा भारतीय मानस और इतिहास करता है। उसको कभी कभी खोजना कठिन हो जाता है। कभी जातिगत समस्याएं कभी परिवारगत समस्याएं और कभी

व्यक्तिगत अन्य प्रतिकूलताएं मानव को तनाव और चिंताओं से मुक्त नहीं होने देती। आज जहाँ भी देखो विवाह और उससे सम्बंधित समस्याओं के कारण परिवार टूटने की कगार पर खड़े हैं। और शिकायत में वधु पक्ष एक ही बात कहता है, वर पक्ष द्वारा गैरकानूनी तरीके से दहेज की मांग का। यद्यपि संविधान द्वारा दहेज देना और लेना दोनों ही अपराध की श्रेणी में रखे हैं। लेकिन देने के उपरांत भी कन्या पक्ष को कानून की ओर से कुछ सहानुभूति मिलती है। विचारणीय है कि यदि देना और लेना अपराध है तो देने वाले को पहले सजा क्यों नहीं ? और फिर लेने वाले और देने वाले के बीच भेद भाव क्यों ? हमारे कानून व्यवस्था में भी कुछ कमी है जिससे समाज में यह कुरीति अपना वर्चस्व तिरोहित नहीं होने दे रही। और फिर ऐसी स्थिति में होते हैं मन मुटाव तथा लम्बे मुकदमों। जिनसे स्पष्ट रूप से वर और कन्या के साथ साथ उनके परिवार के सदस्यों को भी बहुत प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलना पड़ता है। अजीब त्रासदी है। कैसे रिवाज हैं और कैसे आग्रह ? और समाज इन्हें क्यों मानने पर विवश है ? यह जानते बूझते कोई और शायद समझना नहीं चाहता।

कथा में एक घटना में पितामह भीष्म मद्रदेश जाते हैं। पांडू के लिए माद्री का रिश्ता लेकर। वहां मद्रराज शल्य से उनकी बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व एवं यौतुक (दहेज) के विषय में गहरी और लम्बी वार्ता होती है। यहाँ भीष्म और शल्य अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार इस विषय पर सारगर्भित विश्लेषणात्मक विवेचन करते हैं। भीष्म शल्य के पूछने पर कि क्या उनके कुल में बहुपतित्व प्रथा प्रचलित है ? वे मना करते हैं। क्योंकि उनका कुल पितृसत्तात्मक होने की वजह से बहुपत्नीत्व को तो मान्यता देता है, किन्तु बहुपतित्व को नहीं। यद्यपि वो इस बात का अनुमोदन करते हैं कि पांचाल में इस प्रकार की प्रथा है। शल्य जानना चाहता है कि क्या उस प्रथा का असर उनके राष्ट्र पर पड़ेगा तो भीष्म मना कर देते हैं। यहाँ साथ लगने वाले राष्ट्र की परम्परा का प्रभाव अपने राज्य पर पड़ने का प्रश्न पूछा जा रहा है। ज्ञातव्य हो हम इतने वर्षों के पश्चात् भी अंग्रेजी मोह और उसकी परम्पराओं की दास मानसिकता को नहीं छोड़ पा रहे, बल्कि उसमें लिप्त रहने में अपना मान

समझते हैं। उदाहरण के लिए, हिंदी रजतपट की किसी अभिनेत्री अथवा अभिनेता का दूरदर्शन पर साक्षात्कार बहुत हास्यास्पद लगता है, जब वे कहते हैं, 'मैं ज्यादा हिंदी फिल्मों नहीं देखता/देखती।' और तो और सारा साक्षात्कार अंग्रेजी में ही होता है। अजीब विडम्बना है, उनकी आजीविका और धन धान्य हिंदी फिल्मों के बल बूते पर है और वो हिंदी बोलने में शर्म महसूस करते हैं। ऐसी परिस्थिति तभी हो सकती है, यदि व्यक्ति का मनोबल क्षीण हो, किन्तु भीष्म अपनी परम्पराओं पर विश्वास रखते हुए अन्यतम प्रभाव का विरोध करते हैं। काश आज के मानव का मनोबल भी इतना सदृढ़ हो कि वह स्वयं और अपनी संस्कृति पर भरोसा, विश्वास और गर्व कर सके।

अब शल्य यौतुक की समस्या पर आता है और कहता है कि उनके कुल में कन्या के विवाह के अवसर पर शुल्क लेने की परम्परा है। परन्तु भीष्म इस को अच्छी परम्परा न कह कर उसका विरोध सा करते हैं। परन्तु शल्य कहता है कि वह उस परम्परा पर तर्क नहीं परन्तु उसका निर्वाह करेगा। बहुत से सुधिजन आज तक ऐसे ही हैं, जो किसी भी रीति अथवा परम्परा को क्योंकि वो दीर्घ समय से निभती आ रही है, उसका निर्वाह करते जाते हैं और उस पर विचार करना नहीं चाहते। भीष्म कहते हैं कि तत्कालीन समय में सम्पूर्ण आर्यावृत में अधिकांश रूप से स्वयम्बर की प्रथा चल पड़ी है और राजा अपनी कन्या के विवाह अवसर पर कन्या के साथ बहुत सा यौतुक दे कर विदा करते हैं। इस शुल्क लेने की परम्परा के चलते मद्र को लोग हीन दृष्टि से देखते हैं। किन्तु शल्य इन बातों के प्रभाव में न आकर अपनी परम्परा का ही निर्वाह करना अधिक उत्तम मानते हैं। भीष्म एक और तर्क रखते हैं कि ऐसे क्रय की गयी वधु अथवा दासी में कोई अंतर नहीं रह जाता ! परन्तु शल्य अपने पुरखों द्वारा चलाई परम्परा का ही अनुमोदन करता है। भीष्म और शल्य के इस तर्क वितर्क में विषय यह उभर कर आता है कि शुल्क दे कर लायी गयी वधु को क्रीत-दासी समझा जाये अथवा यौतुक लेकर आई वधु का सम्मान हो। तथ्य यह है कि शल्य के अनुसार शुल्क दे कर आई हुई कन्या का सम्मान और यौतुक लेकर आई हुई कन्या का सम्मान प्रेम और विश्वास पर निर्भर

है या उसके साथ जुड़े धन पर ? विचारणीय प्रश्न है। ध्यान दें तो आज भी यह प्रश्न ज्वलंत है। दहेज़ लायी हुई कन्या का सम्मान अथवा न लायी हुई कन्या का ? जहाँ भीष्म इस विचार का समर्थन करते हैं कि यौतुक लाने से पतिकुल के धन समृद्धि में कन्या और उसके पितृ कुल का भी योगदान होगा और फलतः उसका अधिकार बढ़ता है। शल्य का तर्क है कि यदि यौतुक लाने से ही कन्या का सम्मान बढ़ता है तो यह पिपासा कभी नहीं समाप्त होगी उसका पति कुल सदैव इसकी बढ़ोतरी चाहता रहेगा। (अर्थात् सामयिक सन्दर्भों में अधिक दहेज़ की मांग), उसकी चाहना का अंत कभी नहीं होगा कि यह प्रवाह कभी रुके और यदि उस कन्या की मृत्यु हो जाये या यदि निष्कासन हो तो ऐसे समय और पत्नियाँ आती रहेंगी और यौतुक भी, समृद्धि बढ़ने का उपाय बना रहेगा। भीष्म मद्राज शल्य की दृढ़ता देखकर सोचते हैं कि वह मात्र एक अन्धविश्वासी होकर ही बात नहीं कर रहा, वह सोच समझ कर अपने पक्ष में तर्क दे रहा है। भीष्म एक और तर्क देते हैं कि यदि शुल्क ले कर कन्या को देते हैं तो उस पर उसके पितृकुल का अधिकार समाप्त हो जाता है। शल्य के पास भी अकाट्य तर्क है कि यौतुक लायी हुई कन्या पर ही पितृकुल का कितना अधिकार रह जाता है ? यौतुक लेने के पश्चात् भी तो दूसरी पत्नी लाने के लिए पुरुष स्वतंत्र है ! वास्तव में विचार में तथ्य इतना है कि समस्या केवल उस समाज की नहीं है। आज भी कुछ-कुछ रूप-रंग बदल कर समाज के सन्मुख ज्वलंत खड़ी है। और विवाह, दहेज़, परिवारिक सोहार्द, स्नेह, प्रेम आदि की बातें समस्याओं से जूझ रही हैं।

इस सारे प्रकरण में भीष्म जानते हैं कि, “तर्क उदार नहीं होता। वह संकीर्ण और संकुचित होता है। वह अपने विरोधी तर्कों के साथ समझौता नहीं करता। ... संवेदना उदार और व्यापक होती है। किन्तु सामाजिक समस्याओं का समाधान तो तर्क से ही होगा।” (कोहली, महासमर 1,335)

यहाँ दोनों महानुभाव ये विचार कर के इस तर्क पर आते हैं कि दोनों ही अर्थात् शुल्क ले कर अथवा यौतुक दे कर प्राप्त वधु का अंश पिता और शवसुर कुल की संपत्ति में है, जो उसे अपना परिवार बनाने के समय मिलता है, अब उस



के सम्मान की रक्षा किसका दायित्व होगा, पितृकुल का या श्वसुर कुल का ! यह विचारणीय है। इस विषय में शल्य द्वारा दिए तर्क आज के समय में भी उतने ही प्रासंगिक हैं, “उसके पति का दायित्व है, यदि वो न करे तो समाज का। प्रश्न ये नहीं है कि वधु यौतुक लेकर आई है या शुल्क देकर—वह उस परिवार और समाज की सदस्या है—उसके भरण—पोषण, रक्षा और सम्मान के लिए उसका परिवार उत्तरदायी है; और यदि परिवार अपना दायित्व पूर्ण नहीं करता, तो यह समाज का कर्तव्य हो जाता है। परिवार उस समाज का अंग है, इसलिए समाज का दायित्व है कि वह उस परिवार का अनुशासन करे।” (कोहली, महासमर 1,338 )

भीष्म इस तथ्य का अनुमोदन करते हैं, उनके अनुसार, ‘वस्तुतः समाज का गठन ही इसलिए किया गया है कि मनुष्य, मनुष्य का शोषण न करे, उस पर घात न करे, उसका अपमान न करे। इसीलिए किसी भी अन्याय और अनाचार का विरोध, न तो एक व्यक्ति का दायित्व है, न एक परिवार का। यह तो सम्पूर्ण समाज का दायित्व है। पुत्री किसी की भी हो, वधु भी किसी की हो—किन्तु यह समाज का ही दायित्व है कि वह देखे कि कोई शोषित न हो, असुरक्षित न हो, अपमानित न हो।’

समाज में ऐसे संस्कार हो जिन्हें परिवार के जिम्मेदार गृह स्वामी अपनी आने वाली पीढ़ी को दें जिस से वह समाज के कल्याणकारी रूप को निर्मित करने में सदैव सहयोग करे। अन्यथा द्रौपदी का सम्मान और चीर किसी भी जगह सुरक्षित नहीं। हम सब जानते हैं कि वर्तमान में निर्भया काण्ड जैसे अपराधिक वृत्ति वाले दोषी नकाब पहन कर समाज में छद्म रूप में यहाँ वहाँ विचरते हुए दीखते कोई न कोई काण्ड करते रहते हैं। इस समस्या को हलके में न लेकर बेहद संजीदगी से समाज के बुद्ध जनों को विचारना होगा। जिससे आने वाली संततियाँ अपना जीवन सुरक्षात्मक रूप से व्यतीत कर सकें बल्कि अपना दायित्व भी जिम्मेदारी से निभा सकें न कि ऐसा सोचे कि, ‘हमें क्या ?’

व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसका विकास यह ऐसे विषय हैं जो समाज को यदि समझ आयें, तो वह बहुत सी समस्याओं से मुक्ति पा सकता है। अकूर के हस्तिनापुर आने पर जब पांडव उनसे कृष्ण के विषय में प्रश्न करते हैं तो वह कहते हैं, “कृष्ण के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बहुत महत्व है—किन्तु वहीं तक, जहाँ तक वह सामाजिक हित की विरोधी नहीं हो जाती। वह यदि कुछ चाहता है तो मात्र इतना ही, मानवीय उत्पीड़न और अत्याचार समाप्त हो और प्रकृति के साथ मैत्री कर, मनुष्य सुख और चैन से जी सके।”..... (कोहली, महासमर 2,329)

ऐसे समाज की संकल्पना ही तो उत्तम समाज की रचना करेंगी।

युवराज के रूप में हस्तिनापुर की राजसभा में युधिष्ठिर मदिरा और धूत के बारे में नीति निर्धारण सम्बन्धी अपने विचार रखते हैं, “यदि हम दूषित वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगायेंगे और मनुष्य की सदृशियों को प्रेरित करेंगे, तो कोई कारण नहीं है कि मानव का विकास न हो।”....वह आगे राज्य की समृद्धि और राज्य द्वारा धनोपार्जन के विषय में कहते हैं, “यह धन यदि हम प्रजा को दुष्प्रेरित कर प्राप्त करते हैं, तो न तो इससे प्रजा का कल्याण है, न राज्य का और न राजा का। धनोपार्जन भी धर्म के माध्यम से होना चाहिए। धर्म से शून्य धन केवल पाप को ही प्रोत्साहित करता है।” (कोहली, महासमर 3,22)

कितना उत्तम समाधान है सात्विक और सच्चे व्यक्ति और राज्य-समाज की रचना का।

तनिक वर्तमान के राज्य और राजनीतिज्ञों के विषय में सोच देखें। क्या उनको यह विचार कहीं उद्वेलित करता है ? या भ्रष्टाचार ही एकमात्र धन संकलन का मार्ग है ? महासमर केवल कल की बीती युग गाथा नहीं, हर एक क्षण का युद्ध आज भी व्यक्ति, समाज, राज्य लड़ रहा है। विदुर युधिष्ठिर को दुर्योधन द्वारा उपहार दे कर सभासदों को क्रय करने की वास्तविकता समझाते हुए कहते तो हैं, “प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का मूल्य स्वर्ण के तौल में भी होता है।..किसी का कम, किसी

का कुछ अधिक। स्वर्ण के मोह से मुक्त हुए लोग संसार में बहुत कम होते हैं। और जो होते हैं वे राजसभाओं में उपस्थित नहीं होते।” (कोहली, महासमर 3,29)

ऐसा ही तो है आज के समाज में। सात्विक व्यक्ति दूषित राजनीति और दुर्भावनापूर्ण समुदायों से दूर ही रहना चाहते हैं। कहाँ देख पाते हैं हम उत्तम चरित्र से परिपूर्ण नेतृत्व। भीष्म भी तो जो कह रहे हैं वह आज का ही चित्रण नहीं लगता, “अब वह समय तो रहा नहीं कि किसी दोषी को उसका दोष बताया जाये तो वह उसे स्वीकार कर लज्जित हो, अपने आचरण को सुधारे। वे तो अपना रोष जताते हैं कि उनको अपराधों से रोका क्यों जा रहा है। अपने दूषित कृत्यों के लिए लोग तर्क करते हैं। उसे अपना अधिकार मानते हैं।” भीष्म सोचते हैं कि सात्विकता, शुद्धता और तपस्या को मूर्खता मानने लगे हैं ये लोग। भोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है—कोई यह सोचना ही नहीं चाहता कि जीवन क्या है? इसका लक्ष्य क्या है? जिसके पास जितना धन है, उसकी तृष्णा उतनी ही अधिक है। सभी जैसे धृतराष्ट्र की तरह दृष्टिहीन होकर भोग की ओर भाग रहे हैं।’ (कोहली, महासमर 3,31) ऐसा नहीं लग रहा जैसे हम उपरोक्त विवरण आज के समाचारपत्र के किसी कालम में पढ़ रहे हैं, अथवा दूर दर्शन का कोई अपराधिक कार्यक्रम देख रहे हैं।

इस प्रकार की प्रवृत्ति के लोग इस बात को नहीं समझते कि किस काम को किया जाना उत्तम है और किस काम का किया जाना अकल्याणकारी। जैसा गीता में कहा गया है —“प्रवृत्तिम च निवृत्तिम च जना विदुरासुराः॥ (गीता -16.7 )

आसुरी प्रवृत्ति के लोग काम की महत्ता नहीं जानते कि किस में प्रवृत्त और किस में निवृत्त होना है।

न शौच नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते । (7)

इनमे पवित्रता, शुद्ध आचरण और सत्यवादिता नहीं होती।

असत्यम प्रिष्टम ते जगदाहरनीश्वरम ।

अप्रस्पर्सम्भुतम किमन्त्रत काम्हेतुकम ॥ (8)

यह जगत असत्य, निराधार है। यहाँ कोई ईश्वर नहीं है। बिना किसी परस्पर सम्बन्ध के ऐसे ही इस जगत की उत्पत्ति हुई है इसीलिए विषयोभोग के बिना इसका कोई प्रयोजन भी नहीं है।

एतां द्रष्टिमवष्टभ्य नशतत्मानो अल्पबुद्ध्यः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माण क्षयाय जगतोहिताः ॥ (9)

ऐसे दृष्टिकोण वाले मंदमति और क्रूरकर्मा लोग संसार का विनाश करने के लिए ही होते हैं।” (सरस्वती 452)

अपराध और दुश्चतियों का एक चेहरा दुर्योधन का है। भीष्म जानते हैं कि जिस कुरुकुल को उन्होंने अभी तक संभाला है, उसका अहित उसके कुल के ही लोग कर देंगे। वे देख रहे हैं कि, “दुर्योधन न अपना हित समझता है, न अपने कुल और राज्य का। उपदेश, तर्क, परामर्श, आदेश ..कुछ भी तो उस पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। वह केवल अपना स्वार्थ जानता है। पर क्या स्वार्थ भी जानता है ? अपना स्वार्थ तो अपने हित में ही होना चाहिए; किन्तु दुर्योधन के सन्दर्भ में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि वह केवल अपने स्वार्थ को जानता है अपने हित को नहीं।..रोगी मन है एकदम। न तो दूसरों को सुख देकर सुखी होना जानता है, न दूसरों के साथ सुखी होना। सुखी होना चाहता है, दूसरों को दुःख दे कर।”... (कोहली, महासमर 6,121)

ऐसे अधिकारियों के हाथ में समाज एवं राज्य की बागडोर किस विश्वास पर दी जा सकती है ?

गीता ने इस संसार में दैवीय और आसुरीय मनोवृत्तियों वाले दो प्रकार के प्राणियों के सर्जन का निरूपण किया है—“द्वो भूत सर्गो लोकेस्मिन्दैव आसुर एव च।” (गीता, 16-6) आसुरीय प्रवृत्ति वाले लोग उर्जस्वी तो होते हैं किन्तु वे अत्यंत अहंकारी, न्रशंस एवं नैतिक धर्म-भीरुता- विहीन होते हैं। उनका मन अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से दूषित रहने के कारण अशांत रहता है। इसी वृत्ति के द्योतक दुर्योधन है -

“अहंकार अति दुखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नेहरुआ ।

तृसना उदरवृद्धि अति भारी । त्रिविध ईषना तरुन्तिजारी ।

जुग बिधि ज्वर मत्सर अविवेका । कहं लगि कहों कुरोग अनेक । ”

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड121, दो.35-37)

इसी तथ्य का अनुमोदन चरणदास शर्मा भी अपनी पुस्तक तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य में करते हैं - “अतः अन्तकरण का संसार मनुष्य की प्रवृत्तियों का दर्पण है।” (शर्मा 161)

समाज की कल्याणकारी संकल्पना के लिए पितामाह भीष्म दुर्योधन को सात्विकता और पाशविकता का अंतर बताते हुए विकास की और बढ़ने का गुरु मंत्र देना चाहते हैं, “हमें एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान तक पहुंचना है, तो हमें अपने गंतव्य की ओर चलना पड़ेगा.....किन्तु हम उस दिशा में गतिशील रहें, ध्यान रखना होगा। हम शीघ्र अथवा विलम्ब से पहुँच ही जायेंगे।..किन्तु यदि हम अपना चलना बंद कर, उस गंतव्य की ओर बढ़ने वाले अन्य लोगों को रोकने के प्रयत्न में लग जायेंगे, तो बहुत संभव है कि वे लोग अपने गंतव्य पर कुछ विलम्ब से पहुंचे, किन्तु इतना ध्रुव निश्चित है कि हम अपने गंतव्य तक कभी नहीं पहुंचेंगे।” ..‘परमश्रेष्ठ बनने के लिए तुम्हें अपनी क्षमता का विकास करना चाहिए। जीवन में सदा दो दृष्टिकोण रहे हैं; एक है निर्माण का और दूसरा विध्वंस का। आत्म निर्माण करने वाले लोगों ने सदा सात्विक और सुखी जीवन जिया है।’.....‘प्रकृति ने इतने ग्रह बनाये हैं, सब अपनी अपनी कक्षा में ही चलते हैं और अपना गंतव्य खोजते हैं। कोई किसी दूसरे की कक्षा में जाकर उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करता।’ अन्यथा सर्वनाश की सम्भावना हो जाती है।

उपरोक्त संभाषण क्या आज की पीढ़ी के लिए भी अनिवार्य, उपयोगी और कल्याणकारी नहीं। समाज को अच्छे और सच्चे व्यक्तियों और सदाचरण करने वाले सात्विक लोगों की सदैव आवश्यकता होती है, जिनका संबल पाकर समाज अपने सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक रूप को पा सकें।

सात्विक समाज की रचना के लिए लोगों को प्रकृति के दोनों (दैवी और पाशविक) गुणों का तुलनात्मक विश्लेषण करना पड़ेगा। तथा दैवी प्रवृत्तियों के प्रति प्रवृत्त होने की चेष्टा करनी होगी। यह सत्य है कि प्रत्येक प्राणी सुख का अनुभव करना चाहता है। अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार किसी को धन में, किसी को पद में, किसी को परिवार में, किसी को सत्ता में, किसी को भोग विलास में, किसी को संपत्ति में, सुख का अनुभव होता है। सद्बुद्धि में अग्रणी पांडवों को भी सुख के वास्तविक अर्थ के लिए महामुनि व्यास से प्रश्न करना पड़ा। क्यों उनका मन भी अपनी असुविधाओं से परेशान और उद्वेलित हो गया ?

खांडवप्रस्थ में वेदव्यास पांडवों से मिलने आते हैं। युधिष्ठिर के हस्तिनापुर की कुशलता पूछने पर वह उन्हें कहते हैं कि युधिष्ठिर को निष्कासित करके कोई परिवार, समाज अथवा राज्य कुशल नहीं रह सकता। युधिष्ठिर खिन्न मन से कहते हैं कि जिनकी कुशलता का ध्यान रखने को परिवार में भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा विदुर बैठे हैं। वे क्यों अकुशल होंगे ? वेद व्यास कहते हैं कि, “तुम भूल गये वत्स! उनके साथ कृष्ण नहीं है।” भीम इन बातों को बौद्धिक विलास कहता हुआ प्रश्न करता है कि “दुर्योधन को राज्य मिला, धन संपत्ति मिली। सुख भोग, वैभव विलास मिला। सुख क्या इन सब से बाहर है? मुझे तो लगता है कि व्यक्ति पाप से ही सुखी हो सकता है। क्योंकि जीवन की सफलता तथा धन सम्पत्ति अधर्म पूर्वक अधिक सरलता से प्राप्त होती है, और सुख और सफलता का सम्बन्ध धन संपत्ति से ही है।” वेदव्यास कहते हैं, ‘अधिकांश लोग तुम्हारी तरह ही सोचते हैं, कदाचित सामान्य मानव के सोचने की यही पद्धति है।’ व्यास कुछ देर विचारने के पश्चात् भीम से पूछते हैं, “जीवन में अधिक सफल और सुखी मैं हूँ या दुर्योधन ?” भीम के स्वीकारने पर कि ‘आप हैं।’ व्यास उन्हें समझाते हुए आगे कहते हैं, “पर मेरे पास न तो धन सम्पत्ति है न वैभव विलास। जीवन में प्राप्तव्य केवल एक है ...मन की शुद्धता, आत्मा की निर्वाणता और भौतिक बन्धनों से मुक्ति।..प्रकृति के नियम बड़े विचित्र हैं पुत्र ! वह भ्रम को प्रोत्साहित करती है, माया का प्रपंच रचती है। मनुष्य सोचता है कि वह अपने लिए सुख संचित कर रहा है, जबकि वह अपने लिए अनंत यातना का सृजन कर रहा होता है।” .....“तुम सुखी हो क्योंकि तुमने अधर्म

का पक्ष नहीं लिया, तुम सुखी हो क्योंकि तुम में आसक्ति नहीं है ..अहंकार नहीं है।.....और दुर्योधन..इस जीवन में हस्तिनापुर की सारी संपत्ति लेकर भी सुखी नहीं होगा। वह तुम्हारी उन्नति देखकर ईर्ष्या अग्नि में जलता रहेगा।....सुख अर्जन में नहीं विसर्जन में है पुत्र।” (कोहली, महासमर 4,21)

कहने को उपरोक्त विचार अध्यात्मिक और धार्मिक से प्रतीत होते हैं परन्तु क्या मानव के जीवन का लक्ष्य अंततः सुख और समृद्धि द्वारा अपना विकास नहीं है ? क्या वह ऐसे समाज में नहीं रहना चाहता जहाँ उन्नति हो, वैभव हो, विकास की संभावनाएं हों। यही तथ्य तो महामुनि वेदव्यास ने अपना और दुर्योधन का उदाहरण देकर कही हैं। एक सात्विक व्यक्ति और उन्नत समाज के लिए यही उपाय और वृत्ति ही तो अपेक्षित है। हाँ ! यदि व्यक्ति समझे तो ! व्यक्ति को भूलना नहीं चाहिए कि हमारी संस्कृति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार चरणों पर टिकी है, तथा जितने व्यक्ति के आचरण और मूल्य सात्विक होंगे उतना ही समाज सात्विक होगा। यही तो चरम लक्ष्य है ! होना चाहिए !

## सामाजिक न्याय एवं दंड व्यवस्था

व्यक्ति को अपने समाज को समग्रता से एक सूत्र में बांधे रखने के लिए अपना और अन्यो का ध्यान रखना होगा। ऐसा कदाचित नहीं सोचना होगा कि ‘उसके साथ घटा, मुझे क्या !’ एक प्रचलित सा पंजाबी वाक्य है, ‘सानु की ?’ किन्तु नहीं। समाज ईकाइयों का ही समूह है। अर्थात् व्यक्तियों का ! कृष्ण यादवों के सन्दर्भ में कथा में कहते हैं, परन्तु वह वाक्य आज के सन्दर्भ में भी उतना ही प्रासंगिक है, “जो धर्म और न्याय के लिए नहीं लड़ते; स्वार्थ और लोभ के लिए लड़ते हैं। वे मानते हैं कि संसार में अनेक स्थानों पर अधर्म, अन्याय और अत्याचार होता रहता है। उन सबसे लड़ते रहना, हमारा ही दायित्व क्यों है।....वे यह भूल जाते हैं कि आज तो अन्याय बहुत दूर दिखाई देता है, रोका न जाये तो कल वह हमारे द्वार पर आ जायेगा।....प्रकृति अकर्मण्यता की कभी रक्षा नहीं करती।” (कोहली, महासमर 5,130)

कितना सही वक्तव्य है। समाज की एकता, अखंडता, पारस्परिक सोहार्द, और सामजस्य के हेतु, ऐसी सोच ही तो ग्राह्य है। समाज के प्रति अपने दायित्व को एक स्थान पर धर्मराज युधिष्ठिर भी कहते हैं। कुबेर के उद्यान में भीम द्वारा उसके सैनिकों से विरोध और संघर्ष करने पर युधिष्ठिर उसे समझाते हैं, “तुम समर्थ हो, इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम दूसरों के अधिकारों का सम्मान नहीं करोगे। यदि सामर्थ्यवान लोग नियमों का सम्मान नहीं करेंगे, तो संसार की व्यवस्था कैसे चलेगी। असाधारण को भी संसार में साधारण के समान जीना सीखना चाहिए।” (कोहली, महासमर 5,281) ऐसा कहने वाला व्यक्ति युधिष्ठिर ही हो सकता है।

ऋग्वेद में भी इस तरह के पुरुष का इस प्रकार बखान किया गया है -

“न तं जिनन्ति बहवो न द्भ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत।

प्रियः सुक्रत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥

(ऋग्वेद 4/25/5)

अर्थात् उस पुरुष को बहुत से, अर्थात् हिंसक प्रवृत्ति के लोग, नहीं जीत सकते हैं। इसके लिए प्रकृति और परमेश्वर उसे बहुत सुख देते हैं। जिसे ऐश्वर्य संपन्न होकर भी शुभ कर्म अच्छे लगते हैं। जो चिंतनशील है, दूसरों की रक्षा अपना कर्तव्य समझता है और सोम का रक्षण जिसे प्रिय है। ‘प्रियः सुप्रावीः’—अर्थात् जो विषयों से अपनी रक्षा करते हैं और दूसरों के सुख—दुःख को अपना मान उनके दुखों को मिटाने का प्रयास करते हैं, वे सबके प्रिय बन जाते हैं। जो निर्बलों के रक्षक हैं उनसे वैर या द्वेष कौन करेगा ? उनके संपर्क में रहने वाले अन्य प्राणी भी कुछ सीमा तक आपस में वैरभाव का त्याग करते देखे गये हैं। जब सेवा द्वारा हिंसक प्राणी भी वशीभूत हो जाते हैं तो फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

तुलसीदास भी कहते हैं कि लोक-व्यवहार सम्बन्धी नीति में एक अंग करुणा है जिसका सम्बन्ध समाज के उन व्यक्तियों के साथ है जो अधिक समृद्धिशाली, प्रतापी तथा गुण-संपन्न होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को चाहिए कि वे समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ करुणापूर्ण व्यवहार रखें। ‘साधवो दी वत्सला’ की उक्ति



भी इस गुण की और संकेत करती है। चरणदास शर्मा तुलसी काव्य में नैतिक मूल्य में इसी गुण की वेदों के सन्दर्भ में उल्लेखना करते हैं। राम के इसी करुणापूर्ण गुण के कारण ही वेदों ने भी उसकी प्रशंसा इस प्रकार की है :-

“जे नाथ करि करुना बिलोकि त्रिविध दुःख ते निर्बहे । ” (शर्मा 211)

किन्तु दुर्योधन जैसे व्यक्तियों की कोई कमी नहीं। साधारण जीवन जीने वाले व्यक्ति ही आजकल स्वयं को साधारण नहीं समझते तो आसाधारण व्यक्ति कैसे इतना त्याग करेंगे। ज्ञातव्य हो कुछ समय पहले वर्तमान प्रधान मंत्री ने राज्याधिकारियों की कारों से लाल बत्ती हटाने का नियम बना दिया। नियम के अंतर्गत सब इसे मानने को बाध्य तो थे पर कितनों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया ? यह प्रश्न ही है ! और तो और, आज के राजनैतिक अधिकारियों के परिवार भी अपने आप को आसाधारण साबित करने पर तुले हैं। अनुचित और अनाधिकार सुविधाओं का प्रयोग करके साधारण तबके को धमकाते हैं। ऐसे में धर्मराज युधिष्ठिर का उपर्युक्त वक्तव्य कितना सर्वग्राही हो। ऐसे ही मनुष्य समाज को सात्विकता और उत्तमता प्रदान करते हैं। तभी तो जब चित्रसेन वनवास करते पांडवों की रक्षा के लिए दुर्योधन और उसकी सेना से द्वैतवन में युद्ध करता है तो उसका उद्देश्य है कि, ‘संसार में युधिष्ठिर जैसे लोग भी हैं, जिन्हें मानव के मूलभूत गुणों पर इतना अधिक विश्वास है कि वे कल्पना भी नहीं कर सकते, कि दुर्योधन अथवा कोई भी मनुष्य इतनी नीचता भी कर सकता था।...अतः उसके अनुसार, ‘मानवता के लिए, नैतिकता के लिए और धर्म के लिए पांडवों का जीवन कितना आवश्यक था।’ चित्रसेन के अनुसार ये पांडव ही पूर्व में अपने आसपास के सभी राज्यों की रक्षा करते थे। और निश्चित रूप से आने वाले समय में भी ये लोग ही पुनः शक्तिशाली होकर न्याय का पक्ष लेते हुए धर्म और सृष्टि की रक्षा का उत्तरदायित्व निभायेंगे। ऐसे में अपना दायित्व समझते हुए चित्रसेन विचार करता है कि, “निकट भविष्य में जब ये सब अधर्मी राजा सारी पृथ्वी पर रक्त का तांडव करेंगे, तो गन्धर्वों को भी अपनी रक्षा के लिए; युधिष्ठिर और उसके भाइयों की

आवश्यकता पड़ेगी।..कोई अपने रक्षकों की रक्षा नहीं करेगा, तो समय पर उसकी अपनी रक्षा कैसे होगी।” (कोहली, महासमर 6,59)

कितना वास्तविक विचार है और कितनी संभावित स्थितियों की बात। जो आज किसी के साथ है। वह कल हमारे साथ क्यों और कैसे नहीं होगा ? क्या समाज इस सत्य को अनदेखा नहीं करता ? कल भी यही स्थिति थी और आज की स्थिति भी किसी तरह भिन्न नहीं है।

समाज में मुख्यतः दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—युधिष्ठिर जैसे, कुछ कम, कुछ ज्यादा। अथवा दुर्योधन जैसे, कुछ दीखते कुछ आवरण में लिपटे, छद्म रूप लिए हुए इनसे बचाव कितना और कैसे हो ? युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर, युधिष्ठिर पितामह भीष्म से अग्रपूजा के लिए पूछते हैं। अग्रपूजा के लिए व्यक्ति चुनाव के समय भीष्म राज समाज की ओर नज़र दौड़ाते हुए देखते हैं कि, ‘सब लोग अपनी अपनी तुच्छता के बोझ को कम करने के लिए, युधिष्ठिर को तुच्छ प्रमाणित कर के उससे सम्मान पाना चाहते हैं। ... युधिष्ठिर की अवमानना कर के ही, वे अपना सर ऊँचा उठा अनुभव कर सकते थे। ...ऐसे सर बहुत कम होते हैं, जो उन्नत सिरों के बीच में से उनके ऊपर दिखाई पड़े। अधिकांश को तो अपना उन्नत सर दिखाने के लिए अन्य लोगों के कम्बन्ध के ऊपर के अंश को काटना ही पड़ता है।’ (कोहली, महासमर 4,320)

विडम्बना है, कि वर्तमान समाज में भी ऐसे ही महानुभावों की भरमार है। भीष्म सोचते हैं कि, “प्रत्येक राजा अपने महत्व में फूला हुआ बैठा है। सब अपना अपना महत्व जानते हैं, दूसरों का महत्व कोई नहीं जानता, या जानना नहीं चाहता। अपना महत्व और दूसरे का दोष जानना कितना सरल है, किन्तु न किसी को अपना दोष दिखाई देता है न दूसरे का गुण।..जिसे देखो, उसी की आँखें, मुद्राएँ, भंगिमाएँ, हाव -भाव, सब अपने महत्व की घोषणा कर रहे हैं...हम महत्व पूर्ण हैं...हम सबसे महत्व पूर्ण हैं...।” (कोहली, महासमर 4,320)

समाज के श्याम पक्ष की विद्रूप स्थिति है न? कौन कहेगा कि यह केवल महाभारत काल का सत्य है, आज का सत्य भी इससे कहीं भिन्न नहीं वरन और अधिक कालिमा लिए हुए है। ऐसे लोगों की समाज में इतनी बहुतायत है कि अच्छे और सच्चे लोग सार्वजनिक परिदृश्य में आना ही नहीं चाहते। इस खामोशी से सारा समाज कलुषित वृत्तियों की ओर खिसकता जाता है।

राजसूय यज्ञ के बाद अग्रपूजा के समय होने वाले विवाद के समय शिशुपाल, श्रीकृष्ण, भीष्म और अन्य आदरणीय लोगों का भी अपमान करने लगता है, तो भीम तिलमिला कर पूछता है, “हम क्यों चाहते हैं कि जिसे गाली दी जाये वही उसका विरोध करे? शेष समाज क्यों न करे ? भद्र समाज चुप क्यों बैठा रहे।” भीष्म भी यही सोचते हैं कि, ‘इस प्रकार के सार्वजनिक अभद्र व्यवहार का प्रतिवाद, सार्वजनिक रूप से होना चाहिए। यदि सार्वजनिक विरोध नहीं होगा, तो प्रत्येक सबल व्यक्ति निर्बलों को एक-एक कर अपमानित करता रहेगा।’ (कोहली, महासमर 4,330)

आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि किसी भी व्यक्ति को यदि थोड़ा सा भी महत्व मिल जाता है तो वह स्वयं को महान समझने लगता है। भीष्म चेदिराज शिशुपाल से पूछते हैं, “व्यक्ति अपने पद से महान होता है अथवा प्रतिभा से ?....समाज में सबसे महत्वपूर्ण, सबसे पूज्य क्या राजा ही होता है ? क्या राजनीतिक सत्ता हमारे जीवन में इतनी महत्वपूर्ण हो गयी है ? क्या राजसत्ता मनुष्य की सारी दुर्बलताओं को धो कर, उसे महान बना देती है ? क्या राजाओं का व्यक्तित्व पूजनीय है ?” नारद भी इसी विषय में आगे कहते हैं, “जीव सत्ता या धन पाकर महान नहीं हो जाता। हमने एक से एक नीच राजा और धनाढ्य देखें हैं।” (कोहली, महासमर 4,331)

भारतीय चित्रपट व्यवसाय इस प्रकार के उद्देश्य की कई फिल्मों के द्वारा समाज के श्यामल रूप को दिखाता है। पिछले तीन वर्ष पहले एक फिल्म आई थी ‘अ वेडनेसडे’। फिल्म का पात्र आंतकवाद के विरोध में योजना बना के पुलिस को

डराता है जिससे वह आंतकवादियों को छोड़ने की बजाय उन्हें मृत्युदंड दे सके। लेकिन अंत में जब उससे पूछा जाता है कि वह कौन है तो स्वयं को एक आम आदमी कह कर परिचय देता है। बहुत महत्वपूर्ण संवाद पुलिस अधिकारी से बोलते हुए पूछता है पात्र कि, 'अभी तक मैं आपको बिना परिचय के डरा रहा था तो आप मुझे आंतकवादी समझ के डरे हुए थे अब जब आपको पता लग गया है कि, मैं एक आम आदमी हूँ तो मेरा कोई महत्व नहीं महसूस होता।'।

आज किसी असाधारण व्यक्ति की तो छोड़ें, साधारण व्यक्ति की भी स्थिति और मनोवृत्ति यह है कि यदि वह अपने घर में कोई पारिवारिक या सामाजिक आयोजन अथवा समारोह करता है तो सत्तानशील व्यक्तियों को बुलाता है। यदि वे आ जाते हैं तो गृह स्वामी अन्य लोगों पर अपना महत्व और रौब दिखाता है। राजसी ठाठ बाठ से ये राजनीतिक हस्तियाँ आकर दूसरों को उनकी तुच्छता का अहसास कराती हैं और अपने महत्व और वर्चस्व को प्रदर्शित करती हैं। सामान्य जन भी इसी मानसिकता के पीछे-पीछे, मानवता के उत्तम गुणों से भरे व्यक्ति और समाज की अवहेलना करता है। बहुत अजीब है ऐसा होना परन्तु आज के समाज में इतनी विदुपतायें हैं कि बिना महत्व प्रदर्शित किये कोई काम भी नहीं होता।

सत्ता का और पद का कितना महत्व स्वीकार कर लिया है व्यक्ति और समाज की मानसिकता ने। इसके उत्थान बल्कि पुनरुत्थान के लिए बुद्धिजीवी वर्ग को सामने आना ही होगा। और अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए समाज का उद्धार करते हुए पुनर्निर्माण करना ही होगा।

अगर मान लें यदि सात्विक लोग सत्ता में आ भी जाते हैं तो वह अपने सात्विक स्वभाव के अनुरूप कार्य करने के विपरीत वैसे ही कार्य करने लगते हैं। वसुदेव इस विषय में द्वारिका में पहुंचे अर्जुन को शासक वर्ग की वास्तविकता बताते हैं, "शासक चाहे बदल जाये, किन्तु शासन की रीति बड़ी कठिनाई से बदलती है। जिनका विरोध कर, जिनसे युद्ध कर, सत्ता छीनी जाती है, वे शासक, उनसे, उनकी शैली, उनकी रीति, उनका सोच विचार, उनकी भाषा और उनकी

अभिव्यक्ति, सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। अपनी रीति उनको शासकों की रीति ही नहीं लगती। वे स्वयं को पुराने शासकों के सांचे में ढाल लेते हैं।” (कोहली, महासमर 7,50)

शायद वे स्वयं में इतने खोखले होते हैं कि स्वयं के बल पर परिवर्तन लाने की हिंमत नहीं जुटा पाते। जैसे वसुदेव एक स्थान पर हैरान हैं कि “जो यादव बाहर से इतने शक्ति शाली, संगठित और एकजुट दिखाई दे रहे थे, भीतर से कितने खोखले थे वे लोग।” (महासमर 7,26)

अपने बल पर परिवर्तन लाने के लिए मनोबल के साथ आत्म विश्वास और सत्य का बल होना बहुत आवश्यक है। जो अधिकांश लोगो में दीखता तो है। किन्तु वास्तव में होता नहीं। एकल व्यक्ति आज डरता है, वह इस सामाजिक विडम्बना को जानता है कि ‘धर्म के नाम पर चलने वाला क्रमशः असंग होता जाता है और सर्वथा अकेला हो जाता है।’ (कोहली, महासमर 5,361) और कोई भी एकाकी होने के भय से सात्विकता से दूर होता जाता है।

व्यक्ति और समाज के निर्माण में शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। किसी भी क्षेत्र में शिक्षित व्यक्ति अथवा शिक्षित समाज का बहुत योगदान रहता है। परन्तु शिक्षा की भूमिका वहीं सफल है जहाँ उसके सिद्धान्तिक रूप को क्रियात्मक रूप में परिवर्तित किया जाए। किन्तु वर्तमान में शिक्षा का केवल एकाकी उद्देश्य धन कमाना रह गया है। देवव्रत सरस्वती ने अपनी समीक्षा वेदस्वाध्याय में मैथिलिशरण गुप्त का भारत भारती कविता का एक उदाहरण दिया है। मैथिलीशरण गुप्त भारत भारती में कहते हैं,

“अब नौकरी ही के लिए विद्या पढ़ी जाती यहाँ,  
बी. ए न हों हम तो भला डिप्टीगिरी रखी कहाँ।  
किस स्वर्ग का सोपान है तू हाय डिप्टीगिरी,  
सीमा समुन्नति की हमारी चित्त में तू ही भरी।।”

(भारत भारती) (सरस्वती 295)।

कितना अचूक विवरण है आधुनिक सोच का, वर्तमान मानसिकता का !

यद्यपि समाज अथवा समष्टि के सन्दर्भ में विचारें तो आर्यसमाज का यह नियम -“प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।” शिक्षा के सर्वभौमिक लक्ष्य की पुष्टि करता है।

युद्ध के मध्य खड़ा अर्जुन सोचता है, ‘लोग शिक्षा प्राप्त तो करते हैं, किन्तु उसे ग्रहण नहीं करते। और शिक्षा से ही तो सब कुछ नहीं होता, नहीं तो अच्छी शिक्षा से संसार में सब कुछ सुधर जाता। शिक्षा तो दुर्योधन ने भी वही पाई है, पर उसके व्यवहार में शिक्षित मनुष्य का कोई गुण है क्या ? शिक्षा से लोकमत तो बनेगा, किन्तु उससे प्रत्येक मनुष्य में इच्छित गुण उत्पन्न नहीं होंगे। गुण तो जन्मजात ही हैं—ईश्वर प्रदत्त; पूर्व जन्मों के कर्मों और संस्कारों के अनुरूप।’ (कोहली, महासमर 8,262)

शिक्षा का भी तो असर वही ले सकते हैं जो लेने के योग्य हों। जिनकी वृत्ति शिक्षा लेने का महत्व समझती हो। जिसे केवल दिखाने और शिक्षित कहलाने के लिए ही शिक्षा को प्राप्त नहीं करना। आज कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो कई शिक्षा सम्बन्धी उपाधियाँ प्राप्त किये हुए हैं, लेकिन उनका आचरण उदारता और नम्रता के गुणों से कोसों दूर हैं। वे जानते ही नहीं शिक्षित व्यक्ति फल से लदे वृक्ष के समान है जिसमें जितने फल लगे हों वो उतना ही झुका होगा, तो नम्रता का अर्थ वे कैसे जानेगें।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त कहते हैं, ‘जीवन में भौतिक दृष्टि की सम्पन्नता होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि होना अपेक्षित है। मनुष्य में जहाँ शारीरिक आवश्यकताएं होती हैं वहां उसमें संतुलन बनाये रखने के लिए आत्मिक मूल्य भी रहने चाहिए। जीवन में वीर होने के साथ ही धीर भी होना चाहिए।’ कवि की यह धारणा है, ‘यदि मानव—मानव ही बन कर जीवन व्यतीत करे तो उसका जीवन सुखमय एवं मंगलमय बन सकता है। अतः मानव बने रहने में ही वास्तविक मूल्य है-

“सच पूछो तो ऐसा अब्हुत  
 अपना यह मानव है,  
 कभी देव बन जाता है जो,  
 और कभी दानव ही।  
 मैं कहता हूँ, यदि मनुष्य ही  
 बने मनुष्य हमारा,  
 तो कट जाये देव-दैत्यों का,  
 कलह —कलुष यह सारा। ” (गुप्त, द्वापर,105)

यह सही है कि समाज दो तरह के चेहरों से भरा है। हमें अपने प्रज्ञा चक्षुओं से स्वयं देखना होगा कि हम जिनसे घिरे हैं उनमें कौन हमारा है, और कौन हमारा नहीं है। कंस की कैद में बंधने पर वसुदेव देवकी को कहते हैं कि, “हम उन लोगों से घिरे हैं जो हमारे अपने हैं, किन्तु उनमें से कोई भी हमारा अपना नहीं है। हमें खोजना पड़ेगा कि वस्तुतः कौन हमारा है।” (कोहली, महासमर 7,90)

ज्ञान और विवेक की चेतनता इसी लिए आवश्यक है जिससे व्यक्ति परिस्थिति जन्य जागरूकता प्राप्त कर सके। जो जितनी महाभारत काल में आवश्यक थी उतनी ही समसामयिक समाज के लिय भी अनिवार्य है।

अधिकांश व्यक्ति अपने स्वार्थों के अनुसार अपने मूल्यों की परिभाषा कर लेते हैं तथा उसी के अनुसार अपने कार्यों को तर्क के धरातल पर सही ठहराते हैं। चाहे उस कार्य से धर्म की, नैतिक मूल्यों की और समाज के कल्याण की हानि हो। वर्तमान समाज ऐसे ही तो लोगो से भरा है जो दूसरे के दोषों को निकालना अपना सिद्ध अधिकार समझता है और अपने दोषों को आवृत रख कर परदे से बाहर भी नहीं आने देता। अपने स्वार्थ के अनुसार अपने धर्म और मूल्यों की परिभाषा देते महासमर के एक पात्र का उदाहरण देखें—कृष्ण का पुत्र साम्ब अपने पिता से बात करते हुए इस विषय का एकाकी एवं स्वार्थ पूर्ण रूप दर्शाता है। साम्ब अपनी पत्नी लक्ष्मणा जो दुर्योधन की पुत्री है का पक्ष लेते हुए, पांडवों का युद्ध के प्रति आग्रह, का

विरोध करता है और अपरोक्ष रूप से दुर्योधन के पक्ष का समर्थन करता है। कृष्ण अपने पुत्र को धर्म का मूल बताते हुए कहते हैं, “अपने सम्बन्धियों का समर्थन करने और धर्म का विरोध करने के स्थान पर अपने सम्बन्धियों को धर्म के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न अधिक श्रेस्कर है।”... साम्ब अपने पिता से कहता है कि दुर्योधन मानता है कि अपने राज्य की रक्षा करना उनका धर्म है। इस पर कृष्ण कहते हैं कि फिर उन्हें धर्म से अपना परिचय करना चाहिए। साम्ब आक्रामक होकर पिता कृष्ण से कहता है कि, “सबका अपना अपना धर्म होता है, ....यह आवश्यक तो नहीं जिसे आप धर्म समझते हैं उसी को सब लोग धर्म मानें। मेरे लिए अपनी पत्नी को सुखी रखना भी धर्म है।...में उसे सुखी देखना चाहता हूँ तो मुझे उसके पिता की रक्षा की ओर से आश्वस्त करना होगा।” कितना स्वार्थी व्याख्यान है व्यक्ति का सिर्फ अपने लिए धर्म को भी बदलना चाहता है ! परन्तु कृष्ण क्या कहते हैं, “धर्म व्यापक मानवता के हित में होता है। प्रकृति के नियमों के अनुकूल होता है। ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलने में होता है। पत्नी को उसके अधर्म में सहयोग देना तुम्हारा धर्म नहीं है। पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए उसके पिता के पापों में सहयोगी और सहभागी होना तुम्हारा धर्म नहीं है।.....और सबका अपना-अपना धर्म नहीं होता। धर्म परस्पर विरोधी नहीं हो सकता।” (कोहली, महासमर 7,14)

पिता और पुत्र दोनों के हित विलग हैं। पिता का धर्म अलग, पुत्र का अलग। वसुदेव अपने पुत्र कृष्ण को अकेला पड़ गया देख पाते हैं। वो देखते हैं कि वास्तव में शिक्षा दे देने से ही कोई शिक्षित और संस्कारी नहीं हो जाता। कृष्ण जैसा धर्म की राह पर चलने वाला महान पुरुष भी अपने भाइयों और पुत्रों के बिना धर्म की राह पर एकाकी खड़ा रह जाता है।

सब ही तो जानते हैं इस वास्तविकता को, लेकिन उस काल में ऐसा स्वार्थ दीखता है तो आश्चर्य क्या ! यदि आज भी पुत्र का धर्म पिता के धर्म से विलग न हो। वृद्ध माता पिता को छोड़ कर पुत्र अपने व्यवसाय अथवा अन्य मिथ्या कारणों के चलते अपने आवास अलग बना लेते हैं। आज का समाज उस समाज की छाया



सा ही तो है। कहीं कोई परिवर्तित दृश्य दीखता नहीं। हाँ नाम और चेहरे अवश्य भिन्न हैं।

इस सब के पश्चात् भी मानव समाज व्यक्ति और समष्टि के प्रति धारणाएं बनाता और विचारता रहता है। दर्शन के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा करें तो प्रत्येक विचारक अपने तर्कों के द्वारा मूल्यों का प्रतिपादन करता है। दार्शनिकों का एक तथ्य तो सर्वथा एक ही है कि मानव-मूल्य जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य है। वह दूसरी बात है कि उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों का परस्पर मेल न हो पाता हो। यही तो विडंबना है। व्यक्ति की बुद्धि और विवेक इतने भिन्न हो जाते हैं कि कहीं -कहीं समाज में भी विभाजन की रेखाएं खिंच जाती हैं। **“values are defined in terms of survival and enhancement of life.” (Britanica, Vol. 22. P.962)**

अतः वास्तविकता तो यही है कि मूल्य मानव को जीवन के होने का धरातल देते हैं, और वो हैं, बल्कि उनका होना जीवन की शाश्वता के लिए अनिवार्य है। (हुकुमचंद 58)

‘सामाजिक दृष्टि से जीवन मूल्यों को सामान्यतः दो भागों में बांटा जाता है। वैयक्तिक और सामाजिक। यद्यपि दोनों के बीच विभाजन रेखा खींचना संभव नहीं है। क्योंकि वैयक्तिक मूल्यों को जब व्यक्ति की सीमा से परे समाज में देखने का प्रयास किया जाये तो वही मूल्य सामाजिक मूल्य कहलाते हैं। कहने को तो ऐसा कहा जाता है कि जो मूल्य व्यक्ति के विकास में सहायक हों उन्हें वैयक्तिक मूल्य और जो मूल्य किसी समाज के विकास में योगदान दें, उन्हें सामाजिक मूल्य कहना चाहिए। दोनों मूल्य एक दूसरे पर निर्भर हैं। इन्हीं के कारण व्यक्ति उन्मुख भाव से पुरषार्थ कर जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँचने में भी समर्थ हो सकता है। यह एक ऐसा वैयक्तिक मूल्य है जिसे प्राचीन या नवीन न कहकर चिरंतन मूल्य कहना ही समीचीन होगा। इस सम्बन्ध में नेम् नारायण जोशी ने ‘व्यक्ति-स्वातंत्र्य :पृष्ठ भर चिंतन’ शीर्षक के अंतर्गत स्पष्टः घोषणा की है कि, “आश्चर्य इसी बात का है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का यह मूल्य पौराणिक पक्ष ‘फिनिक्स’ की भांति हर बार अपनी राख से, अपने ध्वंसावशेष से पुनः जी उठता है और समष्टि के नानाविध रूपों —

समाज, प्रशासन, कानून, सविधान, धर्म आदि में जूझने लगता है। जान पड़ता है इस मूल्य का बीज मनुष्य के रक्त में है और यह रक्त बीज अपनी जिजीविषा से, अपनी प्राण- शक्ति में अत्यंत उद्धम और दुर्निवार है। शायद यह उस दिन तक जुझारु बना रहेगा जब तक व्यक्ति असहाय, अकिंचन, बौना, मूक और पंगु बना रहेगा और विश्राम तभी लेगा जब व्यक्ति आत्म नियंता बनकर अखंड स्वतंत्रता का उपभोग करने लगेगा।' (बिंदु 72)

सामाजिक मूल्यों में कुछ का सम्बन्ध अर्थ से है, शेष अर्थ से रहित भी है। इस कथन से पाश्चात्य देशों में अर्थ की महत्ता स्पष्ट ही व्यंजित हो जाती है। वहां सामाजिक मूल्यों में सुन्दरता, सफलता, रहने का उच्च स्तर और शिक्षा आदि पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि भारत में जीवन के अन्य पहलुओं पर इसकी अपेक्षा अर्थ तथा काम को अनिवार्य न मानकर आवश्यक, और धर्म और मोक्ष को अनिवार्य माना जाता है।" (हुकुमचंद 54)

भारतीय मनीषियों ने शुभ कार्य द्वारा लाभ की भी अभिव्यक्ति की है। महर्षि अरविन्द कहते हैं, "हम भी उर्जा के ही अंश हैं। इसलिए जब हमने यह जान लिया है कि आत्मा और पदार्थ दोनों ही अस्तित्व का हिस्सा हैं, वे एक दूसरे से पूरा तादात्म्य रखे हुए हैं तो हमें यह एहसास भी होगा कि भौतिक पदार्थों की इच्छा रखना किसी भी दृष्टिकोण से शर्मनाक या गैर आध्यात्मिक नहीं। "

एक समय, मार्च 2002 में भारत रत्न, मिसाइल मैन, पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम अन्नाद्रमुक विश्वविद्यालय में छात्रों से उन्मुख थे। छात्रों के पूछने पर कि परमाणु परीक्षण की क्या आवश्यकता थी ? वे बोले, "लम्बे समय के बाद हमें आजादी मिली और देश की भौतिक सीमायें स्पष्ट हो गयी तो क्या सिर्फ आर्थिक समृद्धि को ही लक्ष्य मान लेना चाहिए ? देश की ताकत को जताने का एकमात्र तरीका है उसकी रक्षा की क्षमता होना। ताकत ही ताकत का सम्मान कर सकती है, न कि कमजोरी। ताकत का अर्थ है सैन्यबल और आर्थिक सम्पन्नता।"

यह भूलना नहीं है कि हमारी संस्कृति हमें परा (अध्यात्मिक), अपरा (सांसारिक) और विद्या (ज्ञान) को जानने की शिक्षा देती है। यह मानव का

उत्तरदायित्व है कि वह समय के अनुसार अपने विवेक का उपयोग करते हुए अपने ज्ञान का और कर्म का प्रदर्शन करे। यही तथ्य ही तो भारतीय मानस के व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करते हैं।

महर्षि पतंजलि द्वारा बताये अष्टांग योग में भी प्रथम दो अंगों में यम-समाज के प्रति व्यवहार और आचरण के मूल्य हैं अर्थात् कर्म, वचन तथा मन में अहिंसा, सत्य, (अस्तेय, चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पांच आचार वृत्तियां हैं। और नियम-स्वयं पर नियंत्रण के मूल्य अर्थात् मनुष्य को कर्तव्यपरायण बनाने तथा जीवन को सुव्यवस्थित करने हेतु नियमों का विधान किया गया है। इसके अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान का समावेश है।

अतः वैयक्तिक अथवा सामाजिक मूल्यों को हम आदर्श जीवन यापन के मानदंड भी कह सकते हैं। समाजशास्त्री वेबर के अनुसार, “सर्वोच्च मूल्य सदैव सर्वोच्च ही रहते हैं, केवल उनके चुनाव के लिए सावधानी और उत्तरदायित्व की आवश्यकता है।” (हुकुम चंद 52)

मानव यदि सचेत, सावधान और उत्तरदायित्वपूर्ण है तो उसे सदैव अपने जीवन का लक्ष्य याद रहेगा। वेद स्वाध्याय में डॉ. देवव्रत सरस्वती लिखते हैं कि वेद कहता है —

“यन्मे छिद्रम चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितरण ब्रह्मस्पतिर्मे त्द्यधातु।

शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजुर्वेद 36।2।1)। (सरस्वती 339)

अर्थात् मनुष्य का कर्तव्य बताते हुए वेद भगवन कहते हैं, जो मेरे नेत्र की, अन्तकरण की न्यूनता व मन की व्याकुलता है उसको परमेश्वर मेरे लिए पुष्ट व पूर्ण करे। जो सबका रक्षक है वो समस्त ब्रह्माण्ड के लिए कल्याणकारी हो। अर्थात् हम पुष्ट हों, हमारा मन और अंतःकरण सबल बने। याद रहे शरीर के उसी अंग को रोग आ घेरता है, जिसकी जीवन-शक्ति न्यून हो। जिस संगठन में फूट पड़ जाये,

वह देर सवेर टूट जाता है। इसीलिए मन्त्र में कहा गया है—हे प्रभु मेरे चक्षु में आये छिद्र या न्यूनता को दूर कीजिये। यहाँ न्यूनता से अभिप्राय दृष्टि क्षीणता से नहीं, देखने के दृष्टिकोण से है।

तो समाज के किसी भाग में छिद्र न होने पाए। इसलिए विभिन्नता में एकता का ध्यान रखना होगा। साथी हाथ बड़ाना का नारा कहना और क्रियान्वित करना होगा। जिससे संगठन में कदापि फूट न पड़ने पाये। समाज में ऐसे कई प्रोत्साहित करते उदाहरण हैं। भुवनेश्वर के अभय कुमार मोहंता, क्रिशन चंद त्रिपाठी, निहार रंजनदास, भवानी शंकर पारिदा आदि सभी अपने स्थान पर अच्छे से स्थापित युवा हैं। इन्होंने अपनी कम्पनी 'वी4यू' के माध्यम से दृष्टिहीन छात्रों की मदद के लिए आडियो बुक्स तैयार की हैं। उन्हें एहसास हुआ कि देश में 20 लाख दृष्टिहीन छात्र हैं, जिसमें से सिर्फ ओडिशा में ही 25 हजार हैं और इनकी जरूरतें पूरी करने के लिए देश में मात्र 10 ब्रेल प्रेस यूनिट्स हैं। इस समस्या के एहसास ने इस प्रयास का विचार सामने रखा। ये सभी साथ आये और 70 कार्यकर्ताओं की एक टीम तैयार करके कक्षा 7 से लेकर पी.एच.डी. तक की कक्षाओं की किताबों की रिकार्डिंग शुरू की। 6 वर्षों में यह 15 हजार छात्रों को उनकी कक्षाओं की ऑडियो बुक्स दे चुके हैं। बात यह है कि समाज हमें जो देता है उसका बदला चुकाना एक कला है, जो दिल से आती है और नेक दिल लोग हमेशा ऐसा अलग तरीके से करते हैं। (रघुरामन 6)

नोबेल शांति पुरुस्कार विजेता एवं जाने माने बालअधिकार कार्यकर्ता कैलाश सत्यार्थी भी अपने अनुभवों से सामाजिक मूल्यों की ओर इशारा करते हैं। जिसे पढ़ कर न केवल मन द्रवित हो जाता है वरन प्रोत्साहन भी मिलता है। नोबेल पुरुस्कार के समय भाषण के समय उनके तैयार किये नोट्स गुम हो जाने पर उन्होंने एक कहानी सुनाई जिसे वे अपना जीवन दर्शन भी कहते हैं। कहानी यूँ है, “एक बार जंगल में भयानक आग लग गयी। सिंह सहित सभी पशु पक्षी जान बचा कर भागने लगे। तभी शेर की नज़र एक नन्ही चिडिया पर पड़ी जो लपटों की तरफ जा रही थी। शेर ने चिल्लाकर कहा, ‘क्या तुम पागल हो गयी हो, जो आग की तरफ

भाग रही हो ?' चिड़िया बोली, 'नहीं मैं आग बुझाने जा रही हूँ।' शेर ने कहा, 'कैसे?' चिड़िया बोली, 'मेरी चोंच में देखो, एक बूँद पानी है। मैं इससे आग बुझाने की कोशिश कर रही हूँ।' वह चिड़िया जानती थी कि एक बूँद पानी जंगल की लपटों को शांत नहीं कर सकता फिर भी वह धैर्यपूर्वक फ़र्ज़ निभा रही थी। इसी प्रकार मैं भी नतीजों की परवाह किये बगैर समाज में बदलाव लाने की कोशिश कर रहा हूँ।" एक और अनुभव पढ़ते हुए उनकी शब्दावली मन को छू लेती है। लिखते हैं, "एक और घटना मेरे मन को मजबूत बनाने में बहुत मददगार हुई। विदिशा में मेरे घर के पास झुग्गी बस्ती थी। एक दिन वहां से गुज़रते हुए एक झुग्गी से कराहने की आवाज़ और भयानक बदबू ने मेरा ध्यान खींचा। मैंने जिज्ञासावश झाँका तो बदबू से सर चकरा गया। कोने में पड़ा एक आदमी देखकर चिल्लाकर पूछा 'आप कौन हैं ?' जवाब में उसने गालियाँ देनी शुरू कर दी। देखा कि कोढ़ के कारण उसके कई अंग गल चुके थे। झुग्गी मल से भरी पड़ी थी। मेरे मन में विचार आया कि बुढ़ा व्यक्ति अकेला है और उसकी मानसिक हालत ठीक न होने के कारन गाली दे रहा है। मैंने मन पक्का कर लिया कि उसकी मदद करूंगा। उस 18 साल की उम्र में यह फैसला किया। मैंने उसकी झुग्गी की सफाई धुलाई की। सफाई के दौरान संकल्प लिया कि सफाई के दौरान कितनी भी बदबू आये सहन करूंगा, उलटी नहीं करूंगा। फिर उसके लिए रोज़ खाना ले जाने लगा। अपनी रोटी में से उसे रोटी देता। कभी कभी भूखे रहने की नौबत आ जाती। मन डोलता पर यही तो परीक्षा थी। धीरे धीरे उसके घाव साफ करने शुरू किये, मरहम लगाया। वो गालियों के सिवा कुछ न कहता। 10, 12 दिन बाद मन में आया कि उसे अस्पताल ले जाया जाये। एक हथठेले का इंतजाम किया और यह बात उसे बता भी दी। उस शाम वह चुप रहा। यही नहीं, गाली देने की बजाये उसने मेरा हाथ पकड़ कर चूम लिया। उसके चेहरे पर शांति पूर्ण मुस्कराहट थी और आँखों में आंसू डबडबा रहे थे। मुझे लगा वह अस्पताल जाने के नाम पर खुश है। दूसरे दिन मैं अपने एक दोस्त के साथ हथठेला लेकर उसके घर पहुंचा। अन्दर घुसा तो देखा कि उसके चेहरे पर पिछली रात जैसी ही शांति थी। उसके प्राण निकल चुके थे। तब मैंने महसूस किया

कि उसकी अंतिम मुस्कराहट में मुझे मानो ईश्वर के दर्शन हुए थे।” ऐसे कितने ही उदाहरण हैं। लेकिन नोबल पुरस्कार विजेता कहते हैं कि, “मेरा अनुभव है कि जाने-अनजाने दूसरों की बेहतरी के लिए उठने वाला कदम कभी अकेला नहीं रहता। उन कदमों के साथ करोड़ों लोगों का चलना तय है।” (सत्यार्थी 6)

उपनिषद में एक कहानी आती है—देवों और असुरों में संग्राम छिड़ गया। देवों ने चक्षु इन्द्रिय का सहारा लेकर उदगीध की उपासना प्रारंभ कर दी। इतने में सामने से कोई बहुत सुन्दर दृश्य गुजरा। आँखों ने उदगीध के ध्यान को छोड़कर उस तरफ देखना प्रारंभ कर दिया। असुरों ने झट से आँखों को बंध दिया। देवों को वहां से भागना पड़ा। इसीलिए देवों और असुरों का निवास होने से आँखें अच्छा भी देखती हैं और बुरा भी। अतः अंतिम उपाय भारतीय मान्यताओं के अनुसार यह है कि हम ब्रह्मतेज, ज्ञान-विज्ञान और शरीरों से सयुक्त हों, अर्थात् सुंदर बने, मन शिव संकल्प वाला हो, शुभ दान देने वाला त्वष्टा जगदीश्वर हमें धन—धान्य आदि से परिपूर्ण करे और जो शरीर का तुटिपूर्ण अंग है उसे परिमार्जित करे। वह त्वष्टा है, जिसकी शरण में जाने पर सारी टूट-फूट को ठीक करेगा ही।’ (सरस्वती 339)

‘समय समय पर समाज को परिष्कृत, परिमार्जित, पुनर्जीवित और पुनर्जागृत करने के लिए भिन्न भिन्न महापुरुषों ने व्यक्ति और समाज को जीवन-मूल्यों को समझा और समझाया है। नवीन जीवन मूल्यों के निर्धारण और प्रचलन में महान व्यक्तियों और संस्थाओं का बहुत योगदान है। यह संस्थाएं हैं—ब्रह्म समाज और राजा राम मोहन राय, आर्य समाज और स्वामी दयानंद, प्रार्थना समाज और डॉ. पांडुरंग, रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेकानंद, थियोसोफिकल सोसाइटी और श्रीमती एनी बेसेंट। यद्यपि इनके संस्थापकों एवं अन्य महापुरुषों ने भारतीय परम्परा का विरोध भी नहीं किया। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन मूल्यों के प्रति कहीं भी इन्होंने विरोध प्रकट नहीं किया वरन भारतीय परम्परागत जीवन मूल्यों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्हें नवीनता के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया है। जीवन मूल्य तो वही हैं परन्तु उनमें युग सापेक्ष दृष्टि के कारण व्याख्या का ढंग भिन्न

है। अतः हम नवीन जीवन मूल्यों की चर्चा में इन महापुरषों का योगदान महत्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि इनकी वजह से ही समाज में पुनर्जागरण संभव हुआ।’ (हुकुमचंद 104)

यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है कि लोक-हित तथा विश्वबंधुत्व की भावना ही अंततः व्यक्ति और समाज को उत्तम रूप देती है। स्वयं को उन्मुक्त और स्वतंत्र समझने वाले भी इस तथ्य को समझते हैं कि स्वयं के जीवन का आधार तभी है जब हम कर्तव्य को भी समझें। प्रियप्रवास के रचियता हरिऔध जी लोकहित को मानव-जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक समझते हैं, मानव जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा ये सिद्ध करते हैं कि मानव अपने जीवन में सुख चाहता है यदि वह अपने समाज में समता एवं शांति चाहता है और वह समस्त विश्व में आनंद की वृष्टि करना चाहता है तो उसे एकमात्र लोक-हित का मान अपना कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।” (हरिऔध, प्रिय प्रवास 100).. उनके अनुसार लोक—हित के कारण मानव व्यक्तिक स्वार्थ से परे परमार्थ में लीन होकर वस्तुतः जीवनमुक्ति को ही प्राप्त करता है। और यही तो जीवन का अंतिम लक्ष्य है। प्रिय प्रवास में श्रीकृष्ण एवं राधा के चरित्र लोक-हित एवं विश्व बंधुत्व की भावना ही प्रदर्शित करते हैं —

“मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यंत उन्मुख था।

पाता हूँ अब मैं नितांत उसको आबद्ध कर्तव्य में।। ”

(हरिऔध, प्रियप्रवास, नवम सर्ग-3)

ऐसा ही भाव दिनकर की कविता में भी दृष्टिगोचर होता है-

“साथ ही यह भी सच है —

दुर्लभ नहीं मनुज के हित,

निज वैयक्तिक सुख पाना,

किन्तु, कठिन है कोटि कोटि

मनुजों को ही सुखी बनाना। ” (दिनकर, कुरुक्षेत्र 89)।

व्यक्ति का दुर्भाग्य यह है कि वह जो कुछ सोचता है, उसे अक्सर जी नहीं पाता और न ही अपने आचरणों में उतार पाता है। चेतना की सामान्य गति पशुता से देवत्व की ओर होती है। और त्रासदी यह है कि व्यक्ति पशुता और देवत्व के बीच में ठहरा हुआ है। कभी कभी तो वह देवत्व से भी कहीं ऊँचे निकल जाता है। किन्तु उसके शरीर की पाशविक वृत्तियां पूर्णतः मरती नहीं, और यही उसे कभी-कभी समाज के लिए अभिशाप बना देती है। वास्तविक उन्नति तो तब हो जब बौद्धिक उन्नति तो हो परन्तु चारित्रिक उन्नति के साथ। समाज और वर्तमान का अभिशाप यह है कि हम जिस समाज में जी रहे हैं, उसमें बौद्धिक विकास के विपरीत हृदय विकास कहीं ठहर सा गया है। काश ऐसा हो कि मनुष्य की मानव शक्तियां उसके हृदय के गुणों के अधीन रहे अर्थात् प्रेम, करुणा, दया, मैत्री, त्याग और सबसे बढ़कर परोपकार। तभी वास्तविक सांस्कृतिक और सत्य शिव सुंदर समाज और व्यक्ति का निखरा रूप उभर कर आयेगा।

शोधकर्ता का प्रयास यही है कि अपने कार्य से न केवल वह स्वयं एक उत्तम व्यक्ति के रूप में समाज के लिए उपयोगी हो वरन अपने कार्य के द्वारा अन्य सुधिजनों को भी प्रेरणा दे सके। जिस से संततियों तक अपने आप और अपने समाज पर हम गौरवान्वित हो सकें। हम आर्य हैं और यह एक क्षण को भी विस्मृत न करें कि —

‘लोक सेवा भाव ही है आर्य जन का धर्म।’

(कोयाल किशोर, भूमिका 15)

\*\*\*\*\*



## अध्याय: 4

### जीवन मूल्य

#### मानवीय एवं नारी सम्बन्धी मूल्य

महासमर एक ऐसा ग्रन्थ है जो जीवन की श्रेष्ठता को कहता है, दर्शाता है, प्रोत्साहित करता है और इस प्रेरणा द्वारा समाज तथा साहित्य को रचनात्मक दृष्टिकोण की ओर निर्देशित करता है, तथा मानव, मानवीय गुणों से भर कर समाज और समुदाय को कल्याणकारी तेजस्विता दे सके, इस बात की ओर इंगित करता है। जीवन की सतत साधना, उसका प्रकाश, मानव को देवत्व की आभा से भर कर उसे मानवीयता के गुणों और मूल्यों से न केवल परिचित कराता है, वरन उसे कार्य रूप में परिणित करने की ओर अग्रसर भी करता है।

मनुष्य इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। प्रभु ने उसे विचारने, समझने और निर्णय की योग्यता दी है, जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक करती है। कहते हैं— 'पश्यतीति पशुः' अर्थात् केवल देखने वाला पशु है, जिसमें अनुभूति की योग्यता नहीं है। लेकिन जिसमें उच्च सर्वेदनाएं हैं, बौद्धिक शक्तियां हैं, वह मनुष्य है। मनुष्य में ललित कलाओं का समावेश है। किसी भी समाज की आधारशिला उसके मानवीय मूल्य होते हैं। सामाजिक होने के कारण मनुष्य को सेवा, शांति, परमार्थ, प्रेम, मधुरता, दृढ़ता, एकता, स्वतंत्रता, सत्य, निर्भयता, समता, सहयोग, विश्वंधुत्व आदि मानवीय मूल्यों का विकास अपने अंदर करना ही पड़ेगा। मानवीय मूल्यों से संपन्न व्यक्ति ही सुदृढ़ राष्ट्र और सशक्त समाज की रचना कर सकता है।

सृष्टि में प्राणी जगत का आधा भाग नर और शेष आधा भाग नारी है। महादेव शिव के अर्धनारीश्वर रूप में नर और नारी दोनों का अंश परिलक्षित होता है। यदि मनुष्य शब्द-संज्ञा, का अर्थ लें तो यह पुलिंग होते हुए भी नर और नारी दोनों के लिए सामान रूप से अर्थमयी है, और यदि मानवता शब्द का अर्थ देखें तो यह स्त्रीलिंग होने पर भी नर और नारी-सृष्टि के दोनों ही अंगों का परिमाणन एक ही

कसौटी पर करती है। अतः नर अथवा नारी दोनों के आचार—विचार मानवता के धरातल पर समान महत्व रखते हैं। मनुष्य के रूप में जन्म लेने के उपरांत मनुष्यता के अनुरूप कैसे व्यवहार किया जाए? यह यक्ष प्रश्न उठते ही हैं, मनुष्य दूसरों से तो अपेक्षाएं करता है, पर स्वयं का व्यवहार कैसा हो? यह सोचने का प्रयत्न करते हुए उसके सामने कुछ प्रश्न उठते हैं, और ये प्रश्न हैं :-

- # मानव-जन्म का उद्देश्य क्या हो ?
- # मानवता क्या है ?
- # मानवता पूर्ण व्यवहार अथवा आचरण कैसा हो ?
- # स्वयं के साथ और दूसरों के साथ हुए व्यवहार का मूल्यांकन किन मानदंडों पर किया जाये ?
- # क्या शास्त्रों के अनुरूप आचरण अनिवार्य होना चाहिये ?
- # शास्त्र मानवता पूर्ण व्यवहार का अनुमोदन करते हैं क्या ?
- # क्या मानवता पूर्ण आचरण को मर्यादित आचरण की मान्यता प्राप्त है ?
- # जन मानस के अध्यात्मिक नायक-श्रीराम और श्री कृष्ण की कथाएं मानवता का सन्देश देती हैं क्या ?
- # पौराणिक एवं अध्यात्मिक पात्रों का अनुसरण क्या मानवतावादी आचरण की ओर अग्रसर करता है ?
- # आज के सन्दर्भों में मानवता वादी विचारधारा का क्या औचित्य है ?
- # वर्तमान परिपेक्ष्य में मानवीय व्यवहार कितना प्रासंगिक है ?
- # मानवधिकार का विषय और मानवतावादी आचरण में क्या समानताएं और क्या विभिन्नताएं हैं ?
- # नारी और मानवता का क्या सम्बन्ध है ?
- # नारी किस प्रकार मानवता को प्रभावित करती है ?
- # शास्त्र नारी के चरित्र को भी मानवता की कसौटी पर कसते हैं क्या ?
- # नारी का स्थान समाज के रूप को बनाने अथवा बिगाड़ने में है क्या ? कैसे ?
- # क्या नारी अपना वर्चस्व बनाए रखते हुए देश काल को प्रभावित कर सकती है ?

- # संतान की गुरु की भूमिका में नारी किस तरह मानवीय मूल्यों की भूमि तैयार करती है ?
- # मानवीयता में नारी का योगदान है क्या ? कितना ?
- # मानवीय मूल्यों द्वारा नारी सम्बन्धी मूल्य किस प्रकार सम्बंधित हैं ?
- # पौराणिक काल की तुलना में वर्तमान समाज में नारी का स्थान क्या है ?
- # क्या नारी का विकास मानवीयता का विकास है ?
- # नारी का व्यवहार, विकास और मानवीय मूल्यों के विकास का आपसी संबध क्या है ?

हमारी पौराणिक एवं वैदिक संस्कृति आदि काल से मानवतावादी दृष्टिकोण देती आई है। हमारे जीवन मूल्यों को निर्देशित करते मन्त्र हमें इस दिशा की ओर ही प्रेरित करते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है, गायत्री मन्त्र का :-

“ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सुवितुर्वरेण्यं नमः

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः

प्रचोदयात् । ”

अर्थात् : ‘प्रभु प्राण सा ॐ धरो अंतर में

दुःख को हरे जो श्रेष्ठ मंगल में

स्वयम तेज जो पाप नाशी परात्मा

करे बुद्धि सन्मार्ग गामी सुखात्मा । ’

यह वह मन्त्र है-जिसे शायद ही कोई भारतीय न जानता हो। वरन आज यह अंतर-राष्ट्रीय आध्यात्मिकता को भी प्रभावित करता है। पच्छिम के देश शांति की खोज में भारत की ओर ही तो दृष्टि लगाये हैं। तो क्या सन्देश देता है यह जीवन दायी मन्त्र ? मानवता का ही तो ! वास्तव में क्या है भारतीय दर्शन—‘परम सत्ता को पहचानना व मानना, स्वयम के होने का उद्देश्य जानना, और अध्यात्मिक रूप से अपने विवेक के वैशिष्ट्य को पहचानते हुए स्व एवं विश्व-कल्याण के हेतु बनकर

जीवन जीना। यही सूत्र है मानवीयता का। भूलना नहीं चाहिए, कि शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ बताये गये हैं। अतः जब लक्ष्य का अंतिम पड़ाव मोक्ष ही है, तो भारतीय मानसिकता को मानवीयता का सूत्र समझने में कोई कठिनाई नहीं ही होती। अतः यह स्वतः ग्रहणीय विषय है।

## भारतीय दर्शन एवं मानवता वादी सांस्कृतिक-विधान

दर्शन के अनुसार जीवन के चार पड़ाव (शास्त्रों के अनुसार-आश्रम) हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास। अतः जीवन का आरंभ ब्रह्मचर्य से अर्थात् शिक्षा से होता है। महासमर के आरंभिक अंक के पात्र महाराज शांतनु, अपनी पत्नी सत्यवती से पुत्रों—विचित्रवीर्य एवं चित्रगुप्त की शिक्षा दीक्षा के विषय में विचार करते हुए कहते हैं कि क्षत्रिय राजकुमार वनों में जाकर ऋषियों से शिक्षा ग्रहण करते हैं। आश्रम में गुरु ही स्वामी होता है, पालक होता है, आश्रयदाता और अभिभावक होता है। इसीलिए वहां उसका गुरुत्व जगता है। उसकी आत्मा उद्घात होती है। उसका विवेक और शिष्य के प्रति स्नेह, सबकुछ सचेत होता है। आश्रम में शिष्य, गुरु के सानिध्य में रहकर, इन सारे भावों को ग्रहण करता है।” यद्यपि सत्यवती इस प्रस्ताव का विरोध करती है, किन्तु महाराज उसे शिक्षा के विषय में और तथ्यों से अवगत कराते हैं। “ज्ञान और बल, बुद्धि और वीरता—ये सब सात्विकता के साथ ग्रहण किये जाएँ तो मनुष्य उद्घातता की ओर बढ़ता है और देवत्व को प्राप्त करता है। ये ही गुण यदि निकृष्ट भावों के साथ ग्रहण किये जाएँ, तो मनुष्य का अहंकार स्फीत होता है और उसका पशुत्व जागता है। विद्या और ज्ञान, कला और कौशल, चिंतन और मनन, शस्त्र और शास्त्र—ये सब हमारे ऋषियों ने मनुष्य को देवता बनाने के लिए रचे हैं, उसको सम्पूर्ण पशु बनाने के लिए नहीं।”...“हमारे चिंतकों ने बुद्धिजीवी को राजनेता से श्रेष्ठतर माना है।”.. शांतनु के अनुसार—‘मानव के रूप में व्यक्ति धन से हीन या श्रेष्ठ नहीं होता, व्यक्ति श्रेष्ठ होता है, अपने आचरण से; और उसके आचरण की पृष्ठभूमि में होते हैं उसके मूल्य!’” (कोहली, महासमर 1, 78)

वास्तव में ज्ञान ही तो प्राणी को मनुष्य का वास्तविक रूप प्रदान करता है। ज्ञान ही तो उसे मानवता के सोपानों का परिचय कराता है। इसी ज्ञान को प्रारंभिक अवस्था में ही प्राप्त करके व्यक्ति मानवता के प्रथम और उद्घात आयाम का पाठ पढ़ता है।

## विद्या का ध्येय श्रेष्ठ मानव-निर्माण

पितामह भीष्म कुरु राजकुमारों की शिक्षा की व्यवस्था की जानकारी लेने के लिए आचार्य कृपाचार्य के पास जाते हैं और राजकुमारों को क्या सिखाया जा रहा है, यह पूछते हैं। कृपाचार्य के बताने पर भीष्म उन्हें शिक्षा का मर्म कहते हैं— “क्षत्रिय के लिए शस्त्र-ज्ञान भी आवश्यक है और शस्त्र परिचालन का अभ्यास भी; किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक है; न्याय और अन्याय का ज्ञान, धर्म और अधर्म का निर्णय। क्षत्रिय का शस्त्र केवल अन्याय के प्रतिरोध में ही उठना चाहिए। क्षत्रिय यदि न्यायालय के निर्णय के बिना शस्त्र-परिचालन का अभ्यस्त हो जायेगा, तो वह दस्यु हो जायेगा।”...वे आगे बोले, “एक बात और है। मैं चाहता हूँ कि चाहे वे युद्ध-विद्या सीखें, चाहे क्रीडा में भाग लें, चाहे शास्त्र ज्ञान प्राप्त करें, चाहे प्रतिस्पर्धाओं में व्यस्त रहें; किन्तु इन सब के माध्यम से वे परस्पर एक-दूसरे के निकट आयें, स्नेह करना सीखें, दूसरे की सुख-सुविधा के लिए त्याग और बलिदान करना सीखें। उनमें स्वार्थ-शून्यता तथा सहिष्णुता का भी विकास होना चाहिये। अच्छे योद्धा बनने से पहले वे अच्छे मानव बनें। मैं चाहता हूँ कि अभी वे लोग शस्त्र-सञ्चालन से अधिक समय क्रीडाओं में लगायें। अपना मानसिक और शारीरिक विकास करें, किन्तु दूसरों के गुणों का भी आदर करना सीखें। उनमें पूज्य के प्रति पूजा भाव जाग्रत हो। उन्हें धन, सत्ता, शासन के लोभी, अहंकार की पुत्तिलकार्यें, शस्त्र चमकाने वाले दुर्वृत मत बनाना। उन्हें अपना रक्त देकर प्रजा का पालन करने वाले, अपना सुख-भोग त्याग, निर्बलों की रक्षा करने वाले क्षत्रिय बनाना।” (कोहली, महासमर 2,43)

अतः मानव को मानवीयता का मन्त्र देने वाली शिक्षा कितनी अनिवार्य है, जिससे वह मूल्यों को ग्रहण करता हुआ अपना और समाज का कल्याण और विकास कर सकता है। किन्तु वर्तमान कितना द्वन्द्वपूर्ण है, जो मनुष्य की मानवता वादी विचारधारा से उसको दूर करने की अनवरत कोशिश करता सा दीखता है। आज की सबसे बड़ी समस्या मूल्य संकट की ही समस्या है। मनुष्य के जीवन की चिंताएं, उसकी जीवन-चर्या की नित नई बाधाएं उसे अपने से इतर देखने का समय ही नहीं देतीं। मनुष्य समाज और परिवार से कटता जा रहा है। उसके अंदर मानवीय सर्वेदना का हास होता जा रहा है। भय, अकेलेपन, और सामाजिक विडंबनाओं ने उसके ऊँचे कद को बौना बना दिया है। आज हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर से दूर होते जा रहे हैं। जिसे हमारे पूर्वजों ने ऋषियों, आचार्यों और बौद्धिक जनों से लेकर तैयार किया था और विश्व को ज्ञान का प्रकाश दिया था। आज जीवन के नैतिक, अध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि मूल्य जो उसे सुसंस्कृत करते हैं और उसके आचरण को मर्यादित करते हैं, वे शिक्षा के द्वार से मिलते नहीं वरन सर्वथा उपेक्षित हो रहे हैं।

डॉ. सरला भारद्वाज द्वारा संकलित पुस्तक 'संस्कृत साहित्य में मानवीय मूल्य' में डॉ. राजकुमार महाजन अपने 'संस्कृत साहित्य में मानव मूल्य' में अपने विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, 'हमें भूलना नहीं चाहिए कि हमारे वेद और उपनिषद हमें मानवीयता की ही शिक्षा देते हैं। वैदिक वाङ्मय में 'सत्य शिवम् सुन्दरम्' के अनुसार आदर्श मानवीय मूल्यों की स्थापना के रूप में विश्व के प्रति कल्याण की भावना ही ऋषियों का मुख्य प्रयोजन है। जिसमें विश्व के कल्याण का भाव मुख्य है —

“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माँ कश्चिद् दुःख भाग्भावेत ॥”

अर्थात् मानव मूल्यों की पराकाष्ठा यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में देखने को मिलती है जहाँ वैदिक ऋषि सभी मनुष्य एवं प्राणियों के प्रति अपनी सद्भावना व्यक्त

करता है। यही नहीं तेज और बल की कामना (तेजो..सी तेजोमय धेहि...बल मसि बलं मयी धेहि)। बुद्धि को सन्मार्ग की और प्रेरित करने की प्रार्थना (धियो यो नः प्रचोदयात—ऋग्वेद-3/62/10) (महाजन 14)

एतेव यह तथ्य जाहिर है कि हमारे आदि ग्रन्थ मूल्य-परक नीति एवं आचरण के सच्चे निर्देशक हैं। उदाहरणस्वरूप 'भर्तृहरि का नीतिशतक पूर्ण रूप से मानव मूल्यों से परिपूर्ण ग्रन्थ है। नीतिकथाओं, पंचतंत्र तथा हितोपदेश आदि में भी पशु-पक्षियों की मनोरंजक कथाओं के माध्यम से मानव मूल्यों का सरस तथा सरल शैली में वर्णन किया गया है।

श्री मद्भागवत गीता के 16वें अध्याय में भी निर्भयता, अन्तकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग की स्थिति, इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शांति, अपैशुन, दयाभाव, लोभ रहित, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्रोह न करना, अभिमान रहित, आदि दैवी सात्विक गुणों की चर्चा में मानव मूल्यों का सार निहित है।' (महाजन 19)

मानवीय मूल्यों के अनुसार जीवन जीने का अर्थ यह नहीं है कि कोई मनुष्य कमजोर अथवा निर्बल है वरन दिव्यता तो तब है जब बलवान और योग्य होने पर भी क्षमा और धैर्य आदि मानवीय गुणों का आचरण किया जाए।

महासमर में एक प्रकरण में जहाँ कृष्ण के प्रोत्साहन पर अर्जुन सुभद्रा का हरण कर के ले जाते हैं। राजसभा में विवाह और वर के पक्ष-विपक्ष में सुभद्रा के योग्य वर के चुनाव सम्बन्धी चर्चा हो रही है। श्रीकृष्ण सभा में बलराम, अकूर आदि विद्वतजनों द्वारा दुर्योधन को वर रूप में चुनने का विरोध करते हुए अर्जुन को सुपात्र बताते हैं। इस विवाद में भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्ति, उनकी विचारधारा, उनके मूल्य और उनकी आकांक्षाएं उभर कर आती हैं। पूरी चर्चा वर्तमान की मानसिकता को भी दर्शाती है। आज कहाँ हैं मूल्यों का धरातल ? और मानवीयता का कितना महत्व है ? लोग किस तरह अपने सम्बन्धियों का चुनाव करते हैं ? और क्या है उनके मानदंड ?

राजसभा में उपस्थित गणमान्य महानुभाव इस बात पर विचार करते हैं कि अर्जुन के पीछे जाकर उसपर आक्रमण करना चाहिए, परन्तु इस पर कृष्ण का मतैक्य नहीं। बलराम के कहने पर कि अर्जुन के द्वारा सुभद्रा का अपहरण यादवों के लिए अपमानजनक है, कृष्ण कहते हैं, “पंचाल राज के जमाता, विश्व के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ने यादवों को इतना सम्मानित, प्रतिष्ठित तथा अपना सम्बन्धी होने के योग्य माना है। तभी तो उनकी कन्या से विवाह का प्रस्ताव रखा है।” परन्तु बलराम के अनुसार, “है क्या पांडवों के पास ?....चारों और अपने शत्रुओं से घिरा हुआ, धन-धान्य से शून्य इन्द्रप्रस्थ का एक छोटा सा राज्य?” ...आगे..कृतवर्मा के अनुसार, “उनकी हैसियत ही क्या है कि वे यादवों के इस समृद्ध और शक्तिशाली वंश से सम्बन्ध जोड़ने का स्वप्न देखें ? न उनके पास यादवों जैसी सम्पत्ति, न वैसा राज्य, न वैसी सेना !” कृष्ण यादवों की श्रेष्ठता का अनुमोदन करते हुए कहते हैं-इसलिये हमें उसका लाभ होना चाहिए और सुभद्रा के लिए श्रेष्ठ वर चुनना चाहिए। बलराम इस बात के पक्ष में बोलते हुए कहते हैं, “तभी तो हम सुभद्रा के लिए श्रेष्ठ वर चुनना चाहते हैं।”

ध्यान देने योग्य तथ्य अब है, जहाँ श्रीकृष्ण बलराम को जवाब देते हुए मानवीय गुणों की उपयोगिता एवं महत्व को बताते हैं और चुनाव के सही मानदंडों की व्याख्या करते हैं। साथ ही साथ-आज के समय का, उसकी विचार प्रक्रिया का, विद्रूप भी क्रमशः उपस्थित होता जाता है।

कृष्ण कहते हैं, “आप श्रेष्ठतम वर नहीं चुनना चाहते, आप केवल धनी वर चुनना चाहते हैं। आप अपने सामर्थ्य का लाभ उठाने के स्थान पर हानि उठाना चाहते हैं। आप धनी हैं, इसीलिए धन के दुर्गुणों से युक्त पापी, आततायी, आधर्मिक और अन्यायी वर चुनना चाहते हैं अपनी बहन के लिए।”...“आप धनी हैं, शक्तिशाली हैं, स्वतंत्र हैं, समर्थ हैं..इसलिए आपको अपनी बहन के लिए ऐसा वर चुनना चाहिए, जो धर्म के मार्ग पर चलता हुआ, स्वच्छ जीवन व्यतीत करता हो, दुर्योधन जैसा पापी नहीं जो पर-संपत्ति और पर-नारी पर दृष्टि गढ़ाए हो, जो षड्यंत्र कर अपने सत्वगुणी भाइयों की हत्याएं करवाता हो, जो अपने लोभ, अहंकार, ईर्ष्या



और धन, सत्ता और शक्ति के मद में मातुल कंस के सामान राक्षस हो गया हो..।”  
(कोहली, महासमर 4,197)

उपर्युक्त सन्दर्भ वर्तमान सन्दर्भ के प्रसंगों में भी उतना ही वास्तविक लगता है जितना महाभारत काल में दृष्टिगत है। दरअसल जीवन के दोनों पहलु (अच्छा-बुरा और दोनों वृत्तियां उतनी ही वर्तमान हैं, जितना जीवन का वर्तमान होना। अतः श्वेत-श्याम पक्ष सदैव ही विश्लेषण के आधार रहे है। इसीलिए महासमर आज भी उतना ही प्रत्यक्ष लगता है, जितना अपने काल में रहा होगा। विचार करें तो ! क्या आज भी मानवीय धरातल की उपयोगिता उतनी ही नहीं ? श्रेष्ठता का प्रदर्शन ही तो है यह ? क्या आज भी समृद्ध वर्ग का समाज से कुछ अलगाव दीखता नहीं ? क्या आज भी धनी वर्ग अपनी श्रेष्ठता नहीं प्रदर्शित करता? तो भिन्नता कहाँ है? युग बदल जाते हैं, परन्तु तथ्य थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ केवल रूप बदलते हैं, सत्य एवं धारणाएं नहीं। समाज के चुनाव, उनके दृष्टिकोण, मानवीयता के महत्व को माने अथवा नकार दें, वह हमेशा सर्वमान्य है और रहेगा भी।

बहुत आश्चर्य है कि धनी एवं सत्ता वर्ग ऐसा समझता है कि धन आने पर सभी ऐसे ही हो जाते हैं। ऐसा ही प्रश्न अकूर कृष्ण से अर्जुन के विषय में करते हैं कि अवसर आने पर वह भी तो ऐसा हो जायेगा। उसकी श्रेष्ठता का क्या प्रमाण है ?

कृष्ण का उत्तर अब सिर्फ उत्तर नहीं हैं, उदाहरण है-श्रेष्ठ मानवों का, उनकी मानवीयता का, जो विकट विरोधी परिस्थितियों में भी अपनी शक्ति का लाभ न उठाते हुए मानवीय गुणों के अनुरूप आचरण कर सकते हैं। कृष्ण कहते हैं, “प्रमाण यह है कि समर्थ होते हुए भी भीम ने अपनी हत्या का प्रयत्न करने वाले दुर्योधन का वध नहीं किया। ..... युवराज बन जाने पर भी युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र, दुर्योधन और उसके साथियों को अपदस्थ कर उनकी हत्या करना तो दूर, उन्हें तनिक-सी क्षति पहुँचाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। द्रुपद को पराजित कर भी पांडवों ने उनका राज्य छीनने अथवा उनसे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा

नहीं की। वारणावत जाने के संकट को जानते हुए भी अपने पितृत्व की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। काम्पिलय और हस्तिनापुर में अवसर मिलने पर भी वारणावत कांड का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न नहीं किया। कुरु-राज्य के बंटवारे के नाम पर खांडवप्रस्थ पाकर भी न विरोध किया, न लोभ दिखाया। द्रौपदी जैसी स्त्री पाकर भी अर्जुन का धर्म विरुद्ध काम नहीं जागा। राजा और भाई के क्षमा करने पर भी वह प्रतिज्ञा के अनुसार बारह वर्षों के लिए इंद्रप्रस्थ छोड़ आया। इतनी विकट परिस्थितियों में, प्राणों का भय रहने पर भी, जिन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा, वे कायर नहीं हो सकते।” (कोहली, महासमर 4, 198)

कैसी विडम्बना है, मनुष्य माया के लोभ में उचित-अनुचित के भेद को भुला बैठता है। इस सारी वार्ता को सुनकर वसुदेव यही तो चिंता करते हैं, ‘क्या कृष्ण सत्य कह रहा था ? यादवों ने समृद्ध और समर्थ होकर क्या धर्म और अधर्म का भेद भुला दिया है ?....उनके लिए समृद्धि, धर्म से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है?...अभी उन्होंने सुभद्रा के वर का चयन नहीं किया था, किन्तु दुर्योधन के नाम पर विचार तो चल ही रहा था। यदि उन लोगों ने धर्म की दृष्टि से विचार किया होता, तो उस आततायी के नाम पर विचार ही नहीं किया होता।...अब उनकी समझ में स्पष्ट रूप से आ रहा था कि धन के साथ कीटाणुओं के समान लगे हुए दुर्गुणों को वे देख नहीं पाए थे। वे लोग सुविधाजीवी हो गये थे। कष्ट में रहने की बात नहीं सोच सकते थे।..और एक वह है, पांचालराज द्रुपद ! उसने तो निर्धन और वनवासी अर्जुन के साथ अपनी राजकुमारी विदा कर दी थी।” (कोहली, महासमर 4,199)

वस्तुतः मनुष्य को ज्ञात होता है कि मानवीयता के क्या प्रमाणिक मापदंड हैं! किन्तु वह अपने प्रमाद, अपने विलास, अपनी सम्पदा में इस प्रकार उलझा है, कि उचित अनुचित की प्रमाणिक दृष्टि ही खो बैठता है।

## वैयक्तिक आकांक्षाएं एवं मानवीय मूल्यों का क्षरण बनाम मूल्य — अपरिहार्यता

व्यक्ति अधिकांशतः पद, प्रतिष्ठा, धन, समृद्धि के पीछे अपने मानवीय मूल्यों की बलि चढ़ा देता है। आश्चर्य है ! सुख सुविधाएँ कितनी महत्वपूर्ण हो जाती हैं, जीवन के लिए कि प्रतिभा और योग्यता का मूल्य नगण्य हो जाता है।

महाबली कर्ण भी तो अपनी आकांक्षाओं के चलते दुर्योधन द्वारा मिले वैभव का दास हो गया। उसके लिए भी तो निष्ठा का मूल्य पद ही रहा धर्म नहीं !

इन्द्रप्रस्थ में राजसूय के समय चेदिनरेश शिशुपाल की आगवानी और स्वागत करते भीम से उनकी वार्ता इसी तथ्य का विश्लेषण करती है। शिशुपाल भीम से कहता है, कि उन लोगों को कृष्ण को इतना महत्व नहीं देना चाहिए। वह किसी राजसी पद पर नहीं है इसलिए उनके समकक्ष भी नहीं है। भीम पूछता है, ‘पद पर तुम्हारा इतना बल है शिशुपाल ! प्रतिभा पर तनिक भी नहीं ?’ शिशुपाल के अनुसार, ‘प्रतिभा क्या होती है ! प्रतिभा तो वही होती है, जो पद को प्राप्त करे। प्रतिभा कारण है, पद उसका कार्य। पद नहीं है, तो समझ लो प्रतिभा भी नहीं है, पाखंड है पाखंड !’

यहाँ भीम का वक्तव्य व्यक्ति के उच्च स्वरूप को दर्शाता और उसका अनुमोदन करता है, “मैं मानता हूँ प्रतिभा पद की मुखापेक्षी नहीं होती। पद पर बैठा व्यक्ति बस उसी समय तक महत्वपूर्ण होता है, जब तक वह पद पर है, और उन्हीं के लिए महत्वपूर्ण होता है, जिन्हें उससे कोई काम होता है। प्रतिभा इन सबसे स्वतंत्र है...न वह पद पर विराजती है, न पद उसे त्यागता है, न वह किसी की कृपा पर निर्भर होती है, न उसे किसी की मान्यता की आवश्यकता होती है। तुम जब चाहो किसी भी साधारण व्यक्ति को पकड़, किसी पद पर नियुक्त कर, सीमित अर्थों में उसे महत्वपूर्ण बना सकते हो, और जब तुम्हारी इच्छा हो उसे पद से मुक्त कर, पुनः उसे साधारण एवं महत्वहीन बना सकते हो।...किन्तु कितना भी चाहो..किसी

को कण भर भी प्रतिभा न दे सकते हो, और न किसी की प्रतिभा छीन सकते हो।”...“पद के कारण धृतराष्ट्र महत्वपूर्ण है, और प्रतिभा के कारण हमारे पितामह भीष्म। धृतराष्ट्र को केवल राजकर्मचारी ही शीश झुकायेंगे और पितामह को देखकर उदंड मस्तक स्वयं श्रद्धा से नत हो जाते हैं।..महामुनि वेदव्यास के पास कोई पद नहीं। वे राजसभा में हों, अथवा किसी सामान्य वृक्ष के नीचे ..वे महामुनि ही रहेंगे। उग्रसेन राजा हैं, किन्तु क्या स्थिति है उनकी ? कृष्ण राजा नहीं हैं, किन्तु समस्त राजा उनके नचाये नृत्य करते हैं।”...

शिशुपाल जैसे धृष्ट व्यक्ति अपने तर्कों से जल्दी कहाँ हारते हैं ? वह भीम को कृष्ण की सोलह सहस्र रानियों और उसके अंतः पुर का ताना देता हुआ कृष्ण के चरित्र पर तंज कसता है। भीम भी बिना विचलित हुए कहता है, भौमासुर के अवरोध से मुक्त की गयी स्त्रियाँ न तो उस अर्थ में कृष्ण की पत्नियाँ हैं, न वे उसके अंतःपुर में रहती हैं। ... जिन स्त्रियों को कलंकिनी मानकर उनके पति, पुत्र, पिता अथवा भाई स्वीकार नहीं कर रहे थे, उन सोलह सहस्र स्त्रियों का कलंक धारण किया है, कृष्ण ने अपने माथे पर।...वह उनके भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है, उनकी रक्षा के लिए उत्तरदायी है, उसने उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए अपना नाम दिया है।”..मानवीयता की चरम पराकाष्ठा है, किसी का उद्धार करना, समाज में अपनों द्वारा बहिष्कृत जीवों को अपना आश्रय देकर उन्हें भयमुक्त करना! और किसे कहते हैं मानवीयता ?

महासमर में ऐसे कितने ही प्रकरण भरे हैं, जो कहीं आज की विद्वृपताओं का दृश्य दिखाते हुए चकित करते हैं, और कहीं समाज की प्रत्येक समस्या को सुलझाने के लिए सरल, सहज मार्ग प्रशस्त करते हुए उद्वेलित करते से लगते हैं। किन्तु साथ ही साथ दुष्ट दलन का सन्देश भी आवश्यक बताते हैं। अतः मानवता की रक्षा के लिए धर्म एवं शांति की संस्थापना के लिए पीड़ित मानवता को मुक्त करने के लिए दुष्टों का नाश भी आवश्यक है। यद्यपि कृष्ण अंत तक युद्ध रोकने और संधि का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह ऐसी शांति भी नहीं चाहते जिसमें अधर्म हो,

अन्याय हो। इसलिए वह युधिष्ठिर, अर्जुन के साथ-साथ भीम के अन्दर होते परिवर्तन और उनकी करुणा से विचलित होते हैं। यदि सभी के अन्दर करुणा और मानवता के भाव उठने लगे तो धर्म की रक्षा के लिए युद्ध कौन करेगा ? (कोहली, महासमर 7,169)

## श्रेष्ठ मानव चरित्र-श्रेष्ठ मानवीय आचरण

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय श्री कृष्ण को महर्षि वेदव्यास और युधिष्ठिर, तंत्र स्वामी बनाना चाहते थे परन्तु वह कहते हैं, “यह सम्मान आप कुलवृद्ध पितामह भीष्म को तथा आचार्य द्रोण को दें।...और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मेरी इच्छा है कि आप मुझे विद्वान् ब्राह्मणों और विप्रों के चरण पखारने का कार्य दें।” युधिष्ठिर अवाक हैं .. “विप्रों के चरण धोना चाहते हैं !...अहंकार का ऐसा विगलन। विनय की ऐसी चरमावस्था। कृष्ण मनुष्य नहीं हैं...मानवीय सीमाओं और दुर्बलताओं पर ऐसी विजय कोई मनुष्य पा सकता है क्या?...ईश्वर अपने साकार रूप से मानव को मानवता का कौन सा पाठ पढ़ाना चाहते हैं, समझना कहीं असंभव है क्या? और संभव भी है क्या? किसे कहते हैं मानवीय मूल्य? महामुनि वेदव्यास युधिष्ठिर को कहते हैं कि, “यह यज्ञ राजनीतिक महत्व का होते हुए भी अध्यात्मिक अनुष्ठान है। यज्ञ में दीक्षित राजा को केवल धर्म को दृष्टि में रखना है, व्यक्तिगत संबंधों तथा रागद्वेष को नहीं। सम्राट को समदृष्टि युक्त होना चाहिए।... किसी के प्रति उसके मन में पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए।” यहाँ युधिष्ठिर का प्रतिउत्तर उसके मानवीय गुणों से युक्त आचरण को दर्शाता है। वे कहते हैं, ‘मेरे मन में वैसे भी कोई भेदभाव नहीं है। .. मैं किसी भी क्षण परीक्षा देने को प्रस्तुत हूँ। मेरे मन में दुर्योधन के लिए घृणा नहीं है। यदि मेरे मन में उसके प्रति भाइयों का-सा प्रेम न भी हो तो मानवीय स्नेह अवश्य है। ऐसे लोगों के प्रति तो हमारे मन में करुणा का भाव ही होना चाहिए, जो राज-मद और राज्य-मोह में कभी शांत और सुखी नहीं रह सकते।’ चरित्र के उच्च मानवीय रूप का उदाहरण है युधिष्ठिर का आचरण !

कृष्ण अपने जीवन से मानवता का उच्चतम उदाहरण देते हैं- व्यक्ति कैसे जिए ? उसके आदर्श कैसे हों ? क्षमा और पुरस्कार किसे और कैसे मिले ! यह सब उदाहरण उनके एक-एक कार्य में परिलक्षित होता है। महान ग्रन्थ गीता जीवन का दर्शन है, जिसे मानव यदि समझ ले तो मूल्यों को समझने और आचरण में उतारने की कोई चेष्टा करने की आवश्यकता ही न रहेगी।

डॉ. नरेन्द्र कोहली ने श्रीकृष्ण के जीवन पर एक उपन्यास रचा है, 'अभिज्ञान', जिसमें मानवता की उदात्तता का एक उद्धरण है, कृष्ण कहते हैं, "बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी पशु-वृत्तियों को त्याग सके और अपनी साधना, त्याग तथा तपस्या से मानव-जाति के कल्याण के लिए कोई मार्ग निकल सके।" (कोहली, अभिज्ञान 91)

मानव और मानव की मानवीयता सदैव ही मनुष्य को देवत्व की ऊँचाइयों पर ले जाती है। डॉ. कोहली के ही एक ओर उपन्यास 'तोड़ो करा तोड़ो' में जो उन्होंने स्वामी विवेकानंद जी के जीवन पर रचा है, उसमें वह कहते हैं कि, "मानवीय क्षमता की कोई सीमा नहीं।" (कोहली, तोड़ो कारा तोड़ो 1,191)

वास्तव में जिंदगी जैसी हम बनाना चाहते हैं, वैसी होती है। हर दिन की साधारण घटनाएँ अनोखे अंदाज़ में जीवन को बदलती हैं इन पर नियंत्रण की सीमा, जीवन को आकार देती है। साहित्यिक पत्रिका आहा जिंदगी ! के सितम्बर 2009 अंक में श्रेष्ठता के सूत्र शीर्षक लेख में मानवीय श्रेष्ठता की बहुत सुंदर व्याख्या और विचार प्रस्तुत हैं। इनमें कई विचारकों के अनुभव भी कहे गये हैं। लेखक डेविड.जे.पॉल अपना एक अनुभव बताते हैं, 'एक बार मैं और मेरी पत्नी अपनी बेटियों एरिला और इलायना को लेकर तितलियों के संग्राहलय पहुंचे। जब हम म्यूजियम पहुंचे तो हम वहां हजारों तितलियों से घिरे हुए थे। सभी अपने बहुरंगी पंखों को फडफडा रही थीं। मेरी बेटियां रोमांचित थीं। मैंने म्यूजियम गार्ड से पूछा, तितलियाँ कितने वक्रत तक जिन्दा रहती हैं। उसने जवाब दिया, दस दिन तक। मैंने तुरंत कहा, तितलियां दस दिन में क्या कर सकती हैं। मेरी छोटी बेटी रुक गयी,

चुपचाप कुछ पल के बाद उसने कहा, वे दुनिया को खूबसूरत जगह बना देती हैं। अब हर दिन मैं अपने आप से पूछता हूँ, मैं किस तरह दुनिया को खूबसूरत जगह बना रहा हूँ ? एक लंबी जिन्दगी अच्छी है, लेकिन श्रेष्ठ जिन्दगी बेहतर है।' क्या खूब प्रेरक प्रसंग है जीवन को उपयोगी-सदोप्योगी बनाने की दिशा देने वाला !

रोमन दार्शनिक सेनेका ने एक बार कहा था कि 'जीवन एक नाटक की तरह है, जिसकी लम्बाई नहीं अभिनय की श्रेष्ठता महत्वपूर्ण होती है।'

यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया की प्रोफेसर सॉजा ल्युबोमिरसकी की रिसर्च बताती है कि 'श्रेष्ठ जिन्दगी संभव है और इसका मापन आपके द्वारा जिये गये सालों से नहीं होता। बल्कि उन गुणों पर निर्भर करता है, जिनका इस्तेमाल अपने जीवन में किया है।' (आहा जिन्दगी !21)

मानवीयता के उदाहरण यत्र तत्र बिखरे मिल जाते हैं, जिससे जीवन की सुन्दरता बनी रहती है और कल्याण का मार्ग गतिवान रहता है, अवरुद्ध नहीं होता। एक उदाहरण देखें: 'वर्ष 2012 में किसी वक्रत सारिका शुक्ला भोपाल के मिसरोद में एसडीओपी (अनुविभागीय दंडाधिकारी) नियुक्त हुई। एक रात उन्हें एक फ़ोन पर बताया गया कि विधाननगर की किसी बहुमंजिला इमारत की एक खिड़की से किसी व्यक्ति का शरीर लटका हुआ है और सर अन्दर फंसा है। पुलिस को यह समझते देर नहीं लगी कि वह सेंध लगाने के लिए आया था, उसके पास कुल्हाड़ी का फल भी मिला। अब चोरी करते हुए पकड़ा जाना आम बात नहीं है और जगजाहिर है कि ऐसा व्यक्ति पकड़ा जाये तो जाँच अधिक्कारी अपने सारे अनसुलझे चोरी के प्रकरण उसके माथे मढ़ कर सराहना बटोर लेता है। अगली सुबह सारिका ने थानाप्रभारी को चोर को उसके सामने पेश करने को कहा। अपनी अनुभवी आँखों से सारिका ने समझ लिया कि 14, 15 साल का चोर किसी भी दृष्टि से आदतन अपराधी नहीं था। पूछने पर उसने रोते हुए कहा कि एक हफ्ते पहले ही बिलासपुर से भोपाल काम की तलाश में आया था क्योंकि उसकी माँ को उसे और दो बहनों की परवरिश में बहुत संघर्ष करना पड़ रहा था। लेकिन काम नहीं मिला

तो खाली हाथ न लौटने की बात सोचकर चोरी करने की कोशिश कर रहा था। सारिका ने उसे लांड्री का काम करने या सब्जी बेचने का काम करने की सलाह दी। खाना खिलाया, उसका इलाज कराया और बिलासपुर का टिकट देकर भेज दिया।

अब यह निर्णय दिमाग से नहीं परन्तु दिल से किया गया, उस विश्वास पर की मानवता के धरातल पर शायद उस चोर का जीवन एक मौका और पा जाये। सारिका को 2015 में एक अनजान नंबर से फ़ोन करके उस चोर ने अनेक बार धन्यवाद किया और बताया कि वह लांड्री का काम करता है और अपनी एक बहन का विवाह भी कर चुका है। इतने बरस पहले के फैसले का नतीजा देखकर सारिका अपने लिए तालियाँ बजा सकीं। आज वह भोपाल में आई.जी. हैं। (रघुरामन 6)

जीवन हमें कई अवसर देता है और साथ ही देता है कार्य करने की शक्ति। अब चुनाव स्वयं करना है कि कार्य सकारात्मक है या नकारात्मक। स्वार्थमय है या परमार्थमय।

परमार्थ मानवीयता का मुख्य सिद्धांत है। शास्त्रों से भी यही ज्ञान प्रवाहित हो रहा है कि जीवन प्रवाह वसुधैव कुटुम्बकम् की मूल अवधारणा के अनुसार ही बहे तो उत्तम है। यह तथ्य साहित्य मनीषी कई बार अपनी लेखनी से अपने काव्य में प्रकट करते रहे हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने अपने महाभारत आधारित काव्य में यही मानवीय भाव उद्धृत किया है-

“दुर्लभ नहीं मनुज के हित,  
निज व्यैक्तिक सुख पाना,  
किन्तु, कठिन है कोटि-कोटि  
मनुजों को सुखी बनाना।  
एक पंथ है, छोड़ जगत को  
अपने में रम जाओ,  
खोजो अपनी मुक्ति और



निज को ही सुखी बनाओ ।  
 अपर पंथ है, औरों को भी  
 निज विवेक-बल दे कर,  
 पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से  
 साथ बहुत को ले कर ।  
 जिस तप से तुम चाह रहे  
 पाना केवल निज सुख को,  
 कर सकता है दूर वही तप  
 अमित नरों के दुःख को । ( दिनकर, कुरुक्षेत्र, 89)

जीवन का मूल्य व्यष्टि से समष्टि कल्याण है । जिसके बिना जीव की कल्पना संभव नहीं । अतः मानवतादर्श को हम प्रमुख जीवन मूल्य की संज्ञा दे सकते हैं । मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य साकेत में राम और सीता दोनों ही मानवतावादी दृष्टि के व्यंजक पात्र हैं । राम तो मानव में दैवी सत्ता की प्रतिष्ठा का आदर्श लेकर आये हैं:

“भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया  
 नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।  
 सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया,  
 इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।। ”

(गुप्त, साकेत, अष्टम सर्ग 334)

वास्तव में साकेत एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें मैथिलीशरण गुप्त जी ने अपनी रचना के द्वारा जीवन में उन्हीं तत्त्वों की महत्ता ज्ञापित की है जिनसे मानव का मानव के प्रति सद्भाव बना रहे । उनका मत है कि मानवता की रक्षार्थ यदि जीवन भी आवश्यक हो तो आहूत कर देना चाहिए । विश्व हित तभी संभव हो सकता है जबकि :-

“मनुजता की रक्षा के हेतु,  
 निछावर कर दे अपने प्राण ।  
 जगायेगा जन जन में भरी,  
 मनुजता को जो मनुज महान  
 विश्व-रक्षा हित उसमें शक्ति  
 भरेंगे विश्वंभर भगवान ।।” (गुप्त, साकेत द्वादश सर्ग 28)

मानवीयता और किसे कहते हैं, न केवल शास्त्र, वरन हमारा साहित्य, हमारे मूर्धन्य रचनाधर्मी अपने शब्दों से निरंतर यही सन्देश देते हैं ।

श्री बलदेव शर्मा जो नेशनल बुक ट्रस्ट के चेयरमैन हैं, उनका जीवन सम्बन्धी लेख भी मानवीयता के ही मूल्य को स्थापित करता है। वे लिखते हैं, ‘अपने जीवन के बारे में सोचता हूँ तो यहाँ तक पहुँचने की यात्रा में बहुत से प्रसंग याद आते हैं जिनके संयोग से मेरा जीवन इस रूप में खड़ा हुआ है कि मैं इसकी सार्थकता का संतोष लेकर जी सकूँ।...दरअसल, जिन्दगी एक निरंतरता है, एक विचार यात्रा है, अच्छे बुरे अनुभवों का समुच्चय है, जिससे व्यक्तित्व रूपाकार लेता है।’... जिस घर में जन्मा वह साधारण किसान परिवार था, ज्ञान व् सेवा परिवेश में रचा बसा। मैं छोटा था तो यह बातें बहुत समझ नहीं आती थी। इसके बाद भी एहसास था कि वहाँ कोई महानता भले नहीं है लेकिन, जिन्दगी का अर्थ, मनुष्यता का बोध और समाज व् देश के लिए अपनी जिम्मेदारी का अहसास बहुत बिखरा है। इसी वातावरण में मैंने सीखा कि जीवन में महानता या सफलता पाना महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि एहमियत इस बात की है कि अपने और दूसरों के उन्नयन के लिए कितना सार्थक जीवन जीया।’..अपने बहुत से अनुभवों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि, ‘मेरे बाबा साधारण निरक्षर किसान थे लेकिन साधुओं की संगत बहुत करते थे, उनसे रामायण-भागवत की बहुत सी कथाएं, चर्चाएँ सुनी।’..‘बचपन में एक गाना बहुत बार सुना, ‘अपने लिए जिए तो क्या जिए, तू जी, ऐ दिल, ज़माने के लिए।’.. मुझे पिता ने मृत्यु के समय मेरा हाथ माँ को सौपते हुए कहा था कि उसे

अच्छा इन्सान बनाना और देशहित के लिए जीना सिखाना।’..‘मेरा 35 वर्षों का पत्रकारिता का जीवन भी इसी भावबोध पर टिका है।’(शर्मा 6)

ऐसा ही एक और व्यक्तित्व है जो मानवता की उर्जा से भरा अपने गायन से सच्ची मनुष्यता की छाप छोड़ रहा है। वह है पदमश्री से सम्मानित गायक, गीतकार और संगीतकार श्री कैलाश खेर। अपने बारे में एक लेख में वो कहते हैं, ‘मेरा रुझान बचपन से ही संगीत की ओर रहा। मेरे पिता पंडित थे और शौकिया लोक गायक थे। वे कबीर, रैदास, गुरु नानक देव, आमिर खुसरो आदि के पद गाते। संगीत तो बाद में आया पहले उन्हें सुनकर साहित्य और काव्य का असर हुआ बल्कि कहूँगा कि विचार और उसके भीतर के तत्व का बहुत ज्यादा असर हुआ। अच्छा गीतकार, संगीतकार बनना है तो यह परमावश्यक है कि पहले अच्छा व्यक्ति बनें। व्यक्ति अच्छे विचारों का प्रतिपादन करे।’..... ‘जीवन जीना एक कला है। आप मनुष्य पहले हैं। कल कोई आपदा आती है तो कोई आपकी डिग्री नहीं देखेगा, मनुष्य के रूप में देखेगा। हमारा संगीत मनुष्य के जागरण के लिए है, मनोरंजन के लिए नहीं।’.... ‘अंतरात्मा में परमात्मा है, यह तो सब जानते हैं, ‘तेरी काया- नगर में राम-राम, तू जंगल-जंगल क्या ढूंढे।’....‘हम अपना आक्सीजन मास्क लगाकर ही दूसरों को बचा सकते हैं। स्वयं आंदोलित होंगे तो दूसरों के लिए कुछ करेंगे। दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है विचार की शक्ति, विचार का अंकुरण।’... ‘सुकरात को सुकरात एक विचार ने बनाया, गाँधी को महात्मा एक विचार ने बनाया, लिंकन कैसे बने ? यह विचार का ही तो असर है। हर मनुष्य को अपना जीवन ऐसे जीना चाहिए जो दूसरों को अच्छाई और नेकी से जीने की प्रेरणा दे सके।’ (खेर 6)

## मानवीयता-प्रेरणा एवं प्रयत्न

अगर चाहें तो यत्र-तत्र सर्वत्र ऐसे प्रेरक प्रसंग जीवन की सार्थकता को कहते और प्रमाणिक करते प्रसंग मिल जाते हैं, केवल विचार को ही प्रेरित करने की आवश्यकता है। किन्तु वर्तमान समाज जिस तरह नेकी और मानवता के प्रसंगों

से आगाह करता है, वैसे ही कई विद्वपताओं को भी अपने में समेटे है। कहते हैं कि यदि समझाने से कोई समझता हो तो महाभारत और राम-रावण युद्ध की क्या आवश्यकता थी ? आज के समाचार पत्र नित्य समाज की नकारात्मकता और द्वेष का रूप ही दिखाते हैं। दूरदर्शन पर आने वाले अपराध के कार्यक्रम 'सनसनी', 'वारदात', 'सावधान इंडिया', 'क्राइम पेट्रोल', आदि ऐसे कार्यक्रम हैं जो आज की दुनिया की ऐसी तस्वीर प्रेषित करते हैं जिन्हें देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं और मानवता पर शंका होने लगती है।

25 मार्च के दैनिक भास्कर समाचार पत्र के मुख्य पृष्ठ पर खबर थी, '28 साल पहले माँ-बाप, भाई-भाभी व् बहन को आंतकियों ने मारा, 20 किले जमीन के लिए पत्नी और बेटों ने पागल बता 5 साल तक कमरे में रखा कैद'। पूरी बात ऐसे है कि पंजाब राज्य के मोगा जिले में, आंतकियों के द्वारा माता पिता, भाई-भाभी और बहन की हत्या हो जाने के बाद हरजिंदर नाम का व्यक्ति 20 किले जमीन का अकेला वारिस बन गया। पत्नी, बेटों और चचेरे भाई के द्वारा कुछ जमीन का सौदा करने पर हरजिंदर ने विरोध किया तो उसे पत्नी बच्चों द्वारा एक कमरे में 5 साल तक बंधक बना के रखा गया। वही खाना, वही शौच। पांच वर्ष बाद, किसी तरह कमरे से बाहर आया तो डी.सी. मोगा प्रवीण कुमार को आपबीती सुनाकर कहा कि उसे किसी वृद्ध आश्रम में भेज दिया जाये। अब पुलिस मामले की जांच कर रही है।' (भास्कर 1)

क्या दशा हो गयी है मनुष्यता की ? किस रिश्ते पर व्यक्ति भरोसा करेगा ? धन सम्पदा मानवता की धज़ियाँ उड़ाते से लगते हैं। आसुरी वृत्तियाँ अपने चरम पर हैं। स्वार्थ ने मनुष्यता के आकाश पर ग्रहण की छाया कर दी है। लेकिन जीवन की सकारात्मकता मनुष्य को उसकी आशा से पृथक नहीं होने देती। व्यक्ति कितना भी दुखी हो, मरना नहीं चाहता। उसको जीवन में कुछ न कुछ लालसा लोभ देती रहती है। और क्यूँ न हो। इन सब हालातों के बावजूद बहुत से ऐसे महानुभाव भी हैं, जो सर्व-समाज के लिए कल्याण की चेष्टाएँ करते रहते हैं। कहीं कुछ न कुछ गलत हो रहा है, इस बात को सब समझते तो हैं, किन्तु संज्ञान लेने की चेष्टा नहीं करते। पर

नेक मनुष्य, नेकी के लिए ऐसा कोई न कोई कार्य करते रहते हैं, जिससे औरों को प्रेरणा मिले। एक उदाहरण देखने योग्य है:- जयप्रकाश चौकसे दैनिक भास्कर के अपने प्रतिदिन स्तम्भ के लेख में लिखते हैं, 'खबर है कि इंदौर, भोपाल और कुछ अन्य शहरों में 'रोबिन्हुड' नामक संगठन बना है, जो साधन सम्पन्न लोगों से भोजन लेकर बेघरबार गरीबों में वितरित करेगा। इस संगठन के सदस्य अपना हर रविवार इसी नेक काम में लगाएंगे। कुछ रेस्तरां और होटल वाले भी उन्हें भोजन उपलब्ध करायेंगे।'... 'साधनहीन लोगों की भूख के खिलाफ यह एक शांतिपूर्ण एवं सार्थक युद्ध है।...इंदौर के अमित त्रिवेदी नामक युवक ने यह शंखनाद किया है। इंदौर के कमिशनर संजय दुबे ने भी इस दल को एक वाहन प्रदान किया है।.. इंदौर के मीडियाकर्मी विक्रमजीत सिंह भी इससे जुड़े हैं।.. इस तरह की संस्थाओं के उदय से यह रेखांकित होता है कि पूरी तरह निराश होने की जरूरत नहीं है।' (चोकसे 8)

अतः मानवीयता का द्वार खुला है।

इसी सन्दर्भ में जयप्रकाश चौकसे एक अन्य लेख में कुछ और उदाहरण देते हैं:- 'फिल्म अभिनेता अक्षय कुमार अपने सलाहकारों के साथ मिलकर एक योजना को सरकार के सहयोग से चला रहे हैं। जिसमें सरहद पर शहीद हुए जवानों के परिवार के लिए कुछ ठोस सहायता की जा सके और यह उस समय तक जारी रहे जब तक परिवार का युवा कमाने लायक न हो जाये। अक्षय कुमार सरहदों की सुरक्षा के लिए अत्यंत सर्वेदनशील हैं।'..... 'इसी प्रकार एक और फिल्म अभिनेता सलमान खान अपने 'बीइंग ह्यूमन' नाम के संगठन द्वारा भलाई के कामों में सैकड़ों रूपए खर्च कर रहे हैं।'..दक्षिण भारतीय फिल्म सितारा रजनीकांत भी अपनी कमाई का बड़ा अंश असहाय लोगों पर खर्च करते हैं।..अर्थात मनोरंजन उद्योग के लोग मानवता के दर्द से विचलित हैं और अपनी अपनी सीमाओं में कुछ न कुछ कर रहे हैं।' (चोकसे 8)

मानव मूल्य कभी समाप्त नहीं हो सकते, हाँ कहीं कहीं इसका विद्वूप रूप दीखता है, परन्तु जीवन में देव और दानव दोनों का अंश बना रहता ही है। वर्तमान

को कोई कितना भी कलियुग के नाम पर कोस ले परन्तु इसी समाज के ही उदाहरण हैं जो मानवता की पौध को सूखने नहीं देते। इसी सन्दर्भ में एन.रघुरामन रचित लेख- 'कल की परिपूर्ण दुनिया आज की अपूर्णताओं से शुरू होती है, पढ़ा, जो दैनिक भास्कर के 24 जुलाई 2017 अंक में छपा। उदाहरण देखें-'वाराणसी के जिला मजिस्ट्रेट योगेश्वर राम मिश्रा ने पिछले माह (जून 2017) अपने शहर में न सिर्फ माध्यमिक स्कूल को गोद लिया वरन वहां पढ़ाना भी शुरू कर दिया ताकि पढ़ाई में बच्चों की रूचि पैदा की जा सके। हर शनिवार को कक्षा 1 से 8 तक के बच्चों को गणित, अंग्रेजी और विज्ञान पढ़ाते हुए वे बच्चों की अधिकतम सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए कक्षा को यथासंभव इंटरैक्टिव रखते हैं, यानि बच्चों को प्रश्न पूछने और उत्तर जानने के लिए प्रेरित करते हैं। वे उन्हें बोलने के लिए बढ़ावा देते हैं।' ...इसी तरह-'त्रिची शहर में दो मित्रों और सेवा निवृत्त शिक्षाविदों ने नई पीढ़ी के पुस्तक प्रेमियों के लिए असाधारण कदम उठाया है। उन्होंने एक वाचनालय खोला है, जिसमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत संग्रह से करीब 5000 किताबें दी हैं। इसमें असाधारण बात क्या है ? यह पूरी तरह मुफ्त है और इसका एकमात्र उद्देश्य अगली पीढ़ी में पढ़ने की आदत को बढ़ावा देना है।' (रघुरामन 8)

वास्तव में मनुष्य का दुर्भाग्य यह है कि वह जो कुछ सोचता है, उसे कर नहीं पाता, अपने आचरण में उतार नहीं पाता। चेतना का अभियान पशुता से देवत्व की ओर है। और आदमी है कि देवता और पशु के बीच की कड़ी बन कर ठहरा हुआ है। मन से मनुष्य देवता से भी कभी-कभी आगे निकल जाता है। किन्तु उसके शरीर में अब भी पाशविक वृत्तियां भरी हैं। उसकी वास्तविक उन्नति तो उसकी बौद्धिक उन्नति के साथ-साथ चारित्रिक उन्नति पर ही निर्भर करती है।

यह सब प्रश्न महासमर काल में ही नहीं, आज भी उतने ही ज्वलंत हैं। उस समय जिस प्रकार इनका निवारण करने को उत्तम चरित्र उपस्थित थे आज भी कहीं न कहीं मानवता मनुष्यों के रूप में अपने कार्य कर रही है। द्वापर युग से पूर्व राम

के त्रेता युग में भी तो, आसुरी वृत्तियों से मानव रूप में आकर राम को जूझना पड़ा था। और उस समय भी मानवता के महान कार्य के लिए प्रेरित करने वाले उत्तम चरित्रों की कमी नहीं थी।

साहित्य में कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं कि राम के वन जाने का निमित्त कैकयी रानी बनी थी। परन्तु राम ने वन जा कर जो राक्षस वध किये उसका श्रेय भी कैकयी रानी को दिया जाता है। श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' द्वारा रचित काव्य 'कैकयी' में उन्होंने कैकयी के चरित्र द्वारा मानवता का सन्देश दिया है। उनके कव्यानुसार कैकयी प्रारम्भ से अंत तक केवल देश, धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान के प्रति ही सजग नहीं वरन मानवोत्कर्ष में भी उनकी पूर्ण आस्था है। सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा तभी संभव हो सकेगी जब हम सब मानव को मानव समझें तथा परस्पर साम्य एवं उदार दृष्टि का परिचय दें। स्पष्ट है कि मानव की प्रतिष्ठा किये बिना हम मानवता के महत्व को समझ ही नहीं सकते। इसीलिए कैकयी मृतप्रायः मानवता को ललकारती हुई जीवन से अपेक्षा करती है कि:-

“आज चाहिए जीवन जो

आंधी में दीप जला दे

आज चाहिए पौरुष जो

कण-कण में आग जिला दे।” (मिश्र, कैकयी, तृतीय सर्ग 39)

‘यही कारण है कि कैकयी राम को राज तिलक की अपेक्षा वनवास भेजना चाहती है। यहाँ वे अनार्यों पर आक्रमण एवं मानवता के हास को प्रदर्शित करती है तथा ऐसी स्थिति में राम के लिए वनवास की मांग करती है जिसे मानवता वादी व्यक्ति अनुचित नहीं कह सकता।..यहाँ कवि ने कैकयी को स्वार्थ हित की अपेक्षा परार्थ हित में सलंग्न दिखाया है।’ वर्तमान का भी तो यही त्रास है, जिसे कवि यूँ कहता है,

“लगतता है, संसार बन गया  
 दानव का उन्माद ।  
 आज न मानव-मन में बाकी  
 मानवता की याद ।” (मिश्र, कैकयी, पंचम सर्ग 72)  
 और उसके लिए कैकयी राम से कहती है,  
 “पलकों से आकर पोंछों  
 पृथ्वी का दग्ध शरीर  
 चमका दो फिर मानवता की  
 मिटती भाग्य-लकीर ।” (मिश्र, कैकयी, दशमसर्ग 158)  
 ‘भरत को भी कैकयी अपने मन का भेद बताती है,  
 “वन की ओर राम का जाना  
 मानवता की जय है  
 आर्य-सभ्यता की चिर मानव  
 स्वतंत्रता की जय है ।” (मिश्र, कैकयी, द्वादश सर्ग 184)

ऐसी नारियों की तेजस्विता के लिए डॉ. श्याम नंदन किशोर ने ‘कैकयी’ (काव्य) को नवीन दृष्टिकोण के लिए सराहा है, ‘कैकयी महाकाव्य में कथानक मानस का ही लिया गया है, पर कैकयी के चरित्र के परिमार्जन के लिए कथा में नए मानवीय तत्वों का समावेश किया है। आर्यों पर अनार्यों के आक्रमण की पृष्ठभूमि लेकर राम को वन भेजने में कैकयी की राष्ट्रीयता दिखलाई गयी है..कथा की दृष्टि से नवयुग के अनुसार राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण दर्शनीय है ।’ (किशोर 191)

कहा जाता है कि ईश्वर ने स्वयं की कमी को पूरा करने के लिए नारी का निर्माण किया। यह तो लोकोक्ति के रूप में सामाजिक मान्यताओं की बात है, किन्तु इस बात में नारी का महत्व सामने आता है। सृष्टि की रचना में नारी और पुरुष अर्थात् नर एवं मादा दोनों का सामान भाग है। मानव हो या मानवीयता किसी भी



विषय की परिकल्पना न महाभारत युग में नारी के बिना की जा सकती थी न ही वर्तमान में नारी को परोक्ष में किया जा सकता है। मानवता के उत्थान के लिए नारी की सहभागिता को नकारा नहीं जा सकता। नारी की रचना द्वारा प्रकृति-सृष्टि ने एक मनोवैज्ञानिक संसार की अनुभूति प्राणी को सौंपी है।

## आधी सृष्टि की स्वामिनी नारी-अर्धनारीश्वर

पुराणों में महादेव शिव को अर्धनारीश्वर कहा गया है। सृष्टि की रचना पुरुष और स्त्री दोनों के संगम पर ही टिकी है। इसलिए नारी के प्रतिभाग को किसी भी तरह कम नहीं आँका जा सकता-न मानवीयता के क्षेत्र में, न मनोविज्ञान के क्षेत्र में, न भावनात्मक क्षेत्र में, न सामाजिक क्षेत्र में और न ही उसके स्वयं के व्यक्तिगत क्षेत्र में। वह हर स्थिति में, हर काल में अपने ब्रह्म रूप में, अपनी उपस्थिति दर्ज कराती ही है। यहाँ जयशंकर प्रसाद जी की कामायनी की विश्वप्रसिद्ध पंक्तियाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा :-

‘कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती—सी,  
 गोधुली के धूमल पट में दीपक के स्वर में दीप्ती—सी। .....  
 तुम कौन ! हृदय की परवशता ? सारी स्वतंत्रता छीन रही,  
 स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-वन से हो बीन रही !’  
 संध्या की लाली में हंसती, उसका ही आश्रय लेती-सी,  
 छाया प्रतिमा गुनगुना उठी, श्रद्धा का उत्तर देती—सी,  
 ‘इतना न चमत्कृत हो बाले ! अपने मन का उपकार करो,  
 मैं एक पकड़ हूँ जो कहती ठहरो कुछ सोच-विचार करो।  
 अम्बर-चुम्बी हिम-श्रृंगो से कलरव कोलाहल साथ लिए,  
 विद्धुत की प्राणमयी धारा बहती जिसमे उन्माद लिए।  
 फूलों की कोमल पंखुरियां बिखरें जिसके अभिनन्दन में,  
 मकरंद मिलाती हों अपना स्वागत के कुमकुम चन्दन में,  
 कोमल किसलय मर्मर-रव्-से जिसका जय घोष सुनाते हों,

जिसमे दुःख सुख मिलकर मन के उत्सव आनंद मनाते हों,  
उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,

जिसमे अनंत अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं। .....  
हाँ, ठीक, परन्तु बताओगी मेरे जीवन का पथ क्या है?

इस निविड़ निशा में संसृति की आलोकमयी रेखा क्या है?  
यह आज समझ तो पायी हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ,

अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ। .....  
नारी जीवन की चित्र यही क्या ? विकल रंग भर देती हो,

अस्फुट रेखा की सीमा में आकार कला को देती हो।  
रूकती हूँ और ठहरती हूँ पर सोच-विचार न कर सकती,

पगली-सी कोई अंतर में बैठी जैसे अनुदित बकती।  
मैं जभी तौलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ,

भुजलता फंसा कर नर-तरु से झूले-सी झोंके खाती हूँ  
इस अर्पण में कुछ और नहीं केवल उत्सर्ग छलकता है,

मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।  
“क्या कहती हो ठहरो नारी ! संकल्प-अशु जल से अपने-

तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने।  
नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नाग पगतल में,

पियूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।  
देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा,

संघर्ष सदा उर-अंतर में जीवित रह नित्य-विरुद्ध रहा।  
आंसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा-

तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधिपात्र लिखना होगा। ”

(कामायनी, लज्जा परिच्छेद )

नारी के विषय में साहित्य में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कहीं उसके सौन्दर्य पर, कहीं उसके तेज पर, कहीं उसके लालित्य पर, कहीं उसकी गरिमा पर, कहीं

उसकी मनस्विता पर, कहीं उसकी मर्यादा और सांस्कृतिक विचारधारा और सामाजिक दायित्वों की समझ पर। जैसा कि जयशंकर की महान कविता दर्शाती है, कोमल नारी, दीपक सी प्रदीप्त नारी, स्वप्न देखती उन्माद से भरी नारी, माधवी सी नारी, जीवन वन से सुरभित नारी, सोच विचार करती स्वयं में खोई नारी, जिसका स्वागत सृष्टि की अप्रतिम प्रकृति करती है, जिसके मन में सुख दुःख उत्सव की तरह चेतन हैं, जो कहीं दुर्बल मना होकर वंचित हैं कहीं, सबल—स्वाभिमानी होकर अधिकारों को संचित करती है। कभी सर्वस्व दान करती है कभी दंड का विधान बन युद्ध का कारण बन संहार करती है। अतः अपने हर रूप में नारी विश्लेषण का पात्र बन जाती है, जो स्वयं में एक कला है।

विडम्बना तो यह है कि जिस स्त्री के होने से श्रृंगार बचा है, प्रेम भाव बचा है, घृणा सर नहीं उठा पाती...उसे ही कोख में मार देने के प्रयास सफल होते से लगते हैं। सवाल यह है कि हम कैसा समाज चाहते हैं... जो स्त्रियों के बिना होगा ? लेकिन आज की स्त्री जाग उठी है। जिसके कई सुरीले सपने हैं। एक लम्बी उड़ान है। जिसके लिए कुछ भी नामुमकिन नहीं है। 'कहते हैं किसी संस्कृति को अगर समझना हो तो सबसे आसान तरीका है कि आप उस संस्कृति में स्त्रियों के हालात समझने का प्रयास करें। स्त्रियाँ समाज के सांस्कृतिक चेहरे का दर्पण होती हैं। अगर किसी देश की स्त्रियाँ स्वतंत्र हैं तो सीधा आशय निकलता है कि उस देश का समाज उन्मुक्त है।' (आहा जिन्दगी ! 10)

महासमर एक ऐसा महाग्रन्थ है, जिसमें स्त्रियों की सह-पात्रता कथा को निरंतर प्रभावित करती है। नारी मनोविज्ञान और नारी के आचरण सम्बन्धी मूल्य कई तरह से परिस्थियों को उद्वेलित करते हैं और घटनाओं को गति देते हैं। एक पूरा काल स्त्री के कुछ निर्णयों से प्रभावित हो सकता है। महाराज शांतनु की प्रथम पत्नी एवं देवव्रत की माता गंगा का आचरण पूरी कथा को एक अनोखा आरम्भ देता है। 'वह कौन थी ? किसकी बेटी थी ? उसके साथ विवाह के लिए किस की अनुमति की आवश्यकता थी ? शांतनु ने कुछ पूछने की जरूरत नहीं समझी और

रक्त की शुद्धता एवं गोत्र के प्रश्न का तनिक भी आग्रह किये बगैर विवाह कर लिया।' (कोहली, महासमर 1,17)

विडंबना यह कि माँ के रूप में वह अपने पुत्रों को गंगा में जल समाधि देती रही। 'शायद किन्दुदियों में ही कोई सच्चाई हो कि वह स्वयं देवी गंगा थी और किसी कर्तव्य वश भूलोक में आयी थी। नहीं तो मानवीय सीमाओं को जीतना सहज है क्या?.. आज तक न काम को जीत सकी मानव जाति, न वात्सल्य को !'  
(कोहली, महासमर 1,19)

'देवव्रत सोचते हैं तो अपने माता पिता, दोनों को ही अद्भुत पाते हैं। पिता नारी सौन्दर्य के मोह में बंधे, अपनी संतानों को मृत्यु की गोद में जाते देखते हैं, कुछ नहीं बोले। उनके लिए जीवन का एकमात्र सत्य, नारी-देह का आकर्षण है क्या?..देवव्रत जानते हैं कि कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनके नर अपनी संतानों की हत्या कर देते हैं, पर तब उनकी मादा उन नरों से अपनी संतान की रक्षा के लिए संघर्ष करती है। मादाओं में केवल सर्पिणी ही अपनी संतानों को खा जाती है।'  
(कोहली, महासमर 1,19)

सच्चाई जो भी रही हो, समाज के रूप को उसके परम्परागत आख्यानों को बदलने में गंगा के इस निर्णय ने कितना प्रभाव डाला इसे अनदेखा नहीं ही किया जा सकता। यदि शांतनु के अन्य पुत्र जीवित होते तो समाज और राज्य का रूप कतई भिन्न होता।

एक नारी है सत्यवती, जो अपने पुत्रों को राज्य-रीति के विपरीत शिक्षा हेतु ऋषिकुल में भेजने के विपरीत राज्य के भीतर रह कर गर्व और अभिमान से शिक्षा ग्रहण करने पर बल देती है। वास्तव में नारी के निर्णय समाज की दिशा बदलने में अतीव कार्य करते हैं। यदि (शांतनु-सत्यवती पुत्र) चित्रांगद और विचित्रवीर्य गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करते तो भी इतिहास भिन्न होता। वह स्वयं दूसरों को वंचित करके निषाद कन्या से राजमाता बनी है तो किसी भी रूप में नहीं चाहती कि कोई उसके पुत्रों को वंचित करे। लेकिन वही अम्बिका (काशीराज की पुत्री एवं

विचित्रवीर्य की पत्नी) है, जो कठिनाइयों के चलते और दूसरा अवसर मिलने पर भी सत्यवती के मार्ग पर नहीं चलेगी। सत्य और तथ्य व्यक्तिगत रूप से निर्णयों को प्रभावित करते हैं। परन्तु यदि नारी अपनी बात पर अड़ जाये तो स्थितियों के बदलने में देर नहीं लगती।

## नारी-स्व-मन की तेजस्विता से उदात्त

अम्बिका जैसी तेजमयी स्त्री सत्य के पक्ष में अपने पुत्र का भी विरोध कर सकती है। अपनी बहिन और सपत्नी अम्बालिका से वार्ता करते हुए अम्बिका पांडू के वन गमन की बात पर कहती है, 'मेरे मन में तो शंका है कि कहीं धृतराष्ट्र ने ही पांडू को तपस्या के लिए प्रोत्साहित न किया हो। वह शैशव से ही बड़ा भाई होकर भी अपनी चक्षु-हीनता के कारण पांडू को वंचित करता रहा है।'....'शैशव से मेरा अभ्यास था कि मैं परिस्थितियों से आँखें मूंद लेती थी।'.....'फिर मैंने आँखें मूंदनी बंद कर दी। उद्धम और प्रयास में मेरी आस्था जागी और..तब से मैं आँखें नहीं मूंदती।...मैं नहीं चाहती कि धृतराष्ट्र को कभी यह विश्वास हो कि वह हस्तिनापुर का सर्वाधिकारयुक्त स्वतंत्र राजा है...।'... 'नहीं तो वह अत्यंत उच्चरंखल हो जायेगा।'..वह जानती है कि राज्य में बहुत विपरीत बातें प्रचलित होती जा रही हैं।..उसका स्पष्ट कथन है, 'मैं नहीं कहती कि मेरा धृतराष्ट्र दूध का धुला है, किन्तु शकुनि ग्रहण के समान उसे निगलता जा रहा है। उससे धृतराष्ट्र की वक्रता और भी कालिमा में लिप्त होती जा रही है।'... 'राज्यसभा में विद्वानों से अधिक जुआरियों का सम्मान होगा। जुआरियों का दुराचार सम्मानित होगा और भले लोगों के चरित्र लांछित होंगे।' (कोहली, महासमर 1,402)

आने वाले समय का कितना सही अनुमान है। माता से अधिक पुत्र के मनोविज्ञान को कौन समझ सकता है। माता अपने पुत्र को वंचित करके भी उसका भला ही चाहती है। कैसा अद्भुत विवरण है। माँ चाहती है कि पुत्र को कभी स्वतंत्र राजा के भाव का आभास न हो, क्यों ? क्योंकि मानवीयता का हास न हो पाए, समाज की कल्याणकारी रीति को आंच न पहुंचे। ऐसा एक नारी ही कर सकती है !

महासमर का एक महत्वपूर्ण पात्र हैं, महारानी कुंती, जिनका सम्पूर्ण जीवन महाभारत की कथा को निरंतर प्रभावित करता है। वह मानिनी हैं, अपने पुत्रों के अधिकार के प्रति सजग हैं, त्यागमयी हैं, वात्सल्यमयी हैं, तेजस्वी हैं, वीर हैं, दृढ मनोबल की स्वामिनी हैं, क्षमाशीला, उदारमना हैं, सत्य और न्याय के लिए त्याग करने को कृत संकल्पवान हैं। बुद्धिमती और मनोविज्ञान को समझने वाली हैं। उदाहरणों के द्वारा उनकी उपस्थिति के प्रसंगों को समझा जा सकता है। वह भीष्म पितामह के प्रति पूज्य भाव रखती हैं किन्तु वह जानती है कि सभी राजकुमारों (कौरव, पांडव) के प्रति सहज एवं समान भाव होने के कारण -‘पितृत्व भीष्म उसके पुत्रों के अभिभाव और संरक्षक चाहे हों, किन्तु वे उनके ‘रक्षक’ नहीं हो सकते। वे इतने तटस्थ और अनासक्त थे कि उनके लिए सारे कौरव राजकुमार, उनके पौत्र मात्र थे—वे उनमें कोई भेद नहीं करते थे, करना नहीं चाहते थे। उनके लिए विनीत, आज्ञाकारी तथा सुशील युधिष्ठिर भी उनका उतना ही पौत्र था जितना कि उदंड, उच्छूखल दुर्योधन।’ (कोहली, महासमर 2,264)

एक स्त्री मानव एवं मानवीयता के मनोविज्ञान को किस बखूबी तरह से ग्रहण करती है। कुंती भीष्म के मानवीयता के पक्ष को बेहतर ढंग से समझते हुए भी उनके मोह को जान सकी। वह विदुषी है। स्थितियों को संभालना जानती है। रंगशाला में कर्ण को देखकर अचेत हुई कुंती का पता लेने विदुर और पांडव एकत्र हैं। कर्ण के विषय में वह मन ही मन अवश सा महसूस करती है और उसकी स्थिति का आकलन करने का प्रयास करती है। अपने पुत्रों के बारे में सोचते हुए उसके मन में अवसाद सा घिर आता है और विचार आता है, “इन्हें क्या मालूम कि कर्ण इनका ही भाई है। ये नहीं जानते कि वह इनका शत्रु नहीं, वह तो सामाजिक विडंबना का आखेट, एक अबोध बालक है, जो घर से निकलकर गली में धकेल दिया गया है; और अपने परिवार के किसी व्यक्ति को अपने निकट न पाकर, अपने अकेलेपन और अपनी असहायता में वह गली में फिरने वाले कुत्तों से मित्रता कर बैठा है। बेचारा नहीं जानता कि वे कुत्ते हैं, उनमें न मानवता है, न न्याय, न धर्म और न उदार दृष्टि ! .....कर्ण नहीं जानता कि उनसे वह रोग, उसे भी लग जायेगा।

वह भी उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, मानवता-अमानवता कुछ नहीं पहचानेगा। ...परिणामतः सुधिजन उसे घेरकर मार डालेंगे.”... ‘तो क्या करे कुंती ? मृत्यु के पथ पर बढ़ते अपने उस पुत्र की बांह पकड़-कर, उसे गली से अपने घर ले आये?.. उसे घर में ले आने से ही घर उजड़ गया तो?.... वह अपना घर बचाए या गली में खड़े उस पुत्र को ?... घर में पलते अपने इन बेटों को समझाए कि वह उनका भाई है और वह केवल अपनापन खोज रहा है, या गली में खड़े अपने उस पुत्र को समझाए कि उसके सब आत्मीयजन वर्तमान हैं; किन्तु विधाता ने उसे कुछ ऐसी घड़ी और उन परिस्थितियों में जन्म दिया है कि उसे अपना घर होते हुए भी, वह मिल नहीं पायेगा ..इसलिए अपने इन भाइयों से बैर न करे...।” (कोहली, महासमर 2,287)

कैसी विडम्बना है एक स्त्री वात्सल्य और यथार्थ चिंतन के बीच झूल रही है। उसके मन में मंथन चल रहा है पर वो फैसले के लिए तड़पने के बाद शांत दिखने का प्रयास करती है। महात्मा विदुर के पूछने पर कि कहीं वो कुछ छुपा तो नहीं रही, कुंती का कथन नारी की मर्यादा और तेजस्विता का उदाहरण देता है, ‘विदुर! स्त्री अपने पुत्र के सन्मुख अवगुंठन धारण नहीं करेगी ; किन्तु वह स्वयं को अनावृत तो नहीं कर सकती।’ अंदर के द्वंद्वों के बावजूद एक स्त्री अपने मर्यादा सम्बन्धी मूल्यों को नहीं त्यागती। कुंती बेहद उद्विग्न होने पर भी स्थिर मन से विचार करती है। और विदुर को कुछ भी स्पष्ट नहीं कहतीं।

## नारी- विदुषी, परिपक्व, धैर्यमयी एवं संतुलित

एक नारी परिस्थिति को कितनी सूक्ष्मता से जानती है, वह जानती है उसके निर्णयों से आस-पास का संपूर्ण वातावरण प्रभावित हो सकता है, और यह समझते हुए वह अपने मन के उद्धारों पर नियंत्रण कर फैसले करती है जिसमें अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो। कुंती वात्सल्यमयी है, किन्तु जानती है यथार्थ की कठोरता को भी। वह सोच पाती है, ‘कर्ण तेरा भूतकाल है कुंती ! भूत को वर्तमान बनाने का प्रयत्न मत कर.. कोई नहीं जानता कि कर्ण तेरा पुत्र है .. किन्तु पाँचों

पांडव तो तेरे ही पुत्र हैं। पांचाली कृष्णा तेरी पुत्रवधू है। .. जो तेरा नहीं है, उसे अपना बनाने के प्रयत्न में .. जो तेरे हैं उनका सर्वनाश न कर ... एक की उपलब्धि के लिए पांच को दांव पर मत लगा। यह धूत मत खेल ... एक पुत्र के उद्धार के प्रयत्न में तू शेष पांच पुत्रों की दासता का अनुबंध तैयार मत कर ...।’ (कोहली, महासमर 5,83) वह समझती है कि किसके सन्मुख अपने किस भाव को प्रकट करना है।

अपने मायके से भ्राता अकूर के हस्तिनापुर आगमन पर और उसे ‘पृथा’ संबोधित करने पर कुंती का मन द्रवित हो जाता है। उसका संयम जैसे चुक जाता है और वह अपने भाई को कहती है, “मैं तो उस हरिणी के समान हूँ भैया ! जो नृशंस भेड़ियों के मध्य घिर गयी हो। मेरे ये पित्रहीन बालक आज तक अपना स्वत्व न पा सके। शत्रुओं के बीच घिरी ऐसी शोकाकुल हूँ; किन्तु किसी से कह भी नहीं सकती कि वे लोग मेरे बन्धु-परिजन नहीं हत्यारे हैं।” (कोहली, महासमर 2,323)

कैसी वात्सल्यमयी छवि है नारी के रूप में कुंती की, जो अपने अबोध बालकों के प्रति चिंतित है; वह हस्तिनापुर की स्थितियों की गंभीरता को भी समझती है। वह जान सकी है कि सत्ता मद ने संबंधों को रक्तहीन कर पानी कर दिया है। वह जान चुकी है कि उसके बच्चों का रक्षक कोई नहीं है वहां। कितनी द्रवित मानसिकता से वह अपने मन की उद्दिनता को अपने भाई के सन्मुख उड़ेलती है। उसे कोई और पात्र ही नहीं मिलता, जिसे वह अपना हाल कह सके। दर्शाता है कि-नारी समय और व्यक्ति की समझ की नाजुकता को समझती है; कब उसे अपने भाव छुपाने हैं और कब और किसके समक्ष प्रकट करने हैं। समाज की और संबंधों की मर्यादा और पर्दादारी, नारी से अधिक कौन रख सकता है ?

## कोमल किन्तु अधिकार-चैतन्य

यही माता कुंती जो अपने पुत्रों के प्रति कोमल होकर उनकी सुरक्षा के प्रति चिंतित है; वही उन्हें अपने अधिकार के लिए जाग्रत होने का भी मन्त्र देती है। पांडवों के धूत में सब हार जाने के पश्चात् वन जाने पर कुंती उनके साथ न जाकर



महात्मा विदुर के यहाँ रुक जाती है। विदुर उसकी सुरक्षा की चिंता करता है, तो कुंती उसे जो कहती है, वह एक तेजस्वी नारी का ही संभाषण हो सकता है। युधिष्ठिर के धृत के वह पहले ही विरोध में थी, परन्तु सबसे ज्यादा उसे दुःख द्रौपदी के अपमान से हुआ। अहम् पीड़ित अपमानित नारी, न्याय की अपेक्षा में बैठी है। वह तेज से भरी विदुर को कहती है, “मैं जानती हूँ कि तेरह वर्षों के पश्चात् उसके निष्कासन समाप्त कर लौटने पर, यदि धृतराष्ट्र ने उसका राज्य लौटा दिया, तो वह अपना, अपने भाइयों तथा अपनी पत्नी का अपमान भूल जायेगा।”... “मैं इसलिए यहाँ बैठी हूँ, हस्तिनापुर में। अपनी माँ को लेने तो वह आयेगा। न वह अपनी माँ को त्याग सकता है, न कोई नयी माँ खोज सकता है। इसलिए उसे हस्तिनापुर तो आना ही होगा।”.... “मुझे अपनी सुरक्षा की चिंता नहीं है। मुझे चिंता उस प्रतिशोध की है, जो पांडवों को लेना है; मुझे चिंता उस राज्य की है, जो पांडवों का है। इसलिए मैं हस्तिनापुर में रुक गयी हूँ, ताकि दुर्योधन की दृष्टि के सन्मुख निरंतर बनी रहूँ। उसे याद दिलाती रहूँ, कि उसने मेरे पुत्रों का राज्य छीना है। उसकी संपत्ति अधर्म द्वारा अर्जित है। मैं धृतराष्ट्र की चेतना में बनी रहूँ, ताकि वह अपनी अंधी आँखों से मेरे पुत्रों के शस्त्रास्त्रों को देखता रहे और उसका मन भय से निरंतर कांपता रहे। और मैं हस्तिनापुर में इसलिए रुकी हूँ विदुर! ताकि क्रोध में आकर, घृणा से भरकर दुर्योधन अथवा उसका कोई सहायक मेरी हत्या कर दे।” फिर युधिष्ठिर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अपना अपमान चाहे विस्मृत कर दे पर अपनी माँ की हत्या की उपेक्षा नहीं कर सकता।”(कोहली, महासमर 5,47)

कैसी तेजस्वनी नारी है कुंती जो स्वयं की सुरक्षा को दांव पर लगा कर भी अपने पुत्रों को अधिकार के प्रति सचेत रखना चाहती है।

युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भी कुंती उसको कहती है, “मैं यदि किसी से भयभीत हूँ तो वह तुम हो पुत्र !.. क्योंकि तुम्हारा स्वभाव बहुत सात्विक है। तुम में तनिक क्रूरता नहीं। तुम शत्रुओं को भी क्षमा कर देते हो। तुम भूल जाओगे कि तुम्हारा अपना भी कोई राज्य था, जो तुमसे छीन लिया गया था; और जिसे तुम्हें पुनः प्राप्त करना है। ... तो तुम्हें यह भूलने नहीं दूंगी कि तुम्हारी माँ यहाँ बैठी है,

हस्तिनापुर में। ...मैं तुम्हें अन्याय के विरुद्ध युद्ध किये बिना जन्मान्तरों से मोक्ष पाने नहीं दूंगी।” (कोहली, महासमर 5,12) कितना तेज़मयी नारी है और न्याय के प्रति कितना आग्रह। अन्याय का प्रतिकार तो होना ही चाहिए।

राजा विराट के राज्य में अज्ञातवास कर रहे पांडवों के विषय में सूचना मिलने पर, कि कीचक द्वारा सैरिंध्री (द्रौपदी का छदम वेश ) का अपमान हुआ है, और बल्लव (भीम) ने अपमान का प्रतिशोध लिया है, कुंती सम्मान-सिद्धि और लक्ष्य-सिद्धि के बीच धैर्य के विषय में कहती है, “मैं चाहती हूँ कि युधिष्ठिर उतना ही धैर्य धारण करे, जितना सम्मान जनक है। उस धैर्य का क्या लाभ जिससे मनुष्य कायर समझा जाये। और नारीत्व का अपमान ऐसा अपराध नहीं है, जिसके पश्चात् भी धैर्य धारण किया जाए।” (कोहली, महासमर 6,539) नारी का अपमान किसी भी रूप में अक्षम्य अपराध है। जिसका दंड अपराधी को देने में कोई कोताही नहीं होनी चाहिए।

आश्चर्य तो यह है कि अपने पुत्रों द्वारा प्रतिशोध लेने की उम्मीद तो करती है; पर मानवीय मर्यादायों के प्रति भी सचेष्ट जागरूक है। विदुर के यह सुझाव देने पर कि वह युधिष्ठिर की अपेक्षा अपने चारों पुत्रों को क्यों नहीं कहती दुर्योधन को दण्डित करने के लिए ? कुंती का उत्तर मूल्यों की धरातल पर देखना होगा, “यह माँ का धर्म नहीं कि अपने पुत्रों को बड़े भाई की अवमानना सिखाये। मैं तो उन्हें केवल उनका धर्म सिखा रही हूँ।” (कोहली, महासमर 5,47) कितना अब्धुत है न ! नारी का मानवीय रूप। वह अपने वात्सल्य को भी समझती है और अपनी संतान के कर्तव्य को भी। वह अधिकार के प्रति भी चेतन है और मृत्यु को आलिंगन करके त्याग से भी नहीं झिझकती। और कैसे निर्धारित होते हैं, समाज के मूल्य ? नारी के योगदान को और कैसे समझा जायेगा ?

## जनकल्याण एवं परमार्थ-चेतना

न केवल स्वयं मृत्यु को वरने के लिए तैयार है वरन कुंती ऐसी नारी है जो जन कल्याण के लिए अपने वीर पुत्रों को संकट में घिरने से और उससे निपटने के

लिए प्रोत्साहन देती है। परमार्थ हेतु वह अपने पुत्रों की जान भी जोखिम में डालने से नहीं झिझकती। एकचक्रा नगर में बकासुर को ब्राह्मणी के पुत्र के स्थान पर भेज कर कुंती अपने मन के द्वंदों से घिरी है। 'एक ओर पुत्रों को इस भयंकर संकट में डालने की चिंता थी; और दूसरी ओर एक मानवीय दायित्व पूरा करने का संतोष ! वह स्वयं समझ नहीं पा रही थी कि वह अपने इस कार्य के लिए प्रसन्न थी या अवसन्न।' वात्सल्य एवं कर्तव्य की चेतना ही तो दिखती है इस कार्य में ! वह स्वयं को समझाती है, 'तू क्षत्राणी है कुंती ! पुत्रों को धर्म-युद्ध से रोक कर कायर बनाना चाहती है क्या ? उनके जीवन में तो संघर्ष ही संघर्ष है। वे अपने अधिकारों के लिए लड़ेंगे, राज्य की रक्षा के लिए लड़ेंगे, प्रजा पालन के लिए लड़ेंगे ..वे तो बड़े-बड़े सम्राटों की सेनाओं के विरुद्ध लड़ेंगे ...आज जिनसे लड़ने गये हैं, वे तो कुछ साधारण गुंडे हैं,..यह तो तेरे पुत्रों का न्याय-युद्ध का आरंभ मात्र है।' .. (कोहली, महासमर 3,258) परपीड़ा को अनुभूत कर के उसके लिए स्वयं का त्याग करना, कितना उदात्त भाव है।

स्त्री कैसी होती है; जो अपने वात्सल्य के साथ-साथ अपनी संतान को तेजस्विता का संस्कार भी देने में सक्षम है। और उसके लिए वह उन्हें वीर बनाती है, मानवीय बनाती है, और देखे-अनदेखे रूप से समाज का कल्याण करने की प्रेरणा देती है। नारी के इस मानवीय धरातल को अछूता नहीं छोड़ सकते, क्योंकि यही वो प्रथम पाठशाला है, जो मनुष्य को मनुष्य बनने में सवप्रथम आकार देती है। ऐसे ही तो होते हैं मूल्यों के संसार निर्मित !

माँ के रूप में स्त्री मानव की प्रथम ज्ञानदात्री है। अपने अतीत और वातावरण को भूल कर स्त्री अपनी संतान को उत्तम-अति उत्तम बनाने का प्रयास करती है। उदाहरण उपस्थित है; हिडिम्ब वन की राक्षसी एवं भीम की पत्नी हिडिम्बा का ! वन में चलते हुए काम्यक वन में पहुँचने की राह में पांडवों को बकासुर का भाई और हिडिम्बसुर का मित्र किर्मिक नाम का राक्षस मिलता है, जो उन पर आक्रमण करने को तत्पर है। भीम का परिचय प्राप्त होने पर वह क्रोध से कहता है, 'तुम ही हो जिसने मेरे भाई का वध किया और हिडिम्ब की बहन का अपहरण

किया।'.... वह आक्रमण की चेष्टा करते हुए कहता है कि तेरे मरे बिना हिडिम्बा का मोह-जल भी नष्ट नहीं होगा। आज उसे भी नष्ट करुंगा।' यह सुनकर भीम के मन में स्वतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह हिडिम्बा और घटोत्कच के विषय में पूछता है। वह किर्मिक को कहता है कि उसने हिडिम्बा का अपहरण नहीं, उससे विवाह किया था। यदि हिडिम्बा या घटोत्कच को कोई असंतोष है तो वह सन्देश कहला सकते थे। प्रहार करता हुआ भीम पुनः उससे हिडिम्बा और घटोत्कच के बारे में पूछता है। अब किर्मिक बताता है, "घटोत्कच हमारी परम्परा और हमारी जीवन-पद्धति छोड़ चुका है। वह नर-मांस नहीं खाता। वन में छिपे रहकर, लोगों का आखेट नहीं करता। वह यह नहीं मानता कि हमें अपने शारीरिक बल के आधार पर, अन्य लोगों की धन सम्पत्ति, पत्नियों और बच्चों को लूट लेने, उनका भोग करने; और उनका मांस खाने का अधिकार है। वह बहुत कुछ मानवीय हो गया है।" (कोहली, महासमर 5,29)

स्त्री चाहे तो वह संस्कृतियों को बदलने की क्षमता रखती है। अपने पुत्र को उत्तम संस्कार देने के लिए किसी माँ को किसी औपचारिक विद्यालय की आवश्यकता नहीं।

एक राक्षसी अपने पति की आर्य जीवन पद्धति को अपनाने के लिए त्यागमयी जीवन के अनुसार अपना जीवन बिताती है। पति के प्रति उसकी एकनिष्ठ भक्ति उसके मर्यादित चरित्र के प्रमाण देती है। घटोत्कच से मिलने पर जब द्रौपदी हिडिम्बा के बारे में पूछती है कि 'क्या वह मुझसे ईर्ष्या करती है ?' घटोत्कच कहता है, "नहीं नहीं !... वे आपकी चर्चा बड़े सम्मान से करती हैं। वे कहती हैं कि उन्होंने अपने क्षेत्र और जीवन-शैली के मोह में अपने पति को छोड़ दिया, और आप वे नारी हैं जिन्होंने राजकुमारी होते हुए, भिक्षोपजीवी पांडवों से विवाह किया और पांचाल का राजप्रसाद त्याग दिया।...पांडवों की पत्नियों में एक आप ही सती हैं जिन्होंने पुत्र मोह पर विजय पाई है और उन्हें त्याग, पतियों की साथ वन में आ गयी हैं। मेरी माता स्वयं को कोसती हैं कि वह इतनी हीन बुद्धि क्यूँ हैं कि स्वयं को परिवर्तित नहीं कर पातीं।" (कोहली, महासमर 5,233)

कितना उदार हृदय है, कितना नम्रता है, कितना सहज विवरण है, और कितने सरल मन से सपत्नी का उल्लेख किया गया है। हिडिम्बा न केवल उदार है, वरन प्रेम की चरमावस्था को प्राप्त कर के मूल्यों की उच्च चेतना में स्थित है। पांडवों के वन छोड़ के जाने के समय जब भीम के कहने पर कि क्या वह सदा उसके साथ नहीं रहना चाहती वह बहुत संकोच से कहती है, 'अब तुम मेरे लिए भोग की वस्तु नहीं हो, प्रेम के पात्र हो ! अब मैं अपने सुख के लिए नहीं, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए तुम्हारे साथ रहना चाहूंगी।' (कोहली, महासमर 3,192)

कोई भी व्यक्ति नारी की इस मर्यादा एवं महानता पर करुणा से द्रवित हो सकता है। सम्बन्धों की पवित्रता ऐसे ही तो बनी रह सकती है। समाज को यही प्रतिक्रियाएं तो मानवीय मूल्य स्थापित करने में सहयोग करती हैं, और इसमें स्त्री का योगदान अनिर्वचनीय है।

नारी परिवार का, संबंधों का और समाज का रूप अपने आचरण से, अपनी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से बदलने का सामर्थ्य रखती है। द्रौपदी एक बड़े राज्य की राजकुमारी और महाराज द्रुपद की राजकन्या है। किन्तु वह विवाह के पश्चात् यह यथार्थ अपने पतियों की स्थिति को देखते हुई जैसे विस्मृत ही कर देती है। युधिष्ठिर को खांडवप्रस्थ का स्थान राज्य के रूप में प्राप्त होता है। वहां पहुँचने पर भीम अपनी माँ कुंती और पत्नी द्रौपदी की सुविधा के लिए चिंता करता है। परन्तु द्रौपदी उसे शांत करते हुए एक समर्पित भार्या बन के कहती है, 'मैंने जिसके गले में वरमाला डाली थी, वह न तो राजा था आर्य पुत्र ! न ही उसके पास कोई प्रसाद था। .. मैंने तो एक भिक्षोपजीवी ब्राह्मण का वरण किया था।' (कोहली, महासमर 4,12) ऐसी मानसिकता और सामजस्य कौन कर सकता है? एक समर्पित स्त्री ही न ? अपने को समय और परिस्थियों के अनुरूप ढाल कर स्थितियों को सदाशयता से स्वीकार कर के स्त्री अपने जिम्मेदार चरित्र को उजागर करती है।

वह अपनी बुद्धिमत्ता से स्थितियों को समझती है। अपने शवसुर एवं पित्रकुल के सम्मान का संतुलन बनाए रखती है। राजसुय यज्ञ के समय कौरवों का ध्यान

रखते हुए द्रौपदी के पिता एवं भाइयों को निमंत्रित नहीं किया जाता। भीष्म इस बात के लिए द्रौपदी को साधुवाद कहते हैं। द्रौपदी उन्हें कहती है, “इसमें मेरे कुल की कोई उपेक्षा नहीं है पितामह !.. मेरे भाई और पिता हमारे सहायक हैं। कभी यह सहायता उनकी उपस्थिति से होती है, कभी अनुपस्थिति से। यदि उनकी उपस्थिति से धर्मराज की कठिनाइयाँ बढ़तीं, तो वे ऐसी कामना ही क्यों करते ?..मैं तो करेनुमती के विषय में सोचती हूँ, जिसके पिता (शिशुपाल) का वध हुआ, किन्तु फिर भी उसने अपने शवसुर कुल की जय मनाई।” (कोहली, महासमर 4,337) कितनी मर्यादित और बुद्धिमती है नारी! उसे अपने परिवार की, संबंधों की, अहमियत का अहसास है। कहाँ कैसे सामजस्य करना है ? कितना धैर्य हो ? सब जान पाती है स्त्री !

क्या आज की नारी इस प्रकार से अपने शवसुर कुल और मायके में सामजस्य बैठा पाती है ? क्या वह दोनों परिवारों के सम्मान के लिए जागृत है ? क्या है वर्तमान में संबंधों की सच्ची और यथार्थ तस्वीर ? यह सत्य है कि स्त्री को न्याय पूर्ण स्थान देना उसके मान अपमान का ध्यान रखना समाज और परिवार का नैतिक दायित्व है। सदियों से नारी को उसके स्थान से कम आँका गया है। पाकिस्तानी शायरा रेहाना रूही अपने एक शेर में नारी के तेजस्वी रूप में पुकार कर अपने अस्तित्व के लिए गुहार लगाती है,

“दिल को बहलाने का सामान न समझा जाए,  
मुझको अब इतना आसान न समझा जाए।  
मैं भी जिन्दों की तरह जीने का हक रखती हूँ  
इसको गद्वारी का एलान न समझा जाये —  
अब तो बेटे भी चले जाते हैं होकर रुखसत  
सिर्फ बेटे को मेहमान न समझा जाये। ” (रूही)

सुमित्रा नंदन पन्त भी कहते हैं, “मुक्त करो नारी को, चिर बंदिनी नारी को।”

और इसी कारण न्यायव्यवस्था ने स्त्री के हकों को सुरक्षित करते हुए उसे कुछ अधिकार दिए हैं। किन्तु इतना सब होने के बाद; आज के आंकड़े बताते हैं कि नारी की स्वतंत्रता ने उसे कहीं-कहीं अहम् के गर्त में भी धकेल दिया है। वह अपने तेज़ को, सामान्य मानवीय मूल्यों को, भूल रही है। और स्वयं की सत्ता में अन्य संबंधों के प्रति संवेदनशीलता को खो बैठी है। तभी तो आज के समाचारपत्र विवाह उपरांत मन मुटाव और अदालती केशों से भरे हैं। और विडम्बना तो यह है कि जो सहूलियत स्त्री होने के कारण स्त्री को न्यायपालिका ने दी है, उसका नाजायज़ लाभ भी उठाने से चूकती नहीं, और शवसुर कुल को झूठ-सच इल्जाम लगा कर अदालत में धता बताने में अपनी जीत समझती है। पिछले दिनों एक समाचार पत्र का मुख्य समाचार था कि लगभग 5 लाख युवकों ने विवाह उपरांत स्त्री और उसके परिवार के द्वारा झूठी अदालती कार्यवाही करने और तंग करने के कारण आत्महत्या कर ली। बिना अपराध के पति और श्वसुर कुल के सम्बन्धियों को जेल आदि के चक्कर में डाल कर स्त्री अपना कौन सा भला करती है ? यह समझाने की अनुमति शायद वह किसी को अपने अहम् के कारण नहीं देती ! द्रौपदी ने इस बात को बुरा नहीं समझा कि उसके पिता के परिवार से पति के राजसूय यज्ञ के अवसर पर कोई निमंत्रित नहीं, और करेनुमती ने इस बात को धैर्यपूर्वक समझ लिया कि उसके पिता की हत्या में उनके अपने (100) दोष हैं; अतः वह अपने शवसुर कुल के साथ उनके समारोह की हिस्सा बनी रही। किसी उत्पात को नहीं होने दिया। महारानी कुंती के सम्बन्ध में भी एक प्रकरण है, जब पांडव वन जाने के लिए तैयार होते हैं तो कुंती उनके साथ जाने से मना कर देती है। युधिष्ठिर माँ से पूछते हैं कि 'वह इतने वर्ष कहाँ रहेगी ? क्या भोजपुर जाओगी, अथवा द्वारका।' चूँकि दोनों ही कुंती के मायके हैं। कुंती का उत्तर विचार को उद्वेलित करता सा है !-भोजपुर के लिए कुंती कहती है, 'विवाह के पश्चात् स्त्री का मायके से क्या सम्बन्ध?' 'और उन्होंने भी मुझे एक बार विदा क्या किया, मुझसे मुक्ति ही पा ली। मेरे किसी सुख दुःख में, मुझे कभी स्मरण नहीं किया उन्होंने।' और द्वारका के लिए कहती है, 'अर्जुन और सुभद्रा के विवाह के पश्चात् वह मेरा

समधियाना हो गया है। .. समधियों के आश्रय में पलना, शिष्ट आचरण नहीं है पुत्र!’ युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि क्या वह पितामह के आश्रय में रहेंगी ? कुंती का कथन है, ‘नहीं ! मैं अपनी उपस्थिति से उन्हें निरंतर अपराध-बोध की अग्नि में नहीं झुलसाना चाहती। मेरे लिए परपीड़ा में कोई आकर्षण नहीं है पुत्र !” वो धृतराष्ट्र के पास भी नहीं रहना चाहती, जिससे धृतराष्ट्र को दुर्योधन के कोप का भाजन न बनना पड़े। पुत्रों के साथ न जाने के लिए उसका तर्क है, ‘उनका पालन पोषण जैसा मुझसे बना, मैंने कर दिया। अब उनके सुख दुःख का निर्वाह करने का दायित्व उनकी पत्नियों का है। वे करें। अब, जब मैं उन्हें कुछ दे नहीं सकती, मेरा प्रेम उन्हें मुक्त कर देना चाहता है।’ (कोहली, महासमर 5,9) कितना विराट हृदय है कुंती का। मायके के विषय में कितना स्पष्ट चिंतन है। पुत्र के समधियाने से कैसा व्यवहार और कितनी दूरी हो, सिद्धांतः अपनी सीमाओं का ज्ञान होना है। पितामह और धृतराष्ट्र के पास न रहना, कितना क्षमापूर्ण और उदार हृदय का उदाहरण है। पुत्रों की पत्नियों को दायित्व देते हुए, स्वयं को एक निश्चित दूरी बना कर रखना बहुत सुलझा हुआ दृष्टिकोण दर्शाता है।

वर्तमान सन्दर्भों में, ऐसा ही तो होना चाहिए, पर होता नहीं ! स्त्री का मायके के प्रति मोह छूटता नहीं। वह किसी भी अवसर पर वहीं जाना चाहती है। माँ के रूप में स्त्री विवाह पश्चात् भी पुत्र और पुत्री को स्वयं निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं देकर उनके संबंधों को अपने व्यवहार से निरंतर प्रभावित करती हैं जिससे उनके संबंधों में कभी कभी खटास आ जाती है।

इसी सन्दर्भ में एक और नारी का उल्लेख महत्वपूर्ण है। वह है दुर्योधन पुत्री लक्ष्मणा जो श्री कृष्ण के पुत्र साम्ब की पत्नी है। युद्ध की सम्भावना को जानने के बाद वह अपने पिता की रक्षा के लिए अपने पति से और अपरोक्ष रूप से श्रीकृष्ण से वचन चाहती है। यद्यपि श्री कृष्ण साम्ब को धर्म के अनुकूल आचरण के लिए प्रेरित करते हुए दुर्योधन के अन्याय एवं अधर्मपूर्ण आचरण के लिए सचेत करते हैं। लेकिन अपनी पत्नी को उसके पिता की रक्षा का वचन देना ही वह अपना धर्म



समझता है। इसके लिये वह अपने पिता श्री कृष्ण से विवाद कर धर्म के सर्वकल्याणकारी रूप को नकार कर कहता है कि 'सबका अपना अपना धर्म होता है।' (कोहली, महासमर 7,15)

यहाँ एक तुलना करनेनुमती और लक्ष्मणा की है। दोनों ही आर्य परिवारों की स्त्रियाँ हैं, दोनों के विचार और व्यवहार एक सी स्थितियों के होने पर भी कितना भिन्न हैं। दोनों की विचारधारा वर्तमान को भी उतना ही प्रासंगिक होकर दर्शाती है। एक और ऐसी स्त्री है जो अपने पित्रकुल को ही सर्वोपरि समझती है, बेशक वो अन्याय और अधर्म का आचरण क्युँ न करे ! उसकी रक्षा के प्रति चिंतित है। तो दूसरी और वह स्त्री है जो धर्म-अधर्म के बारीक तंतु को समझती है, अपने दायित्व को समझती है, न्यायपूर्वक दोनों परिवारों के सम्मान की समझ रखते हुए, बिना पति पर अनुचित दबाव डाले, उचित आचरण कर पाती है।

ऐसी विद्वान स्त्री अपने आचरण से अपनी विद्वता से सब जगह सम्मान पाती है। वर्तमान में तो जीवन का कोई भी क्षेत्र स्त्री के बिना अधुरा है। हर स्थान में स्त्री ने अपनी जगह सुरक्षित की है। अपने कौशल का लोहा मनवाया है। आज नारी का स्थान उसकी जिजीविषा ने उसके संघर्ष ने पुरुष के समकक्ष कर दिया है। देश विदेश में नारी अपने अस्तित्व की छाप छोड़ते हुए विश्व को प्रभावित कर रही है। आंकड़े बताते हैं - अपने ही देश भारत में व्यावसायिक शिक्षा हासिल करने वाली महिलाएं दुनिया के किसी भी मुल्क से ज्यादा हैं। नौकरी करने वाली स्त्रियाँ भी भारत में सब से ज्यादा हैं। अमेरिका जैसे विकसित देश से ज्यादा स्त्री डाक्टर, सर्जन, वैज्ञानिक, और प्रोफेसर भारत में हैं। ब्रिटेन में 1997 के बाद संसद में महिलाओं की हिस्सेदारी 18.2% बढ़ी है, जिससे वहां परिवार से जुड़े मुद्दे जैसे टैक्स केयर, चाइल्ड केयर और शिक्षा पर सरकार का ध्यान गया है। अपनी समझ के रहते भारत में 1982 के बाद स्थानीय स्तर पर राजनीति में प्रतिनिधित्व बढ़ने के बाद महिलाओं ने पुरुष सहयोगियों की तुलना में 60% ज्यादा जल परियोजनाएं शुरू कीं। यहाँ तक कि युगांडा, बुरुंडी और मेक्डोनिया जैसे छोटे देशों में 30%

महिलाएं संसद में हैं। (आंकड़ों का सन्दर्भ : आहा जिन्दगी मासिक पत्रिका, मार्च 2012 अंक, पृष्ठ 11)। और इस तरह विकास की नवीन ऊँचाइयों को नारी अपनी उड़ान से नित प्रति छू रही है।

स्त्री अपने आचरण के रहस्यों से सदैव अबूझ रही है। कहीं वह वात्सल्य के हाथों अवश होती है, और ब्रह्माण्ड का समस्त वैभव, धर्म अधर्म की अवहेलना करते हुए भी, अपनी संतान को दे देना चाहती है। चाहती है, अपनी संतान की सामाजिक मान्यता भी, उसकी प्रतिष्ठा भी। किन्तु सब कुछ अनुकूल होने पर जिस विषय पर ध्यान ही नहीं जाता, वह है अधर्म पूर्ण आचरण का प्रतिकूल फल। अब स्त्री चिंतित हो उस विपरीत स्थिति को टालना चाहती है। यह मनोविज्ञान, महारानी गांधारी के आचरण में परिलक्षित होता है। वह अपने अंधे पति की पत्नी बन कर आती है और आँखों पर पट्टी बांध लेती है, साथ आता है उसका भाई शकुनि। दोनों का एक ही लक्ष्य था 'उस कुरुकुल का विनाश'। संतानवती होने पर वह धार्तराष्ट्रों का विकास चाहती है, अपने पति को भी राजा बनाना चाहती है और पुत्र को भी। इस आकांक्षा में उसका सहायक था शकुनि। किन्तु अधर्म का मार्ग अंततः विनाश की ओर ही बढ़ता है। फलतः घटनाओं के परिपेक्ष्य में अब गांधारी अपने पुत्रों के अनिष्ट की आशंका से त्रस्त है। अपने भाई शकुनि से दुर्योधन को समझाने का अनुरोध करती है कि, 'वह आत्म-विकास और आत्म-विनाश का अंतर पहचाने। वह विनाश के मार्ग पर आगे न बढे।'.... 'तुम दुर्योधन को उपलब्धियों की मृगतृष्णा में उलझाकर मृत्यु की ओर मत धकेलो।....मुझे लगता है भैया ! तुम्हारा सानिध्य मेरे पुत्रों के लिए हितकर नहीं है। तुम उन्हें इतना महत्वाकांक्षी बना रहे हो कि वह धर्म-अधर्म को ही नहीं भूले, अपनी सुरक्षा-असुरक्षा को भी भूल गये हैं। तुमने उन्हें एक अंतहीन, अंधी, भयंकर और वेगवती दौड़ में जोत दिया है, जो उनके वश की नहीं।...तुम चाहते हो कि वे दौड़ते-दौड़ते गिर पड़ें?.. और अपने प्राण दे दें ?' (कोहली, महासमर 6, 10)

इस प्रसंग में, कैसा है द्वंदों में उलझा स्त्री का चरित्र ! जब तक प्रेम का भला परिणाम है, भाई का अपने शवसुर कुल में ठहरना और राजकाज में दखल उचित

लगता है। बल्कि अपने पुत्रों के लिए उस सा शिक्षक नहीं लगता कोई ! किन्तु जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं, तो अपनी संतान की सुरक्षा सर्वोपरि हो जाती है। अपने ही निर्णय बेमानी लगते हैं, उपलब्धियों की मृगतृष्णा का यथार्थ समझ आ जाता है, और ऐसे में समस्त दोष अपने भाई को देकर, उसकी संगति से अपने पुत्रों को बचाना ही एकमात्र उपाय लगता है। कितनी मोहमयी है नारी या कितनी निर्दयी! क्या कहेंगे ? कितने विभिन्न रूपों में स्त्री अपने आसपास अपने व्यवहार का जाल बुनकर रखती है और वातावरण को निरंतर प्रभावित करती रहती है। और कैसे निर्मित होते हैं सैद्धांतिक मूल्य ?

वस्तुतः ईश्वर ने नारी की रचना करते हुए उसमें भिन्न भिन्न एवं अनुपम गुण डाले हैं। कभी वह किसी वस्तु पर अड़ भी सकती है; और कभी वह कुछ भी त्याग कर सकती है। लेकिन ऐसी त्यागमयी उदार-सदाशय नारी, जो त्याग के लिए सदैव तत्पर है। वह विपरीत समय पड़ने और अधिकार के लिए, अपने स्वाभिमान और मान के लिए, प्रतिकार और प्रतिरोध करने का भी साहस रखती है।

द्रौपदी अपने अपमान से त्रस्त होकर प्रतिशोध की ज्वाला में जल रही है। वह अपने अपराधियों को क्षमा कर, ऐसी मानवता नहीं चाहती, जिसमें दुष्टों की दुष्टता प्रबल होकर धर्म के विरुद्ध आचरण को बल दे। कृष्ण के सन्मुख अपना हृदय खोलते हुए द्रौपदी कहती है, “शांति किसी को बुरी नहीं लगती। युद्ध क्षेत्र में पड़े असंख्य शत्रुओं को देखना किसी के लिए भी प्रिय दृश्य नहीं हो सकता।.... किन्तु पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए और उसे सांत्वना देने के लिए अपराधियों को दण्डित करना भी राजधर्म है या नहीं ? पापियों को दण्डित न करना अधर्म है कि नहीं ? गोविन्द ! तुम हस्तिनापुर जाओगे तो संधि की बात करते हुए स्मरण रखना कि वही कौरवों की धूत सभा में पापी दुःशासन ने रजस्वला, एकवस्त्रा कृष्णा को उसके इन केशों से पकड़कर घसीटते हुए, सभा में प्रस्तुत किया था। ..जहाँ द्रौपदी के साथ यह व्यवहार हो सकता है वहाँ किसी साधारण स्त्री का कितना सम्मान हो सकता है ?... द्रौपदी को एक लात मारने के लिए कीचक और उसके सारे कुटुम्बियों को अपने प्राण गवाने पड़े थे। हस्तिनापुर के अपराधी इसलिए स्वच्छन्द

नहीं घूम सकते, क्योंकि वे पांडवों के सम्बन्धी हैं अथवा इतने शक्तिशाली हैं कि उन पर हाथ डाला जायेगा तो शांति भंग होगी, विप्लव होगा, और उस स्थिति को संभालने के लिए एक विराट युद्ध करना पड़ेगा। अपराधी को इसलिए क्षमा करना क्योंकि वह किसी का बन्धु है अथवा अत्यंत शक्तिशाली है —न धर्म है, न राजधर्म। ...तुम संसार में धर्म-संस्थापना करने आये हो, इसलिए मैं तुम्हें कहती हूँ कृष्ण ! मुझे न्याय चाहिए, उसके लिए चाहे कितना भी रक्त बहे।” (कोहली, महासमर 7,171) मानिनी नारी अपने अपमान से त्रस्त है, पीड़ित है, वो न्याय चाहती है।

अक्सर समाज में इस प्रकार की घटनाओं के उपरांत दूरदर्शन और समाचारपत्रों के पत्रों पर इस विषय की चर्चाएँ होने लगती है कि लड़कों को ऐसा करना चाहिए-ऐसा नहीं करना चाहिए। लड़कियों को ऐसा करना चाहिए—ऐसा नहीं करना चाहिए ? पर क्या करना चाहिए आखिर? विगत दिसंबर 2012 में देश की राजधानी दिल्ली में बस में जाती लड़की के साथ बलात्कार का वीभत्स काण्ड हुआ। इस 'निर्भया' काण्ड की पूरे देश में न केवल भर्त्सना हुई वरन दोषियों को सजा दिलाने के लिए सरकारी और गैरसरकारी आन्दोलन चलाये गये। अंततः अदालतों द्वारा लिए संज्ञान के कारण अपराधियों को उम्र भर की सजा हुई। यहाँ तक कि नाबालिग बलात्कारी अपराधी के लिए भी कानून ने अपने संशोधित अद्यादेश द्वारा सजा का प्रावधान दिया। ऐसे कुछेक दुष्कार्यों का तो फैसला हो जाता है। परन्तु उन अनगिनत संख्या में हो रहे स्त्री संबंधी अपराधों को अभी भी समाज बदनामी के भय से दबा देता है। निकट वर्तमान में बाबाओं द्वारा अपने आश्रमों में स्त्रियों से किये जा रहे बलात्कारों की वास्तविकता सामान्य जन की दृष्टि में आई है और सुखद यह है कि उन सभी धर्म के नाम पर किये जा रहे व्यभिचारियों को जेल की सलाखों के भीतर डाल दिया गया है। चाहे वह बाबा प्रभावशाली अरबपति, आसाराम हों, राम पाल हों अथवा गुरमीत राम रहीम हों। न्याय सब के लिए समान है।

महासमर में स्त्री सम्बन्धी अपराधों के लिए सामाजिक दंड विधान और मूल्यों की परिभाषा करते हुए द्रौपदी ने आचरण सम्बन्धी मानवीय गुणों एवं

पुरुस्कार और दंड की बेहद सूक्ष्म व्याख्या की है। वह कृष्ण को कहती है, “मैं जानती हूँ कि करुणा एक महान गुण है; किन्तु पीड़ित व्यक्ति को ऐसी करुणा अच्छी नहीं लगती, जिससे पीडक लाभान्वित हो। मैं जानती हूँ धर्मराज के लिए संसार का सबसे बड़ा धर्म है क्षमा; किन्तु वह व्यक्ति का धर्म हो सकता है, यह सामाजिक धर्म नहीं हो सकता। अपराधियों को क्षमा कर कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। ..... प्रतिहिंसा और प्रतिशोध कोई उद्दात भाव नहीं हैं; किन्तु न्याय तो सर्वथा सात्विक भाव है। मुझे न्याय दो। यदि पांडव न्याय नहीं दे सकते तो तुम मुझे धर्म दो केशव ! अपनी सखी को धर्म न दे सको तो पीड़ित प्रजा को धर्म दो। ...छलकपट से किसी सम्राट का राज्य छीन कर कोई जीवित रह सकता है; किन्तु स्त्रीत्व का अपमान करके कोई जीवित नहीं रह सकता। ..जो स्थान पाप से मलिन होता है, वह पापियों के रक्त से धुलकर ही पवित्र होता है।” (कोहली, महासमर 7,172)

सृष्टि का आधा भाग यदि नर है तो आधा भाग नारी है। समाज, संस्कृति, सभ्यता, जीवन के सिद्धांत, मानवीय मूल्य नारी की उपेक्षा करके नहीं बन सकते। हमारे शास्त्रों में धर्म के चार चरण बताये गये हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थात् धर्म के अनुसार आचरण हो चाहे अर्थ उपार्जन में, चाहे काम में। लेकिन व्यक्ति कदाचित इतना मतान्ध हो जाता है कि इस तथ्य को भुला देता है। स्त्री के बिना न अर्थ की उपादेयता है न काम की ! तो अधर्म पूर्वक क्यों ? क्यों न धर्म पूर्वक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही इन आयामों को पाया जाये ? यदि ऐसा नहीं होता, तो शुरू होता है पाप- दंड का विधान, स्त्री का मान और उसका प्रतिकार और प्रतिशोध ! द्रौपदी का उपर्युक्त व्याख्यान कितना सटीक है, मानवीयता और मूल्यों की संस्थापना के हेतु ! पापी को यदि दंड नहीं मिलता तो सामाजिक विघटन की संभावनाएं बढ़ती जाती हैं।

## मर्यादित एवं समन्वयवादी

एक सचेत नारी को अपने स्वाभिमान की रक्षा तो करनी ही पड़ती है। महारानी कुंती दुर्योधन एवं उसके अन्य भाइयों की पत्नियों से मिलने के लिए कोरवों

के प्रासाद में जाती है। दुशासन की पत्नी ज्योत्स्ना उसका अपमान करते हुए परिचय मांगती हुई उपेक्षा से वृद्धा कहकर उसकी ओर सर को अपमान से हिलाती है। कुंती का वक्तव्य एक उदारमना लेकिन तेज़ से प्रदीप्त नारी का वक्तव्य है, “जिस व्यक्ति में दूसरों की तुलना में किसी प्रकार की वृद्धि होती है वही वृद्ध होता है, जानती हो न ! मैं वृद्धा हूँ, अवस्था में, अनुभव में लोकाचार में ...और भी बहुत सारे क्षेत्रों में। मैं स्मरण शक्ति में भी वृद्धा हूँ, क्योंकि तुम्हें स्मरण नहीं है कि मैं कौन हूँ पर मुझे स्मरण है कि तुम उस दुःशासन की पत्नी ज्योत्स्ना हो जिसके रक्त की प्रतीक्षा में द्रौपदी के केश वेणीबद्ध नहीं होते। और बताऊँ कि मैं उस महावीर भीम की माता हूँ, जिसने तुम्हारे पति का वक्ष फाड़ कर रक्त पीने की प्रतिज्ञा की है ?” अपने सम्मान की रक्षा के लिए कुंती ने किस चातुर्य से उन स्त्रियों को भविष्य की कल्पना से भयभीत कर दिया। (कोहली, महासमर 6,40) कितनी स्वाभिमानिनी है कुंती ! अपने ओजमयी व्यवहार से, अपना धैर्य खोये बिना दूसरे पक्ष को दर्पण दिखाने का सफल कार्य कर दिया एवं अपनी गरिमा को अपमान की आंच से बचा लिया।

कुंती के रूप में महासमर उपन्यास मूल्यों को कई आयामों में प्रकट करता है। यदि सिर्फ कुंती का ही चरित्र देखें तो भिन्न भिन्न परिस्थितियों में कहे गये उसके वाक्य और भिन्न परिस्थितियों में किये गये उसके निर्णय, स्त्री के विराट व्यक्तित्व को स्थापित करते हैं। कहीं वह अधिकार के लिए चैतन्य होकर अपने पुत्रों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करती है, कहीं अपने पुत्रों को समाज के कल्याण के कार्य के लिए आगे बढ़ने को कहती है, कहीं वो क्षमा की देवी बन जाती है। कहीं त्याग करते हुए अपने तप में लीन होकर स्व-विकास की बात करती है। किन्तु कहीं भी वह अपने गौरवमय सम्मान से समझौता नहीं करती।

महात्मा विदुर की दृष्टि में कुंती एक साधिका है। कुंती के मन में अन्तर्द्वन्द्व है वह विदुर द्वारा हाल पूछने पर कहती है, “..मेरा जीवन तो जैसे एक स्थान पर आकर रुक गया है। कोई कर्म नहीं कोई गति नहीं, कोई लक्ष्य नहीं ...रात को सोते हुए, स्वयं से यह नहीं पूछ सकती कि प्रातः जो कर्म सोचा था, वह किया कि नहीं ?

आज के कर्म समर में जीती या हारी ? इस का उत्तर देते हुए विदुर कहते हैं, “सत्य यही है कि तुम साधना कर रही हो। ...साधना का रूप भी यही है। साधक अपने सारे बाहरी कर्मों को रोक देता है और मन में गहरे उतर कर, कोई महत्वपूर्ण कर्म करता रहता है। ऊपर से वह सर्वथा निष्क्रिय दिखाई देता है; किन्तु तल के नीचे अथाह गतिविधि चल रही होती है। वह बाहरी कार्यों को स्थगित करके अपनी ऊर्जा का संचय करता है, सारे साधनों को एकाग्र करके उन्हें सिद्ध करता है।....कोई गतिविधि न होते हुए भी कितने लोगो को प्रभावित करता है उनका कर्म। साधना दिखाई नहीं देती भाभी !” (कोहली, महासमर 5,77) नकुल के विचार में उसकी माँ कुंती योगिनी है। अपनी माँ के प्रत्येक स्थिति से समायोजन कर लेने वाले आचरण के सम्बन्ध कहता है, “माँ के मन का क्या है ! माँ आश्रम वासियों के कार्य में हाथ बंटाने लगे तो वहीँ रम जाये, सालकटकटी को पाक-कला सिखाने लगे तो उसी में जीवन की सार्थकता पा लें। वन-वासियों का शिक्षण करने लगे तो उसी को अपनी साधना मान लें। हमारी माँ के सुख के लिए राजसी सुख-साधनों का होना तनिक भी आवश्यक नहीं है। वे कहीं भी सुखी रह सकती हैं। हमारी माँ तो योगिनी है योगिनी।” (कोहली, महासमर 3,176)

यह उदाहरण स्त्री की महानता का दृश्य उपस्थित करते हैं। वह एक ऐसी प्राणी है जो सब स्थितियों में रह कर लोक-कल्याण को अपना लक्ष्य बना सकती है।

डॉ. नरेंद्र कोहली ने श्री कृष्ण का कथानक लेकर एक उपन्यास रत्न की रचना की जिसमें कृष्ण कहते हैं, ‘बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी पशुवृत्तियों को त्याग सके और अपनी साधना, त्याग तथा तपस्या से मानव-जाति के कल्याण के लिए कोई मार्ग निकाल सके।’ (कोहली, अभिज्ञान 91)

सत्य तो यही है—मानव यदि सम्पूर्ण जगत के प्रति प्रेम व् सेवा भाव से भर जाये, कल्याण के लिए जुट जाये, व्यष्टि में समष्टि का और समष्टि में व्यष्टि का विलय हो जाये, तो और मानवता क्या है ?

इसी वर्ष 2017 अगस्त माह में मुंबई में तबाही की सीमा तक बारिश हुई। इसी घटना को एन. रघुरामन लिखित लेख-मैनेजमेंट फंडा, 'देने की प्रवृत्ति से अमीर बनता है आपका शहर', जो दैनिक भास्कर समाचार पत्र, 31 अगस्त 2017 अंक में प्रकाशित हुआ उसमें पढ़ने को मिला - "कई लोग जहाँ थे वहीं फंस गये। अपने कार्यालय से घर के लिए निकले लोग घर न पहुँच कर रास्तों में ही बंधे रह गये। घरों में पानी भर गया। "शहर की लाइफ लाइन उपनगरीय ट्रेने बंद हो गयीं। सड़कों पर पानी भर गया। अस्पतालों तक में पानी भर गया और लोगों को कमर तक पानी का सामना करना पड़ा।" कितना भयावह है। यह सोचना ही कि कब अपने गंतव्य पर पहुँचेंगे ? और पहुँचेंगे भी या नहीं ? ऐसी भयानक प्राकृतिक आपदा के समय, ... "लोगों ने अपने दिल और घरों के दरवाजे यहाँ वहाँ फंसे लोगों के लिए खोल दिए। अपने टॉयलेट इस्तेमाल करने की इजाजत दी और गर्म चाय लोगों को पिलाई। न्यायलयों में कोर्ट रूम लोगों के ठहरने के लिए खोल दिए गये। रेलवे स्टेशनों ने अनाज के आखिरी दाने तक लोगों को फूड सर्व किया। यहाँ तक कि कोई चार्ज तक नहीं लिया। मंदिरों, गुरद्वारों और मस्जिदों के दरवाजे सभी के आश्रय के लिए खोल दिए गये।" (रघुरामन 6)

जब जिसे आवश्यकता हो उस समय पहुँचाई गयी सहायता ही मानवता की द्योतक है। मनुष्य को, अपना श्रम, अपना कर्म दोनों ही बिना स्वेद बहाए उच्च चेतना की और नहीं ले जा सकता। मानव में मानव बनने के गुण उसकी शिक्षा के साथ ही आरंभ हो जाते हैं। स्वयं की और दूसरों की रक्षा, सम्मान और प्रतिष्ठा का ज्ञान महापुरुष बनने में सहायक होता है, यदि शैशव से ही शिक्षा के साथ-साथ मिल जाये। महारानी द्रौपदी वनवास जाते हुए, अपने बालकों को अपने पिता महाराजा द्रुपद के साथ भेजती है। जिससे उनकी शिक्षा-दीक्षा उचित विधि से संपन्न हो सके। माँ के रूप में नारी अपनी संतान को कठोर बन कर ज्ञान की लौ में ऐसे तपा देना चाहती है जिसमें तप कर वह सोने सा निखर सकें। द्रुपद उन्हें पांचाल पहुँचने पर कहते हैं कि 'तुम्हारी माता का शैशव और केशौर्य यहीं बीता है, तुम भी इसे अपना घर समझो।' किन्तु द्रौपदी ने जाते हुए अपने पुत्रों से जो कहा, उसे



उसका पुत्र शुककर्मा अपने मातामह दुपद को दोहरा कर कहता है, “किन्तु, मातामह ! माता ने तो कहा था कि हम इसे अपना घर न समझें।” दुपद, धृष्टधुमन एवं शिखंडी के आश्चर्य पूर्ण होने पर और पूछने पर कि ‘क्या कहा था तुम्हारी माता ने ?’ शुककर्मा माता के कहे शब्दों को दोहराता है, “माँ ने कहा था, यह वनवास तो एक व्याज मात्र है पुत्र ! वैसे भी तुम लोगों की अवस्था गुरुकुल जाने की है। क्षत्रिय राजकुमार 12 वर्षों तक गुरु-गृह में रहकर तपस्या पूर्वक शिक्षण प्राप्त करते हैं। तुम अपने मातामह के घर जा रहे हो, किन्तु उसे अपना घर नहीं, गुरु-गृह ही समझना। तुम्हारे मातामह वहां कुलपति हैं। वे तुम्हारे प्रति कठोर नहीं हो सकेंगे। किन्तु तुम्हारे गुरु होंगे मातुल धृष्टधुमन और शिखंडी। वे कठोर अनुशासन को मानने वाले गुरु हैं। उनके प्रशिक्षण काल में जितना स्वेद बहाओगे, युद्ध क्षेत्र में उतना रक्त कम बहेगा। यदि स्वेद बचाओगे, तो रक्त बहाना पड़ेगा पुत्र ! इसलिए अपने गुरुओं का कठोर अनुशासन सहन करना, श्रम करना और श्रेष्ठ योद्धा बनकर उस गुरुकुल से लौटना। न अपने पिता का नाम कलंकित करना, न मेरे पिता को लज्जित करना।” (कोहली, महासमर 5,126)

श्रम का महत्व बताती नारी, शक्ति संचय के लिए स्वेद बहाने का महत्व बताती नारी, पुत्र द्वारा पिता के सम्मान की और साथ ही अपने गुरु के सम्मान की रक्षा करने का गुण देती नारी, यही तो है नारी की तेजस्विता।

ईश्वर ने नारी के रूप में एक अनुपम रचना संसार को दी है। कभी वह श्रृंगार प्रिया होकर अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करने का लोभ स्वरण नहीं कर पाती तो कहीं कोमलांगी बन अपने प्रिय से मानिनी होकर कुछ चाहती है और वही सौन्दर्य प्रेमी कभी रणचंडी बन कर प्रतिशोध और संहार के लिए उपस्थित होने से भी परहेज नहीं करती।

धृतराष्ट्र के आमंत्रण पर पांडव हस्तिनापुर जाने की तैयारी कर रहे हैं। द्रौपदी अपने वस्त्राभूषण सँभालते हुए युधिष्ठिर के प्रश्न पर कि क्या वहां प्रदर्शनी लगनी है, उत्तर देती है, “मिलने कोई नहीं जाता। मुझे कौन दुर्योधन की रानियों से अपनी सुख दुःख की बातें बांटनी हैं। मिलने का अर्थ होता है अपने वैभव का

प्रदर्शन। अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन। अपने बड़प्पन का प्रदर्शन। इस प्रदर्शन का सुख न हो तो कोई मिलने जाने का कष्ट क्यों करे ?”.. “नारी प्रकृति-धर्मा है। उसे न आप श्रृंगार से रोक सकते हैं, न प्रदर्शन से, न आत्म-मुग्धता से। बसंत आते ही सारी प्रकृति श्रृंगार कर उठती है, चाहे कोई देखे या न देखे। ...और नारी तो अपने यौवन में ही क्या, प्रत्येक अवस्था में श्रृंगार-प्रिय है।” (कोहली, महासमर 4,370)

इसी सन्दर्भ में एक और प्रकरण में दुर्योधन पत्नी काशिका, नारी के इसी गुण को प्रदर्शित करती है। शकुनि द्वारा लाये गंधार के वस्त्रों को काशिका द्रौपदी को दिखा कर अपनी प्रदर्शन की लालसा पूरी करना चाहती है। वह दुर्योधन को इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार देती है, “अपने कानों और नासिका में छिद्र करा, उनमें भार लटकाने का कष्ट कोई इसलिए तो सहन नहीं करता कि वह अपने आप में कोई सुखद अनुभूति है। ... अन्य लोगों के सन्मुख अपने वैभव का प्रदर्शन कर, उन्हें हीन और तुच्छ सिद्ध करने के लिए। स्वयं को उनसे धनी और सम्पन्न सिद्ध करने के लिए। अपने अहंकार की तुष्टि के लिए। ... सारा श्रृंगार, वेशभूषा, अलंकरण—क्या है यह सब। आत्म प्रदर्शन ही तो है। देखने वाला कोई न हो तो व्यक्ति क्यों आत्मालम्बन में इतना समय, धन और श्रम लगाए।” (कोहली, महासमर 6,22) कितना सही आकलन है स्त्री की श्रृंगार प्रियता का। वह न केवल मुग्ध करती है, आत्म-मुग्धा भी है, दूसरों को प्रदर्शित कर अभिमानिनी बनना भी उसे अच्छा लगता है। आज के संचार माध्यमों-समाचार पत्र, दूरदर्शन, फेसबुक, यु—ट्यूब और नेटवर्किंग के समस्त साधनों में विज्ञापन की दुनिया स्त्री के प्रदर्शन के बिना जैसे कोई बाजार ही नहीं, कोई वस्तु विक्रय ही नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि आजकल शिक्षा संस्थानों में माडलिंग जैसी प्रतियोगिताये करवा के नारी के प्रदर्शन के गुण को सभ्य मंच दिया जाता है। महिला आधारित फिल्में नारी के मनोविज्ञान को बेहतर दर्शाती हैं, और वर्तमान में उसका स्थान सुनिश्चित करती हैं।

वनवास के समय कुबेर के राज्य उद्यान में सौगंधिक पुष्प देख कर उन्हें लेने की लालसा से द्रौपदी भीम से उन्हें लाने का आग्रह करती है। भीम उससे पूछता है कि उनका वह क्या करेगी ? द्रौपदी का उत्तर है कि वह स्वयं का श्रृंगार

करेगी और लौटने पर इन्द्रप्रस्थ तथा हस्तिनापुर के सरोवरों में ऐसे ही कमल खिलाएंगे। भीम हैरान होकर पूछता है, हस्तिनापुर में क्यों ? मुग्धा नारी उत्तर देती है, “क्योंकि जब हम लौटेंगे, हमारे साथ ध्रातराष्ट्रों की मृत्यु भी चलेगी। आप दुर्योधन की जंघा तोड़ देंगे। आप दुशासन का वक्ष फाड़कर, उसमे से तप्त लहू का पान करेंगे और मैं उस रक्त से इन निर्बन्ध केशों को धो कर, इन पर लगा, दुशासन के मलिन हाथों के स्पर्श का, मल धोऊंगी। तब हस्तिनापुर का राजा कौन होगा? उसके सरोवर भी तो हमारे होंगे। उनमें हम सौगंधिक पुष्प खिलाएंगे।” (कोहली, महासमर 5,259) कैसा रूप है नारी का एक साथ ही आह्लाद और विनाश की चर्चा कर सकती है। तथ्य यह है कि मन के आह्लाद में भी नारी अपने अपमान को विस्मृत नहीं कर पाती। उसका तेज़ उसे निरंतर प्रतिकार के लिए उकसाता है।

किन्तु नारी का यही सौन्दर्य देखने वाले की दृष्टि को किस रूप में प्रभावित करता है। यह उसके आचरण और उसके अस्तित्व की सम्पूर्णता से ही संभव है। युधिष्ठिर अपनी पत्नी के सौन्दर्य से अभिभूत हैं किन्तु उन्हें रूप की, रति की, काम की, स्त्री के व्यवहार की मर्यादा का भी भान है। अपने प्रेम को कितनी गहराई से महसूस करते हैं और द्रौपदी से उसके अस्तित्व के महत्व के विषय में कहते हैं, “तुम्हारे माध्यम से प्रकृति मेरे मन में निराशा, विषाद, अभाव, घृणा, ईर्ष्या आदि के भावों को निरस्त करती है। तुम शांति, संतोष, उपलब्धि और प्राप्ति जैसे भावों की द्योतक हो। तुम सन्मुख होती हो तो जीवन का ऋणात्मक पक्ष निकट नहीं फटकता। जीवन जैसे प्रकृति का सुंदर उद्यान बन जाता है, जिसमें दिव्य रस, रंग तथा गंध है।.....तुम श्रद्धा-स्वरूपा हो, वासना-स्वरूपा नहीं। तुम मेरे मन को सौन्दर्य के भव्य धरातल पर स्थिर रखती हो।” ... आगे युधिष्ठिर नारी के मूल गुण और आचरण को उसके अस्तित्व से जोड़ कर कहते हैं, “नारी तो तुम हो ही, इसलिए वासना का रूप धारण करोगी तो आसक्ति और भोग की सृष्टि करोगी। प्रेरणा बनकर रहोगी, तो वासना और आसक्ति नहीं जागेगी। नारी की हीन वृत्तियों को धारण करोगी तो प्रकृति का पार्थिव और स्थूल रूप प्रकट करोगी, किन्तु उद्यात

वृत्तियों को प्रेरित करोगी तो दिव्य और उद्यात जीवन की सृष्टि करोगी। नारी का एक रूप वह है, जो पुरुष को निरंतर भोगासक्ति में निमिज्जित करता चलता है और दूसरा रूप वह है, जो हीनता की ओर पग उठते ही पुरुष को टोक देता है। नारी पुरुष का नर्क भी है और स्वर्ग भी।” (कोहली, महासमर 4,74) कैसी सटीक व्याख्या है; नारी की पुरुष के जीवन में, उसके होने की उसके महत्व की, उसके आचरण की, उसके प्रभाव की और अंततः उसके अस्तित्व के परिणाम की।

यह परिणाम नारी के केवल शारीरिक अस्तित्व का नहीं है, उसका मानसिक, भावनात्मक, मनोविज्ञानिक, सौन्दर्यात्मक, कलात्मक और सबसे बढ़कर आध्यात्मिक अस्तित्व का है। नारी की उपादेयता उसकी सम्पूर्णता में है, जिससे सृष्टि अपना आकार लेती है। इसीलिए तो जागरूक और चैतन्य नारी विषम परिस्थितियों में भी सदा स्व-विकास के लिए तत्पर रहती है। वह ऐसी गतिमान नदी बन जाती है, जिसकी उर्जा न केवल अपने लिए वरन ओरों के लिए भी प्राण शक्ति बन सके।

## आत्मविकास की ओर अग्रसर अहुआयामी वैक्तिक

महासमर में ऐसा ही एक प्रकरण है महारानी कुंती का। पांडव वन में जा चुके हैं। कुंती विदुर के गृह में रह रही है। एक दिवस कुंती विदुर तथा उसकी पत्नी पारंसवी से वार्ता करते हुए अपनी मनस्थिति के विषय में कहती है कि उसे प्रतीत होता है, जैसे वह एक अयथार्थ जीवन जी रही है। विदुर उसे कहते हैं, कि यह जीवन एक यथार्थ जीवन ही है, क्योंकि शायद वह भूल गयी है, कि हस्तिनापुर में रह जाने के पीछे उसका एक विशेष प्रयोजन था। कुंती उत्तर देती है, “भूली नहीं हूँ स्मरण है मुझे ! मैं अपने पुत्रों का विकास, उनन्यन्न और उत्थान चाहती हूँ। उनको उनका न्यायपूर्ण, धर्म संगत अधिकार दिलाना चाहती हूँ। इसलिए हस्तिनापुर में बैठी हूँ, ताकि यह तथ्य सबकी स्मृति में बना रहे कि पांडवों का सर्वस्व दुर्योधन ने अन्याय पूर्वक छीना है। युधिष्ठिर लौटेगा, तो इस अन्याय का विरोध करने के लिए उसे प्रेरित करना मेरा धर्म है। किन्तु मैं अपना शेष जीवन केवल प्रतीक्षा में नहीं

जीना चाहती। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की मूर्ति बन, एक प्रतीक्षापूर्ण पैशाचिक जीवन नहीं जीना चाहती। मेरे पुत्रों का विकास हो; किन्तु मेरा विकास क्यों पूर्णतः थम जाये ? मैं ऐसा जीवन क्यों जीयूँ कि जैसे मेरे जीवन में अब कुछ शेष ही न हो! मैं उस राक्षस के समान नहीं जीना चाहती, जिसके प्राण किसी शुक में हों, और वह शुक किसी दूरस्थ टापू में बसता हो।” और स्पष्ट करते हुए कुंती आगे कहती हैं, “मेरी अवस्था में न भोग, न ही संघर्ष से मेरा विकास हो सकता है। .. अपने जीवन को उपयोगी बनाना चाहती हूँ।...परावलम्बी होकर पुत्रों के जीवन की छाया मात्र बनकर नहीं जीना चाहती।.. तपस्या करना चाहती हूँ।.. मेरा तात्पर्य एकांतवास नहीं है। तपस्या कहीं भी हो सकती है; जहाँ हम तप सकें। जिनसे अब तक बचती आई हूँ, उनके सन्मुख जाऊँगी। अपने मन की घृणा को जीतने का प्रयास करूँगी। नहीं जानती उनका प्रेम अर्जित कर पाऊँगी या नहीं; किन्तु अपने मन में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास करूँगी। मेरे मन की उपलब्धि उनका प्रेम पाना नहीं, अपने मन का द्वेष मिटाना है।..क्या मैं इतनी गयी बीती हूँ कि उन अभागों पर दया भी नहीं कर सकती ?” ..“यह सब इसलिए कि मुझे अपने मन का यह विष अब अच्छा नहीं लगता। उनके मन में घृणा है, इसलिए मैं अपने मन को घृणा से भर लूँ, यह कोई सुनीति नहीं। कोई मेरे घर में फेंकने के लिए, अपने घर में कूड़ा संचित कर रहा है, तो मैं भी अपने घर में कूड़ा एकत्रित करने लगूँ ?... इसीलिए इसे तपस्या कहा है। जब-जब उनसे मेरा साक्षात्कार होगा, तब-तब मेरे मन में विरोध जागेगा, घृणा और द्वेष जागेगा पर मन तो मेरा अपना है ! यदि वे नीच हैं, तो उनके अनुकरण में मैं अपने मन को क्यों नीच बन जाने दूँ ? उन्हें सुधारना मेरा काम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए उत्तरदायी है। मुझे अपनी आत्मा को मलिन नहीं करना।..मेरी परीक्षा है कि जिन्होंने मुझे जीवन भर सताया है, पीड़ित और अपमानित किया है, मैं उन लोगों के प्रति, अपने मन में किसी प्रकार की दुर्भावना न आने दूँ। मन को संयंत करूँ।...मेरा मन कष्ट पाता है तो पाए; क्योंकि यह कष्ट उसके मल के कारण ही है और मैं अब अपने मन और आत्मा में किसी प्रकार की कोई मलिनता स्वीकार नहीं करूँगी।” (कोहली, महासमर 5, 247)

डॉ. दर्शन सिंह निर्वैर ने अपनी पुस्तक वाग्ज्योती में श्री रविन्द्र भारद्वाज के एक लेख 'आत्मविकास के स्रोत' का उद्धरण देते हुए लिखा है कि, "मनः-चिकित्सक डॉ. जार्ज आर. बैच ने निषेधात्मक विचारधारा को मानव का सबसे बड़ा आंतरिक शत्रु बताया है। अपनी कृति 'दी इनर एनिमी' में उन्होंने लिखा है कि संसार में निषेधात्मक विचारधारा से बढ़कर हानिप्रद शत्रु और कोई नहीं है। बाहरी शत्रुमात्र आर्थिक या शारीरिक हानि पहुंचा सकते हैं, किन्तु आन्तरिक-शत्रु तो अन्तराल में पनपने और मस्तिष्क में उमड़ने-घुमड़ने वाले हेय विचार हैं, जिन्हें असावधान व्यक्ति न तो पहचान पाते हैं और न उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने इसे 'हैण्डसम डेविल' के नाम से संबोधित किया है, कारण कि ये सुंदर, लुभावने दृश्य दिखाते और अपने मोहपाश में फंसा कर अंततः पतन के गर्त में जा धकेलते हैं। जीवन क्रम को अस्त-व्यस्त करके रख देने वाली इस विचार प्रक्रिया को दैत्य की श्रेणी में रखा गया है।" (निर्वैर, 313) इसी मन के विकार ही तो हटाना चाहती है, तपस्विनी नारी कुंती।

सृष्टि प्रकृति और पुरुष—दो भागों से मिल कर बनी है। पुरुष की वृत्ति है स्वार्थ और प्रकृति की वृत्ति है परमार्थ। स्वार्थ को गला कर परमार्थ की राह पर चलना तप है। ऐसा भाव करना कि जीवन का ध्येय पर-उपकार ही है, अपने मन की मलिनता से ऊपर उठकर क्षमा करना और जो कष्ट देते हैं, उन्हें स्नेह देना और उनका भला करना, अपने आप में एक तपस्या ही तो है। प्रकृति अपने शांत अस्तित्व से शब्दहीन होकर यही सन्देश मनुष्य को निरंतरता से देती आ रही है -

“तरबर तास बिलबीय, बारह मॉस फलन्त।

सीतल छाया गहर फल, पंशी केलि करंत।।” (कबीर ग्रंथावली 196) वृक्ष का सेवा कार्य बारह मॉस अनवरत चलता है। प्रति एक के लिए छाया, फल, पंछियों के लिए बसेरा बिना किसी भेदभाव के उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण प्रकृति मानवीयता का सन्देश प्रतिक्षण अपने मूक कार्यों से दे रही है।

उपरोक्त वृत्तांत एक ऐसा उदाहरण है जिससे महान ऋषियों के उत्तम जीवन, उनके ज्ञान, उनके द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित की गयी संस्कृतियों का आभास होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चरमावस्था स्वयं को ही तो पाना है, मन को ही तो जीतना है। श्री गुरु ग्रन्थ साहेब में गुरु नानक देव जी द्वारा रचित जपुजी साहेब की 28 पौड़ी में उद्धृत किया है, 'मन जीते जग जीत'।

मन के इस रूप के विषय में भी यजुर्वेद में उल्लेख है —

“येन कर्मायपसो मनीषिणी यज्ञे क्रिरायान्ति विदथेष धीराः

यद्पूर्व यक्षमंतः प्रजानां तन्मे मनः शुव संकल्पमस्तु ।। ”

(यजुर्वेद 34/2)

अर्थात् 'जो अन्दर प्रकाश रूप है, वह मेरा बुद्धि-रूप मन शुभ विचारों वाला होवे, तथा जिस पर अंकित हुए चित्र अमर होते हैं, वह मेरा चित्त-रूपी मन और जिसके बिना कोई वस्तु ग्रहण नहीं की जा सकती, वह मेरा धृति-रूपी मन शुभ विचारों वाला होवे।' (रामजीलाल, कबीर दर्शन, 283) और यही मन जो सरपट दौड़ते घोड़ों पर सवार है उसे ही तो लगाम लगाना है। कुंती के रूप में महासमर उन सभी स्थितियों को न केवल उजागर करता है वरन उसमें से मर्यादा सहित मूल्यपरक रास्तों से बाहर भी निकलने का मार्ग बताता है। मूल्य और किसे कहते हैं ? नारी का प्रभाव और कैसा हो सकता है ? मनुष्य को मनुष्य रूप में देखना और कैसा है ?

नारी का मूल्यपरक रूप उसके दिव्य स्वरूप का ही द्योतक है। वह मानिनी है, स्वाभिमानिनी है और कभी अभिमानिनी भी है, किन्तु वह जानती है अंततः जीवन का ध्येय शांति एवं क्षमा ही है। द्वैतवन में दुर्योधन की चित्रसेन के हाथों हार का समाचार सुन कर और उसकी बंदी बना ली गयी स्त्रियों को छुड़ाने के लिए युधिष्ठिर अर्जुन और भीम को भेजते हैं। यह देख द्रौपदी क्रुद्ध होकर कहती है कि जो कुछ उसके साथ हुआ, उसका दंड दुर्योधन और उसकी रानियों को मिलना ही चाहिए। युधिष्ठिर कहते हैं, “तुम्हारी पीड़ा मैं समझता हूँ ! किन्तु गन्धर्वों द्वारा किये

गये नारीत्व के अपमान से दुर्योधन द्वारा किये हुए नारीत्व के अपमान का प्रतिकार कैसे हो जायेगा ? दण्डित दुर्योधन को होना चाहिए कि उसकी रानियों को ? ...प्रतिशोध तो अपरिपक्व मन की क्रूर हिंसा है।” ..‘द्रौपदी ने कुछ नहीं कहा। वह धर्मराज का मत जानती थी।.. धर्मराज ने कभी क्षमा का त्याग नहीं किया था; और द्रौपदी अपने मन में जलती उस ज्वाला को तनिक सा भी शांत नहीं कर पाई थी। न वह अपने मन को बदल सकती थी, न धर्मराज की प्रकृति को।..और कहीं मन ही मन वह यह भी जानती थी कि मानव मन की उत्कृष्टता की दृष्टि से धर्मराज का चिंतन श्रेष्ठ था।’ (कोहली, महासमर 6,82)

उपरोक्त विश्लेषण इस बात का द्योतक है कि कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसमें पीड़ित नारी का अहम् उसे प्रतिकार करने को उद्वेलित करता है। वह अपने सम्मान की रक्षा चाहती है, और इसमें कोई दोष नहीं है। दुनिया में न्याय व्यवस्थाएं इसीलिए निर्मित हैं, जिससे अपराधी को दंड मिल सके और पीड़ित को सम्मानजनक न्याय।

निकट वर्तमान में संत एवं स्वयं को भगवान का दूत कहलाने वाले बाबाओं (आसाराम, रामपाल, रामरहीम) को, आश्रम में रहने वाली और उसे भगवान मान पूजने वाली- निरीह, आश्रित, नाबालिग स्त्रियों का बलात्कार करने के अपराध में, न्यायलय ने, 10 से 20 वर्षों का सश्रम कारावास का निर्णय सुनाया। नारीत्व का अपमान कहीं भी क्षम्य नहीं है।

नारी यदि क्षमा करना जानती है, तो सम्मान को संभालना भी उसे आता है। वह बुद्धिमती है, उसमें तर्कशीलता है। वह न्याय-अन्याय के भेद को समझती है। वह शांति का महत्व समझती है। किन्तु इसके लिए वह अपने अधिकारों का और सिर्फ अपने सम्मान का मूल्य चुकाए; यह सहन नहीं कर सकती। उसके मन में यह प्रश्न हैं, क्यों उसे ही अपने अधिकारों की बलि चढ़ानी होगी ? न्याय का अंश उसके हिस्से में क्यों नहीं ? कुंती कृष्ण से न्याय के इस रूप पर तर्क करती है। संधि की बात करते कृष्ण से कहती है, “जिन्हें संधि इतनी ही प्रिय है, उनसे कहो कि



मानवता के इस विनाश को बचाने के लिए थोड़ा त्याग करें। अपने पुत्र दुशासन को उसके अपराध का दंड भोगने के लिए भीम को सौंप दें। यह भी न कर सकें तो दुर्योधन को कोई पांच ग्राम देकर, सत्ता, पूर्व-युवराज युधिष्ठिर को सौंप दें। शांति की रक्षा के लिए सारा मूल्य सदा पांडव ही क्यों चुकाएं ? इस संसार में शांति बनाये रखने के लिए धृतराष्ट्र का सिंहासन पर बैठे रहना और मेरे पुत्रों का वनों में भटकते रहना क्यों आवश्यक है ? शांति के लिए द्रौपदी ही क्यों अपमानित होती है, दुर्योधन थोड़ा कष्ट क्यों नहीं सहता ?.. नहीं केशव! यह धर्म नहीं है। जिस संधि से अधर्म सत्तासीन होता है, मैं उसकी समर्थक नहीं हूँ। धर्मक्षेत्र को पापियों के रक्त से धुलना ही होगा, तभी वह धर्मक्षेत्र हो पायेगा।” (कोहली, महासमर 7, 215)

क्षमा देने वाली नारी धर्म और न्याय के हेतु अपराधी को दण्डित करने का तर्क देती दंड के पक्ष में खड़ी हो जाती है। और क्यों न हो ? मनुष्य के अंदर छिपी देवी और पाशविक वृत्तियों का महत्व और उसकी तुलना तभी तो संभव हो सकेगी, ऐसे समाज की संस्थापना हो सकेगी जहाँ सब सम्मानजनक, सुरक्षित, निर्भय, और सुखी होकर जीवन जी सके।

धर्म के लिए दंड को देने की बात करने वाली कुंती अपनी साधना और तपस्या से अपनी घृणा को जीत पाती है। कृष्ण युद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र से मिलने आते हैं और कहते हैं कि पांडवों को आपकी चिंता है वो आपसे मिलना चाहते हैं। धृतराष्ट्र आश्चर्य से पूछते हैं कि क्या ‘कुंती उन्हें हमसे सौहार्द पूर्ण व्यवहार करने देगी ?’ कृष्ण उत्तर देते हुए कुंती की तेजस्विता को वर्णन करते हैं, “वे छोटी बहन बन कर माता गंधारी की सेवा करेगीं। इसलिए नहीं कि माता गंधारी ने उनका कोई उपकार किया है। इसलिए कि कुंती बुआ अपने मन की घृणा को जीतने की साधना करती हैं। वे पाप से घृणा करती हैं। आप जैसे दीन और असहाय लोगों से घृणा करके उन्हें क्या मिलेगा। सूर्य अपने स्वभाव के कारण संसार के प्रत्येक जीव को प्रकाश देता है, उनसे कुछ पाने के लोभ में वह कुछ नहीं करता। ”

महामुनि वेदव्यास भी कुंती के चरित्र के विषय में धृतराष्ट्र को कहते हैं, “तुम कुंती की उदारता को नहीं जानते धृतराष्ट्र ! पिछले तेरह वर्षों से वह तुम्हारे

नगर में निवास कर रही है। तुमने सदा उसकी उपेक्षा की किन्तु क्या उसने कभी तुम्हारे सम्मान में कमी की ?” (कोहली, महासमर 8,468)

स्त्री की उपेक्षा संत मुनि, यहाँ तक कि अवतार रूप में जन्मे भगवान भी नहीं कर सकते। उसकी गरिमा का कोई ओर-छोर नहीं। वह त्याग को समझती है, वह जीवन के अंतिम सत्य की सशक्त होकर व्याख्या कर सकती है। युद्ध के उपरांत पांडव और द्रौपदी माता कुंती से मिलने आते हैं। द्रौपदी के रुदन और सब पुत्रों की याद करने पर कुंती संभल कर कहती है, “तुम्हारा अपमान करने वालों को अपने पाप का उचित दंड मिला पुत्री ! शोक मत कर। नारीत्व का सम्मान किसी भी साम्राज्य से अधिक मूल्यवान है। जो न्याय के लिए मूल्य चुकाने से चूक जाता है, उसे न्याय कभी नहीं मिलता। मैंने ही तो युधिष्ठिर को कहा था कि जिस दिन के लिए क्षत्राणी पुत्र को जन्म देती है, वह दिन आ गया है।” ... “तुम्हारा अपमान करने वालों को जब तक दण्डित नहीं किया गया था, तब तक तुम्हें भी लगता रहा होगा कि न तुम्हारे पति हैं, न पुत्र। तुमने स्वयं को अनाथ पाया होगा। तुमने भी चाहा होगा कि तुम्हारे पति और पुत्र तुम्हारा अपमान करने वालों को दण्डित करें। उनको ये आदर्श हमने ही तो दिये हैं। उठ पुत्री ! तू भूमि पर लोट कर विलाप करने वाली कोमल हृदया साधारण नारी नहीं है। ....तू पाप का नाश करने इस पृथ्वी पर आई है। अपने सखा से पूछ कि तेरे पुत्र कहाँ गये हैं, तो वह तुझे बतायेगा कि वे केवल अदृश्य हो गये हैं। नश्वर तो केवल शरीर है। यहाँ मरता कोई नहीं, केवल पंचभूत मिलते और बिखरते हैं। उनका रूप परिवर्तित होता है, वे नष्ट नहीं होते। उठ बेटा, इस प्रकार रोकर अपने वीर पिता, भाइयों और पुत्रों का अपमान मत कर। उनकी वीरता के गौरव को अंगीकार कर। जब मूल्य चुकाया है, तो उसके गौरव को भी ग्रहण कर।” ... द्रौपदी अपनी सास को देखती रह गयी ... कैसा धैर्य है ? कैसी वीर माता है ?.. कृष्ण की माता ने भी तो कृष्ण को छः पुत्रों की बलि चढ़ा कर ही पाया था। ‘त्याग के मूल्य को कम नहीं करना चाहिए। शौर्य का गौरव जीने का सुख, राज्य के सुख से भी बड़ा है।... ठीक ही तो कहती है उसकी सास .. वे मूल्य चुकाने को प्रस्तुत थी तभी तो भेजा था अपने पुत्रों को,..।’(कोहली, महासमर 8,515)

कैसा अलौकिक वात्सल्य है, प्रेम के साथ गरिमा, और वीर माँ का साहसी बलिदान को प्रस्तुत हृदय भी। उम्र भर जिस पुत्र कर्ण को वात्सल्य देने को तड़पती रही, उसके अधर्म पूर्ण आचरण के लिए उसे दंड मिले इसलिए अपने पांचो पुत्रों को उसका सत्य नहीं बताया। युद्ध उपरांत सत्य जानने पर युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पूछने पर माँ के हृदय का रहस्य कहता है, “माँ कहती है कि पांचाली का अपमान कर के कर्ण भी वध्य हो गया था। मेरा पुत्र था तो क्या। एक पापी पुत्र की रक्षा मेरा दायित्व था या न्याय और धर्म की स्थापना के लिए, उसे और उसके मित्रों को यमराज को भेंट करना।” (कोहली, महासमर 8,522)

अपने पराये के द्वन्द में न्याय और धर्म का चुनाव एक तपस्विनी नारी ही कर सकती है। कितनी ओजमयी, ज्ञानमयी, सात्विक सी व्यंजना है दंड की, अपमान की, सम्मान की, मूल्यों की, मानवीयता की, धैर्य की, नारी की तेजस्विता की, उसके महान चिंतन की, नश्वर शरीर और अनश्वर आत्मा की। नारी दृष्टि के चक्र को अपने आचरण की सात्विकता से यदि गहरे तल पर ले जा सकती है तो अपने तेज से दैवीय धरातल पर भी ले जा सकने की सामर्थ्य रखती है। जहाँ नारी के ऐसे विचार होते हैं, हृदय किसी स्थिति को इस तरह से संतुलन बना कर संभालने की क्षमता रखता है, वहाँ वह पूजनीय हो जाती है। अपने काव्य कैकयी में केदारनाथ मिश्र ऐसे ही उद्गार प्रकट करते हैं-

“केवल रमा नहीं हो प्रेयसी !

और न तुम केवल कल्याणी

मुझे गर्व है, प्रिय ! कि तुम हो

महाशक्ति-रूपा क्षत्राणी।” (मिश्र, कैकयी, अष्टम सर्ग,126)

नारी के रूप में नवीन दृष्टि कोण से कैकयी का उल्लेख कवि ने एक उदारमना, संकल्पमयी नारी का चित्रण किया है, जो विश्व के कल्याण के लिए अपने यश को भी दांव पर लगाने से नहीं चूकती।

स्त्री की महानता, उसका तेज़, उसका आचरण-अपने आसपास एक प्रकाश-पुंज सा बना लेता है। महासमर में कुंती का ब्रह्म चरित्र चित्रण है। लेकिन यह एक नाम है, एक प्रतीक। रामायण की सीता का चरित्र भी इतना ही बृहद और गरिमामयी है। अन्य अनेक ऐसे चरित्र हैं, महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली, गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा, लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला आदि आदि। यदि सीता अपने पति के साथ वन जाकर अपने स्त्री धर्म का निर्वाह करती है तो उर्मिला अपने पीछे रहकर अपने पति के परिवार की सेवा सुश्रवा करती है। यशोधरा यदि अपने पति को भिक्षा में अपना पुत्र दान देने की गरिमा रखती है तो रत्नावली अपरोक्ष रूप से तुलसीदास की साहित्य की प्रेरणा बनती है।

जीवन के मूल्यों में मानवीयता का स्थान सर्वोपरि है। राष्ट्र के संत, भक्त, महान बुद्धिजीवी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हैं। संत कबीर का तो समस्त जीवन ही मानवीयता का दर्पण है। कबीर दर्शन पर डॉ. रामजीलाल 'सहायक' की पुस्तक में शुभ कामना देते हुए तत्कालीन (1961) मुख्यमंत्री (उत्तरप्रदेश) श्री चन्द्रभानुगुप्त ने मानवता विषयक अपने उद्गारों को इस प्रकार उद्धाटित किया, "पूर्ण विश्व की सभी हलचलों का एकत्व, मानव के पावन और परिशुद्ध रूप का स्थापत्य, समाज के सर्वोत्कृष्ट कल्याणमय स्वरूप का निर्माण तथा समाज के कल्याण के लिए निष्काम भाव से कर्म करने का महत्व संपादन। क्या ज्ञान, क्या योग, क्या भक्ति और क्या कर्मयोग, इन सभी साधना-मार्गों का उद्देश्य है-मानव को सच्चा मानव बनाना, स्वकर्तव्य में निष्काम भाव से लगे रहना तथा उसे अपने सत्य स्वरूप को पहचानने में समर्थ बनाना। निष्काम भाव से सर्वहित के कार्यों में लगे रहने से ही मानव को अपने सत्य, नित्य, मुक्त स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं।" (रामजीलाल 11)

सामयिक दृष्टि से वर्तमान के परिदृश्य बदल रहे हैं। मानव कहीं बेहद मानवीय होकर संवेदनशील हो गया है और कहीं स्वार्थी होकर घोर कलियुग का वहन करता है। चुनौतियों ने स्त्री के कार्य क्षेत्र को भी बृहद कर दिया है। हिंदी की

उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिका आहा जिन्दगी के मार्च 2012 अंक में 'एक मुट्ठी चांदनी संजोती आधी दुनिया' नामक लेख में बहुद सुंदर विचार संप्रेषित हैं- 'फेसबुक और ऑरकुट सरीखी सोशल कम्युनिटीज़ पर मिली अभिव्यक्ति की आजादी को महिलाएं सेलिब्रेट कर रही हैं। वे रोटी सेंकते, सब्जी पकाते और दाल छोंकते हुए कवितायें लिख रही हैं, गीत साझा कर रही हैं। चुटकले पढ़कर हंस और हंसा रही हैं। दफ्तर के लिए तैयार होती, रिहर्सल की खातिर दौड़ती, बच्चों को दूध नाश्ता देती, फेसबुक पर स्टेटस अपडेट कर रही है। औरतों को एक नई चौपाल मिली है, एक मंच मिल गया है। .. इससे कुछ लोग खुश हैं तो आहत होने वालों की भी कमी नहीं।' (आहा जिन्दगी 20)

दैनिक भास्कर समाचारपत्र के 8 मार्च, 2017-बुधवार के विशेष अंक मधुरिमा में फिल्म कलाकार शाहरुख खान के विचार हैं; "स्त्री स्वतंत्र व्यक्तित्व है, सबको मानना ही होगा।" (मधुरिमा 1)

महासमर के एक स्थान में नकुल चित्रसेन से दुर्योधन की पत्नियों के सम्मान की बात करते हुए कहता है कि, दुर्योधन का अपमान करने के लिए उसकी पत्नियों का अपमान क्यों हो ? वह तर्क देता है, 'हम परिवार तथा दाम्पत्य जीवन में पार्थक्य तथा विभाजन को श्रेयस्कर नहीं मानते, किन्तु इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि पति से पृथक पत्नी का कोई व्यक्तित्व ही नहीं है, उसका अपना कोई सुख दुःख नहीं है।' (कोहली, महासमर 6,90)

## मानवीय उदात्तता की ओर बढ़ती आधुनिक नारी

'ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को जीवन के सभी क्षेत्रों में बराबरी का दर्जा प्राप्त था। बाद में (लगभग 500 ई. पूर्व) स्थिति में गिरावट आनी शुरू हुई। (आहा जिन्दगी, मार्च 2012,22) आँखें खुल तो रहीं हैं पर गति धीमी है। भारत में ही स्त्री का लिंगानुपात पुरुष के मुकाबले 940/1000 है। भ्रूण हत्या, गर्भपात आदि पर कानूनी रूप से रोक लगाने के बाद भी जागरण की गति धीमी है। किन्तु जो जागृत हैं वह शक्ति संपन्न है। समाचारपत्रों में निरंतर स्त्रियों के विकास कार्यों की,

गतिविधियों की सूचनाएं प्रकाशित होती रहती हैं दैनिक भास्कर के 22 जनवरी 2017 अंक में इन आंकड़ों का ब्यौरा दिया गया है-देश का गौरव बनी भारतीय पुलिस सेवा की संगीता पीटर (डी.एस.पी.) ममता कहर (एस. आई.), और उनैजा खातून (डी. एस. पी.) नक्सल समस्या से जूझ रहे क्षेत्रों में तैनात हैं और उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। वहां के लोगों की सामान्य जरूरतों को पूरा करने में सहयोग देते हुए उनके अंदर विश्वास का संचार कर रही हैं।” (भास्कर 1) भारत में ही 16 वीं सदी में बना मणिपुर का इमा बाजार, संभवतः दुनिया का एकलौता ऐसा बाजार है, जिसे सिर्फ महिलाएं चला रही हैं। इमा बाजार यानि मदर्स मार्किट, जो 1533 में बना था। यहाँ करीब 3500 महिलाएं अपनी दुकाने चलती हैं। यहाँ मछली से लेकर महंगे से महंगा कपडा मिलता है। .... मानवीयता का उदाहरण देखने योग्य है। ... सबसे दिलचस्प बात यह है कि यहाँ बाकी बाजारों की तरह प्रतिस्पर्धा नहीं की जाती। अगर कोई सामान स्थानीय दूकानदार के पास नहीं मिलता, या पसंद नहीं आता, तो यह स्थानीय दूकानदार आपको दूसरी महिला दुकानदार के पास भेज देते हैं। (भास्कर 1)

जिस तरह जीवन सतत है मनुष्य की गाथा भी सतत एवं निरंतर है, सृष्टि का स्त्री पक्ष उसके मानवीय मूल्य जीवन का दर्शन, सब अपनी गति से चलायमान है। केवल देखना है तो यह-

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,  
 स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।  
 एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ विश्वास,  
 धर्म दीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास —  
 समर, शोषण, हास की विरुदावली से हीन,  
 पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलिन।  
 मनुज का इतिहास, जो होगा सुधामय कोष,  
 छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।  
 युद्ध की ज्वरभीति से हो मुक्त,

जबकि होगी, सत्य ही, बसुधा सुधा से युक्त ।  
श्रेय होगा सुष्ठु-विकसित मनुज का वह काल,  
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल ।  
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बध,  
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध ।” (दिनकर, कुरुक्षेत्र 72)

समय की पुकार है, सत्य युग विचार में है, आचार में है, शिवम् में है, सुन्दरम में है और यही सत्य है। कोई भी युग अपने आचरण से आकार लेता है। फिर क्यों न मानवीयता को कूट कूट के मनुष्य में भर कर ऐसे संसार की परिकल्पना और सरंचना का प्रयास करें। हमें तो उदाहरणों की भी आवश्यकता नहीं हमारे ग्रन्थ, संत, पूर्वज ऐसी विरासत दे गये हैं, कि केवल पदचिन्हों पर चलने का कार्य बाकी है।

\*\*\*\*\*

## अध्याय: 5

### जीवन मूल्य

#### धार्मिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्य

मानव जीवन की विकास गाथा में उसकी सभ्यता और संस्कृति—ये दोनों चरण उसे एक वास्तविक मानव की संज्ञा देते हैं। और यह हुआ उस भय के कारण जो सांस्कृतिक होने की राह में, धर्म और नैतिकता के रूप में उसके समक्ष उपस्थित हुए। क्या है धर्म? और क्या है नैतिकता? और क्यों आध्यात्मिकता मानव के जीवन को प्रभावित करती है? जीवन के इन्ही प्रश्नों का उत्तर ढूंढते हुए मनुष्य इन विषयों पर मनन-चिंतन करने लगा। और इस प्रक्रिया में धर्म की चर्चा ने अहम् योगदान दिया। पर ये धर्म है क्या?

प्रकृति के उतार-चढ़ाव ने मनुष्य को कभी अचंभित किया, कभी डराया। भय, आश्चर्य और आस्था अथवा विश्वास को धर्म का नाम दिया। इस लिए मनुष्य ने एक अदेखी सत्ता के प्रति अपनी श्रद्धा को विकसित किया और उस शक्ति को परमात्मा अथवा धर्म की संज्ञा दी।

परम शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना, उसके अवतारों में आस्था से बढ़ी, और उन की कथाओं में मनुष्य ने ईश्वर के रूप को अनुभव किया। इन पौराणिक कथाओं में रामायण, महाभारत, भागवत गीता आदि प्रमुख (धार्मिक) ग्रन्थ हैं। भारतीय मानस ने रामायण, महाभारत आदि काव्य ग्रंथों को धार्मिक पुस्तकों के रूप में स्वीकार किया है। यह एक ऐसी आस्था है, जो इन ग्रंथों के कथानक में जीवन जीने की कला, सिद्धांत और विधि को तलाश करते हुए विशेष समुदायों-समाजों द्वारा मान्यता प्राप्त करके, ऐसे मूल्यों की स्थापना करती है, जिसे धर्म के नाम पर सर्व-साधारण अपने आचरण में सम्मिलित करता है।

किन्तु यह विषय महती गंभीर हैं। भारतीय मानस के अंतर्मन तक गुंथे हुए सिद्धांत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अपनी जड़ों की ओर मानवीय मानसिकता को



प्रेरित करते हैं। संभावनाएँ बहुत होने पर भी, बहुत कम लोग इस सत्य को जान पाते हैं। सांस्कृतिक धरातल पर इन सत्यों का आधार क्या है ? और क्यों इसे जानना स्वयं की जड़ों से जुड़ना है ? इसे इस अध्याय में समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही विवेचना से सम्बंधित निम्न प्रश्नों को भी चिंतन में सम्मिलित किया गया है -

- # धर्म जीवन में क्या स्थान रखता है ?
- # धर्म की आवश्यकता जीवन के लिए क्यों अपरिहार्य है ?
- # धर्म से नैतिकता का क्या संबंध है ?
- # नैतिकता क्या धर्म द्वारा निर्देशित और निर्धारित होती है ?
- # धर्म और नैतिकता क्या एक दूजे के पूरक हैं ?
- # नैतिक होने के लिए धार्मिक होना क्यों आवश्यक है ?
- # अध्यात्म जीवन के किस पहलु का आधार है ?
- # अध्यात्म को शास्त्रों ने किस रूप में स्थापित किया है ?
- # क्या अध्यात्मिक होना धर्म से किसी प्रकार जुड़ा होना है ?
- # आचरण की क्या परिभाषा है ?
- # धार्मिक आचरण को भारतीय वातावरण में क्यों प्रश्रय दिया जाता है ?
- # नैतिक व्यवहार करने वाले की प्रासंगिकता वर्तमान में कितनी है ?
- # क्या विज्ञान ने धर्म की जड़ों को आहत किया है ?
- # विज्ञान को मानने वाले क्या धार्मिक आचरण नहीं करते ?
- # अध्यात्म की चर्चा एक फैशन सा क्यों हो गया है ?
- # आज की परिस्थितियों में, धर्म गुरुओं ने जो अपना कार्य-व्यापार फैला रखा है। धर्म उसमें क्या महत्व रखता है ?
- # मानव को धर्म के नाम से डर क्यों लगता है ?
- # धर्म के नाम पर होने वाले कर्मकांड और अन्धविश्वास धर्म और अध्यात्म पर क्या प्रभाव डालते हैं ?
- # धर्म के नाम पर दिशा भ्रम क्यों हो जाता है ?

- # क्या मानव धर्म को जानता है अथवा सिर्फ कथित धार्मिक-परम्पराओं को मानते जाने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है ?
- # धर्म के नाम पर कथित बाबा इतना अंधकार क्यों फैला पाते हैं ?
- # धर्म-नैतिकता और आध्यात्मिकता, मानवीय मूल्यों को पुनर्जीवित करने में सक्षम है क्या ?

प्रश्नों की समाप्ति कहीं नहीं होती, हाँ उचित उत्तर मन के झंझावातों और असत्य को तिरोहित कर के आस्था की पुनर्स्थापना अवश्य कर पाते हैं। तो उत्तरों की दिशा में प्रयास करते हैं।

धर्म इतना संवेदनशील विषय है, कि जितने मस्तिष्क है, उतने विचार है। कोई इसे संकुचित रूप में लेता है, तो कोई व्यापक अर्थों में देखता है। ...

हिंदी की महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका आहा जिन्दगी के मार्च 2017 अंक में संपादक आलोक श्रीवास्तव लिखते हैं, “सन 1931 की बात है। लाहौर के बोस्टल जेल में भगत सिंह फांसी का इंतजार कर रहे थे। उसी जेल में एक वृद्ध सिख स्वतंत्रता सेनानी भी थे। उन्होंने भगत सिंह से यह कहकर मिलने से मना कर दिया था कि उन्होंने अपने केश कटवा कर सिख धर्म की तौहीन की है। भगत सिंह ने उन्हें जवाब भेजा कि केश क्या, देश पर मैं अपने अंग-अंग कटवा कर कुर्बान कर सकता हूँ। यह जवाब बूढ़े गदरी बाबा को रुला देने वाला था। उम्र के आखिरी पड़ाव पर एक युवक ने उन्हें धर्म का मर्म समझा दिया था। भगत सिंह और वे वृद्ध धर्म के दो छोरों पर खड़े थे। एक छोर विश्वास का था, तो दूसरा अंतः प्रज्ञा और तर्क का—साथ ही व्यापक मानवीय मूल्यों का भी।” (आहा जिन्दगी!8)

धर्म की इससे सटीक मार्मिक व्याख्या क्या हो सकती है ? कितने ही पहलु हैं। हर निगाह की अलग दृष्टि और हर दृष्टि का अलग दृष्टिकोण। धर्म कुछ लोगों के लिए एक विधि सी है, जिसके अनुसार वह अपने कर्मों को निश्चित करते हैं। उन्हें कर्मकांड भी कह सकते हैं। धर्म ने कई तरह से मनुष्य के मन को प्रभावित किया है। कोई धर्म गुरुओं के बताए रास्तों को ही धर्म मान बैठा है, और कोई ध्यान लगा कर, मौन बैठ कर, सर्वव्यापक को आवाज़ देने का प्रयास कर रहा है।

वैसे ..“धर्म जिस भी रूप में हो, वह है और रहेगा—तब तक जब तक जीवन को उसकी जरूरत रहेगी, मनुष्य के अंतर्मन में उसकी मांग रहेगी। धर्म मुख्य रूप से दो स्तरों पर मानव अस्तित्व से सम्बंधित है ---

- 1) लौकिक जीवन और उसकी जरूरतों के स्तर पर
- 2) अध्यात्मिक जीवन और उसकी आकांक्षाओं के स्तर पर..

अभी मानवता के बहुत बड़े हिस्से के लिए इन दोनों जरूरतों के स्तर पर ऐसा कुछ इतने बड़े पैमाने पर नहीं हो सका है कि वह धर्म का विकल्प बन सके।  
(आहा जिन्दगी 8 )

समाज चेतना और मूल्यों के अधिक गहरे लक्ष्यों की ओर अपने कदम बढ़ा रहा है। किन्तु विज्ञान, धर्म और आधुनिकता ऊपर से ओढ़े जाने वाले विषय नहीं हैं। विज्ञान यदि आज की सुविधा का दूसरा नाम है। तो भूलें नहीं, इस दृष्टिकोण से नवीन अन्वेषणों के सत्य का मार्ग भी प्रशस्त होता है। दोनों भिन्न विषय होने पर भी कहीं एक दूसरे पर आधारित हैं। इसलिए विज्ञान का अर्थ समझते हुए धर्म की मीमांसा को बहुत संवेदनात्मक और संजीदा रूप से समझने का प्रयास करना होगा। धर्म यदि आश्चर्य और आस्था है तो विज्ञान उसी आस्था का सत्य-साबित होने पर विज्ञान बन जाना है।

अब इस तथ्य को यदि ध्यान पूर्वक देखें तो समझ आता है कि दोनों स्तरों में जीवन के धर्म, नैतिक और अध्यात्मिक सम्बन्धी सभी पहलु समाहित हैं। याद रखना होगा कि, जब धर्म सम्बन्धी कोई विचारधारा अथवा विश्वास- मान्यताओं या दर्शन में परिवर्तित होते हैं, तो उसकी सद्वृत्तियों के साथ-साथ उसकी अंतर्भूत विकृतियाँ भी उसमें आ जाती हैं। वास्तव में ऐसे मान्य संगठन किसी विचार या आस्था के विकास या विस्तार के लिए ही बनते हैं। इसके लिए सामूहिक शक्ति और समृद्धि की भी महती आवश्यकता होती है। लेकिन कमियों के रहते कभी-कभी ऐसा समय भी उपस्थित हो जाता है, जब संगठन की विकृतियाँ उसे अपने में लील लेने को उठ पड़ती हैं। ऐसे में सर्वसाधारण का हित करने के लिए निर्मित

संगठनअपने निहित स्वार्थों के कारण अपने उद्देश्यों से भटक जाता है, और अर्थहीन हो कर, अनचाहे ही, सामुदायिक अहित करने लगता है। ऐसी स्थिति और ऐसे संगठन कतई धार्मिक संगठन नहीं कहे जा सकते।

अफ़सोस की ही बात है कि धर्मों और भिन्न मतावलंबी आस्थाएं भी इसी सर्व जन हिताय का उद्देश्य लेकर जन्मती हैं लेकिन अधिक समय तक अपनी शुद्धता कायम न कर पाने के कारण सामाजिक और वैयक्तिक प्रभाव अपने पर हावी कर लेती हैं। धर्म में जो नैतिक आचरण और आध्यात्मिक आचरण की जो जिज्ञासा होती है—उसमें एक तरह का व्यवहार और कर्मकांडों का प्रवेश हो जाता है। कैसे पूजा करें ? कब क्या खाये ? कब सोयें ? क्या पहने ? किस विधि से काम करें ? आदि बातों के आने से आध्यात्मिकता का लोप हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे में समूह और उसके विधि-विधान में बिना बात ही होड़ लग जाती है और इसका फायदा उस समूह के नेता उठा के स्वयं को अन्यो से श्रेष्ठ साबित करने पर तुल जाते हैं और अहम् की जंग धर्म से बड़ी हो जाती है।

एक बड़ी सारगर्भित सी 'बोध कथा' है, 'सूफी संत फरीद ने एक रात सपना देखा। सारा स्वर्ग सजा-धजा था-रास्ते पर फूल, इमारतों पर रौशनी की लड़ियाँ, चारों ओर नृत्य और संगीत। उसने पूछा, 'भाई, क्या बात है ? कोई उत्सव है क्या? जवाब मिला, 'आज परमात्मा का जन्मदिन है। हम खुशियाँ मना रहे हैं।' लिहाजा फरीद एक पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। सड़क पर एक लम्बा जुलुस गुजरने लगा। जुलुस के आगे एक घोड़े पर बैठा एक आदमी चल रहा था। फरीद ने सवाल किया, 'भाई ये महाशय कौन हैं ?' जवाब आया, 'इन्हें नहीं जानते ? ये ही तो हजरत मोहम्मद हैं।' पीछे लोगों का हुजूम उमड़ रहा था। फरीद ने पूछा, 'फिर ये लोग कौन हैं?' जवाब मिला, 'ये लोग मोहम्मद के अनुयायी हैं। इन्हें मुसलमान कहते हैं।' पीछे पीछे क्रास हाथों में लिए लाखों ईसाईयों के साथ ईसामसीह आये। इसके बाद अपने स्वर्ण रथ पर बैठे कृष्ण आये, धनुर्धारी राम आये। पीछे नाचते गाते भक्तों का मेला लगा हुआ था...इसी तरह पैगम्बर आते रहे, जय-जयकार करते जुलुस गुजरते रहे। और सभी जुलूसों के गुजर जाने के बाद अंत में गधे पर

सवार एक बूढ़ा आदमी आता हुआ दिखाई दिया। उसके साथ कोई नहीं था। वह अकेला चला जा रहा था उसे देखकर फरीद को हंसी आ गयी। न कोई अनुगामी, न कोई साथी। गधे पर बैठा अकेला कहाँ जा रहा है। फरीद ने पूछा, 'श्रीमान ! आप हैं कौन ? मोहम्मद, ईसा, राम, बुद्ध, सभी को मैं पहचानता हूँ। बिना किसी अनुगामी के इस तरह तो एक तमाशा लग रहे हैं आप।' उस बूढ़े ने उदास सी मुस्कान के साथ कहा, 'प्रिय मित्र, मैं ही परमात्मा हूँ। आज मेरा जन्मदिन है। लेकिन कुछ लोग ईसाई बन गये, कुछ मुसलमान, कुछ यहूदी, कुछ हिन्दू..मेरे साथ चलने के लिए कोई नहीं बचा।' चौंककर फरीद जाग उठा। अगले दिन उसने अपने शिष्यों को बुलाया और कहा, आज से मैं मुसलमान नहीं रहा। कल का सपना मेरे लिए एक इल्हाम था। अब मैं किसी संगठित धर्म का अनुयायी नहीं हूँ। मैं खुद अपने रास्ते पर चलूँगा। मैं परमात्मा का अनुगमन करना चाहता हूँ। कम से कम एक बंदा तो उसके साथ हो।'...अगर आपने परमात्मा को लेकर पहले से ही कोई धारणा बना ली है, तो आप उसे नहीं जान सकते। आपकी धारणा ही आपके और ईश्वर के बीच सबसे बड़ी दीवार बन जाएगी। सभी बाह्य धारणाओं को छोड़ देने पर ही अंतर्यात्रा आरम्भ हो सकती है।' (बोध कथा 12)

क्या कहती है कथा ? नहीं ! किसी धर्म अथवा धर्म गुरु के विरोध का स्वर नहीं है यह ! विपरीत इसके स्व-खोज और वास्तविक धर्म की ओर ईशारा करती परम शक्ति की अवधारणा की प्रेरणा है। धर्म-जिसका स्वागत हम परमात्मा के अस्तित्व के लिए करते हैं, उसके बारे में कहती है। जिस धर्म को अपने जीवन का आधार मानते हैं, उसकी वास्तविकता का चिन्ह है यह कथा। एक बोध है, कि हम किस राह पर हैं? स्व-निर्मित ईश्वर के आभास और उसके अवतारों की? अथवा स्वयं परमात्मा की। किसी धर्म-मान्यताओं या धर्म गुरु का विरोध नहीं, किन्तु धर्म को जानने के लिए सत्य को पहचानना अवश्य जरूरी है।

## भारतीय जीवन में धर्म की सतत-अनिवार्य उपस्थिति

कह सकते हैं कि धर्म की उपस्थिति किसी न किसी रूप में जीवन को प्रभावित करती ही है।..तो..“आप किसी संगठित धर्म को मानें या न मानें, एक

बड़ी संख्या में लोग उसे मानते हैं कि उनके विश्वास और मान्यताएं उनके आचरण में बदल जाती हैं और उनका आचरण सारी दुनिया को अनेक स्तरों में प्रभावित करता है। आचरण को बदलने की कोशिशें तब तक कामयाब नहीं हो सकतीं, जब तक उन मान्यताओं को न बदला जाये, जो काफी हद तक धर्म, ईश्वर और जीवन की यथार्थ और अनुपादेय संकल्पनाओं पर आधारित हैं। इसलिए आप चाहे किसी धर्म को मानने वाले हों या न हों, अनीश्वरवादी या संशयवादी ही क्यों न हों, संगठित धर्मों की मान्यताएं आपके लिए अप्रासंगिक नहीं हो सकतीं, कि आप एक ऐसे समाज में रहते हैं, जिसके कायदे-कानून, नैतिकता और आचरण की जड़े कहीं न कहीं ईश्वर और धर्म सम्बन्धी उसकी मान्यताओं में ही हैं।” (अहलुवालिया 6)

धर्म की विवेचना मानव की आचरण विविधता से की जा सकती है। महासमर उपन्यास के भिन्न भिन्न पात्र धर्म और नैतिक आचरणों का कैसा उदाहरण उपस्थित करते हैं इस मनन से प्रस्तुत विषय पर और प्रकाश पड़ेगा।

महर्षि वेदव्यास कहते हैं, “प्राणियों की अभिवृद्धि के लिए धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो प्राणियों की अभिवृद्धि का कारण हो, वही धर्म है।” मतलब यह कि धर्म की कल्पना और उसकी रचना भी, समाजों की अभिवृद्धि और विकास के लिए ही होती है।

डॉ.नरेंद्र कोहली कृत महासमर महा-उपन्यास (9 खंड) महाभारत के कथानक पर आधारित ऐसी ही रचना है, जिसमें धर्म की अत्यंत गूढ़ मीमांसा उपलब्ध है। धर्म की परिभाषा से लेकर धार्मिक आचरण और सिद्धांत अपने पूर्ण अर्थों में उपन्यास में यत्र-तत्र, विभिन्न चरित्रों के माध्यम से उदाहरण स्वरूप मिलते जाते हैं।

आम भारतीय मानसिकता में एक संकीर्ण सोच सी भी मिलती है कि धर्म की जानकारी साधू, सन्यासी, बाबाओं और ऋषियों के पास है। कुछ अंश में यह विश्वास सही भी है। किन्तु धर्म किसी एक समुदाय की धरोहर न होकर, उन सब

की श्रद्धा का द्योतक है, जो अपने ज्ञान से इस को समझने का प्रयास करते हैं और अपने आचरण में इसे सम्मिलित भी करते हैं। इसी तथ्य के एक रूप की बानगी देखेंगे—महाराज शांतनु की पत्नी सत्यवती अपने मछुआरे पिता से ‘सुख और सुखी कौन’ पर वार्ता करते हुए कहती है कि, ‘वास्तव में सुखी कौन है—दिनभर मरते खपते हमारे केवट—मछुए या सब कुछ त्याग वनों में जा बैठे ये तापस—सन्यासी।’

भिन्न मानसिक स्थिति का एक बहुत अच्छा सा उद्धरण सत्यवती के पिता दासराज के उत्तर में निहित है, पिता दासराज ऋषि मुनियों के विषय में कहते हैं, “बेटी ! न मैं बहुत बुद्धिमान हूँ, न विद्वान और न चिन्तक ! मैंने तो जो सीखा है, अपने जीवन से सीखा है। तुमने अपनी तुलना सन्यासियों से की है; किन्तु मैंने आज तक अपनी तुलना राजाओं और राज परिवारों से की है। सुखी तो केवल राज-परिवार हैं। उनके पास सबकुछ है: धन सम्पत्ति, अधिकार-सेवक, सैनिक-शस्त्र..सब कुछ ! हम, वह सब प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। तपस्वी तो वे लोग हैं बेटी ! जो उपलब्धियों से निराश हो चुके हैं। उन्होंने सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया है। उन्होंने शस्त्र डाल दिए हैं, संघर्ष त्याग दिया है; महासमर से मुह मोड़ लिया है। वे लोग जीवन से हार चुके हैं पुत्री !” (कोहली, महासमर 1,59)

अद्भुत विचार है लेकिन महत्वहीन नहीं है। साधु सन्यासी धर्म के वाहक समझे जाते हैं और दास राज के अनुरूप वे हारे हुए लोग हैं। किस चिंतन को प्रश्रय दिया जाये, यहाँ ये विचारणीय विषय है।

अधिकांश जनमानस, साधु सन्यासियों से धर्म की दिशा लेने को उत्साहित रहते हैं किन्तु क्या धर्म का वास्तविक अर्थ उनका अनुयायी होने मात्र से समझ आ सकेगा क्या? आहा जिन्दगी के एक लेख में विजय अहलुवालिया कहते हैं “धर्मगुरु, अगर सच्चा हो तो भी आपके और सत्य के बीच केवल एक सेतु हो सकता है। यात्रा तो आपको ही करनी होगी। किसी बुद्ध, किसी जीसस, किसी मोहम्मद का सत्य आपका अपना सत्य नहीं हो सकता। अगर यह संभव होता तो

बुद्ध और महावीर भी वेद और पुराण पढ़कर सत्य को जान लेते और उन्हें सत्य की खोज में बरसों न भटकना पड़ता।” (अहलुवालिया 10)

## धर्म-मानसिकता, व्यापक अथवा संकीर्ण

स्पष्ट ही है कि धर्म की व्यापक मान्यताएं जो भी हों, उसकी अनुभूति प्रत्येक की अपनी व्यक्तिगत होती है। उसे स्वयं के सिवा कोई और अनुभूत नहीं कर सकता। ‘मान लेना और जान लेना’ का बहुत सूक्ष्म अंतर है यह। जिसे समझ आ गया वह बुद्ध हो गया। कोई गुरु कोई महात्मा प्रभावित तो कर सकता है प्रेरित और प्रोत्साहित भी कर सकता है। पर दृष्टिकोण के साथ साथ दृष्टि अपनी ही हो सकती है। कहते हैं अपने भीतर उतरने से स्वयं को जाना जा सकता है। ‘अपने आप को जानिए’ ऐसा सालों से कहा जा रहा है, किन्तु क्या जानने को है ? नाम, पद, वंश, शरीर की पहचान के अतिरिक्त और अलग क्या है ? जिसे जाना जाये। शायद वही तो हम हैं ?....अध्यात्मिक बुद्धिजीवी पं. विजयशंकर मेहता का दैनिक भास्कर के दैनिक समाचारपत्र के ‘जीने की राह’ स्तम्भ में कथन है, “अपने आपको जानने की कोशिश तब करें जब शांति की तलाश हो। कहीं जाना नहीं है। बस, शांति से अपने भीतर उतरना और यह मानकर चलना कि भीतर से आप चार बातों से बने हैं-शरीर, मन, हृदय और आत्मा। ये टुकड़े हो जाने के बाद आपको धीरे धीरे समझ में आने लगेगा। इस क्रिया की शुरुयात देखने से की जाये। अगर ईमानदारी से अपने भीतर देखने लगेंगे तो यह क्रिया मात्र होगी..परिणाम नहीं मिलेगा। हो सकता है आप जो देख रहे हों वह गलत भी हो, पर देखिये। देखने का अगला परिणाम होगा अनुभव। कुछ अनुभूति होने लगेगी और जैसे जैसे आप मन, हृदय और उससे आगे बढ़ेंगे, आत्मा तक पहुंचना मिलेगा। वहां साफ़ दिखने लगेगा कि आप जो देख रहे थे वह सही था या गलत। ..मन में विचार मिलेंगे और उन्हें शून्य करते हुए छलांग लगाते ही आत्मा की ओर ध्यान जायेगा।...परिणाम जो भी हो वह आपका निजी होगा, चाहे आप किसी को कह न सके किन्तु होगा वह सत्य और आपका स्वयं का, और बड़े काम का होगा।’ (मेहता 6)



स्वयं को जानना और स्वयं की ही दृष्टि, यही अध्यात्म का आधार है।

महासमर एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें जितने पात्र हैं, उतनी ही विचारधाराएँ हैं। सबका अपना-अपना दृष्टिकोण है, और है, अपने अर्थों में धर्म की परिभाषाएँ। उन्हें समझने की कोशिश करते हैं।

विदित ही है कि, जीवन एक वृहद समर है। भारतीय संस्कृति तीन तरह की मनोवृत्तियों का प्रतिपादन करती है—सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। प्रत्येक मनुष्य का आचरण, उसका धर्म और मूल्य उसकी वृत्तियों के अनुरूप ही निर्धारित होता है। सात्विक व्यक्ति का आचरण विश्व-कल्याण और परहित को सर्वोपरि मानता है। राजसी व्यक्ति स्वयं एवं समाज दोनों के स्वार्थ और परमार्थ को समझते हुए आचरण करने का प्रयास करता है। और तामसी व्यक्ति स्व-सुख के लिए जीता हुआ किसी का भी हित-अहित कर सकता है। उसकी महत्वाकांक्षाओं की परिधि की कोई सीमा ही नहीं होती। उसे अपने स्वार्थ के कारण प्रत्येक में अपना शत्रु दिखाई देता है। ऐसा इसलिए क्योंकि वह स्वयं किसी का हित तभी करता है जब उसका स्वयं का कोई स्वार्थ सिद्ध होता है।

महाराज शांतनु और महारानी सत्यवती के पुत्रों की शिक्षा की चर्चा का समय है—महाराज चाहते हैं, कि उनके पुत्र वंश की रीति के अनुसार ऋषि-आश्रम में जाकर शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करें और महारानी का वक्तव्य है कि ऋषि भी तो राज्य के सेवक हैं तो राजकुमार सेवक के पास न जाकर राजप्रासादों में ही शिक्षा ग्रहण करे। कितनी विडम्बना है ! वृत्ति मानव को क्या से क्या विचार मानने को बाध्य कर देती है। महाराज शांतनु अपनी कमजोरियों और कामनाओं के आगे विवश हैं, इसलिए स्त्री की इच्छा को मानने को बाध्य भी। वे समझते हुए भी विरोध नहीं कर पाते। धर्मानुसार आचरण करना तो चाहते हैं और करवाना भी—लेकिन मन-मसोस कर विचारों के झंझावातों में फसें रह जाते हैं। जिस भीष्म को वह उदासीन और उदार समझते थे। उसके शैशव का शिक्षण और ऋषिओं का सानिध्य और उनसे प्राप्त ज्ञान को उसकी उदासीनता का कारण समझते थे। भीष्म के आचरण

को देखते हुए, आज वे स्पष्ट देख रहे थे, “उदासीनता कितनी उदात्त होती है और आसक्ति कितनी शुद्र ! ऋषियों की अनासक्त-उदार दृष्टि जीवन की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर, बहुत दूर तक देखती है, और इसी लिए यही स्वस्थ दृष्टि है। वे जीवन के यथार्थ को समझते हैं शायद ! इसीलिए जीवन-सरोवर के ऊपर से काई हटाकर, स्वच्छ जल ही पीते हैं। भीष्म वंचित हुआ और शांतनु की कामना पूर्ण हुई, किन्तु दोनों में सुखी कौन है—भीष्म या शांतनु ? निश्चित रूप से निष्काम भीष्म, पूर्णकाम शांतनु से अधिक सुखी है। कामना सुख का नहीं, छलना और यातना का दूसरा नाम है।..कामनाओं के प्रपंच को शांतनु से अधिक अब और कौन समझ सकता है? .कामना पूर्ण होने पर भी कोई कभी पूर्णकाम हुआ है क्या ? क्या माँगा था उन्होंने और क्या पाया।” (कोहली, महाभारत 8,82)

कैसी त्रासदी है, व्यक्ति जानता है, समझता है, मानता है परन्तु करते समय स्वयं को असहाय बना कर आसक्ति के हाथों मूर्ख और दुर्बल साबित हो जाता है। धर्म की राह, नीति और नैतिक आचरण की दिशा की तरफ ही संकेत करती है। जीवन के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष के लक्ष्यों को पाने हेतु अपने आचरण की पवित्रता और शास्त्रगत कर्म ही अंततः मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यही तो है अध्यात्मिक होना। धर्मानुसार कर्म करते हुए अर्थ उपार्जन करना, गृहस्थ का कार्य करते हुए काम-कामना को पूर्ण करना और मोक्ष की ओर कदम बढ़ाते जाना। यही भारतीय मानसिकता है और हमारे प्राचीन सांस्कृतिक ऋषि मुनियों द्वारा अनुमोदित जीवनचर्या भी। पर कितने लोग हैं जो इसे समझते हैं, क्रमशः 100 में से 99 तो समझने का प्रयास करते हैं और समझते भी हैं, किन्तु इसका क्रियान्वन कितने जन कर पाते हैं ? यहीं से समस्या का आविर्भाव आरंभ हो जाता है। स्वबोध तो है किन्तु अशक्त पौरुष असमर्थ बना देता है ! त्रासद असमर्थता ! यही कारण है कि यह विषय न कभी विगत होता है न ही समाप्त ! और चिंतन है कि नित नये विचारों, नवीन निष्कर्षों और नवीन सुझावों को समक्ष प्रस्तुत करता रहता है।

साहित्य समाज का दर्पण है- ऐसा कहा जाता है, और यह सत्य भी है। तो कितने उदाहरण इस तथ्य को सत्यापित करते हैं। साहित्य के पोर पोर में मानव

व्यवहार है। और मानव के कण कण आचरण का आधार उसके धर्म, विश्वास, आस्थाओं, मूल्यों और उनपर चलते उसके व्यवहारों का लेखा जोखा होता है।

मानव को रचते हुए परब्रह्म ने भिन्न-भिन्न सांचों का प्रयोग किया होगा, तभी न प्रत्येक रचना भिन्न है। तो बाह्य आवरण के भिन्न रहते आन्तरिक संसार भी तो भिन्न ही होगा। महासमर के नीतिज्ञ महात्मा विदुर के अनुसार, “दंभ भरा असत्य जीवन जीने से अच्छा है कि व्यक्ति स्वच्छ और सत्य जीवन व्यतीत करे, चाहे वह असुविधापूर्ण ही क्यों न हो।”.. विदुर स्वयं के दासीपुत्र होने पर प्रसन्न हैं, कि उन्हें आखेट के लिए निरीह पशुओं का वध नहीं करना पड़ता। वह अपनी माता से कहते हैं, “मैं सोचता हूँ कि अच्छा है कि मैं राजकुमार नहीं हूँ, नहीं तो मुझे भी व्यर्थ में रक्तपात करना पड़ता। स्वार्थ के लिए अन्याय का समर्थन करना पड़ता। सत्य से अधिक पाखंड से प्रेम करता। तृष्णा, अधिकार-लालसा, प्रतिस्पर्धा—ये सब मानवता का शृंगार नहीं हैं माँ ! इनसे किसी का न उद्धार होता है, न उत्थान ! इनसे पतन ही होता है।” (कोहली, महाभारत 1,286)

## नैतिकता; नीति एवं न्याय विचार

अध्यात्म जीवन को उद्घात भावों से भर कर न्याय और नैतिकता की ओर प्रेरित करता है। झूठ और पाखंड से मुक्त करके सत्य के मार्ग की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। जैसा महात्मा विदुर के आचरण में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण महाभारत में महात्मा विदुर ही ऐसे पात्र हैं जो निर्दोष एवं निष्कलंक हैं। जिन्हें स्वार्थ छू नहीं गया। जिनको तृष्णा और आवश्यकता का भेद विज्ञ है। जो किसी लालसा के अधीन नहीं। जो न्याय के पक्ष में आवाज़ उठाने का जोखिम उठाते हैं। जिनमें सक्षम नहीं सत्य के अनुयायी का साथ देने का साहस है। जो धर्म के साथ रहते हुए चातुर्य में भी माहिर हैं। जो प्रेम का महत्व भी समझते हैं, और संबंधों की मर्यादा को भी आहत नहीं होने देते। जो धृतराष्ट्र को बड़े भाई का मान देते हैं। न्याय के लिए उसे कठोर सलाह देने का साहस भी कर पाते हैं। नैतिक और अध्यात्मिक व्यक्ति सत्य के बल से निडर हो जाता है। वह सोच पाता है कि सही और गलत

व्यवहार राज-समाज को किस प्रकार हानि पहुंचा सकते हैं। वह इसका विरोध जताता है। वह समझता है कि किसी के दोषपूर्ण अनैतिक आचरण को प्रश्रय देना उसको मौन सहमति देना ही है। इस कार्य से वह सही होते हुए भी अपरोक्ष रूप से समाज का अहित करने में भागीदार बन जाता है। महात्मा विदुर के अनुसार पितामह भीष्म धर्म का मर्म जानते हैं। अपने व्यवहार में पुनीत और पवित्र हैं। किन्तु माता सत्यवती की तृष्णाओं में अनजाने ही सहयोग करते हैं। महात्मा विदुर इस आशय का एक वक्तव्य अपनी माता मर्यादा को देते हैं, “महाराज कुमार भीष्म में मुझे कोई दोष नहीं दीखता। वे मानवीय गुणों की उद्घात मूर्ति हैं: किन्तु माँ! वे पितामही की तृष्णाओं के वाहक तो बने ही हैं। उन्हें राजमाता की प्रत्येक उचित-अनुचित बात का समर्थन तो करना ही पड़ा है।..मुझे भय है कि कहीं वे धृतराष्ट्र के पाप के भी वाहक न बने।” (कोहली, महासमर 1,286)

कितनी अब्धुत बात है, जानते बूझते व्यक्ति उस गर्त में फिसल जाता है, जिसमें उसका वस्त्र तो मलिन होता ही है, अनजाने—अनचाहे समाज का भी अहित होता है। लगता ऐसा है कि हम किसी पूज्य की बात मान रहे हैं, किन्तु नैतिकता का यह तकाजा नहीं कि स्वयं उचित होते हुए अनुचित का समर्थन इसलिए किया जाये कि उसे आपके बड़े चाहते हैं। फिर आप भी उस दोष में उतने ही सम्मिलित माने जायेंगे।

महासमर में पितामह भीष्म का चरित्र एक धर्मज्ञ, निष्काम, त्यागी और उदार मनोयोगी के रूप में दृष्टि गत होता है। किन्तु यदि वह अपने अधिकार के त्याग के साथ सिंहासन के प्रति पूर्णतः उदासीन न होते और कठोरता से सिंहासन की मर्यादा तथा उसके सम्मान की रक्षा कर पाते तो कथा का स्वरूप कुछ और होता। विवेचन करते हैं कि पितामह भीष्म धर्म का क्या रूप ग्रहण करते हैं ?

वह बार -बार विचार करते हैं कि, ‘व्यक्ति क्या है ? व्यक्ति जीवित क्यूँ रहना चाहता है ? क्यूँ डरता है वह मृत्यु से ?’ (कोहली, महासमर 1,16)

यह वे प्रश्न हैं, जो मानव के अंतर्जगत की ग्रंथियां खोलते हैं। धर्म, नीति और अध्यात्म की गुन्जलों से उद्वेलित करते हुए, उलझता-सुलझता वह सत्य को पाने का यत्न करता है। अतः यह जीवन अपने आप में एक प्रश्न बन कर, मानव को कई उत्तर तलाश करने को बाध्य करता है।

पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र के महत्वाकांक्षी और अन्याय के पक्ष लेते राज्य आदेशों के विरोध में विचार करते हुए चिंतित हैं, 'कुरुकुल का परिवेश इधर बड़ी तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा था। जिस कुल में सदा त्याग का महत्व था, वहां ग्रहण का महत्व बढ़ता जा रहा था। पहले वय, ज्ञान और चरित्र का महत्व था, अब पद का महत्व है। भीष्म ने अपना राज्याधिकार छोड़ दिया तो कदाचित् मूर्खता की; और आज जो उच्च पदों पर अधिकार जमाए बैठे हैं, वे स्वयं को बुद्धिमान समझ रहे हैं। भीष्म ने अपने त्याग से इस कुल का निर्माण किया था; और अब धृतराष्ट्र अपने भोग की प्रवृत्ति से इसका विनाश करके रहेगा। वह नहीं समझता कि सृष्टि को धारण करने वाला धर्म है। अधर्म सदा विनाश करता है। हम अपनी रक्षा के लिए ही धर्म की रक्षा करते हैं। धर्म हमारा रक्षक है। हम उसकी रक्षा नहीं करेंगे, तो हमारी रक्षा कौन करेगा ?" (कोहली, महासमर 2,32)

'धर्म हमारी रक्षा करता है'—यह वह विश्वास है, जिसके अनुरूप व्यक्ति अपने आचरण पर सात्विक अंकुश लगता है। पितामह के विचार में मानव के प्रत्येक व्यवहार का मूल धर्म ही होना चाहिए। फिर वो शिक्षा का क्षेत्र हो, परिवारिक संबंध और सम्बन्धी हों, राज्य हो, राजा हो अथवा राज्याधिकारी हों। प्रत्येक व्यक्ति धर्म के प्रति, नैतिकता के प्रति, उत्तरदायी है। जीवन के चार लक्ष्यों में से अंतिम और पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति तभी संभव है, जब वह धर्म के अनुरूप अपने मूल्यों और आचरण को निर्धारित—क्रियान्वित करता है। युधिष्ठिर से बात करते हुए भीष्म कहते हैं कि, "पुत्र! हस्तिनापुर ही नहीं, कोई भी नगर, नगरवासियों का होता है। शासक का धर्म, प्रजा का न्यायपूर्ण पालन करना है। इसीलिए उसे नगर अथवा राज्य का स्वामी कहा जाता है।...जैसे माता-पिता अपनी संतान के स्वामी हैं,

क्योंकि वे उसे जन्म देकर उसका पालन-पोषण करते हैं। जिस क्षण अपने लाभ के लिए वे संतान का उपयोग करने लगते हैं, उसी क्षण से उनका स्वामित्व समाप्त हो जाता है।” (कोहली, महासमर 2,39)

अब सामयिक दृश्यों को देखें तो कौन है? जो इस विरासत-नीति के अनुरूप आचरण करता दीखता है। वर्तमान की त्रासदी है कि ‘हाथी के दांत- खाने के और—और दिखाने के और’ वाली कहावत यत्र-तत्र चरितार्थ होती दिखती है। सामयिक परिदृश्य के राजनायक किस प्रजा को प्रभावित करते हैं ? क्या धर्म है उनका ? किसका हित करते हैं ? और राज्य अधिकार पाने के पीछे छिपा उनका उद्देश्य क्या है ? धर्म की सर्वमान्य धारणाएं क्या हैं? और सर्वसाधारण कितना आचरण इनके अनुरूप करता है ? यह विचारणीय है। वर्तमान के सत्य को देखें तो पाएंगे कि कुछ भी ऐसा नहीं है, जो आदर्श स्थिति को दर्शाता है। जिस यथार्थ से हम रूबरू होते हैं, वह बहुत भयावह है—आदर्श सत्य से कोसों परे। जिन आदर्श मूल्यों की व्यवस्था भारतीय शास्त्रों ने जन मानस के लिए निर्धारित की थी वह परिदृश्य कहीं दिखाई नहीं देता। शास्त्र मानव को धर्मानुसार आचरण का ज्ञान देते हैं, किन्तु सामयिक दृश्य स्वार्थ से परिचालित और केवल अहंकार से भरे व्यक्ति का रूप दर्शाते हैं। सर्व साधारण के समक्ष राज्याधिकारियों का कोई उदाहरण नहीं है। जिसका वह अनुकरण कर सकें।

महाराज धृतराष्ट्र अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते शास्त्रसम्मत धर्म, नैतिकता को ताक पर रख लोभ, तृष्णा के अधीन आचरण करते हैं, तथा मानवीय मूल्यों को भूले रहते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें धार्मिक समझा जाये और वह ऐसा स्वांग भी करना चाहते हैं, किन्तु आचरण भी धर्मानुसार हो, इसका आग्रह उन्हें स्वीकार्य नहीं।..‘धृतराष्ट्र जानते थे कि दुर्योधन की क्या इच्छा है। उसकी अपनी इच्छा भी दुर्योधन से तनिक भी भिन्न नहीं थी; किन्तु धृतराष्ट्र को लग रहा था, कि शकुनि के साथ रह कर भी दुर्योधन ने तनिक-सी भी राजनीति नहीं सीखी थी।..राजा के लिए आवश्यक था कि उसका प्रत्येक कृत्य, आदेश, संकल्प और सिद्धांत न्यायसंगत प्रतीत हो। उसकी स्वेच्छा और स्वार्थ की कहीं हलकी-सी छाया

का भी आभास न हो।.. वह धर्म, न्याय तथा औचित्य की साक्षात् प्रतिमा ही दिखाई पड़े। तभी तो जन-सामान्य, सैनिकों और बुद्धिजीवियों का समर्थन उसे प्राप्त होता है।” (कोहली, महासमर 3,347)

यह है समसामयिक राज्याधिकारियों का वास्तविक चरित्र। जिसे उपन्यासकार ने बहुत प्रासंगिक रूप से पुराण से सन्नद्ध करते हुए उपन्यास में उपस्थित कर दिखाया है। कहते हैं कि महाभारत में कोई प्रकरण ऐसा नहीं जिसे आज भी किसी-न-किसी रूप में देखा न जा सके। हर एक घटना, पात्र आज को प्रतिध्वनित करता है।.. ‘किन्तु दुर्योधन कदाचित नये युग का राजनीतिज्ञ है। उसकी राजनीति मात्र लोभ और भय पर चलती है। किन्तु शायद वह नहीं जानता कि यह दोनों तत्व मात्र निकृष्ट और सामान्य प्रकृति के लोगों के उपकरण हैं। सात्विक और श्रेष्ठ जन इन दोनों से ही प्रभावित नहीं होते। ‘लोभ’ और ‘भय’ को उनका समर्थन नहीं मिलता। सात्विक लोग उसके निकट भी नहीं फटकते। ऐसे में राजनीति निर्वस्त्र हो जाती है, सर्वथा नग्न ! उसकी रीढ़ के रूप में समाज का बहुमत नहीं होता; दुर्बलों का एक संगठन होता है, और देश में मात्र दमन-चक्र और शोषण की चक्की चलती है। उससे राजा शांत चित्त से राजसी भोगों को भोग भी तो नहीं पाता।’

आश्चर्यजनक रूप से सामयिक धरातल का नग्न चित्रण है यह ! उपन्यासकार कितना मर्मस्पर्शी ढंग से महाभारत के पात्रों को आज के राजनयिकों के समक्ष उपस्थित करता चल रहा है ! दुर्योधन के कार्य और धृतराष्ट्र की मानसिकता ! दोहरे मानदंडों पर आधारित आज की राजनीति का विदूष मुख—यही सत्य तो कहता है कि त्रास सहती जनता आज कराहने की कगार पर खड़ी है, और दुस्साहसी दुर्योधन सरीखे राजनेता उसके शोषण के लिए किसी धर्म का विचार करना आवश्यक नहीं समझते। एवं धृतराष्ट्र जैसे शासक जनता को धर्म के आवरण में छिप कर लूटने को तत्पर हैं।

तो कहाँ हैं शास्त्र सम्मत मूल्य! नैतिक और धार्मिक आचरणों का निर्देश देती ऋषि मुनियों की वेद-वाणी !

जीव जगत की रचना की परमपिता ने, और एक जीव का निर्माण किया मानव के रूप में। वह ओरों से अलग है! कैसे? आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि सामान्य क्रियाएं सब जीवों में पायी जाती हैं। पशु से पृथक् मनुष्य की श्रेष्ठता कैसे है? उसके धर्म के कारण। अपने विवेक एवं आचरण की पृथकता के कारण ! धर्म से रहित मनुष्य पशु कोटि का ही बन जाता है। धर्म व्यक्ति को श्रेष्ठ जीवन जीने की ओर प्रेरित करता है। यह वह भेद जिससे मनुष्य को एक अभिनव व्यक्तित्व मिलता है। जिसे स्वार्थ और परमार्थ का भेद समझ आता है। जो मानव-मानव के आचरण को मन के रास्ते समझ सकता है। जो समूह और समुदाय का महत्व समझता है, जिसे अपने अधिकार एवं दूसरों के अधिकारों का भान है। जिसे अपने साथ परमार्थ की शिक्षा उसके शास्त्र देते हैं। जो साहित्य के, संस्कारों के रचयिता ऋषि मुनियों के ज्ञान का संवाहक है। जो पीढ़ियों से अपनी सांस्कृतिक विरासत को आने वाली संतति को देने का निरंतर प्रयास करता है।

“मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्स्वत अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। जो अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।” मनुष्य का यह परिचय दिया था महर्षि दयानंद ने एक शताब्दी पूर्व।’ (निर्वैर 181)

सटीक परिभाषा मनुष्य के मनुष्य होने की। वास्तव में धर्म जीवन के जीने की कला ही तो है ! धर्म मानव को ईश्वर के समकक्ष बनाता है, “अहं ब्रह्मस्मि”—में ही ब्रह्म हूँ—की भावना मनुष्य को परम सत्ता के सद्गुणों को अपने आचरण में उतार कर उसके जैसा बनने को प्रेरित करती है। धर्म को धारण करके ही मनुष्य दैवी विभूतियों से परिपूर्ण बनता है और महामानव कहलाता है।

शास्त्रों, ऋषि-मुनियों, मनीषियों, विचारकों एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा, धर्म के अंतर्गत कुछ गुणों को रखा गया है। जिसके अनुसार आचरण करने से व्यक्ति समाज एवं विश्व का कल्याण होता है। मानव जीवन सम्मुनत होकर दैवी गुणों से युक्त होकर निखरता है। और वह अपनी सात्विक प्रवृत्तियों द्वारा सर्व साधारण का भला करता है। यह शास्त्र-सम्मत निम्न गुण इस प्रकार हैं —



“धृतिः क्षमा द्यो अस्तेयम् शौचमीन्द्रिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम धर्माक्षमम्” । (सन्दर्भ : मनुस्मृति)

‘अर्थात् धर्म के दस लक्षण हैं-धैर्य, क्षमा, संयम, चित्त्वृत्तियों पर नियंत्रण, चोरी न करना, आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धि, इन्द्रिय-संयम, बुद्धि का विकास, विद्या प्राप्त करना, सत्य पालन तथा क्रोध न करना। अतः धर्मानुशासन के प्रथम प्रवक्ता मनु ने धर्म के जिन दस लक्षणों की व्याख्या की है उन्हें वर्तमान में महात्मा गाँधी ने एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, असतेय, अपरिग्रह, शारीर- श्रम, अस्वेद, अभय, सर्वधर्म, समंतत्व, स्वदेशी, अस्पृश्यता) के रूप में अंगीकार किया। अस्तु-धर्म मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक उन्नति में सहायक होता है। किन्तु तभी जब ये विश्व-चेतना के विकास में सहायक हो। तब धर्म का वास्तविक उद्देश्य—वसुधैव-कुटुम्बकम् का भारतीय आदर्श पूरा होगा। अथर्ववेद में इसे इस प्रकार से कहा गया है— “सर्वा आशा मम मित्रम भवन्तु!” अर्थात् सभी दिशाओं के लोग मेरे मित्र बनें। (गाँधी, सत्य के साथ मेरे अनुभव 45)

एक और बात ध्यान रखने योग्य है कि धार्मिक जीवन धर्म-मत से प्रथक है। धर्म- मत युग, राष्ट्र, व् समय के साथ चाहे परिवर्तित हो जाये परन्तु उसकी आत्मा नहीं बदलती। उपरोक्त दस लक्षणों के अतिरिक्त प्रेम करना, सत्य बोलना, दया करना आदि का जस-का-तस रहना धर्म की आत्मा है, मानव धर्म के अंतर्गत, ईश्वर को स्मरण करता है, उसकी पूजा अर्चना करता है, उसका ध्यान करता है — यह धर्म जीवन के भाग हैं। लेकिन पूजा करते हुए व्यक्ति किस ओर मुंह करके बैठता है, पच्छिम की ओर अथवा पूर्व की ओर। घुटने टेकता है या सर झुकाता है। ये वह भिन्न मत हैं, जिनके अनुसार वह अपने व्यवहार नियत करता है। यही बात अपनी अज्ञानता में लोग नहीं समझते, और धर्म के नाम पर बनाई हुए अंध-परम्पराओं के लिए झगड़ा करने लगते हैं। जो बातें और विश्वास आस्था के लिए निर्मित होती हैं वह मजहब के नाम की बाधाएं बनकर कट्टर-समुदायों में समाज को बाँट देती हैं। याद रहे कि धर्म मत और धर्म जीवन का सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करता है,

कि प्रभु से मानव का सीधा सम्बन्ध है। बीच में कोई और एजेंट नहीं है। बस यही भेद समझने से वास्तविक धर्म का अर्थ समझ आ जाता है।

कहते हैं धर्म, कर्म का आधार और कसौटी है। धर्म में धारण करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। धर्म हमारे लोक जीवन को संयमित और नियंत्रित करने का उपादान है। धर्म व्यक्ति को नैतिकता की ओर प्रेरित करता है। उसे अध्यात्म-लोक-परलोक के भय से उचित-अनुचित के मापदंड समझने का डर देता है। किन्तु मनुष्य फिर भी अपनी स्थितियों के अनुसार ही अपने विवेक का उपयोग करता है। महासमर में एक स्थान पर महात्मा विदुर अपनी पत्नी परंसवी से वार्ता करते हुए वंश के महत्व पर कहते हैं, “निम्नकोटि के लोग अपनी आजीविका से भयभीत रहते हैं, मध्यमकोटि के मृत्यु से; और उत्तम कोटि के लोग केवल अपने अपयश से।...किन्तु दुराचारी चाहे कितने ऊँचें वंश का क्यों न हो, सदा निरादर पाता है; और सदाचार से रहने वाला व्यक्ति अंततः आदर पायेगा ही। ...और आदर न धन से मिलता है, न ज्ञान से, न यश से, न कुल से—आदर केवल आचरण से मिलता है देवि ! इसलिए मेरा सबसे अधिक बल आचरण की शुद्धता पर है। आचरण शुद्ध रहे तो अनादर का कोई भय नहीं है। ...और प्रिय! वंश मैंने स्वयं नहीं चुना, वह इस समाज की व्यवस्था थी। मुझे अपने वंश पर लज्जित अथवा संकुचित होने की क्या आवश्यकता है। ..हमारे आसपास बहुत सारे उच्च वंशीय, कुलीन क्षत्रीय राजकुमार हैं ..उन सबके आचरण को देखकर मेरा मस्तक लज्जा से झुक जाता है।...अच्छा है कि मैं वैसा कुलीन नहीं हूँ।” (कोहली, महासमर 1,371)

## धर्म युक्त कर्म का सत्य

धर्म के मायने वास्तव में कर्म की शुद्धता है। कर्म यदि धर्म की कसौटी पर खरा है तो व्यक्ति का नैतिक आचरण स्वतः ही अध्यात्मिक और धार्मिक हो जायेगा।

जीवन की उद्घातता उसके सत्य-शिव-सुन्दर में छिपी है। जिसे भारतीय अध्यात्म की संज्ञा देते हैं। अदृश्य रह कर स्वर्ग-नरक अच्छे-बुरे की परिकल्पनाएं व्यक्ति मन को झकझोरती रहती हैं। क्या करे वह ? क्या न करे वह ? किस मान्यता को मान ले ? काल परिवर्तन के साथ-साथ, कौन सा मत पुनः विचार करने की आवश्यकता है ? कौन देगा उत्तर? अनेकानेक प्रश्न मानव मन को उद्वेलित करते हैं ? जब धर्म आचरण को कसता है, तो प्रश्न भी तो धर्म के समक्ष ही रखने होंगे न!

महासमर में किशोर वय का युधिष्ठिर और महात्मा विदुर इस सम्बन्ध में वार्ता कर रहे हैं, “काका ! वय में बड़े लोग आदरणीय होते हैं ?” ..

विदुर, “हम वय को उसका सम्मान अवश्य देते हैं। ” ..

युधिष्ठिर, “क्या हमें उन आदरणीय लोगों की अनीति पर विचार करने का अधिकार है ?”..

विदुर, “अवश्य पुत्र ! यदि हम वृद्धों की अनीति का तिरस्कार नहीं करेंगे, तो युवकों में नीति का संचार कहाँ से होगा !”..अपनी अगली पीढ़ी को अनीति का संस्कार देने वाले अदूरदर्शी लोग यह देख नहीं पाते कि उन्हें विष-पान करा रहें हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम मृत्यु ही है। युवा पीढ़ी को यदि जीवन चाहिये, तो उसे वृद्धों की अनीति का तिरस्कार करना ही होगा।” ..

युधिष्ठिर, “इसे अविनय तथा उदंडता नहीं माना जायेगा ?”

विदुर, “नीति और वृद्ध में से किसी एक का तिरस्कार करना अनिवार्य हो जाये तो युवक नीति का तिरस्कार न करे। .. जीवन, विनय से भी बड़ा है पुत्र !”  
(कोहली, महासमर 2,31)

उपरोक्त संवाद से स्पष्ट है कि परिवर्तित होते समय और काल के अनुसार बेशक धर्म के नियम बदले जाएँ परन्तु उसकी आत्मा और रूहानियत वही रहती है। उत्तम व्यक्तित्व के मन के उहापोह उसे उन आचरणों और नीतियों की

अवहेलना नहीं करने देती जो उसके पूज्य वृद्ध बनाते हैं किन्तु जहाँ स्वार्थ और लोभ से ग्रस्त आचरण धर्म की परिभाषा बदलने लगते हैं। सात्विक मन के द्वारा जिज्ञासा उठाना आवश्यक ही है।

त्याग एवं ग्रहण.... धर्म के दो पहलु हैं। पितामाह भीष्म त्याग के प्रतिरूप हैं, वह अपने वंश के रक्षक के रूप में वही सिद्धांत एवं मूल्य आने वाली संततियों में भी देखना चाहते हैं। किन्तु उन्हें बेहद अफ़सोस है कि कुरुवंश के राजकुमार शनैःशनैःधर्म मार्ग को त्यागते जा रहे हैं। वे चिंतित हैं कि 'जिस कुरुकुल में सदा त्याग का महत्व था, वहां ग्रहण का महत्व बढ़ता जा रहा है। पहले वय, ज्ञान और चरित्र का महत्व था, अब पद का महत्व है। भीष्म ने अपना राज्याधिकार छोड़ दिया तो कदाचित् मुखता की; और आज जो उच्च पदों पर अधिकार जमाये बैठे हैं, वे स्वयं को बुद्धिमान समझ रहे हैं। भीष्म ने अपने त्याग से इस कुल का निर्माण किया था; और अब धृतराष्ट्र अपने भोग की प्रवृत्ति से इसका विनाश करके रहेगा। वह नहीं समझता सृष्टि को धारण करने वाला धर्म है। अधर्म सदा विनाश करता है। हम अपनी रक्षा के लिए ही धर्म की रक्षा करते हैं। धर्म हमारा रक्षक है। हम उसकी रक्षा नहीं करेंगे, तो हमारी रक्षा कौन करेगा ?" (कोहली, महासमर 2,32) . कहते हैं गुणों-का और धर्म का चयन करना तो बहुत सरल है। किन्तु उसकी पालना करना कठिन है। यदि गुणों का लाभ लेना है तो उसके अनुसार आचरण करना होगा। अन्यथा कोरे सिद्धांत व्यर्थ हैं। धर्म के पालन से समाज और व्यक्ति के जीवन और व्यवहार में श्रेष्ठता और उत्तमता का दर्शन होना चाहिए तभी सर्व-साधारण का कल्याण संभव है। वह धर्म ही है जो हमें कर्तव्य-कर्म का बोध करता है। और धर्मपूर्वक यदि व्यक्ति उस मूल्य-परक नैतिक धार्मिक मार्ग पर चले तो कल्याण होना आवश्यक है। मनुस्मृति में कहा गया है,

“धर्म हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षतिः ।

तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत ।”(मनुस्मृति)

बात वही है यदि हम धर्म की उपेक्षा करते हैं तो धर्म हमें मार देता है। जैसा अधर्म के मार्ग पर चलने वाले दुर्योधन एवं उसके साथियों के साथ कालांतर में घटा।

महर्षि कणाद ने कहा है- “जिससे इस संसार में उन्नति हो और परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो सके, वही धर्म है।” (निर्वे 63)

भारतीय संस्कार एवं संस्कृति केवल धर्मानुसार किये कृत्यों का अनुमोदन करती है।

कृष्ण कहते हैं, “जीवन का कोई सुख धर्म से बड़ा नहीं; धर्म की अवहेलना, किसी भी बड़े-से-बड़े कष्ट से बड़ा कष्ट है। धर्म, वासना से बड़ा है, शक्तिशाली है, समर्थ है..धर्म ही धारण करता है—सृष्टि को, मनुष्य को, मनुष्य के शरीर को.. वासना किसी को धारण नहीं करती, वह तो क्षय मात्र करती है...जीवन धर्मानुकूल होना चाहिए, भोग भी धर्मानुकूल होना चाहिए, त्यागपूर्ण।” (कोहली, महासमर 3,313)

धर्म और संस्कृति के प्राणदाता कृष्ण ही यह कह रहे हैं-तो तथ्य का सत्य यही है। जीवन के मूल्य धर्म निर्धारित ही हों, तभी अभीष्ट हैं। समस्त शास्त्र इसी जीवन सिद्धांत का अनुमोदन करते हैं।

धर्म की डोरी बहुत सूक्ष्म है। इसे समझना जितना दुरूह है उसका निर्वाह भी कभी-कभी व्यक्ति को अनेकों विचलन भरी परीक्षा में डाल देता है। किन्तु स्वयं के आचरण पर नियंत्रण कर के ही तो निर्णय करता व्यक्ति धर्म का पालन कर सकता है। यदि लोभ-मोह के हाथों विवश हो गया तो फिर धर्म और उसके अनुरूप किये कर्मों का दायित्व नहीं ले सकता। कठिन स्थितियां मनुष्य को माया के बंधनों में कसती हैं, उसकी वासनाएं उसको बांधती हैं, वह अपने लोभ के अधीन होकर, ऐसे निर्णय भी ले सकता है, जिससे उसका आचरण धर्म-मार्ग से विचलित हो जाये। किन्तु यही दुरूह स्थितियां ही उसकी कठोर परीक्षा की अग्नि है, जिसमे से तैर कर वह प्रदीप्त हो उठता है।

महासमर का ही एक प्रकरण है—अग्नि परीक्षा सी स्थिति है—अर्जुन वीर्यशुल्का द्रौपदी को स्वयम्बर में जय कर के आया है। माता कुंती के कहने पर पाँचों भाइयों के मन में अंतर्द्वंद चल रहा है। कुंती उसके इस विजय कार्य से प्रसन्न तो है किन्तु चिंतित भी। ‘शास्त्र के अनुसार बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह प्रतिवेदन कहा जाता था। कहने का तात्पर्य कि प्रतिवेदन धर्मशास्त्र की दृष्टि में पाप है। निर्दोष बड़े भाई के अविवाहित रहते, छोटा भाई विवाह करले—यह अधर्म है।’...नवीन स्थिति के उत्पन्न होने पर अर्जुन को इस सत्य का भान होता है कि उसने स्वयम्बर में द्रौपदी को जीता है, किन्तु उससे उसका विवाह नहीं हुआ। जयमाला तो डाली गयी पर वरमाला नहीं।’ युधिष्ठिर को इस बात पर एतराज है, उनके अनुसार यदि युधिष्ठिर के अविवाहित रहते, भीम का सालकन्टकटी के साथ विवाह हो सकता है, तो अर्जुन का क्यों नहीं। कुंती इस बात का विरोध करती है, कि वह एक सामयिक विवाह था, उसका उदाहरण यहाँ उचित नहीं है।

अजीब स्थिति आ खड़ी हुई है। विडंबना है जो जय कर के लाया है, वह विवाह नहीं कर सकता। जो दो बड़े भाई हैं, जो अविवाहित हैं। द्रौपदी विचार कर रही है। सारा परिवार धर्म-संकट में पड़ा है। माता कुंती धर्मानुसार चलना चाहती है। वह अपने बच्चों से कहती है, “एक बात का सदा ध्यान रखो मेरे बच्चों ! तुम्हें केवल अपने लिए कुछ भी नहीं सोचना है। तुममें से किसी को भी स्वार्थी नहीं होना है।...तुम मेरे लिए पांच नहीं -एक पुत्र हो; एक अस्तित्व हो। तुम्हें जो कुछ सोचना है, करना है—सबके लिए। जब हमारे जीवन में प्रलयाग्री जली थी, तब मध्यम ने केवल अपने प्राण बचाने की सोची होती, तो उसके सिवाय हम में से कोई जीवित न होता।..तुम्हारे पिता के देहांत के पश्चात् तुम्हारे इसी ज्येष्ठ ने, अपनी अक्षमताओं में भी एक पिता के ही समान, तुम लोगों का ध्यान रखा—तुम सबका। आज धनुर्धर को एक सफलता मिली है, तो हमसे प्रथक होकर केवल अपना सुख और स्वार्थ सोचे ? अभी तो हमारे सभी शत्रु हम पर आँख गढ़ाए बैठे हैं।” (कोहली, महासमर 3,312)

धर्मानुसार द्रौपदी के विवाह का विषय उठाकर उपन्यासकार ऐसे तर्क उपस्थित करता है, जो आकट्य हैं, जो प्रत्येक पात्र की मनोस्थिति को प्रकट करते हुए उनके धर्मानुसार आचरण को प्रमाणित करते हैं। युधिष्ठिर अर्जुन के पक्ष में तर्क देते हुए माता को शांत करते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर के व्यवहार को देखते हुए, द्रौपदी के मस्तिष्क में चिंतन चल रहा है, “देख कृष्णा ! यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो तुझसे आसक्त है ! .. देख उसकी आँखों में देख ! उसके आनन् को देख ! नहीं लगता कि उसके मन में अग्नि धधक रही है ?... उसकी माता चाहती है कि वह तुझे प्राप्त करे।.. जिस भाई ने स्वयम्बर जय किया है, वह विरोध करता भी दिखाई भी नहीं देता..पर देख, बड़ा भाई अपने छोटे भाई को वंचित करना नहीं चाहता। वह अपने मन का इतना दमन कर लेगा कि उसका श्वास ही रुक जाये; किन्तु वह छोटे भाई को वंचित नहीं करेगा।.. ऐसा भाई देखा है तूने कभी?..जिस द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए जंबुद्वीप के सारे राजा धर्म को तिलांजलि दे कर अधर्म युद्ध करने के लिए क्षेत्र में उतर आये थे, वही द्रौपदी उसे अनायास मिल सकती है..किन्तु वह उसका विरोध कर रहा है, क्योंकि वह अपने भाई को वंचित नहीं करना चाहता..।” (कोहली, महासमर 3,312)

उपरोक्त उदाहरण क्या है ? किस और इशारा है ? धर्म आचार ही तो ! और किसे कहते हैं सिद्धांत—मूल्य, धर्माचरण। जीवन में यम—नियम और किस दिशा की ओर निर्देशित करते है। इन्द्रिय निग्रह का और सत्य-शिव आचरण का इससे अच्छा उदाहरण क्या होगा। चरम लालसा के समय चरम त्याग का आचरण। वास्तव में धर्म के लिए महासमर में प्रत्येक पात्र का अपने-अपने विचारों के साथ साथ ऐसे तर्क और परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें यत्र-तत्र आज भी हम अपने आस-पास बिखरा हुआ देख पाते हैं।

महाभारत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें आज के सन्दर्भों का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है। जिन स्थितियों को तत्कालीन काल में देखते हैं, वही आज भी नाम और भेष बदल कर खड़ी हैं।

## धर्म-वैयक्तिक नहीं सामूहिक सत्य

मनुष्य अपने देश-काल-समय-और संतति के अनुरूप कुछ मूल्य और सिद्धांत धर्म के नाम पर भय पूर्वक अथवा विश्वास के कारण रचता रहा है। वही उसकी नैतिकता को पथ दिखाते है, और इहलोक से पारलौकिक जगत का ज्ञान लेने को बाध्य करते है। जिन्हें हम अध्यात्म, नैतिकता और धर्म का नाम देते हैं।

वातावरण और काल और परिस्थितियों के चलते धर्म और नैतिकता की मान्यताएं किस प्रकार मानव के व्यवहार को प्रभावित करती हैं, यह बानगी अवश्य विचारणीय है। विचारधारा और मान्यताएं मनुष्य के व्यवहार को निर्धारित करती है। यह सत्य है। किन्तु सामाजिक होते हुए भी कभी कभी आचरण समूह से प्रभावित न होकर नितांत व्यक्तिगत हो जाते हैं। जिससे एक अकेला व्यक्ति अति महत्वपूर्ण निर्णय कर बैठता है। जिसे संततियां सदियों तक याद करती है। उदाहरण है धृतराष्ट्र पुत्र युयुत्सु का ! वह युद्ध और दुर्योधन के विरुद्ध है। उसकी माता उसको कहती है कि दुर्योधन उसका बड़ा भाई है। अद्भुत और गहरी प्रतिक्रिया करता युयुत्सु कहता है कि दुर्योधन उसका बड़ा भाई नहीं वरन वह स्वयं उसका छोटा भाई है। दोनों बातों का शाब्दिक अंतर न होते हुए भी उसके अर्थ कितने विपरीत हो जाते हैं। वह उसके पापों का समर्थन नहीं करना चाहता। जबकि उसकी माता राजप्रासादों की सुविधा त्यागना नहीं चाहती। वह उसे सेवक बन कर रहने की त्रासदी का भय दिखाती है। और युयुत्सु का कथन है, “अच्छा होता तुम सेवा ही करती माँ ! राजप्रासादों का मोह न पालती।..मुझे इस प्रकार पाप का समर्थन तो न करना पड़ता।” युयुत्सु भाई का समर्थन तो करना चाहता है लेकिन अधर्म और पाप का नहीं।..माँ के विरुद्ध जाकर भी वह कहता है, “यही संकट है मेरा ! कोई मेरा विश्वास नहीं करेगा, किन्तु मैं अपने स्वार्थ के लिए नहीं, न्याय के



लिए जीना चाहता हूँ। सुविधापूर्ण चाहे न हो किन्तु मैं स्वच्छ जीवन जीना चाहता हूँ।” माता के द्वारा विभीषण का उदाहरण देने पर युयुत्सु का कथन है कि वह विभीषण को कतई दोषों नहीं मानता। उसने धर्म का मार्ग चुना था। ..युयुत्सु के अनुसार विभीषण ने अपने धर्म का पालन किया। वह कहता है, “व्यक्ति को सत्य के लिए जीना चाहिए माँ! सम्बन्धियों के लिए नहीं।” (कोहली, महासमर 7,290)

विभीषण की बात चली है तो उसकी मनोस्थिति पर भी एक दृष्टि डालते हैं। नरेश मेहता कृत संशय की एक रात में विभीषण की मनोस्थिति की बहुत मनोवैज्ञानिक विवेचना करते हुए लिखते हैं। विभीषण, राम—रावण युद्ध के विषय में कहता है-

“मैं भी युद्ध को अनिवार्य मानता हूँ

किन्तु

अपने राष्ट्र के प्रति

क्या यही कर्तव्य है मेरा

इस आक्रमण में साथ दूँ ?”...

प्रत्येक क्षण

मेरा सोचना

यहीं पर टूट जाता है

अपने देश की दुर्दशा का कौन कारण है ?”...

“राम ! मेरी आत्मा में भी यही है द्वन्द

क्या युद्ध

नियति है

हमारे सारे शुभाशुभ कर्म की ?

कल

जब हम नहीं

केवल युद्ध ठंडी शिला सा

इतिहास होगा ।  
जब हमारे तर्क तक मर जायेंगे  
तब  
हमे क्या कह कर पुकारा जायेगा ?”...  
“केवल लांछना की ठठरियां  
राष्ट्र घाती रूप में  
विभीषण को वहन करना  
अंतिम सूर्य तक ।”..(मेहता 72)

एक विभक्त मनोस्थिति में व्यक्ति जब अपने समूह अथवा जड़ों से लड़ाई करता है तो अपने मूल्यों पर श्रद्धा होने के बावजूद अंतर्मन की लड़ाई लड़ता है । अपने धर्म की सुनता है । अपने समाज से कटता है । एकांकी निर्णय उसको इतिहास बनाने की प्रेरणा तो देते हैं किन्तु वह स्वयं को अपने समाज के विश्वास पात्र के पद से अपदस्थ भी महसूस करता है । व्यक्ति का ऐसे घटना क्रम में खंडित होता व्यक्तित्व नियतिबद्ध मूल्यों के प्रति आग्रह भी है और विद्रोह के स्वरो को आगाज देता ज्वलंत प्रश्न भी है । ऐसी स्थिति को ज्ञानी और सुधि लेखक जन अपने साहित्य में अनन्य किस दृष्टि से देखते है ? महर्षि वाल्मीकि की रामायण में इस स्थिति को राजनैतिक मान कर उसका समाधान कर लिया गया । गोस्वामी तुलसीदास जी ने विभीषण को राम का अनन्य भक्त बता कर इस समस्या का समाधान पा लिया । किन्तु श्री नरेश मेहता इस मनोविज्ञान को आज के क्षरित होते मूल्यों के साथ जोड़ कर ज्वलंत क्षरण को रोकने की बात करते हैं । मानव मूल्यों के अन्वेषण की आवश्यकता पर बल देते हुए खंडित मानसिकता में मानव व्यवहार किस से प्रेरित हो? और किस निर्णय का महत्व उसे किस आचरण का आग्रह चाहता है । इस और इंगित करता है । आज का मनुष्य भी युयुत्सु और विभीषण की तरह अपने आप में एक और अप्रमाणित व्यक्तित्व साथ साथ ढो रहा है । क्या हम जान पाते हैं कि इन परिस्थितियों में दिग्भ्रमित होने से क्या अनर्थ अथवा अर्थ हो सकता है ?

किसी निर्णय पर पहुँचने से पूर्व अपने पर विश्वास और सामाजिक मान्यताओं का सर्वमान्य होना व्यक्ति को बल देगा। एकाकी रह जाने से डरने वाले व्यक्ति अपने सत्य पर डटकर फैसले करने से कतराते हैं और अंततः उनके विश्वास डगमगा जाते हैं।

लेकिन एकाकी होने पर भी, अपने निर्णय पर अडिग रहते हुए युयुत्सु माता को राजप्रसाद के अन्न और राज-सुरक्षा की बात पर कहता है, “मैं दुर्योधन का अन्न नहीं खाता, ईश्वर का दिया खाता हूँ। दुर्योधन की सुरक्षा में नहीं जीता, ईश्वर की इच्छा के कारण जीवित हूँ। इसलिए मैं उसका कृतज्ञ हूँ। उसका दिया यह जीवन मलिन करना नहीं चाहता।” (कोहली, महासमर 7,291)

अद्भुत विश्वास है युयुत्सु का! उसे पता है कि विभीषण की तरह उसके दूसरी ओर राम नहीं है, जो उसे अपना लेंगे। वह जानता है, कि पांडवों के पक्ष में जाने पर कोई उस पर विश्वास नहीं करेगा और दुर्योधन का पक्ष वह ले नहीं सकता। पत्नी से बात करने पर वह युद्ध से तटस्थ रहने का परामर्श देती है और युयुत्सु के अनुसार, “धर्म-अधर्म के युद्ध में जो तटस्थ रहते हैं, वे अधर्म का ही साथ दे रहे होते हैं, प्रभा ! वह मैं कर नहीं सकता।” (कोहली, महासमर 7,291)

आत्मीय संबंधों में एकांकी विरोध को अधिकांशतः आलोचना का शिकार होना पड़ता है। जैसा विभीषण और युयुत्सु के सन्दर्भ में हुआ। लेकिन अनीति और अधर्म का विरोध तो किया ही जाना चाहिए। कहते हैं कि समाज की दुर्दशा का कारण इतना दुष्टों का अन्याय नहीं जितना समर्थ व् उत्तम व्यक्तियों की चुप्पी है। महासमर में ही एक स्थान पर भीम कहते हैं कि, “हम क्यों चाहते हैं कि जिसे गाली दी जाये, वही उसका विरोध करे ? शेष समाज क्यों न करे ? भद्र समाज चुप क्यों बैठा रहे !” (कोहली, महासमर 4,330)

इस प्रकार की खामोशी समाज से प्रतिकार की आवाज़ को यदि तिरोहित कर देगी तो समाज के कल्याण के बारे में कौन सोचेगा? सार्वजनिक अभद्र आचरण का प्रतिरोध यदि सार्वजनिक रूप से होगा तभी निर्बलों का उद्धार होगा,

वरन सबल और बलवान एक-एक कर सबका अपमान करते रहेंगे। इसलिए एकल होते हुए भी विभीषण और युयुत्सु ने अपने नैतिक आचरण को शब्द दिए और सार्वजनिक विरोध के होते हुए भी धर्म का साथ दिया।

## धर्म-हित आत्मीय संबंधों से व्यापक

मानव का धर्म है सर्वधर्म कल्याण। जिसमें स्वार्थ के साथ साथ परमार्थ की भावना का बाहुल्य हो। जिसमें न्याय और नैतिकता दृष्टिगत हो। जो अध्यात्म के मार्ग को प्रशस्त करता हो। वास्तव में सामयिक काल ही नहीं, वरन प्रत्येक काल में समाज में कुछ बली लोग धर्म की परिभाषा अपने अनुसार गढ़ लेते हैं और बाकी समाज को अपने अनुसार चलाने का प्रयास करते हैं। किन्तु क्या यह उचित है। धर्म का कुछ बलवान और महत्वपूर्ण स्थानों पर बैठे व्यक्तियों के हाथ की कठपुतली बन जाना चाहिए ? कौन बनना चाहेगा फिर धार्मिक—नैतिक ?

सर्व साधारण के आचरण में धर्म के महत्व को दर्शाता एक उदाहरण है—महासमर में एक स्थान पर बाजार-हाट में मदिरा पी कर धूत खेलने वाले कुछ राज्य कर्मचारी झगडा करके बाजार में लूटपाट करते हैं और दरबार में इस बारे में चर्चा होने पर यदि युधिष्ठिर इसका विरोध और दंड का प्रावधान करने की कोशिश करते हैं तो उनका विरोध दुर्योधन और उसके साथी कर्ण—दुशासन तथा शकुनि आदि करते हैं। युधिष्ठिर इस बात के ही विरुद्ध हैं कि धूत एवं मदिरा का व्यवसाय हो। वह राज्य द्वारा अन्य मनोरंजन के साधनों का आयोजन करने के पक्ष में हैं। किन्तु दूसरा पक्ष इससे राज्य की आय के बंद होने की बात करता है। युधिष्ठिर के अनुसार सद्वृत्तियों के लिए सद-व्यवहार को प्रश्रय देना चाहिए। किन्तु बहस बढ़ जाने पर वह स्थान से उठ आते हैं। वह इस मनो-स्थिति से खिन्न हैं। सोचते हैं, “क्या विचार-विमर्श में भी संख्या और शारीरिक बल का महत्व अधिक हो जायेगा? क्या बुद्धि, विवेक, न्याय और तर्क का कोई महत्व नहीं है ? क्या कुरुओं की राजसभा में भी वन्य पशुओं के समान, पशुबल से ही निर्णय किया जायेगा? क्या वह इसलिए पराजित हो जायेगा, क्योंकि उसका विरोध करने वाले संख्या में अधिक

हैं ? धर्म इसलिए त्याज्य हो जायेगा, क्योंकि वह कुछ महत्वपूर्ण लोगों की इच्छा के मार्ग में विघ्न उत्तपन करता है ?” (कोहली, महासमर 3,26)

यही तो कठिनाई है। धर्म के पक्ष में वोट ही कम पड़ते हैं। मानसिक दुर्बलता सात्विकजनों को एकत्र नहीं होने देती। और कम मतों के चलते धर्म निर्णय पीछे रह जाता है। इसके लिए तो युयुत्सु जैसे मनोबल का होना ही आवश्यक है, जो इतनी विपरीत स्थितियों के बाद भी अपने स्व-धर्म का निर्णय कर सका।

ऐसा ही तो वर्तमान दृश्य भी है ! सिर्फ नाम और मुख ही तो काल के साथ परिवर्तित होते हैं। वर्ना प्रवृत्तियाँ और विकृतियाँ वही हैं। धर्म का आचरण इतना दिखावटी हो गया है, आजकल, कि यदि व्यक्ति किसी और के संन्मुख है, तो उसका आचरण कुछ और है, और यदि वह निजी तौर पर कुछ करता है, तो वह किसी की परवाह किये बगैर, बिना किसी सीमा का विचार किये, अपना हित साधने में तत्पर होता है। वर्तमान राजनीति इस बात का ज्वलंत उदाहरण है। संसद में होते व्यवहार क्या किसी धार्मिक आचरण की प्रेरणा देते हैं? और हास्यास्पद बात यह है कि यहाँ कोई निजी और सार्वजनिक व्यवहार का अंतर भी नहीं है। किसी को कोई शर्म भी नहीं है। किसी का कोई लिहाज नहीं है। वह लोकोक्ति यहाँ चरितार्थ होती है, ‘हमाम में सब नग्न हैं।’ कितनी विदूष स्थिति है। यह हमारे स्वशासन और लोकतंत्र की हालत है। यह स्वशासन कितनी मात्रा में स्वत्व का विस्तार करता है। यह विचारणीय है।

श्रीकृष्ण कहते हैं, “अधिकार हमें स्वशासन का ही है; यह दूसरी बात है कि हम अपने ‘स्व’ का कितना विस्तार कर सकते हैं। परिवार का मुखिया तो अपने परिवार पर शासन करता है, क्योंकि वह पूर्ण परिवार उसके ‘स्व’ के अंतर्गत है। वह उनका भी उतना ही भरण पोषण करता है, जितना कि अपना। उनकी भी उतनी ही रक्षा करता है, जितनी की अपनी। उनका भी उतना ही हित चाहता है, जितना की अपना। इसलिए उसे परिवार पर शासन का अधिकार है। इसी न्याय से

गुरु को शिष्य पर शासन करने का अधिकार है। पति—पत्नी को अपनी क्षमताओं और भावनाओं के अनुसार एक दूसरे पर शासन करने का अधिकार है।..आप अपने 'स्व' का विस्तार एक पूरे नगर, राज्य, देश, समाज, जाति, यहाँ तक कि पूरी सृष्टि तक कर सकते हैं। किन्तु जिससे आप अपने ही सामान प्रेम नहीं करते, उस पर शासन करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।”(कोहली, महासमर 2,371)

कैसा सटीक उदाहरण है ! प्रेरणा दायक ! कृष्ण सृष्टि को मनुष्य के स्व से बाहर नहीं देखते। उनके अनुसार सृष्टि का कोई भी कण मानव के स्व से बाहर नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपने स्व को संकीर्ण कर लेता है तो वह अन्याय की ओर रुख कर लेता है। उद्यान में लगे आम्रकुंज और सामान्य काठ में फर्क करना भूल जाता है। उद्यान को ईंधन बनाने में उसका संकीर्ण आचरण ही दोषी बन जाता है। जैसा धृतराष्ट्र के चरित्र की संकीर्ण सोच से हुआ। कृष्ण समझते हैं कि धृतराष्ट्र जैसे प्रजा के प्रति प्रेम-शून्य व्यक्ति शासन तो करते हैं, किन्तु वह अपने काठ के लड्डु से ही प्रेम करते हैं उन्हें अपने उद्यान में खिले आम्रकुंज से प्रेम नहीं हो पाता और देखते देखते सम्पूर्ण आम्रकुंज ईंधन में परिवर्तित हो जाता है। वास्तव में दृश्य यही है। हम जिस लोक में रह रहे हैं, उसकी आलोचना करते हैं कि, शासन ऐसा, शासन ऐसा ! शासनाधिकारी ऐसे, और वैसे ? किन्तु क्या हम स्वयं अपनी जिम्मेदारी के प्रति जागरूक हैं। क्या सब स्वयं हो जायेगा? क्या हमें कोई कार्य नहीं करना? स्वयं होता हुआ कोई भी कार्य क्या हमसे कोई उतरदायित्व की मांग नहीं करता ? क्या है हमारा आचरण ? और क्या होना चाहिए ? वही बात फिर उठ आती है ! मूल्यों के क्षरण की! क्या हैं हम? और क्या होना चाहिए ? यथार्थ और आदर्श ? यही है हमारे शास्त्र और उनका ज्ञान ! हमारा वर्तमान और उसका सद-आचरण।

मूल्य क्षरण की एक बानगी देखें, 'महाराज पांडू की मृत्यु उपरांत कुंती अपने पांचो पुत्रों के साथ हस्तिनापुर आ चुकी हैं। विषय यह है कि लोभ के कारण धृतराष्ट्र सिंहासन का मोह नहीं छोड़ते और सत्ता पर बने रहना चाहते हैं। यहाँ तक कि उसके उपयुक्त अधिकारियों को, जो कुंती एवं उसके पुत्र हैं, उन्हें राज प्रसाद में

रहने का स्थान भी देना नहीं चाहते। भीष्म इस बात से रुष्ट हैं लेकिन राज्य की नीतियों के अधीन हैं। वह कितना भी चाहें, लेकिन शांति चाहने के कारण, कभी भी विरोध करने का साहस होने पर भी, आवाज़ नहीं उठाते। वे जानते हैं कि अधर्म को अपने आचरण में दर्शाता-‘अब धृतराष्ट्र अपने भोग की प्रवृत्ति से इसका विनाश करके रहेगा।’(कोहली, महासमर 2,32)

कितना विदूष हो जाता है, व्यक्ति-व्यवहार यदि वह अन्य के अधिकार का प्रतिनिधि होने पर, अधिकार का उपभोग करते हुए अनायास ही दूसरों के हक पर डाका मारने लगता है। धर्म के विपरीत होते आचरण फिर व्यक्ति की सुरक्षा कैसे कर सकते हैं। शास्त्र सम्मत सत्य यही कहता है कि धर्म हमारा रक्षक है। हम अपनी रक्षा के लिए ही धर्म की रक्षा करते हैं। यदि हम उसकी रक्षा नहीं करेंगे तो हमारी रक्षा कौन करेगा !

आश्चर्य तो तब होता है जब इस सत्य तथ्य को जानते समझते हुए भी मनुष्य इसे मानना अस्वीकृत कर देता है। अनाधिकार चेष्टाएँ उसे अधर्मी बना देती हैं, और वह अपने लोभ का अन्धानुकरण करता हुआ अधर्म के मार्ग पर चलता जाता है। ऐसी सुप्तावस्था मानव को नैतिकता से डिगाती ही है। और कहाँ ले जायेगी ऐसी मनोस्थिति ? अधर्म और अनैतिकता के गर्त में ही तो ! मूल्य-क्षरण और किसे कहते हैं ?

महात्मा विदुर इस सत्य को बदलते परिवेश में समझने का पूर्ण प्रयास करते हैं, इसलिए वह समय के साथ बदलते व्यतिगत स्वार्थों को पहचान पाते हैं। वह धृतराष्ट्र के लोभ से भरे व्यक्तार को समझते हैं। वास्तव में होता ऐसे है, कि जिन परिभाषाओं को हम सदा से सुनते पढ़ते आते हैं उनके विरुद्ध कोई बात समझने का प्रयास नहीं करते, क्योंकि उससे हमारे पूर्वाग्रह आहत होते हैं। यही विडंबना पितामह भीष्म के साथ है। उनकी पूर्वाग्रह ग्रस्त सिद्धान्तवादिता उन्हें अपने समय की शिक्षा के अनुरूप संस्कारों पर ही अडिग रखे हुए है- ‘उनकी आस्था रूढ़िवादिता की सीमा तक है। वे मानते हैं कि वे सिद्धांत ही धर्म की अंतिम व्याख्या

हैं। इसलिए वे उनके विरुद्ध न कुछ सुनने को प्रस्तुत हैं, न उनमें कोई परिवर्तन करने को।' 'वे मानते हैं कि किसी भी स्थिति में कौटुम्बिक शांति बनी रहनी चाहिए, एकता बनी रहनी चाहिए, जैसे उन्होंने बनाये रखी, चाहे उसके लिए एक व्यक्ति अधिकारों से वंचित ही क्यों न हो जाये, जैसे वे हुए।' (कोहली, महासमर 2,316)

परिवर्तन जीवन का मूल है। उसके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार भी कुछ परिवर्तित होते हैं। और उनका स्रोत होती हैं उसकी प्रवृत्तियाँ। यदि विकृत मानसिकता के अधीन व्यक्ति व्यवहार करता है तो सैद्धांतिक मूल्यों की रूढ़िवादिता अर्थहीन हो जाती है। व्यक्ति के अनुसार ही व्यवहार का मूल्याङ्कन होना चाहिए। परिवर्तित स्थितियों में कोई भी सिद्धांत विचार के बिना माना जाना व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि भीष्म मान रहे हैं। विदुर का विचार सोचने को बाध्य करता है। यदि युधिष्ठिर भीम के लिए कोई त्याग करता है तो उसका अलग अर्थ है, भीम उसका मूल्य समझता है। और यही त्याग युधिष्ठिर यदि दुर्योधन के लिए करता है, तो उसका अर्थ ही बदल जाता है। पूर्ण कथा के ज्ञाता इस बात को समझ सकते हैं। और कदाचित्त इसका समर्थन भी करेंगे। किन्तु यहाँ विदुर के अनुसार भीष्म पितामह इस तथ्य को अपनी रूढ़िवादी सिद्धान्त प्रियता के कारण समझना नहीं चाहते। उनके अनुसार गृह की शांति बनी रहनी चाहिए, चाहे उसके लिए किसी अधिकारी को अपने अधिकार का त्याग ही क्यों न करना पड़े। यहाँ धर्म पूर्ण आचरण के साथ नीति और नैतिकता को भी साथ ही समाहित कर लिया गया है। यदि व्यक्ति योग्य है, तो ही उसके लिए त्याग आवश्यक है, वरना वह इसका लाभ उठा, अनुपयुक्त उपयोग कर अन्यो का अहित करेगा। इसलिए धर्म का आचरण व्यक्ति विशेष का भी ध्यान रखते हुए करना नैतिक आचरण है। अर्थात् धर्म के आचरण और प्रतिक्रिया के लिए धर्मपूर्ण क्रिया को भी प्रश्रय देना होगा। उसका आवश्यक होना भी जरूरी है। महात्मा विदुर की नीतिगत विचारधारा का अनुगमन कदाचित्त आज का बुद्धिजीवी अवश्य करेगा। अनुपयुक्त पात्र को अनुचित लाभ पहुंचा कर किसी सुपात्र का हक हरना कोई न्यायोचित व्यक्ति मान्य नहीं करेगा।



यहीं महात्मा विदुर वर्तमान में खड़े दिखते हैं और भीष्म अपने समय के बंधन में बंधे पूर्वाग्रह ग्रस्त से। ऐसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त महानुभाव धर्म की मीमांसा तो कर पाते हैं, उसका अनुरूप पालन भी करते हैं, पर धर्म का मर्म समझने में चूक कर देते हैं। महात्मा विदुर की तरह, श्री कृष्ण भी इसी बात को मानते हैं, कि धर्म का मर्म सर्वव्यापक कल्याण है। वह व्यक्तिगत न होकर सर्वसामान्य का कल्याण हो।

## व्यष्टि हित के लिये नहीं; धर्म है समष्टि हितार्थ

यद्यपि भीष्म त्याग के कारण अपने आप में एक उदाहरण हैं, किन्तु वह स्वयं कितने झंझावातों में उलझे हैं। त्याग के पश्चात् भी प्रश्न उन्हें घेरे हैं कि पुत्र के रूप में त्याग उनका धर्म है या व्यक्ति और युवराज के रूप में ग्रहण उनका धर्म ! वह स्वयं कशमकश में हैं कि युवराज के रूप में प्रजा के प्रति उनका उत्तरदायित्व है, अथवा पुत्र के रूप में पिता के प्रति त्याग उनका कर्तव्य !

धर्म के अनुसार यदि विचार करें तो यह एक बहुत विचारणीय समस्या है। शास्त्र, मर्यादा के लिए श्रीराम का उदाहरण देते हैं। मात-पितृ की सेवा के लिए श्रवण कुमार का उदाहरण देते हैं। त्याग के लिए महात्मा भीष्म का उदाहरण भी हमारे पौराणिक शास्त्र ही देते हैं। किन्तु सामयिक सन्दर्भों में क्या आज भी इन उदाहरणों की प्रासंगिकता है ?

मानव का व्यवहार उचित हो, नैतिक हो, सर्वमान्य हो, लोक कल्याणकारी हो, सर्वहितकारी हो, तभी वह धर्मानुसार कहलाता है। ऐसा महासमर के महा—उपन्यासकार भी अपने शब्दों से प्रतिपादित करते हैं। डॉ. नरेंद्र कोहली उपन्यास के अंतर्गत ही अपने युग की आवश्यक सोच को पिरोते हुए पितामह भीष्म के अंतर्द्वंद को दर्शाते हैं। लेखनी के द्वारा धर्मानुसार आचरण की उपयोगिता और उसका औचित्य विश्लेषित करते हुए लेखक भीष्म के पात्र द्वारा समय के अनुसार निर्णय की अनिवार्यता का विचार करते हैं। क्या है भीष्म का धर्म- “भीष्म के लिए क्या करणीय है ?..इस जीवन और शरीर की कोई सार्थकता नहीं? पर आत्महत्या पाप है? इस शरीर को तो बनाये रखना होगा? धर्म? अर्थ? काम? मोक्ष? अर्थ और काम

उनके लिए नहीं हैं। मोक्ष तो धर्म पर चलने पर ही मिलेगा। ..पर क्या है भीष्म का धर्म ? क्या भीष्म का धर्म अन्य व्यक्तियों से भिन्न होगा? प्रत्येक व्यक्ति का एक ही धर्म है या..सबको अपना-अपना धर्म खोज निकालना पड़ता है ?....राजा शांतनु निषाद कन्या में आसक्त हुए—उनका धर्म था, उससे विवाह करना। सत्यवती के पिता का धर्म था, कन्यादान से पूर्व अपनी पुत्री और उसकी संतान के अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था।..उन्होंने वही किया।..तो फिर भीष्म का ही क्यों यह धर्म था कि वे अपने अधिकारों की रक्षा न करते ?.. उनका धर्म त्याग क्यों था?.. क्या उनका धर्म नहीं था कि वह इसका विरोध करते और आवश्यक होने पर शस्त्र-प्रयोग करते?..पुत्र के रूप में उनका धर्म था त्याग; और व्यक्ति के रूप में उनका धर्म था, अपने अधिकारों की रक्षा..। वे पुत्र हैं या व्यक्ति ?” (कोहली, महासमर 1,85)

वास्तव में रचनाकार पौराणिक कथानक को सामयिक सन्दर्भों के विचार से जोड़ते हुए सजग हैं। वह बिना किसी परिवर्तन के जिज्ञासा और समस्या को प्रस्तुत करते हुए पाठको की सहज विचारधारा को विवेचन हेतु सन्दर्भ देता है। इसे ही तो आज की सामयिक प्रासंगिकता से जोड़ना कहेंगे ! और कैसे द्वन्द हैं जो हमारे शास्त्र हमें प्रेषित करते हैं ? यदि श्रीराम का त्याग और निर्णय देखें, तब भी यही प्रश्न आज भी उतने ही ज्वलंत हो जाते हैं ?

वर्तमान अति स्वार्थी मानसिकता से भरा है। फिर भी सात्विकता और नैतिकता का आचरण आज भी समाज में यत्र-तत्र जीवित है और उसके होने के आभास से ही मानवीयता का उजास जीवन में शक्ति का संचार करता है। किन्तु ऐसे त्याग से पूर्व यह तो विचार करना ही होगा कि जिसके लिए त्याग किया जाना है, उसकी कामना का क्या औचित्य है? अथवा उसके वचन की उपादेयता से किसका भला होगा ? वर्ना तो महायुद्ध के लिए जमीन तैयार होती रहेगी। जीवन समाप्त होंगे, और विश्व का कल्याण नहीं, महासंहार अभिशप्त मानवता को सहना ही होगा। जैसा कि महासमर के अंतर्द्वंद से बाह्य द्वन्द में परिवर्तित हुआ।

युधिष्ठिर इसी मत का अनुमोदन करते हुए माँ कुंती को सत्य को स्वीकारने का तथ्य कहते हैं, “हमें सत्य का साक्षात्कार करने के लिए, स्वयं को तैयार करना

ही होगा। ..सत्य से मुहं मोड़कर जीवित नहीं रहा जा सकता माँ।” (कोहली, महासमर 2,72)

यदि इस सन्दर्भ को थोडा बेहतर तरह समझने के लिए एक और वक्तव्य प्रस्तुत है। स्थिति है-कर्ण और कृपाचार्य वार्ता कर रहे हैं। कृपाचार्य कर्ण को कहते हैं, “कि दान से पूर्व दाता को पात्र का विचार करना चाहिए या नहीं—सुपात्र और कुपात्र का भी विचार होना चाहिए या नहीं ? क्या तुम नहीं जानते कि दान न देना, कुपात्र को दान देने से श्रेष्ठतर है ?”...“दाता को पात्र-विचार का अधिकार है। पात्र-विचार-निरपेक्ष दान, दाता के नाश का कारण बनता है।” (कोहली, महासमर 2,271)

उपर्युक्त उदाहरण उपन्यासकार की सामयिक बौद्धिकता का परिचय तो देता ही है। उसके द्वारा अपरोक्ष विधि से दिए गये नैतिक परामर्श को भी इंगित करता है। आज भी ऐसे दान हैं जो कुपात्र को मिल जाते हैं, और ऐसे दाता हैं जो स्नेह वश, या किसी अवशता और बेबसी के चलते अपने अधिकारों के मूल्य पर दे दिए गये हैं। पर क्या पात्रता के मूल्याङ्कन की आवश्यकता को अनदेखा किया जाना चाहिए ? ये ज्वलंत उदाहरण है। अन्यथा नाश और विनाश के लिए तैयार तो रहना ही होगा। भीष्म के त्याग का परिणाम अंततः महाभारत ही तो हुआ। समय रहते न्यायपूर्ण और नैतिक निर्णय समाज के परिदृश्य बदलने का सामर्थ्य रखते हैं। केवल मनोबल की दृढ़ता की अनिवार्यता है। नहीं तो अन्याय पूर्ण निर्णय मोहवश और मनोबल की शून्यता के कारण होने से अनर्थ घटते रहेंगे। जैसे भीष्म जानते हैं कि, “यह राज्य युधिष्ठिर का है और अंततः उसे मिलना ही है; किन्तु .. मेरे लिए खिलौने के आधिपत्य तथा एक बालक की असुविधा इतनी बड़ी बात नहीं है, जिसके लिए परिवार में अंतःकलह अथवा बाहरी हस्तक्षेप हो। मैं जानता हूँ कि अपने पिता के प्रश्रय में दुर्योधन अति आचरण कर रहा है, किन्तु मैं उसे अत्याचार नहीं मानता; युधिष्ठिर और उसके भाई सहिष्णु हैं, वे लोग इतनी सी बात के लिए पारिवारिक कलह नहीं बढ़ाएंगे।” (कोहली, महासमर 2,337)

कितना विश्वास है अपने कुटुंब पर पितामह का ! और कितना विरोधी है ! पारिवारिक आचरण और उसके दुष्परिणाम । इसीलिए उपरोक्त विचार और पात्रता के विवेचन का संभवतः दृश्य लेखक ने प्रस्तुत किया है । जो उलेखीय के साथ साथ विचारणीय भी है ।

आहा जिन्दगी पत्रिका के मार्च 2017 अंक में धर्म एवं अध्यात्म के विषय में लिखा है । व्यक्ति एक आस्था के रहते अपने कर्मों के सूत्र को समझने का प्रयास करता है । और उस अनदेखी शक्ति से भयभीत होकर अपने कार्यों पर अंकुश रखता है । उसे ही वह धर्म की संज्ञा देकर अपने आचरण की दिशा निर्धारित करता है । कई बार इसके लिए वह धर्म गुरुओं का अनुसरण भी करता । लेकिन 20वीं सदी के गंभीर विचारक जे.कृष्णमूर्ति ने कहा था, “the moment you follow someone, you cease to follow truth.” धर्म हो, धर्मग्रन्थ हों, या कोई धर्मगुरु वह केवल एक इशारा भर है । संस्कृत कहावत के अनुसार गुरु की अंगुली जो शिष्य को संकेत देती है, ‘गंधार इस दिशा में है ।’ अब अगर शिष्य अंगुली पकड़ कर बैठ जाये तो अपनी मंजिल पर कैसे पहुंचेगा । धर्म गुरु अगर सच्चा हो तो भी आपके और सत्य के बीच केवल सेतु हो सकता है । अपनी यात्रा तो आपको ही करनी होगी । अन्यथा सभी धर्म गुरु वेदपुराण पढ़ कर बुद्ध बन जाते, उसके लिए बोद्धि वृक्ष के नीचे तप की जरूरत नहीं थी ।’(आहा जिन्दगी !10)

यह समझने की जरूरत है कि आध्यात्मिकता किस और निर्देशित करती है । आंतरिक प्रज्ञा को किस प्रकार प्रभावित करते हुए मानवीयता को मूल्यों के किस छोर पर ले जाती है ।

‘20वीं सदी के उत्तरार्ध में विश्व के कई हिस्सों में अध्यात्मिक खोजियों ने इस विषय पर एक नये सिरे से चिंतन-मनन आरम्भ किया । इस दौरान एक नये आन्दोलन का जन्म हुआ जिसमे धर्म के संकीर्ण और कठोर दायरे के बाहर आध्यात्मिकता की खोज प्रारंभ हुई । इस तरह एक ऐसी अध्यात्मिक विचार प्रणाली का जन्म हुआ जिसका किसी धर्म से कोई लेना देना नहीं था ।..इस प्रणाली ने न

केवल एक नई अध्यात्मिकता प्रस्तुत की, बल्कि पर्यावरण, विश्व शांति, शिक्षा, गरीबी, सामाजिक भेदभाव, व्यक्तिगत विकास और मानवीय संबंधों जैसे धर्मबाह्य विषयों को भी सम्मिलित किया। इस आन्दोलन के एक प्रमुख चिन्तक, एकहार्ट तोले का कहना है कि नाभ्कीय हथियारों के चलते मानवता इतिहास के उस मुकाम पर आ पहुंची है, जहाँ उसके सामने केवल दो ही विकल्प बचे हैं—अपनी चेतना का विकास या सर्वनाश। '(आहा जिन्दगी ! 11)

बेहद ज्वलंत विचारणीय तथ्य है दो मार्ग-या चेतना का विकास करें या सर्वनाश। दो ही तो ध्रुव हैं जीवन के, या अच्छा या बुरा। और अच्छा भी सामान्य नहीं —एकदम चेतना के स्तर पर उत्तम, चरम-उत्तम-आत्मिक विकास और कल्याणकारी-वेदों के अनुसार 'इदंनमम' सबके लिए। अथवा सर्वनाश की और बढ़ता स्वार्थ तो है ही। स्मरण रहे ! उस परम शक्ति ने एक स्वतः स्फूर्त दृश्य-उदाहरण दिया है-अनमोल प्रकृति का। जिसका एक ही कार्य-उद्देश्य है- परमार्थ। और सबसे उत्तम प्राणी मनुष्य बना कर भी, उसमें से स्वार्थ को तिरोहित करने की क्षमता, उसने स्वयं प्राणी को देकर उसे आत्मिक परीक्षा में डाल दिया। अब जो खरा उतर सकेगा, वह ही तर सकेगा।

आध्यात्मिकता वास्तव में है क्या ? क्या हैं मान्यताएं ? जो हजारों वर्षों से मानी जाती रहीं हैं ! धरती पर अपना वर्चस्व बनाये रखने वाले धर्मों का विरोध किये बिना ही कितने प्रश्न उठाती रहती हैं। कभी रोष उत्पन्न करती हैं, कभी विकल्प भी प्रस्तुत करती हैं। साहित्य के नव-युग के विचारकों का मत है कि वास्तव में आध्यात्मिकता विश्वास का नहीं अनुभव का विषय है। क्योंकि विश्वास तो सामूहिक ही हो सकता है किन्तु अनुभव केवल व्यक्तिगत ही हो सकता है और उसमें कोई साझेदारी नहीं हो सकती, बस यही है आध्यात्मिकता ! "ईश्वर, स्रोत, अस्तित्व, महाप्रज्ञ, नियंता या जो भी कहना चाहें, वह एक ही है। अर्थात् चराचर जगत का, चेतन-अचेतन का स्वामी वह एक ही है। किसी एक जाति, व्यक्ति विशेष या धर्म विशेष, किसी को नहीं कहा जा सकता कि अन्यो के मुकाबले ईश्वर उसके अधिक निकट है। अगर हम उस ईश्वर के ही हिस्से हैं तो और को देखे बिना, ओरों के

मुकाबले के बिना, हरदम उसके निकट हैं। उसे पाने के लिए किसी विधि विधान, कर्म-कांड या किसी मध्यस्त की आवश्यकता नहीं है।” (आहा जिन्दगी ! 11)

और है ही क्या धर्म और आध्यात्मिकता ? हाँ यह जरूर है कि जहाँ धर्म और आध्यात्मिकता की विवेचना हो रही हो, वहाँ उसके क्रियान्वयन की यथार्थता को अवश्य देखना होगा। धर्म खोखली अंध-भक्ति है ? या अध्यात्म कोरा-ज्ञान ? जब तक मानव उसे अपने क्रिया क्षेत्र में अपना नहीं लेता तब तक यह खोखला विचार अभिसार ही रहेगा। हाँ—जब मानव की नैतिकता उसे झंझोडती है और उसके ज्ञान को कर्म में परिणत करने को प्रोत्साहित करती है, तब वह नैतिक होकर अपने अध्यात्म और धर्म को विचार के धरातल से, कर्म के धरातल पर उतार लाता है। इसीलिए यह तीनों ही क्षेत्र परस्पर आपस में गुंथे हुए हैं। इन्हें प्रथक करके नहीं देखा जा सकता।

महासमर एक ऐसा उपन्यास है जहाँ पात्र, चरित्र और घटनाएँ बार-बार इन परीक्षणों से गुजरती हैं। कहीं आध्यात्मिकता का ज्ञान देते महामुनि वेदव्यास चमत्कृत करते हैं और कहीं महात्मा विदुर का नैतिक ज्ञान परीक्षा की कसौटी पर कसा जाता है। और कृष्ण का धर्म तो सर्वप्रिय है ही। जिस पर खरा उतरने के लिए धर्मराज युधिष्ठिर अपने आचरण को ही धर्म का पर्याय बना सामने आते हैं, और उसकी सूक्ष्म मीमांसा करती महारानी कुंती भी अपने वक्तव्यों से हतप्रभ करती हैं। और यथार्थ वादी लोभजनित राग-द्वेष से पीड़ित धृतराष्ट्र और दुर्योधन भी हैं, जिनके पास अपने को न्यायसंगत कहने के सौ तर्क हैं।

वारणावत में दुर्योधन के षड्यंत्र की जानकारी होने के पश्चात् पांडव एवं महारानी कुंती द्वारा वहाँ से निकलने की गुप्त योजना बना ली गयी है। जाने से पूर्व संध्या को ब्राह्मण भोज का आयोजन किया जा चुका है। भोज से पहले यज्ञ आरंभ किया जाना है। पांडवों के प्रणाम का उत्तर देते हुए पुरोहित आशीष देते हैं कि धर्म पर दृढ़ रहो। युवराज युधिष्ठिर प्रति-प्रश्न पूछते हैं, “धर्म क्या है कुलपति! ग्रहण या त्याग ?”....कुलपति का उत्तर है, “धर्म न ग्रहण में है, युवराज ! न त्याग में ! धर्म

तो सात्विक त्याग तथा सात्विक ग्रहण में- दोनों में है। ग्रहण में न्याय की रक्षा है, अथवा त्याग में ! ग्रहण जनहित में है अथवा त्याग। कर्तव्य की पूर्ति ग्रहण में होती है अथवा त्याग में। महत्वपूर्ण न ग्रहण है न त्याग। महत्वपूर्ण तो उसका कारण और उसका परिणाम है।” (कोहली, महासमर 3,102)

विश्व इतिहास के पटल पर सीजर के मित्र के रूप में ब्रूटस यही खलनायकत्व दर्शाता है। वह जब अपनी हत्या के षड्यंत्र के विषय में जानता है तो उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है। सीजर अपने परम मित्र से इस तरह की विश्वासघात की कल्पना ही नहीं कर पाता, जिसे ब्रूटस ने अपने अन्य साथियों के बहकावे में आ कर अंजाम दिया। इसी प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर के लिए भी यह अकल्पनीय है कि दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र उसकी और उसके भाइयों की मृत्यु की साजिश वारणावत के नाम पर, कर सकते हैं। साजिश, षड्यंत्र जो भी कहें जीवन और मानव स्वभाव का एक कटु-सत्य है। मनुष्य की कमजोर वृत्तियां चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, कभी न कभी स्वार्थ के आगे हथियार डाल देती हैं। इसी लिए तो दृढ आचरण और चरित्र की बात कही जाती है।

यही तो समझना है कि कारण क्या है और उसका परिणाम क्या होगा। और यही समझने के लिए कोई तैयार नहीं। सत्य तो यही है कि अपने अपने तर्कों से न्याय की परिभाषाएं बना कर स्वयं को उचित ठहराते हैं सब। जिसमें धर्म के अनुसार कल्याण किसका होगा, नहीं जानते—बल्कि जानना ही नहीं चाहते, ऐसा कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। निकट वर्तमान में दूरदर्शन के स्टार प्लस चैनल पर सायं 8 बजे एक सीरियल प्रसारित होना शुरू हुआ है, नाम है, ‘हर शाख पर उल्लू बैठा है’। कथानक राजनीति पर आधारित है और कितना सटीक वर्णन करता है व्यक्ति की न्याय-परक परिभाषा के सामयिक उठा-पटक की। ‘जो मुझे सुविधा दे वो न्यायसंगत। जो ओरों की सुविधा की बात कहे वो कोरे आश्वासन। क्या हो गया है मूल्यों की तथ्यात्मकता को ! कितनी हास्यास्पद हो गयी है हमारी स्थितियां ! कितनी बातें करते हैं हम और करते क्या हैं हम ?

हाँ! इस चर्चा में परस्पर विरोधभासी विवाद की संभावनाएं भी हो सकती है। मानव क्या चाहता है ? और प्रकृति की क्या अपेक्षा है ? यह कभी-कभी विरोधाभासी और प्रतिकूल लग सकता है। किन्तु शास्त्रों के अनुसार प्राकृतिक विधान सदैव विजयी होते हैं, क्योंकि प्राकृतिक विधान हमारे उन अधिकारों का समर्थन करते हैं, जिसमें समष्टि-सृष्टि का लाभ हो। इसलिए शास्त्र कहते हैं कि, “न्यायपूर्ण संघर्ष, अन्यायपूर्ण शांति से सदा महान है। यदि कोई अन्यायपूर्ण बल से हमारे अधिकार छीनता है, तो संघर्ष हमारा धर्म है।..त्याग उसका होता है, जो हम अर्जित कर चुके हैं, जो हमारे अधिकार में है। जो हमसे छिन गया, जिसे हम प्राप्त नहीं कर सके, उसका हम त्याग नहीं करते।..अतः आततायी को दंड देना धर्म है, और पाश्चाताप करने वाले को क्षमा।..धर्म आत्मरक्षा करने को भी कहते हैं, यदि आत्मरक्षा करते हुए दूसरे का वध करना पड़े, तो वह भी धर्म ही है। क्योंकि..हत्यारे का वध नहीं किया जायेगा, तो वह और हत्याएं करेगा, उससे नृशंसता की वृद्धि होगी। अतः अनृशंसता इसी में है, कि हत्यारे का वध किया जाये। आत्मरक्षा तो प्रत्येक स्थिति में धर्म है। आत्मरक्षा के मार्ग में आई बाधा को हटाना नृशंसता नहीं है।’ (कोहली, महासमर 3,103)

महासमर एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी पृष्ठभूमि कभी राजनीति का आभास देती है, कभी धर्म का, कभी न्याय का-दंड और पुरस्कार का, कभी आध्यात्मिकता का रंग बिखरता सा है, और कभी स्त्रियोचित विचारधारा और उसके गुण सामने आ जाते हैं। कभी कुटिल राजनीति की दलदल अपने दृश्यों से मानवीय वृत्तियों को कलुषित सा कर देती है। और कभी गरिमा के उच्च सोपानो पर चढ़ कर मूल्यों के प्रकाश का दर्शन होता है। वास्तव में वर्तमान में, आज तक कुछ ऐसा है नहीं, जिसका उदाहरण महासमर के कथ्य में दर्शनीय न हो सके। अतः इसे समसामयिक और प्रासंगिक कहना बेहद उचित है।

न्याय के लिए और धर्म के लिए, नैतिक होना बहुत मूल्य मांगता है। कभी कभी महान व्यक्ति इसे चुकाने से चूकता नहीं, और मोहग्रस्त व्यक्ति निर्णय के अभाव में दुर्भावना न होते हुए भी, अन्याय के पक्ष में खड़ा हो जाता है। जैसे



पितामाह भीष्म के सन्दर्भ में बारम्बार होता है। वह जानते हैं, कि क्या सही है ? और क्या गलत ? किसका पक्ष न्यायपूर्ण है ? किसका अन्यायपूर्ण ? किन्तु मोह के रहते और कलह के डर से, वह बार बार इस निश्चय की ओर चल पड़ते हैं, कि 'कोई बात नहीं भाई हैं'। अन्याय को यदि आरंभ में ही न रोका जाये, तो वह कालान्तर में एक बड़े युद्ध का रूप लेने में अधिक समय नहीं लेता। यह सत्य महाभारत के कथानक के प्रत्येक दृश्य में प्रमाणिकता से देख सकते हैं।

एक तथ्य को बहुत बल देकर प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है, कि कर्म और सक्रियता यदि उत्तम आचरण के आधार पर की जाये तो शत्रु को भी हराया जा सकता है। युद्ध हो या बौद्धिक जीवन का सामान्य कार्य कलाप, यदि मनुष्य के आचरण में मूल्यगत पवित्रता और नैतिकता का बल है, उसका व्यवहार धर्मपूर्ण है, अध्यात्म के अर्थ को समझता है, तो किसी भी विपरीत स्थिति में स्वयं प्रकृति उसकी सहायता करती है।

उपरोक्त वर्णन को एक उदहारण से समझते हैं। एक चक्र नगरी से चलने के समय महामुनि व्यास पांडवों और कुंती से मिलने आते हैं, और उन्हें पांचाल जाने का निर्देश देते हैं। जहाँ द्रौपदी का स्वयम्बर रचा जाना है। आशंकित कुंती अपने पुत्रों द्वारा स्वयम्बर की प्रतियोगिता में भाग लेने से आशंकित होती है, और दुर्योधन आदि की उपस्थिति में अपने पुत्रों को पहचान लिए जाने के भय से ग्रस्त हो कर मुनि से अपने पुत्रों की सुरक्षा का आश्वासन मांगती है। महामुनि उसे आश्वस्त करते हुए कहते हैं, "जो अब्धुत पराक्रम करता है, उसके शत्रु स्वतः अपने ही भय के हाथों ध्वस्त हो जाते हैं।" "यह तुम्हारे पुत्रों पर निर्भर करता है कि वे अपनी विघ्न बाधाओं को चाहे अपनी विनम्रता से विजय करें अथवा अपने शौर्य से।" (कोहली, महासमर 3,279)

## धर्म — विनम्रता एवं शौर्य दाता

कितना सारगर्भित वक्तव्य दे गये महामुनि ! विनम्रता और शौर्य। पराक्रम और दुर्बल मानसिकता का डर। ध्वस्त होगा वह, जिसमें धर्म का बल नहीं है। जो

पराक्रम करने का अध्यात्मिक बल रखता हैं, जिसे नीति का ज्ञान हैं, जो परमार्थी है, जिसे धर्म का भान है, उससे शत्रु को स्वतः भयभीत होना ही होगा। महासमर का यही तो सन्देश है। रचनाकार अपने कथ्य से महाभारत के कथानक से आदर्शों की, मूल्यों की बात ही तो सर्व साधारण तक पहुँचाना चाहता है। कहाँ है वो ऋषियों मुनियों के आदर्शों पर चलने वाला जन समाज ? उसी को तो पुकार कर अपनी संस्कृति की बात कहने का प्रयास है महासमर का लेख ! अध्यात्मिक बल से युक्त व्यक्ति के आगे कौन ठहरेगा ? कौन सामना करेगा इस सात्विक तेज का ? मानसिक बल के साथ साथ धार्मिक और नैतिक बल, शत्रु की शक्ति को क्षीर्ण करने के लिए दोहरा काम करते हैं।

महासमर में धर्म की जिस मीमांसा को रचनाकार ने प्रस्तुत किया है उसे बहुत सूक्ष्म ढंग से समझा जा सकता है। धर्म के विषय में चर्चा करते हुए लेखक प्रत्येक पात्र को धर्म की कसौटी पर खड़ा करता है। धर्म की निहित सूक्ष्मता के लिए वह महात्मा विदुर एवं महामुनि व्यास का वार्तालाप प्रस्तुत करता है। और चर्चा हो रही है, पितामह भीष्म की ! कथा के अनुसार, धर्म को इन पात्रों से अधिक कौन समझ सकता है ! विदुर महामुनि से धर्म एवं भीष्म के विषय में बात करते हैं। धर्म के बारे में भीष्म की धारणा की विवेचना करते हुए महामुनि व्यास का कथन पितामह की धर्म सम्बन्धी रूढ़िवादिता को दर्शाता है। व्यास कहते हैं, “बहुत ही सात्विक एवं उदात्त चरित्र के स्वामी होते हुए भी भीष्म का वर्ग चरित्र ऐसा है कि बहुत सुविधा से वे सत्ता और शासन के साथ तादात्म्य कर लेते हैं। सत्ताविहीन अथवा सत्ता से दूर के लोगों का तर्क, उनकी मनोभावनाएँ, उनकी स्थिति, परिस्थितियाँ-कदाचित्त ये सब भीष्म समझ नहीं पाते। उनका चुप रहना शांति बनाये रखने का प्रयास हो सकता है किन्तु..‘यह उनका धर्म है, उसके लिए व्यापक मानवीय धर्म की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। यह धर्म का नहीं, धर्म की रूढ़ि का पालन है।’ (कोहली, महासमर 3,375)

कितना सूक्ष्म-गहन वर्णन है। एक महान व्यक्ति जिसे जन्म से धर्म सिखाया गया है। वह भी धर्म की रूढ़ियों में बंध कर कुछ ऐसे निर्णय कर बैठता है, जिसमें

उसके मोह अधिक प्रभाव डालते हैं। भीष्म की धर्म संबन्धी आस्था पर प्रश्न नहीं है, उनकी रूढिगत सोच और समाज सम्बन्धी मानवीय अवहेलना पर प्रश्न हैं। यहाँ व्यास उनके सत्ता और सिंहासन के प्रति किये गये धर्म सम्बन्धी विचारों की विवेचना कर के उनके व्यवहार को आलोचित कर रहे हैं। उनके पूर्वाग्रह उन्हें उस सीमा में बाँध देते हैं जिसमें वह धार्मिक तो हैं, किन्तु उनके निर्णय केवल सिंहासन को बचाते से लगते हैं, मानवता को नहीं। और कदाचित् धर्म की इसी व्यापकता का वर्णन कालांतर में कृष्ण भी उन्हें समझाते हैं।

रचनाकार कदाचित् यही समझाना चाहते हैं। कभी कभी हम सदियों से चले आ रहे रूढ़, सीखे हुए मूल्यों की सीमा में स्वयं को बाँध लेते हैं। परिवार और शासन के हितों की सोचते हुए स्वयं को वैश्विक मानवता से दूर कर के स्वार्थी हो कर, निर्णय कर बैठते हैं। धार्मिक होते हुए भी ऐसे निर्णय कहीं-कहीं मानवता का लाभ करने के विपरीत, उसका अकल्याण कर बैठते हैं। भीष्म के धर्म को स्वयं भीष्म भी समझते हुए, नज़रंदाज़ कर रहे हैं। वह जानते हैं कि उनके निर्णय से पांडवों के साथ अन्याय हो रहा है। वह ग्लानि से भी भरे हैं, किन्तु फिर भी उनका शांत एवं प्रतिक्रिया विहीन होना, उनके धर्म सम्बन्धी आचरण पर प्रश्नचिह्न लगाता है। वारणावत की घटना के उपरांत पांडवों से मिलते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कुंती और उसके पुत्र उन्हें उपालंभ की दृष्टि से देख रहे हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि, वे चीत्कार करते हुए कह रहे हैं, 'आपने ही हमें मृत्यु के मुख में धकेला।' (कोहली, महासमर 3,379)

जानते बूझते ऐसे निर्णय परिवार में अस्थायी शांति तो बना सकते हैं लेकिन उसके दूरगामी परिणाम यंत्रणाओं को आमन्त्रण देते हैं। और यही चूक धर्म से स्तम्भ होने के विपरीत पितामह भीष्म से हुई। जिसमें महाभारत युद्ध का बीजरोपण हुआ।

धर्म को लेकर जितनी धारणाओं पर विचार-विवेचन होता है, कदाचित् और किसी विषय पर नहीं। व्यक्ति अन्य व्यक्ति द्वारा किये अधर्म का प्रतिकार करना

चाहता है। वह क्षमा देकर दूसरे को जल्दी छोड़ना नहीं चाहता। अपने प्रति किये अन्याय को ऐसे ही नहीं जाने देना चाहता। अपने अपमान की पीड़ा को भुला देना एक कष्टकारी प्रक्रिया है। फिर व्यक्ति अपने कार्यों के लिए धर्म की अलग-अलग परिभाषाएं बनाने की भी तो स्वतंत्रता मांगता है। अपने प्रति किये अन्याय को वह अपने धर्म सम्बन्धी विचारों के तराजू पर तौलता है। कोई यदि अधर्म करता है तो यह आवश्यक तो नहीं कि प्रतिक्रिया स्वरूप हम भी अधर्म का मार्ग चुन लें। दुर्योधन एवं धृतराष्ट्र द्वारा किये अधर्म-अन्याय और अनैतिक व्यवहारों के कारण भीम उन्हें भी वैसे ही प्रतिउत्तर देना चाहता है। उसके हिसाब से यही अन्याय और क्षत्रिय धर्म है। भीम का कहना है कि प्रकृति के नियमों के अनुसार तो ऐसा ही होना चाहिए। किन्तु श्री कृष्ण इस तथ्य को और ही प्रकार से समझाते हैं। उनके अनुसार यदि कोई अपने घर में मल एकत्र करता है, और यदा-कदा ओरों पर फेंकता रहता है, इसलिए आप भी अपने घर में मल भर लेंगे, ताकि आप भी अपनी सुविधानुसार उस पर मल फेंक सकें। वे कहते हैं कि, “किसी एक का स्वभाव ही तो मानव का धर्म नहीं है। धर्म तो प्रकृति का अतिक्रमण कर आत्मस्थ होकर ही सिद्ध होगा। साधारण मनुष्य प्रकृति के नियमों का दास होता है ! किन्तु आसाधारण व्यक्ति का सारा उपक्रम उन नियमों का स्वामी बनने के प्रयत्न में है।” (कोहली, महासमर 4,10)

कैसी सटीक धर्म की परिभाषा है। जो धर्म के अनुसार है वो करें ! वो नहीं जो अन्य के उकसाने पर प्रतिकार अथवा प्रतिशोध स्वरूप करने को स्थिति उद्वेलित करे। स्वयं को जीतना ही तो धर्म है। यदि औरों के दिखाए मार्ग पर चलना ही है तो धर्म की क्या आवश्यकता है ? प्रतिक्रिया की कोई नियमावली तो नहीं है न-‘उसने किया तो मैंने किया।’ अपनी वकालत करने के लिए प्रयत्न थोड़ा करना पड़ता है ! वह तो मानव स्वभाव है। स्वयं को सदा माफ़ करना चाहता है। किन्तु धैर्य रखते हुए अन्याय के प्रतिक्रियास्वरूप स्वयं को संयमित करना ही धर्म-आचरण की विजय है।

कल्याण पत्रिका के हिन्दु संस्कृति अंक के पृष्ठ 369 पर इस विषय की विवेचना उद्धरित है कि, “विश्व में अनेक जातियां-जनजातियाँ निवास करती हैं। प्रत्येक जनसमूह में पृथक संस्कृति पायी जाती है। प्रत्येक संस्कृति का स्वधर्म होता है। कहीं धर्म है तो कहीं जादू, कहीं पादरी है तो कहीं पुजारी। अतः धर्म के विभिन्न समाजों में विभिन्न स्वरूप हैं। इसलिए धर्म को विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया जाता है। अमरकोश के अनुसार धर्म शब्द के अर्थ है—सुकृत या पुण्य, वैदिक विधियगादी, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और सोम रस पीने वाला। व्याकरण की रीति से धर्म शब्द ‘धृञ्’ (धरणे) धृ के आगे मने प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जाती है—प्रथम, जिससे लोक धारण किया जाये वह धर्म है, (ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः)। द्वितीय, जो लोक को धारण करे वह धर्म है—(धरति धारयति व् लोकम इति धर्म) और तृतीय, जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाये वह धर्म है- (ध्रियते यः सधर्मः)।” (कल्याण 369) “धर्म की मूल धारणा है: जो धारण करे वह धर्म है। महाभारत के कर्ण पर्व से उद्धृत एक श्लोक है,

“धारणाद्धर्ममित्याहुध्मो धार्यते प्रजा:

यत स्यद्ध्यारण सयुंक्त स धर्म इति निश्चयः ॥”

(महाभारत, कर्णपर्व 69)

श्लोक में निहित मान्यता में यह भाव है कि, “धारण करने से लोग इसे धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह धर्म है, निश्चय है। ”

कई विद्वानों ने धर्म की अपने अपने अनुसार भिन्न भिन्न विवेचनाएँ की हैं। कोई इसे मानवीय अनुभव कहता है, तो कोई इसे समाजशास्त्रीय घटना भी समझता है। मेलिनोवासकी ने मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय पहलुओं को दृष्टिगत रखते हुए धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है, “धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी, धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ

ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।” (B.Meliniowseki : Magic, Science and other Essays, page 24)। इसी प्रकार फेजर ने भी धर्म सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए कहा है, “धर्म से मैं मनुष्यों से उच्च उन शक्तियों की संतुष्टि तथा आराधना समझता हूँ जो इस विश्वास पर आधारित हैं कि वे प्रकृति तथा मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती हैं, तथा नियंत्रित करती हैं।” (हुकुमचंद 21)

धर्म किसी भी सामाजिक परिपेक्ष्य में समझें। वह एक ही तरह के नियम का प्रतिपादन करता है। क्रिश्चियन हों अथवा इस्लाम को मानने वाले, क्या कहीं किसी ग्रन्थ में लिखा है कि अन्य प्राणी को कष्ट दो ? क्या कहीं ऐसा ज्ञान दिया जाता है कि झूठ बोलने वाला, अपराध करने वाला उत्तम श्रेणी का व्यक्ति है ? नैतिक आचरण के आयाम लगभग एक ही तरह के हैं। भिन्न है; तो उसे करने की कामोबेश कुछ विधियाँ किन्तु उनसे सत्य तो नहीं परिवर्तित होते ? हाँ ! केवल यह मनुष्य की कमतर अपरिपक्व बुद्धि है जो उसकी विवेचना अपने स्वार्थों के रहते संकीर्ण अर्थों में फैलाकर समाज का अहित करने का प्रयास करती है।

महासमर का रचनाकार भी तो यही कहने का प्रयास कर रहा है। वह धृतराष्ट्र के धर्म को स्वार्थ और लोभ से ग्रस्त दुर्बल और कमजोर मानसिकता वाले पात्र की परिभाषा बताता है और युधिष्ठिर के धर्म को कहते हुए, उन्हें धर्म का पर्याय ही बना कर प्रस्तुत कर देते हैं। धर्म वास्तव में धारण करने को ही कह सकते हैं। क्या समझता है मनुष्य ? और क्या धारण करता है ? उसका आचरण क्या मानव समझ से प्रेरित है अथवा वह समाज के सर्व-कल्याणकारी मार्ग का अनुगमन करते हुए सामाजशास्त्रीय मूल्यों को अपनाता है। यह उसका धर्म ही निर्धारित करता है। यही तथ्य, कथानक में बारम्बार श्री कृष्ण के वक्तव्य और धर्मराज का आचरण प्रमाणित करता है।

## अध्यात्म एवं जीवन का सत्य

भारतीय मनीषी अपने शास्त्रों के अनुसार आचरण पर अधिक बल देते हैं। जीवन के इहलौकिक और पारलौकिक दोनों लोकों का सामान रूप से दायित्व-

निर्वाह हो सके, तभी जीवन की सफलता मानी जाती है। यद्यपि देखा यह जाता है, कि मानव का मन बहुत चंचल होने के कारण वह माया में उलझा रहता है। और यह उससे भी बड़ा सत्य है। संत कबीरदास के शब्दों में,

‘माया महाठगिनी हम जानी ॥  
तिरगुन फ्रांस लिए कर डोले बोले मधुरे बानी ॥  
केसव के कमला वे बैठी शिव के भवन भवानी ॥  
पंडा के मूरत वे बैठी तीरथ में भई पानी ॥  
योगी के योगन वे बैठी राजा के घर रानी ॥  
काहू के हीरा वे बैठी काहू के कौड़ी कानी ॥  
भगतन की भगतिन वे बैठी ब्रह्मा के ब्राह्मणी ॥  
कहे कबीर सुनो भाई साधो यह सब अकथ कहानी ॥’

(कबीरदास, बीजक)

कबीर जी का यह रहस्यवाद भारतीय संस्कृति के अध्यात्मवाद का दर्पण है। जिसे भारतीय संत-मुनि-ऋषिगण आज तक अपने जीवन के द्वारा जन मानस के आगे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं। प्रकृति परमार्थ का पर्याय है। किन्तु फिर भी प्रलोभन वश उसी प्रकृति के भ्रम में साधारण जन फंस कर मोहग्रस्त हो जाता है। माया का प्रपंच दिखा कर प्रकृति सुख की मृगतृष्णा की ओर प्रलोभन देती है। और मनुष्य उस लोभ में फंस कर सुखों का संचय करने लग जाता है। महासमर में महामुनि व्यास इस विषय में आगाह करते हुए कहते हैं, “प्रकृति के नियम बड़े विचित्र हैं पुत्र ! वह भ्रम को प्रोत्साहित करती है, माया का प्रपंच रचती है। मनुष्य सोचता है कि वह अपने लिए सुख संचित कर रहा है; जबकि वह अपने लिए अनंत यातना का सर्जन कर रहा होता है।”... “आकाश से वर्षा के रूप में जल की जो बूंद टपकती है, वह जल का शुद्धतम रूप है। पृथ्वी पर वह अपनी यात्रा में पुष्प की पंखुड़ी पर टपक कर, वहीं से अपने शुद्धतम रूप में सूर्य की किरणों के सहारे आकाश की ओर लौट सकती है, किन्तु वह पृथ्वी के विभिन्न प्रकार के मलों को अपने भीतर संचित कर यह कल्पना भी कर सकती है कि वह

अत्यंत समृद्ध है, अपनी इच्छानुसार संपत्ति एकत्रित करने से उसे कोई नहीं रोक रहा। उसे यह स्मरण नहीं रहता कि उसे आकाश में लौटना भी है, और यह तब तक संभव नहीं होगा, जब तक वह पुनः अपने उसी मौलिक शुद्ध रूप को प्राप्त न कर ले, तब तक वह अपने भीतर समाये मल के अन्तिम कण तक को निष्कासित न कर ले। जब तक वह अपने आपको अपनी मूल प्रकृति के सामान शुद्ध नहीं कर लेगी, उसे इसी प्रकार पृथ्वी के मल के बीच भटकना होगा।” वही स्थिति आत्मा की है।”..... (कोहली, महासमर 4,21)

उपरोक्त वर्णन चिंतन को आंदोलित करता है। यही तो है संसार से पार अध्यात्म लोक ! जिसकी उपस्थिति तो है, किन्तु अधिकांश उसे समझने में नाकाम हो जाते हैं। व्यास जल की बूँद के उदहारण के माध्यम से यही तो समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे शुद्ध रूप में आये वैसे शुद्ध रूप में ही प्रयाण किया। यह है अध्यात्म ! जिसमें प्रेम तो है, मोह नहीं। समृद्धि तो है, संचय नहीं, आसक्ति नहीं। बहुत सूक्ष्म है यह तथ्य। जो समझा सो तर गया। एक संत की वाणी सुनते हुए उसके शब्दों में जीवन का सार सुना, “हथ्य कार वल, चित्त यार वल।” अर्थात् हाथों से कार्य करते चले और चित्त या चिंतन सदैव यार अर्थात् परमपिता (सत्य-शुद्ध रूप) की ओर लगा हो। इस सत्य को गुरु नानक ने समझा और व्यापार करते, सौदा तौलते हुए ‘तेरा तेरा’ कहते रहे। इस सत्य को कबीर दास ने समझा और कहा,

“चदरिया झीनी रे झीनी, रे नाम रस भीनी,  
 अष्ट कमल का चरखा बनाया, पांच तत्व की पूनी।  
 नौ दस माँस बुनन को लागे, मुख मैली कीनी।  
 जब मौरी चादर बन घर आई, रंग रेज को दीनी।  
 ऐसा रंग रंगा रंगरे ने, लालो लाल कर दीनी।  
 ध्रुव प्रह्लाद सुदामा ओढ़ी शुकदेव ने निर्मल किन्ही।  
 दास कबीर ने ऐसी ओढ़ी, ज्युँ की त्यूँ धर दीनी।”

(कबीरदास, बीजक)



पांच तत्वों की देह, नौ माह का माँ का गर्भ, संसार में आना और फिर अपने कार्य निपटा के निर्लेप होकर जाना। यह सन्देश ही शास्त्रों द्वारा बारम्बार प्रेषित होता है जिसे जो समझा उसे अध्यात्म, धर्म का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हुआ। और फिर उसे इस संसार का मल छू नहीं सकता। वह जिस शुद्ध रूप में आया, उसी शुद्ध रूप में जाने की सात्विक शक्ति प्राप्त कर लेता है। यही वास्तविक धर्म की मीमांसा है। जिसे महासमर में स्थितियों और पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

महामुनि व्यास हो, कबीर हों, नानक हों या सात्विक संत-साधू, यह सन्देश उनके जीवन के दर्पण में हर क्षण झलकता है। श्री कृष्ण की मद्भागवत गीता भी तो इसी सत्य का प्रतिरूप है। बहुत आश्चर्य है कि वास्तविकता को समझते हुए भी कभी-कभी नासमझी क्यूँ मानसिकता को डस लेती है। क्यूँ एक मिथ्या-माया का आवरण सा बुद्धि को ढक लेता है। क्या भीष्म नहीं जानते थे, कि पांडवों के साथ अन्याय हो रहा है ? क्या धृतराष्ट्र नहीं जानते थे, कि उनके अधिकार की सीमा क्या है ? क्या शकुनि दुर्योधन को दुर्भावनापूर्ण शिक्षा देते हुए इसका परिणाम नहीं जानते थे ? क्या युधिष्ठिर नहीं जानते थे, कि धूत की अंतिम परिणति क्या होगी? क्यों नहीं दुर्घटनाएं केवल घटनाएँ बनी ? वे दुर्घटनाओं के रूप में युद्ध तक क्यों पहुँच गयीं ? इन सब का उत्तर महामुनि व्यास के पास है। श्री कृष्ण के पास है। किन्तु कर्म के सिद्धांत के आगे वह भी निरुत्तर हैं। वह किसे समझाएं ? कैसी शिक्षा की आवश्यकता है ?

वास्तव में शिक्षा देना एक बात है। किन्तु शिक्षा लेने वाले का भी तो कुछ योगदान होता है इस प्रक्रिया में ! वो क्या लेना चाहता है ? यह भी तो महत्वपूर्ण है। यदि स्वार्थ ही ध्यान में है, तो परमार्थ की बात कितना प्रभाव डालेगी, इसकी सम्भावना बहुत कम है। एक बहुत मार्मिक उदाहरण है कृष्ण एवं उनके पुत्रों का, उनके भाइयों का। जब उन्हें उनकी आवश्यकता थी तो वह विरोधी खेमे में खड़े दीखते हैं। क्या कारण है ? प्रकृति अपना कार्य करती चलती है। श्री कृष्ण की शिक्षा एवं ध्यान उनके पुत्रों को उनके आचरण का प्रतिरूप नहीं बना पाया। उन्हें उन बातों में कोई श्रद्धा नहीं है, जिनका श्री कृष्ण सम्मान करते हैं। कृष्ण इस विषय

पर विचार करते हुए व्यंग से मुस्कुरा पड़ते हैं, 'ऐसा कैसे हो गया ? उन्होंने अपने पुत्रों को उचित शिक्षा नहीं दी अथवा उचित संस्कार नहीं दिए ? वे अन्य लोगों को प्रभावित कर सकते हैं, तो ऐसा कैसे हुआ कि उनकी छत्रछाया में पलने वाले उनके अपने पुत्र उन सिद्धांतों और संस्कारों को ग्रहण नहीं कर सके, जिसे कृष्ण सारी सृष्टि के लिए उपयोगी मानते हैं। ...“संस्कार क्या देने से ही हो जाता है ? शिक्षा क्या देने वाले की इच्छानुसार अपना प्रभाव दिखाती है ? धरती में बीज ग्रहण करने की उर्वरा शक्ति न हो तो कृषक कितने ही उपयोगी बीज बोये, कोई अंकुर नहीं फूटेगा।....शिष्य होकर सात्यकि कृष्ण के लिए अपने प्राण दे सकता है, किन्तु कृष्ण के अपने पुत्र उनके लिए अपना रक्त बहायेंगे, इसमें संदेह है।...कृष्ण तो संस्कार दे ही सकते हैं, मार्ग दिखा सकते हैं, किन्तु किसी में उसे ग्रहण करने की क्षमता न हो तो वे क्या कर सकते हैं। पिता और गुरु का अहंकार व्यर्थ है। उसे तो अपने पुत्र और शिष्य के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए, जो उसकी परम्परा को आगे चलाता है। उस गुरु और पिता की पीड़ा कौन जान सकता है, जिसे अपनी परम्परा के निर्वहन के लिए कोई योग्य पुत्र अथवा शिष्य न मिला हो।” (कोहली, महासमर 7,39)

विडंबना है, किन्तु सत्य है, पुत्र को पीड़ी दर पीड़ी पिता द्वारा संस्कार तो मिलते हैं, किन्तु वह कितना ग्रहण करता है, कितना आचरण में उतारता है और कितना उसपर श्रद्धा रखता है ! यह उसकी क्षमता और शक्ति पर भी तो निर्भर करता है। धर्म की यही एक विडंबना नहीं है। सत्य होते हुए भी भिन्न-भिन्न लोग उसे अपने अनुसार ढालने में कतई देर नहीं लगाते। समसामयिक वर्तमान में धर्माचार्यों के उपदेशों के अनुपालन के लिए एकत्रित कितने अनुयायी वास्तव में उनके जैसे आचरण कर पाते हैं। सत्य यह है कि दिशा निर्देश का नहीं, ग्रहण की योग्यता होना आवश्यक है।

इसीलिए कृष्ण का कहना है, कि 'धर्म को किसी के समक्ष दुर्बल होने की आवश्यकता नहीं। यह चेतना की विचित्र क्रीडा है, और सत्य तो न कभी दुर्बल होता है न अकेला। प्रकृति सत्य की स्वयं रक्षा करती है। धर्म कभी भी निराश और

पराजित नहीं हो सकता।' स्मरण रहे जो शिक्षा लेने को आतुर है उसे इसकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। स्वयं कृष्ण का सारथ्य उसे प्राप्त होता है। वह नारायण उसे स्वयं ज्ञान का महत्व बताते हैं। उदहारण देखें अर्जुन को कृष्ण कहते हैं. "अज्ञान के तिमिर में नयन खुल भी जाएँ, तो यह जागरण नहीं होता धनंजय ! जागरण के लिए तो ज्ञान के सूर्य की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।" ... इस बात से बड़ी अध्यात्म की भाषा और क्या होगी ! जग जाना ही तो अपेक्षित नहीं उसके लिए ज्ञान का जागरण भी तो आवश्यक है। केवल दैहिक जागरण, सत्य और ज्ञान के सूर्य के बिना कैसे जगा सकता है चेतना को ? अर्जुन और दुर्योधन युद्ध के लिए सहायता लेने कृष्ण के द्वार पर पहुंचे हैं। कृष्ण एक तरफ हैं और दूसरी ओर है नारायणी सेना। अर्जुन को कृष्ण की नारायणी सेना से कुछ लेना देना नहीं। उसे सिर्फ कृष्ण चाहिए। सात्यकि आश्चर्यचकित है। अर्जुन का यह निर्णय उसके व्यवहार को विचारने पर विवश करता है। सात्यकि का मनन-चिंतन, इस सन्दर्भ में अध्यात्म का एक और पृष्ठ खोलता है, "अर्जुन ने जो कुछ किया, वह युद्ध की तैयारी में जुटा कोई योग्य सेनापति कभी नहीं करेगा। ...यह तो कोई साधनारत भक्त ही कर सकता है। जो ऐश्वर्य मांगता है, वह ईश्वर को नहीं मांगता। जो भगवन से भी संसार ही मांगता है, उसे संसार मिल जाता है और ईश्वर उससे और भी दूर हो जाता है। मूर्ख दुर्योधन ने वही किया। वह श्री कृष्ण के पास याचक भाव से आया भी..और केवल साधारण सैनिक लेकर चला गया। श्री कृष्ण की आकांक्षा नहीं की उसने। श्री कृष्ण को ही नहीं माँगा। ..किन्तु पांडवों ने कभी राज्य नहीं माँगा, सदा धर्म ही माँगा। आज भी जब राज्य के लिए ही युद्ध की कगार पर खड़े हैं, तो भी सेना नहीं माँगीं, श्री कृष्ण माँगे।" तो पांडवों को क्या मिला स्वयं श्रीकृष्ण—श्रीकृष्ण। (कोहली, महासमर 7,123)

कैसा है यह धर्म का मर्म ! जहाँ धर्म है वहाँ जय है ! जहाँ कृष्ण हैं जय वहाँ है। और किस तथ्य का सत्य बच जाता ही है ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में, अंतिम लक्ष्य मोक्ष को ही तो पाना है। फिर अर्जुन ने यदि कृष्ण को माँगा तो अध्यात्म की दृष्टि से मोक्ष को ही तो पाया। यदि संसार में रह कर मोह से मुक्त हुआ

जा सके, ऐसा अवसर मिले-तो कितने लोग कर सकते हैं ऐसा ? अर्जुन ने न केवल युद्ध में कृष्ण को अपने सारथ्य का कर्तव्य करने दिया वरन जीवन का सारथ्य भी कृष्ण को ही माना। ऐसा मानव मात्र जानता है। किन्तु कितने लोग इसके अनुसार श्रद्धा पूर्वक निर्णय भी कर पाते हैं। कौन इस पर पूर्ण भरोसा करते हुए, अपने सांसारिक कृत्यों को ईश्वर को समर्पित करते हुए निष्काम कार्य कर पाते हैं और मोह एवं आसक्ति से निर्लिप्त रह पाते हैं ? आश्चर्य है ! धर्म इसका ही अनुमोदन करता है, और स्वयं मानव इसे जानते बूझते विपरीत आचरण करते चले जाते हैं। तो बात वही है, कि कितना ग्रहण करने की और क्या ग्रहण करने की योग्यता और क्षमता व्यक्ति में है। अध्यात्म यही जानने की क्षमता देता है। स्वयं कृष्ण भी तो इसी चुनाव की परीक्षा ले रहे हैं। नारायण (कृष्ण) बन कर नर (अर्जुन) की !

वास्तव में जीवन सत्य का दर्पण है। इसको प्रकट करता है मानव व्यवहार, उसका आचरण एवं उसकी आस्थाएं ! जिनपर चल कर वह अपने लिए मूल्य तथा मार्ग सुनिश्चित करता है। ऐसा आवश्यक नहीं कि शिक्षा के लिए कुलीन गृह में जन्म लेना आवश्यक है। यदि व्यक्ति में सीखने की जिज्ञासा है, तो वह अपने जातिधर्म से उच्च होकर अन्य वर्णों की शास्त्रात विशेषताओं को भी सीख सकता है। कृष्ण केवल अर्जुन को ही लभ्य नहीं हैं। वे दुर्योधन को भी लाभ देने का प्रस्ताव दे रहे हैं, किन्तु क्या उसे सत्य देखने की जिज्ञासा या आकांक्षा है ? ध्यान रहे उनके अपने पुत्रों के लिए उनका साथ अलभ्य हुआ। योग्यता के बिना कोई कैसे पा सकेगा, उस शक्ति पुंज को ! ग्रहण की आकांक्षा भी तो जागृत होनी चाहिए। आचरण की शुद्धता, धर्मानुसार भी तो आवश्यक है। हस्तिनापुर में रह कर युयुत्सु हुआ जा सकता है। और द्वारका में होकर भी साम्ब और प्रदुम्न की तरह सत्य एवं धर्म से वंचित हुआ जा सकता है।

## धर्म जीवन का प्रयोजन नहीं अपितु प्रेरणा

महासमर में रचनाकार ने एक पात्र रचा है, अक्षय, शुद्र वर्ण और कुल में जन्म के उपरान्त भी वह अपने विकास की प्रक्रिया द्वारा आज के जातिवादी सन्दर्भों

को न केवल अपरोक्ष स्वर देता है, वरन मानवीय मूल्यों के उच्च धरातल को दर्शाता है। धर्म और अध्यात्म का वास्तविक मर्म क्या है, उसके आचरण और सीखने की प्रक्रिया के दौरान प्रकट होता है। प्रकरण ऐसे है—खांडवप्रस्थ में पांडवों का आगमन हो चुका है। प्रसाद जर्जर अवस्था में है। आस पास का वातावरण संदिग्ध सा है। बेरोजगारी के कारण कामगार चोर्य-कार्य में सलग्न हैं। भोजन की तलाश में एक चोर जो वास्तव में लेपक है, प्रसाद में सेंध लगा कर प्रवेश करना चाहता है, और भीम द्वारा पकड़ा जाता है। भीम न केवल उसे भोजन का आश्वासन देते हैं, वरन उसे रोजगार का आश्वासन भी देते हैं। नयी परिस्थितियों में लेपक, प्राप्त रोजगार के अवसरों में अन्य गाँव के लोगों को भी सम्मिलित करता है। इस प्रक्रिया में लेपक की परिस्थितियाँ बदलने के कारण उसका निरंतर विकास होता जाता है। ज्ञान का होना, एक व्यक्ति को शनैः-शनैः आत्मिक और अध्यात्मिकता के सोपानों तक ले जा सकता है। धर्म का मर्म वास्तव में अध्यात्मिक विकास ही तो है। जीवन का चरम लक्ष्य और क्या है- मोक्ष ही तो ! संसार कितने ही व्यापारों में उलझा है ? किन्तु सच्चा सौदा किया तो गुरु नानक ने ही ! जो व्यापार करते हुए भी 'तेरा-तेरा' करते रहे। 'तेरा-तेरा' वास्तव में क्या है ? अध्यात्म का असली रूप ही तो। संसार में रह कर संसार से निर्लिप्त अपने कर्तव्य में मग्न रहना। पात्र अक्षय का विकास भी इन्हीं सोपानों का दृष्टान्त है। वह धौम्य ऋषि की संगति में कुछ सवाल करता है। वह भीम के उजले निष्पाप मन को पढ़ पाता है। वह सांसारिक व्यवहार का विश्लेषण करता है। वह स्वयं की जाति और वर्ण की समीक्षा करने में समर्थ है। वह भीम को प्रभावित करने में सक्षम है। वह परिष्कृत भाषा का उपयोग करने में सक्षम है। वह भीम को अपने विकास का रूप दिखाता हुआ, कह पाता है कि, 'मेरे चारों ओर एक पाठशाला उग आई है, उसी में घिर गया हूँ।..वास्तुकला के माध्यम से दर्शन में प्रवेश पा गया हूँ। मन में प्रश्न तो यही उठा था, कि उस भवन का वास्तविक स्वरूप क्या हो, जिसमें हमें जीवन व्यतीत करना है ? किन्तु स्थिति बड़े वेग से बदली। ..इस विषय में मैं जितना अध्ययन और मनन करता गया, उतना ही वह मायावी प्रश्न अपना स्वरूप बदलता गया। और सहसा मैंने लक्ष्य किया, कि

मेरा प्रश्न सर्वथा परिवर्तित हो चुका है। अब मेरा प्रश्न था, कि उस जीवन का स्वरूप क्या है, जो हमें उस भवन में व्यतीत करना है?” (कोहली, महासमर 4,106)

कैसा ज्वलंत और मानसिक उद्वेलन से पूर्ण वक्तव्य है! एक साधारण लेपक से विकसित होकर वास्तुकार के स्तर पर पहुंचा व्यक्ति, जीवन के अध्यात्म की विवेचना कर रहा है। प्रश्न की गहराई देखें कि भवन के स्वरूप से जीवन के स्वरूप पर विचार-चिंतन आ पहुंचा है। अध्यात्म का अर्थ और क्या हो सकता है ? यदि व्यक्ति इस सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, कि चिंतन का असल मुद्दा क्या है ? तो वहाँ से ही अध्यात्म तथा परलौकिक सत्यों का उद्घाटन आरंभ होता है। इस पात्र अक्षय के द्वारा उपन्यासकार ने जीवन के चरम सत्य का न केवल विश्लेषण किया है, वरन समस्त प्राणी जगत को इस तथ्य की ओर मनन हेतु इंगित किया है।

आश्चर्य होता है कि एक अदना से चरित्र के मुख से कितना बड़ा रहस्य उपन्यासकार कहला रहा है। रचनात्मकता और कल्पना का अत्यंत सुंदर और लाभकारी उदाहरण है, यह पात्र। वह जिस धन समृद्धि के लिए कार्य-रोजगार चाहता था, वह धन उसे अब आकर्षित नहीं करता वरन धन की अधिकता का मलिन पक्ष उसमें वितृष्णा का भाव उत्पन्न करता है। भाव की, उच्च आचरण की, उत्कृष्टता है यह। भीम के प्रश्न करने पर वह कहता है, “मुझे लगता है जब तक मैं अज्ञानी था, जानता ही नहीं था कि आदर्श क्या है, सत्य क्या है, स्वच्छता क्या है, तब तक मेरा किसी से झूठ बोलना, किसी को बहकाना, अधर्म की कमाई खाना ठीक था। ठीक क्या था, वह मेरी बाध्यता थी, मेरे पास कोई विकल्प नहीं था।..किन्तु अब ! सब कुछ जान लेने के पश्चात् मैं वह सब नहीं कर सकता। जब मैं लेपक था, तब मैं कैसा भी भवन बनाता, कोई बात नहीं थी, किन्तु अब जब मैं वास्तुकार हो चुका हूँ, अब यदि मैं ऐसा भवन बनाऊँ, जिसमे सूर्य ओर पवन का प्रवेश न हो, जो सुरक्षित और सुंदर न हो-तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कारेगी नहीं ?” (कोहली, महासमर 4,108)

यह कैसा व्यक्ति है ! अनुकरणीय आचरण वाला ! जिसका सचमुच विकास हुआ था-मन का ही नहीं, आत्मा का भी ! वह स्वच्छ एवं सात्विक जीवन से परिचित होकर, पुनः मलिन जीवन जीने को तैयार नहीं था। राजकुमार भीम को आश्चर्य इस बात का है कि, 'यह लेपक जिसने असह्य दारिद्र्य को झेला है, वह आज भी सत्य को, चरित्र को, वचन को, धन से अधिक मूल्यवान समझता है ..।' (कोहली, महासमर 4,108)

जीवन वास्तव में वही है, जिसमें मानव के मानसिक-सात्विक और आत्मिक पक्षों का विकास हो। अवसर सब को प्राप्त होते हैं किन्तु सब इसे ग्रहण करने की इच्छा रखें और फिर उसे अपनाएं भी ! ऐसा बहुत कम देखने को मिलता है। अक्षय का चरित्र कथानक में पिरोया हुआ एक रचनात्मक चरित्र है जिसके द्वारा उपन्यासकार उस समय के लोगों को आज के सन्दर्भों में देखने का प्रयास कर रहा है। स्थिति किसी काल की भी हो लेकिन विकास के सोपान वही रहते हैं। यदि अवसर मिले और व्यक्ति उसे कुशलता से ग्रहण करने की क्षमता का परिचय दे तो अक्षय के विकास के स्तर को पाने में विलम्ब नहीं होगा। पात्र अक्षय एक निर्देश है, ज्ञान का सही रूप प्राप्त कर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की और बढ़ने का, मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने का।

धर्म की बहुत सूक्ष्म विवेचना करते हुए महासमर कितने ही सूत्र उपस्थित करता है, जिससे मन को, धर्म के थोथे पूर्वाग्रहों से मुक्त करने में सहायता मिल सकती है। कितने ही उदाहरण ऐसे हैं जिसमें व्यक्ति को कब कैसे और कहाँ क्या आचरण करना है ? इसके सूत्र मिलते हैं। महासमर वास्तव में ऐसी गुफा है जिसमें जीवन का कोई पहलु अछूता नहीं है। कहीं न्याय है—और कहीं अन्याय है। कहीं न्याय के तर्क हैं, कहीं प्रतिक्रियात्मक कर्म के तर्क हैं। धर्म और न्याय की, नैतिक आचरण की, सबकी अपनी-अपनी परिभाषा है। हर विषय का औचित्य, यहाँ अनुभव और घटना की कसौटी पर कसा जा रहा है। ऐसा ही एक प्रसंग है अर्जुन के द्वारका पहुँच कर कृष्ण से भेंट का। कृष्ण और अर्जुन इन्द्रप्रस्थ की सुरक्षा के विषय में चिंतन कर रहे हैं। खांडवप्रस्थ की सुरक्षा और उसके आसपास बिखरे

शत्रुओं के बारे में चर्चा हो रही है। चर्चा के दौरान कृष्ण आगाह करते हैं, कि इन्द्रप्रस्थ के आस पास विरोधी शक्तियां सक्रिय हैं। और उनका दमन करने के लिए, समर्थ होते हुए भी, धर्मराज युधिष्ठिर अपनी कोमलता के कारण, किंकर्तव्यविमूढ़ से बैठे हैं। वे यह कहते हैं कि, 'दया, मानवता के उच्चतम आदर्शों में से एक है, किन्तु दया और आत्मघात में अंतर है।..राजा को दयावान होना चाहिए, क्रूर नहीं। किन्तु यदि वह अपनी रक्षा नहीं करेगा तो प्रजा की कैसे करेगा? यदि स्वयं ही असुरक्षित है, प्रजा भी असुरक्षित है तो धर्म पर कैसे चलेगा ? इसलिए धर्मराज को न्याय और नीति को समझना होगा।....अर्जुन के चिंतित होने पर कृष्ण कहते हैं, "प्रकृति तो किसी की भी बदली नहीं जा सकती। प्रकृति को बदलने की आवश्यकता भी क्या है ! बदलनी तो मात्र नीति है। अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए कठोरता धारण करने से न कोई पतित होता है, न मानवता शून्य ! धर्मपरायण होने का अर्थ मुख होना तो नहीं है न ! हमें अपने भ्रमों से मुक्त होना है, न्याय-अन्याय के बोध से नहीं। हमें अपना अहंकार त्यागना है। अपने अधिकारों का त्याग तो आत्मघाती होगा, पार्थ!" (कोहली, महासमर 4,161)

किंचित इसी तरह महाभारत के युद्ध के समय भी, कृष्ण अर्जुन के त्रिगतां से युद्ध के उहापोह को दूर करते हुए युद्ध की नीति और युद्ध मूल्यों से जुड़े स्व-धर्म की सूक्ष्मता का ज्ञान देते हैं, "जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक चिंतन होता है। युद्ध के क्षेत्र में भी हो सकता है। मैं कभी जरासंध की इच्छा के अनुसार नहीं लड़ा था। मैं तुम्हें हतोत्साहित कर दुर्बल नहीं करना चाहता, किन्तु न तो मैं जीवन को दूसरों के आदर्शों के अनुसार जीने का समर्थक हूँ, और न ही युद्ध में दूसरों के रचे व्यूह में फंस कर लड़ने का। तुम्हें अपना व्यूह स्वयं रचना है। संसार में लोग तुम्हें विभिन्न प्रकार की चुनौतियाँ देते रहेंगे, अलग अलग व्यूहों से पुकारेंगे, तो तुम उनकी योजनाओं के अनुसार भागते रहोगे, अपना व्यूह कब रचोगे? अपना युद्ध कब लड़ोगे ? जीवन को सफलता पूर्वक वही जी सकता है जो अपनी निश्चयात्मकता बुद्धि से जिए। विक्षेपों से तो उर्जा बिखरती ही है। तुम्हें स्वयं को एकाग्र करना है।" (कोहली, महासमर 8,57)



महासमर के कई प्रसंगों में विचारों की प्रक्रिया और प्रश्नों की श्रृंखला आरंभ हो जाती है। उपरोक्त विवेचन मानव के प्रतिक्रियात्मक व्यवहार का धोतक है। कृष्ण अपने तर्क, धर्म की न्याय व्यवस्था के विषय में स्पष्ट कर रहे हैं। वह पात्र के चुनाव की क्षमता का अनुमोदन करते हैं। वह अर्जुन को इस तथ्य की आवश्यकता के बारे में कहते हैं, कि यदि किसी के प्रति किये आचरण के लिए आपके मूल्य आड़े आते हैं, तो विचार करना होगा कि किस पात्र को आपकी प्रतिक्रिया को प्राप्त करना है। धर्म के अनुसार आचरण करना उत्तम है, किन्तु यदि आपका किया धर्मपूर्ण आचरण दूसरों के अधर्म को प्रश्रय देता है, तो संभल जाना चाहिए। सोच-विचार के बाद निर्णय कर के ही पुरस्कार और दंड का विधान बने, तभी न्यायपूर्ण नैतिक व्यवस्था का पालन हो सकेगा।

धर्म और नैतिकता का कैसा समन्वय है ! अहंकार और अधिकार को धर्म की सूक्ष्म व्याख्या से कितनी बारीकी से भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित कर दिया है। रचनाकार धर्म की मीमांसा करते हुए कितनी संवेदनशीलता से इस विषय की व्याख्या करते हुए, सूक्ष्म से सूक्ष्म तंतु का विश्लेषण करने से नहीं चूकता। धर्म वास्तव में हर व्यक्ति की अपनी चिंतन प्रक्रिया के अनुसार रूप और आकार लेता है। माता पिता की आज्ञा मानना यदि श्रीराम को मर्यादा पुरषोत्तम बनाता है, तो प्रह्लाद को पिता की आज्ञा न मानने पर, भक्त प्रह्लाद। श्री राम ने अयोध्या का राज्य त्याग दिया, क्योंकि वह पिता का वचन पूर्ण होता देखना चाहते थे। राम ने धर्मानुसार पितृ-ऋण से उऋण होकर अपनी मर्यादा के अनुरूप आचरण किया। संसार में श्री राम के नाम से पदवी पाकर, ईश्वरीय अवतार के रूप में पूजित हुए। किन्तु वहीं प्रह्लाद ने पिता के वचन का उल्लंघन किया, फिर भी उसका निर्णय उचित ठहराया जाता है। और तो और समाज में उसे भक्त के रूप में पूज्य माना जाता है। समय और काल मूल्यों और जिज्ञासाओं के अपने तर्क देता है। बस उन्हें समझना है। कहाँ, क्या उचित और वांछनीय हैं। इसका चुनाव करना है। प्रकृति और परिस्थिति भी इस कार्य में अपना योग देती है। कोई धर्म पूर्ण आचरण कर रहा है, अथवा नहीं कर रहा है ! इसकी मीमांसा किस धरातल पर की जाये ? विचारणीय

है। इसी तथ्य को कुछ और स्पष्टत से, महासमर के ही एक और दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को समझने का प्रयास करते हैं।

प्रसंग है, धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को वारणावत जाने की आज्ञा देने का, और युधिष्ठिर द्वारा उसकी अनुपालना करने का। इस विषय की चर्चा करते हुए, अर्जुन और कृष्ण के संवाद से धर्म एवं उसकी अनुपालना का तथ्य स्पष्ट करते हैं श्रीकृष्ण। कृष्ण अर्जुन की चिंता का कारण पूछते हैं, और वह इस बात की ओर संकेत करता है, कि धृतराष्ट्र ने किस चतुरता से राज्य का विभाजन कर पांडवों को दस्युओं के मध्य खाण्डवप्रस्थ भेज दिया है। वह इस बात से चिंतित है, कि उनके षड्यंत्रों का कोई निराकरण ही नहीं है। कृष्ण बहुत उदारता से उत्तर देते हैं कि, 'निराकरण तो प्रत्येक समस्या का है। प्रश्न तो यह है कि बाहर के षड्यंत्रों से टकराने से पहले क्या हम अपने मन के बंधन को तोड़ सकें हैं?...वारणावत जाते हुए क्या धर्मराज को किंचित आभास नहीं था, कि धृतराष्ट्र क्या करने वाले हैं?...संकट का आभास होते हुए भी, धर्मराज ने वारणावत जाने से इनकार तो नहीं किया?' बहुत पेशोपेश में डालने वाला पश्न है! अर्जुन के यह कहने पर कि, 'धृतराष्ट्र हमारे पिता के स्थान पर हैं। कैसे मना कर सकते थे ? उनकी आज्ञा का उल्लंघन अधर्म होता।' कृष्ण का बेहद मनोवैज्ञानिक प्रश्न है, "प्रह्लाद द्वारा अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन अधर्म नहीं था, तो युधिष्ठिर द्वारा धृतराष्ट्र की आज्ञा का उल्लंघन अधर्म क्यों है ?"... पिता और परम पिता की आज्ञा के विचार द्वन्द में अर्जुन को फंसा देख कर कृष्ण का मत है, "धर्म पर चलना परमपिता की आज्ञा पर चलना ही है। और आत्मरक्षा परम धर्म है।..वस्तुतः धर्मराज ने धर्म के नाम पर स्वयं को मुक्त नहीं किया है, विभिन्न प्रकार के बंधनों में बाँधा है। यह उनकी तपस्या अवश्य है, किन्तु तपस्या तो फिर कठिनाई ही उत्पन्न करेगी।" (कोहली, महासमर 4,215)

कृष्ण कर्म को और आचरण को धर्म के दंड पर कसते हैं। कृष्ण इस बात को मानते हैं कि यदि कोई अपने परिवार में जन्म ले ले तो वह हमारा रक्षणीय नहीं हो जाता। प्रत्येक को धर्म दंड से गुजरना होगा। वह व्यक्ति की क्रिया एवं प्रतिक्रिया

का आकलन बहुत बारीकी से करते हैं। उन्हें विदुर की तरह इस बात पर कोई संदेह नहीं कि यदि हमारे बड़े ऐसी नीतियां बनायें जो लोक कल्याण न कर पाती हों तो उन पर पुनर्विचार होना ही चाहिए। तो यदि अपने आदरणीय बड़ों की आज्ञा पालन आवश्यक है, तो उनकी गलत आज्ञा का उल्लंघन और अवमानना भी उतनी ही औचित्यपूर्ण है।

इस तथ्य को समझने के लिए दृष्टि और विचार को खुला रखना होगा। कहीं इस तर्क का सहारा लेकर व्यक्ति अपने (स्वार्थ पूर्ण) कार्यों को भी इन्हीं तर्कों से बचा न ले जाये। ये सोचना होगा कि नैतिकता और धर्म को, पात्रता और योग्यता के मानदंडों पर ही मापा जाये। अन्यथा विकल्पों के बहाने, अर्थ से अनर्थ होने में समय नहीं लगता। ज्ञान की मूल पुस्तकों में प्राप्त ज्ञान सही राह का दर्शन देता है। किन्तु इन सभी तर्कों के बाद अफ़सोस यही है, कि व्यक्ति मूल ग्रन्थ को पढता नहीं, कार्य कारण को समझता नहीं, और अपने पक्ष को रखने के लिए इन पात्रों के बहाने से स्वयं की वकालत करता जाता है। सही जानकारी और ज्ञान इसी अनर्थ से बचाने का प्रयास करता है।

धर्म और नैतिक आचरण के तंतु कितने सूक्ष्म हैं, इसे बार बार रचनाकार ने उपन्यास में अन्यतम उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया है। समय है युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का। कृष्ण अपनी इच्छानुसार विप्रों और ब्राह्मणों के पाँव पखारने का कार्य करके शेष समय यज्ञशाला अथवा ऋषि मुनियों के साथ ज्ञान चर्चा में व्यतीत करते हैं। ऋषि अंगिरस के साथ बैठ कर कृष्ण धर्म पर विचार कर रहे हैं। ईश्वर के होने का प्रमाण क्या है ? वर्तमान धर्मात्माओं का स्वांग कर, यहाँ वहाँ घूमते पाखंडी ज्ञानी जनों का सत्य कहते हैं। कृष्ण एवं ऋषि के वार्तालाप को संवाद स्थिति में ही उद्धृत कर के उसका उदाहरण देखते हैं--

**कृष्ण:** “महर्षि ! क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि ब्रह्म के किसी एक रूप को मानना तथा शेष रूपों का निषेध करना अनुचित है ?”...

**ऋषि:** “सर्वथा अनुचित है पुत्र !.. ईश्वर असीम है, इसलिए उसका कोई रूप नहीं। मनुष्य ससीम है, इसलिए उसकी कल्पना सीमित है। वह उसी के भीतर ईश्वर के रूप की कल्पना करेगा।..कल्पना अपने आप में ईश्वर का तत्त्व है। मनुष्य उससे बंधा है, इसलिए उससे बाहर नहीं जा सकता। ईश्वर के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। उसकी असीमता देखनी हो तो संसार के विभिन्न जीव जंतुओं को देखो। इन सारे रूपों में भी वह स्वयं ही तो प्रकट हुआ है। जब सत्य केवल वही है, तो उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व हो ही कैसे सकता है। इसलिए तुम्हारे सन्मुख अथवा तुम्हारी कल्पना में जितने भी रूप हैं, सब उसके ही रूप हैं। जिस रूप की भी आराधना करोगे, वह उसी की आराधना होगी।”

**कृष्ण:** “तो फिर साधक किस रूप की आराधना करे?”

**ऋषि:** “तुम जिस सरलता से अन्य जीवों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हो, वह अद्भुत है पुत्र ! तुम उनमें ईश्वर को देखते हो, तो अपने भीतर भी ईश्वर को देख सकते हो। यदि आत्मा में स्थित होकर, आत्मस्थ होकर देखोगे तो प्रत्येक जीव में वही दिखाई देगा, और वह तुम से भिन्न नहीं होगा। यह सृष्टि तो उसी का विराट रूप है। सारा उसी का प्रपंच है। वह हमारे भीतर है और हम उसके भीतर हैं।”

**कृष्ण:** “ज्ञान तो बहुत लोगों को है प्रभु ! किन्तु अनुभूति ? ज्ञान से उसके दर्शन होंगे क्या?”

**ऋषि:** “सूचना जब संवेदना बनती है, तो अपने आप अनुभूति हो जाती है। वास्तविक आस्था तो अनुभूति के बाद ही उत्पन्न होती है पुत्र !”

**कृष्ण:** “जिस में सात्विकता होती है, आस्था होती है, वही क्यों पीड़ित होता है महिषी ? क्या ईश्वर नहीं चाहता कि मनुष्य उसके न्याय में विश्वास करे?”

**ऋषि:** “वह जिससे रुष्ट होता है, उसे इतना सुख देता है कि वह प्रभु को भूला ही रहे।”...

(ऋषि आगे कृष्ण से पूछते हैं ) “इस यज्ञ भवन में इतने बड़े-बड़े पंडित, विद्वान, आचार्य ओर ज्ञानी उपस्थित हैं, तुम उनके पास न जा कर हम जैसे अल्फ़ों के पास क्यों अपना समय नष्ट करते हो ?”

कृष्ण वर्तमान ज्ञानियों की सत्यता बताते हुए क्या कहते हैं, विचारणीय है। “पंडित यदि स्वभाव से साधू न हो तो वह लम्पट हो जाता है। वे यहाँ कुछ पाने नहीं आये हैं महर्षि ! वे तो मात्र प्रदर्शन करने आये हैं। उन्हें सत्यान्वेषण तो करना नहीं है, तत्व को खोजना नहीं है। उन्हें तो अपने मत की प्रतिष्ठा कर दूसरे के मत का खंडन करना है। इसलिए जल्प में लगे रहते हैं। जो जल्प भी नहीं कर सकते, वे वितंडावाद करते हैं।”... (कोहली, महासमर 4,316)

उपरोक्त संवाद माला में धर्म का बहुत मार्मिक वर्णन है। स्वयं कृष्ण ऋषि से वार्ता में धर्म की बनावट-दिखावट-पाखंड और असत्य आचरण वाले धर्म के ठेकेदारों का भी वर्णन करते हैं। आज ऐसे गुरुओं की बहुतायत है, जो पाखंड को ही धर्म बनाने में लगे हैं। महज आडम्बर ही धर्म को परिभाषित करने का माध्यम बन गये हैं आज। मिथ्या बोलने वाले, मिथ्या आचरण वाले, मिथ्या राह पर ले जाने वाले, ही आज धर्म पद पर बैठ कर, जन मानस को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। आश्चर्य है कि ऐसे धर्म के ठेकेदारों बनाम गुरुओं का बोलबाला है। वर्तमान में रोज़ ही ऐसे पाखंडी साधू-सन्यासियों के चरित्र उजागर हो रहे हैं। सामयिक वर्तमान में तथाकथित धर्म के ठेकेदार, गुरुओं के बारे में न्यायपालिका ने समस्त आवरण हटा दिए हैं। आसाराम, रामपाल, राम रहीम आदि नकाबपोश गुरु हैं जिनके चेहरे अनावृत हो चुके हैं। यह सुखद है, कि ऐसे पाखंडी गुरुओं को आज न्यायपालिका ने कठोर कारावास की सजा का निर्णय दिया है। और वह सब जेल की सलाखों के पीछे हैं। कितना हास्यस्पद है कुछ गुरुओं का व्यवहार, एक बानगी देखें-किसी समस्या का हल पूछने पर वह कहते हैं— ‘समोसा के साथ चटनी खाने से कृपा बरसनी आरम्भ हो जायेगी।’ रचनाकार एक और स्थान पर ऐसे पाखंडी गुरुओं का उदाहरण देते हैं, जहां गंगा स्नान करने जाते कर्ण की राह में खड़े ब्राह्मण उसकी

जयजयकार करते हैं। महारानी कुंती इसे देखते हुए सोचती हैं कि, 'ये याचक गंगा तट पर आकर इस समय ईश्वर का स्मरण नहीं कर रहे थे, वे मनुष्य का जयजयकार कर रहे थे। उन्हें धन चाहिए था, और वह उन्हें कर्ण के माध्यम से ही प्राप्त होने वाला था।....मनुष्य की दृष्टि इतनी सीमित है, वह इतनी कम दूरी तक देख सकता है कि उसे केवल प्रत्यक्ष लाभ ही दिखाई पड़ता है।' कुंती मन ही मन इस बात पर हंस देती है, वह जानती है कि मनुष्य का मन अपनी जयजयकार सुन कर जितना पुलकित होता है, ईश्वर का मन नहीं होता होगा। ईश्वर में अहंकार नहीं है कि वह जयजयकार सुनकर प्रसन्न हो जाये और स्वर्णमुद्राओं की वर्षा कर दे।'..वह मनुष्य के शब्दों को नहीं सुनता, उसके मन को देखता है। तृष्णाहीन सात्विक मन की सारी आवश्यकताएं तो वह स्वयं ही पूरी कर देता है।' (कोहली, महासमर 7,294)

साथ ही साथ वार्ता का वास्तविक अर्थ भी समक्ष उपस्थित होता है। कृष्ण एवं ऋषि दोनों ही इस बात का अनुमोदन करते हैं। साकार ब्रह्म और उसके किन्हीं रूपों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण इस विषय को सूक्ष्मता से प्रस्तुत करते हैं। जिसमें जन साधारण को एक सन्देश-एक निर्देश सा देते हैं। रूप कितने भी हों सब में उस असीम ईश्वर के रूप हैं, जिसके किसी रूप को नकारा नहीं जाना चाहिए। हाँ यह अवश्य है कि मनुष्य की ससीमता उसे निराकार को समझने में सफल नहीं होने देती। किन्तु यदि मनुष्य अनुभव करने की क्षमता और कल्पना का उपयोग करे, तो सभी प्राणियों में उस असीम ईश्वर का दर्शन कर सकता है। सृष्टि का विराट रूप यही तो है। उस की असीम अनुभूति। यही तो अध्यात्म की पराकाष्ठा है, जिसे समझाने की कोशिश कर रहे हैं श्री कृष्ण। संवेदनात्मक तरीके से समझाते हुए कृष्ण स्वभाव के साधुवाद का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य चाहे तो साधू बनकर ईश्वर को अनुभव कर सकता है। यही वास्तविक धर्म है। और अध्यात्म की ओर ले जाने वाला साधू आचरण। इस विषय पर जितना अधिक चिंतन किया जाये, उतना इस विषय की सूक्ष्मता उजागर होती जाती है, और धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता पर से मिथ्या आवरण उतरते जाते हैं।

## साधुवाद-धर्म एवं न्याय मार्ग

साधुवाद का भी एक बहुत सूक्ष्म तथ्य है। लोक रक्षा के साथ साथ स्व-रक्षा। यदि दुष्ट आक्रामक है और धर्म की बात है, तो धर्म स्थापना का प्रथम-चरण है दुष्ट-दलन। पापी को दण्डित करना। इसलिए युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय कृष्ण शिशुपाल का वध धर्म सम्मत ठहराते हैं। और यही महात्मा विदुर धूत के समय धृतराष्ट्र को परामर्श देते हैं। वे कहते हैं कि यदि अनैतिक एवं अधर्मी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता तो उसे त्याग अवश्य देना चाहिए। (कोहली, महासमर 4,333)

कैसा नीतिपूर्ण दृष्टान्त है। हो सकता है कुछ मानवता वादी इस तथ्य के विरोध में स्वर उठाएँ। शिशुपाल का वध क्यों किया गया ? उसे अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता थी? हस्तिनापुर का दुर्योधन-शकुनि धूत प्रकरण भी किन्हीं मानवतावादियों का विरोधी स्वर उठा सकता है। किन्तु शास्त्र सम्मत तथ्य तो यही कहता है— ‘जहाँ धर्म है, न्याय है, नैतिक आचरण है, मर्यादा है, वहीं विजय की पताका फहरनी चाहिए। यही है न्याय-मूल्य का अर्थ।

इसी तथ्य का अनुमोदन ऋषि मैत्रय करते हैं। युधिष्ठिर धर्म हेतु सर्वस्व त्याग की बात कहते हैं तो ऋषि का मत है कि, “धर्म की रक्षा कभी त्याग से होती है, कभी दुष्ट दलन से। मैं यह नहीं कहता कि शांति बनाये रखने के लिए, तुम अन्याय और अत्याचार के सन्मुख सर झुका दो। यदि भीम ने किर्मीर का वध कर शान्ति स्थापित की है तो संभव है कि कल तुम्हें दुर्योधन का वध कर, शांति स्थापित करनी पड़े। अन्याय शांति स्थापित नहीं करता, मात्र दमन करता है; इसलिए अनेक बार युद्ध शांति स्थापित करता है। .. क्षत्रिय के तेज में ईश्वर का निवास है। तेज अन्याय को सहन नहीं करता।..यदि दुर्योधन को अबाध राज्य करने दिया गया तो प्रजा व्याघ्र के बाड़े में घिरे हुए पशुओं के समान हो जाएगी। उस प्रजा की रक्षा तुम्हें ऐसे ही करनी है, जैसे तुमने इस वन के तापसों और वनचरों की, की है।..अत्याचारी के शव से बहा हुआ रक्त, पृथ्वी को पवित्र करता है। तुम

अत्याचारियों का नाश कर धर्म की रक्षा करोगे; इसलिए तुम्हारी रक्षा के लिए तपस्वी समाज सजग है।” (कोहली, महासमर 5,31)

महासमर इस तथ्य का दस्तावेज़ है कि जहाँ धर्म है, नीति है, वहाँ समस्त सात्विक शक्तियाँ उसे बल देने के लिए परोक्ष-अपरोक्ष रूप से एकत्र हो जाती हैं। तभी तो पांडवों की प्रहारक शक्ति को बढ़ाने के लिए महिषी वेदव्यास ने अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर भेज दिया; धूत से रक्षा करने के लिए ऋद्धि उन्हें धूत रहस्य दे गये; असुरक्षित पांडवों की दुर्योधन के सैन्य बल से रक्षा करने के लिए लोमश ऋषि उन्हें सुरक्षित स्थानों पर ले जाने में सहायक बने ... यह सब सात्विक शक्तियों की और ईश्वरीय लीला ही तो है। धर्म का मार्ग जटिल अवश्य है किन्तु सत्य और आस्था से परिपूर्ण। जहाँ एक बार विश्वास से यदि कदम बढ़ा दिया जाये तो आत्मबल डोलता नहीं।

इस बात के कई विरोधाभासी तर्क हो सकते हैं। जैसे धर्म का तत्काल तो कोई प्रसाद मिलता नहीं। बहुत बार ऐसा भी होता है, कि परिणाम अत्यंत दुखद होता है, समय का बीतते जाना और अत्यन्त विलम्ब होना भी मनोबल को क्षीण करता है। किन्तु जिसने एक बार धर्म का आश्रय ले लिया उसकी आस्था को तोड़ना भी उतना संभव नहीं। जीवन को धर्म अनुसार चलाना एक दुरुह कार्य नहीं तो थोड़ा कठिन तो है ही। धर्म की सूक्ष्मता को समझे बगैर उस राह पर चलने से, संभवतः कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। महासमर के मुख्य पात्र-धर्मराज युधिष्ठिर, जिन्हें स्वयं धर्म का स्वरूप-धर्मराज कहा जाता है। उनके कृत्यों में कितना धर्म है ? पितामह भीष्म की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में कहाँ धर्म पल्लवित होता है, और कहाँ आहत होता है। इसका बहुत महीन विवरण कृष्ण की धर्म व्याख्या में स्पष्ट होता है। कहीं-कहीं मनुष्य स्वयं कर्ता होता है और कहीं-कहीं दृष्टा मात्र। व्यक्ति को लगता है कि वह धर्म के मार्ग पर है। वह उन स्वीकृत मान्यताओं के अनुसार ही आचरण करता है, जो लोकमान्य हैं, और उसे ही पूर्णकाम समझता है। किन्तु जब कृष्ण विश्लेषणात्मक दृष्टि से धर्म की व्याख्या करते हैं, तो वास्तविक अर्थों में धर्म का मर्म समझने में सुविधा होती है।



महासमर में एक महवपूर्ण प्रसंग है-धृत् के पश्चात् पांडवों के बनवास गमन का। श्रीकृष्ण पांडवों से मिलने आते हैं। द्रौपदी विकलता से अपने सयंम को त्याग कर रो देती है। वह कुद्ध है-अपनी स्थिति से, वह रुष्ट है- अपने पतियों से, वह दुखी है-अपने अपमान से, वह आहत है-धर्म सभा में हुए अधार्मिक कृत्य से, वह अत्याचारियों के प्रति प्रतिशोध भाव से पूर्ण है। कृष्ण के दिलासा देने के उपरांत भी उसकी मनोस्थिति विकलता से पूर्ण है। कृष्ण के कहने पर कि धर्म उन पापियों को कभी क्षमा नहीं करेगा। वह उत्तेजित होकर धर्म का नाम भी न लेने को कहती है। उसकी आस्था धर्म से उठ गयी है। वह अपने धर्मरूप पति युधिष्ठिर को इंगित करते हुए कहती है कि धर्म के लिए धर्मराज ही बहुत हैं। उसके अपमान के समय धर्म के प्रश्न पर चुप बैठे धर्मराज से उसे अत्यंत शिकायत है। स्त्री के चीरहरण के वक्रत वह धर्म चिंतन करते रहे। और बड़ी बात यह है कि आज भी वह क्षमा को प्रतिशोध से अधिक वरेण्य मानते हैं। कैसे वह उस अपमान को भूल सकती है। वह द्रौपदी जो धृष्टधुम्न के समक्ष यह तर्क रखती है कि धर्म हेतु हथियार न उठाना भी कभी कभी औचित्यपूर्ण होता है, वही कृष्ण के सामने धर्म के प्रति अनास्था से भर उठती है। ऐसी अपमान और त्रास से भरी परिस्थिति को झेलने के पश्चात् किसी नारी की और क्या स्थिति हो सकती है ? आज के समाचारों से ज्ञात होते, नित नये निर्भया काण्ड इसका ज्वलंत उदाहरण हैं। यत्र-तत्र बिखरे समाज के विकृत अपराधी अपने दुष्कृत्यों से समाज और नारी को अपमानित करने से चूकते नहीं। कृष्ण से यही पीड़ा युधिष्ठिर भी सांझी करते हैं। युधिष्ठिर यह जानते हैं कि भीम और द्रौपदी उन्हें दोषी मानते हैं, और अपने हालात का उतरदायी उन को ही मानते हैं। ऐसी परिस्थितियों में युधिष्ठिर स्वयं को विवश पाते हैं। वे कहते हैं कि उनका आचरण धर्म के अनुरूप था। वे पिता तुल्य धृतराष्ट्र के आमंत्रण को मना नहीं कर सकते थे।

अपने अपमान से त्रस्त द्रौपदी अत्याचार को भूलने में असमर्थ है। कृष्ण सांत्वना देते हैं कि इस दुष्कृत्य को न धर्म भूलेगा न प्रकृति। किन्तु द्रौपदी के मन का हाहाकार उसे किसी पर भरोसा नहीं करने देता। वह उस भयंकर दृश्य को

विस्मृत करने में असमर्थ है। उसके मन की प्रतिहिंसा उसे चैन नहीं लेने देती। कृष्ण उसे समझाते हैं कि यह मानव धर्म नहीं है। किन्तु द्रौपदी को कौन समझाए! उसका हृदय विनाश की कल्पना से ओतप्रोत है। युधिष्ठिर भी इस सब से कुंठित हैं। वह कृष्ण से कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में सब के मन में धर्म के प्रति या तो वितृष्णा है या विश्लेषण। वह स्वयं को परखते हैं, तो पाते हैं, कि उन्होंने कोई अधर्म नहीं किया। किन्तु उन्हें दोषी मानने के बावजूद भी, अन्य पांडव और द्रौपदी उन्हें अपने धर्म के कारण न उन्हें त्यागते हैं न दण्डित करते हैं। विडम्बना यह है कि युधिष्ठिर को न ही निर्दोष समझते हैं।

समस्त वार्तालाप को कृष्ण सुनते हैं, और समझते हैं, वह उनके कष्ट से द्रवित भी हैं। धर्म और उसके कारण जो भी परिणाम हो, उसका क्या असर होता है? उसे समझने के लिए बेहद संवेदनशील व्याख्या की आवश्यकता है, जो कृष्ण आगे पांडवों को समझाते हैं। कृष्ण के एक एक शब्द में धर्म का वास्तविक तथ्य एवं सत्य छुपा है, वे कहते हैं, ..“इस सबसे कहीं तुम सब इस निष्कर्ष पर तो नहीं पहुंचे कि धर्म पर चलना सदा दुखदायी है ? अतः धर्म दुःख का राजमार्ग है ? धर्म पर चलना व्यर्थ है अतः धर्म को तुरंत तिलांजलि दे देनी चाहिए।..असफल और निराश व्यक्ति अपनी भूल और सीमा को समझने का प्रयत्न करने के स्थान पर धर्म को दोष देने लगता है।”..(वह युधिष्ठिर से पूछते हैं) “धूत आपका व्यसन तो नहीं है न ? आप धूत में इतने आसक्त तो नहीं हैं कि निमंत्रित होने पर आप स्वयं को अनुशासित न कर पायें; और सत-असत, धर्म-अधर्म का विवेक ही आपको न रहे? ..मेरे मातुल और आपके पितृत्व धृतराष्ट्र में क्या अंतर है ? कंस ने मेरे पिता के सारे अधिकार और धन संपत्ति छीनकर, उन्हें कारागार में डाल दिया। धृतराष्ट्र ने युक्तियों से आपके पिता को हस्तिनापुर से बाहर रखा और उनका राज्य हथिया लिया। कंस ने मेरे भाइयों को जन्म लेते ही मार डाला; धृतराष्ट्र ने आप लोगों को मार डालने के सारे प्रयत्न किये। यह आप लोगों का सौभाग्य था कि आप बच निकले।..आपको धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर में बुलाया, आप गये। कंस के निमंत्रण पर मैं भी मथुरा गया था। धृतराष्ट्र के आदेशानुसार आप धूत में सम्मिलित हुए और

अपना सर्वस्व हार गये। मैं कंस के आदेशानुसार उसके मल्लों से लड़ा और मैंने मल्लों का ही नहीं, कंस का भी संहार कर दिया। क्या यह अधर्म था?.... “और आप क्या कर रहे हैं धर्मराज! धृतराष्ट्र ने मनमाने नियमों में बांधकर, आपका सर्वस्व हरण कर लिया और कृष्णा का सार्वजनिक रूप से अपमान किया। आप यह सब देखते रहे और समझते रहे कि आप धर्म की रक्षा कर रहे हैं, अतः धर्म आपकी रक्षा करेगा। नहीं धर्मराज ! यह धर्म नहीं है। मैं वहां उपस्थित होता तो धूत को रोक देता, चाहे मुझे बल प्रयोग क्यों न करना पड़ता। वे न मानते तो मैं सारे धार्तराष्ट्रों का वध कर देता। इस प्रकार अपमानित और वंचित होना धर्म नहीं है।”...“सम्राट ! धर्म का मर्म अत्यंत सूक्ष्म है। किसी विशेष सन्दर्भ में मानवों के किसी समाज विशेष के द्वारा, अपनी रक्षा और कल्याण के लिए बनाये गये नियम प्रकृति का धर्म नहीं हैं। मानव निर्मित जड़ नियम सृष्टि का सत्य नहीं हैं;..धर्म की गति अत्यंत सूक्ष्म है। अपने परिवार और उसके हितों की रक्षा, धर्म है या नहीं?..जैसे श्री राम ने पिता की आज्ञा का पालन किया था। और परिवार की शांति ही नहीं, राक्षसों के विनाश के लिए भी उन्होंने राज्य का त्याग किया था; किन्तु चित्रकूट में नौ माँस ठहर कर यह भी देखा था कि अयोध्या में किसी के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा।..राम जानते थे कि सुग्रीव को बाली के हाथों मरने से बचाना धर्म था, अतः उन्होंने उसकी रक्षा की, चाहे उन्हें सुग्रीव और बाली के द्वंद युद्ध में हस्तक्षेप ही करना पड़ा। प्रसंग इस प्रकार है—तुलसी कृत रामचरितमानस के किष्किन्धा कांड में बाली राम का बाण लगने पर राम को कहते हैं —

“धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।।

मैं बैरी सुग्रीव पियारा। अवगुण कवन नाथ मोहि मारा।।”

यह प्रश्न आम जन जो कभी न कभी अन्याय के साथ अविचार होकर खड़ा है, वह अवश्य करेगा। विरोध के स्वर तथाकथित मानवता वादी भी पक्ष विपक्ष को विचारे बगैर करते ही हैं। किन्तु समझने वाली बात है कि धर्म क्या है ? किसका साथ देना है, यह कर्म पात्र और काल निर्धारित करता है।

अब राम बाली को न्याय और धर्म की बात कहते हुए उत्तर देते हैं-

“अनुज बधू भगिनी सूत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ।।

इन्ही कुदृष्टि बिलोकई जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ।।”

(तुलसीदास)

अर्थात्—पापचारी को दंड देना, न केवल प्रकृति का विधान है, वरन सज्जन पुरुष भी उसी न्याय के पक्ष में खड़ा होता है ।

जब दो आत्म विरोधी धर्म आमने-सामने खड़े हो जाएँ, तो उनमें से एक का चुनाव विवेकपूर्वक करना पड़ता है । जब राम अपने कृत्य का तर्क औचित्य पूर्ण ढंग से स्थापित करते हैं तो युधिष्ठिर के लिए द्रौपदी की सुरक्षा भी आवश्यक थी ।

कृष्ण युधिष्ठिर को कहते हैं, ‘अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा करना आपका धर्म था कि नहीं?..ऐसे ही अपनी पौत्रवधू के सम्मान की रक्षा करना पितामाह का धर्म था कि नहीं ?...किन्तु आप दोनों ने ही धर्म के मर्म को नहीं पहचाना । धर्म का एक मार्ग तपस्या और त्याग भी है; किन्तु तपस्या का परिणाम भी सामाजिक हित ही होना चाहिए । आप अपने धर्म पर टिके रहें और आपके सन्मुख एक स्त्री का अपमान होता रहे—यह समाज धर्म नहीं हो सकता । आपको अपने धर्म में से व्यक्ति-तत्व निकल कर, समष्टि-तत्व डालना होगा । उसमें जनहित का योग भी करना होगा; अन्यथा वह धर्म न होकर आत्मदाह हो जायेगा ।..आप और पितामाह दोनों देखते रहे, आपके और समाज के हित और कल्याण का दाह हो रहा है, किन्तु आप लोग व्यक्तिगत तपस्या को वक्ष से चिपकाए, अन्याय को खुली आँखों से देखते रहे ; और उसे न्याय मानते रहे । नारी का अपमान धर्म कैसे हो सकता है? किसी के सर्वस्व के अपहरण में, किस को वंचित करने में धर्म कैसे हो सकता है?. आप लोग धर्म के बंधन में बंधे रहे; धर्म बांधता नहीं मुक्त करता है । जो बांधता है, वह मोह है, धर्म नहीं !..भीष्म धर्म को सबसे अधिक जानते हैं और वे ही सब से अधिक बद्ध जीव हैं । वे अपनी इसी धर्म बुद्धि के कारण, सदा पाप और अन्याय के उपकरण बनते चले गये ।

कैसी अद्भुत है न धर्म की सूक्ष्म विवेचना ! समान्यतः मनुष्य जानते हुए भी कितने अनजान सा होकर जीवन व्यतीत करके चला जाता है। क्यों कहा कृष्ण ने कि भीष्म पाप ओर अन्याय के उपकरण बनते चले गये। कैसे कोई व्यक्ति जो धर्म का पर्याय हो, जो स्वयं साधना में रत हो, उसका आचरण धर्म की अवहेलना कहा जा सकता है। किन्तु इसका विश्लेषण जब श्री कृष्ण के मुख से सुनते हैं, तो कहीं चेतना उद्वेलित होकर मानने को तत्पर हो उठती है, कि वास्तविक धर्म कुछ और भी मांग करता है। गीता के उपदेश को संसार को देने वाले, कृष्ण से अधिक धर्म को कौन समझा सकता है। युधिष्ठिर को पितामह के प्रति कहे गये कृष्ण के कठोर वक्तव्य पर आश्चर्य है। उसकी जिज्ञासा को शांत करते हुए, श्रीकृष्ण भीष्म के भीषण व्रत-त्याग एवं उनके धर्म की समझ के लिए कहते हैं कि, “जिस समय निसर्ग-नियम से उन्हें स्वयं विवाह करना चाहिए था, उस समय उन्होंने युवती स्त्री से अपने वृद्ध पिता का विवाह करवाया। उसी क्षण से कुरुकुल में सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। उन्होंने पितृ-भक्ति की तपस्या को, अपने जीवन का लक्ष्य मान लिया। वह एकांगी सत्य था; जीवन का समग्र सत्य नहीं। वह उनके व्यक्तिगत उत्थान के लिए साधना हो सकती है; किन्तु समाज का सम्यक धर्म नहीं। एकांगी धर्म, समग्र धर्म नहीं होता। यदि व्यक्ति सावधान न हो तो, एकांगी धर्म अनेक बार अधर्म और पाप का उत्स बन जाता है। पितामह ने अपनी व्यक्तिगत साधना के सन्मुख लोकधर्म तथा राजधर्म की अवहेलना की।..यदि उन्हें आश्रम-धर्म के अनुसार जीवन-यापन नहीं करना था, तो सन्यास ग्रहण कर, वनवास करते तो भी शायद जन सामान्य की इतनी क्षति नहीं होती। क्या नीति है उनकी ? शासन के केंद्र में रहेंगे; और शासन सूत्र अपने हाथ में नहीं लेंगे; शासन तंत्र अधर्म करेगा तो उसका प्रतिवाद नहीं करेंगे?..उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि उनका सारा प्रयत्न शासन की रक्षा के लिए होगा चाहे शासन कितना ही अत्याचारी क्यों न हो।...दुर्योधन के सबसे बड़े सरंक्षक आज स्वयं भीष्म ही है।”

कितना कठोर विवरण है पितामह भीष्म के धर्म आचरण का ! किन्तु ऐसा कृष्ण कह रहे हैं, तो विचारणीय है। अर्जुन एवं युधिष्ठिर की पारम्परिक धर्म

विचारधारा उन्हें भीष्म के विरुद्ध कुछ मानने को तैयार नहीं। वे उनकी धर्म के प्रति आस्था की बात कहते हुए, कृष्ण को तर्क देते हैं, पितामह की आस्थाएं कृष्ण से भिन्न हो सकती हैं। किन्तु वह अपने धर्म के प्रति, अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति पूर्ण आस्थावान हैं, अपनी पूरी निष्ठा से उसपर आचरण करते हैं। अपना यौवन अपने पिता के लिए समर्पित करने वाले पितामह का पक्ष लेते हुए पांडवों को इस तथ्य को समझ पाने में कठिनाई का अनुभव होता है। क्योंकि उनके अनुसार धर्म का रूप पितामह का आचरण बहुत अनुकरणीय है।

सत्य ही है, उपरोक्त विश्वास और आस्था का होना भी ! किन्तु इसकी सूक्ष्मता को कृष्ण की पारखी नज़र से जब समझते हैं, तो कोई और ही सत्य समक्ष आ उपस्थित होता है। युग एवं काल के परिवर्तन स्थितियों और घटनाओं का रूप बदल देते हैं। इसलिए कृष्ण उन सभी मान्यताओं पर पुनर्विचार का परामर्श देते हैं। उनके अनुसार, “पूर्व-मान्यताओं और आस्थाओं से मेरा कोई विरोध नहीं है। ..किन्तु पूर्व-मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाना भी सीखना चाहिए। उन मान्यताओं का परिणाम भी देखना चाहिये।..कौरवों की राजसभा में जो कुछ हुआ, उसके पश्चात् भी क्या पितामह यह देख नहीं पा रहे कि अपनी जिस मान्यता को वह धर्म माने बैठे हैं, वह धर्म है या अधर्म ! व्यवस्था के भीतर रह कर ही नहीं, कभी व्यवस्था का अतिक्रमण कर के भी सोचना चाहिये।.. उन्होंने जिन मान्यताओं को एक बार अपने धर्म के रूप में ग्रहण कर लिया है, वे उन्हीं को जीवन का सत्य और धर्म का मर्म मानेंगे। ..उनकी मान्यताओं के परिणामस्वरूप हो रहे अधर्म को देखते हुए, हम यह तो कहेंगे ही, कि वह स्वयं चाहे कितने ही धर्मात्मा हों; किन्तु उनके धर्म के कारण अब पाप का पोषण होने लगा है; और वे स्वयं उसका उपकरण बन रहे हैं।” (कोहली, महासमर 5,90)

धर्म को इससे अधिक उत्तमता एवं सूक्ष्मता से नहीं समझा जा सकता। कृष्ण के अनुसार विवेकी मनुष्य ज्ञान से अपने अधर्म एवं अज्ञान के बंधन काटता है। किसी के वन्द्यायुक्त, स्वार्थपूर्ण आदेशों को मानना धर्म नहीं। मोह को त्यागना ही अनासक्त धर्म का ध्येय है। तपस्या करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट होना ही चाहिए

कि धर्म अनासक्त विवेक का ही दूसरा नाम है। तपस्या व्यक्तिगत सत्य है; किन्तु धर्म सामूहिक सत्य होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि विवेक के विकास से मोह एवं अज्ञान के बंधन अवश्य टूट जाते हैं। धर्म का वास्तविक उद्देश्य मानव कल्याण है; यदि व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ एवं स्व-उत्थान के लिए त्याग करता है तो उससे मानव के कल्याण का कोई सम्बन्ध नहीं। अतः परिणाम के अनुसार ही धर्म की विराटता एवं सूक्ष्मता को समझना होगा। यदि परिणाम शुभ नहीं तो व्यक्ति को अपनी धर्म व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, और समाज-व्यवस्था को निर्भीकता से पुनः विचारना चाहिए। यही विचार एवं परामर्श महात्मा विदुर ने भी युधिष्ठिर को दिया था कि यदि शासन की नीतियों में किन्हीं न्यायिक एवं धर्मतः सुधारों की आवश्यकता हो तो उन पर पुनर्विचार अवश्य करना चाहिए। चाहे उन्हें शासन एवं परिवार के पूज्य व्यक्ति ने बनाया हो। परामर्श और पुनर्विचार से रूढ़ मान्यताओं को कल्याणकारी बनाया जा सकता है। स्मरण रहे उपन्यासकार बदलते समय के साथ साथ न केवल परिवर्तन की आहट का इशारा कर रहा है, वरन उसे अपना कर समयानुसार मूल्यों सर्व-कल्याणकारी और न्यायपूर्ण पुनर्विचार का भी परामर्श दे रहा है।

विडम्बना यह है कि धर्म पूर्ण आचरण का फल तुरंत नहीं मिलता। पांडवों का वनवास, उनका सर्वस्व छिन जाना, दर-दर की ठोकर खाना; सामान्य जन की, इस आस्था पर अविश्वास की पुष्टि करता है, कि धर्म से व्यक्ति की रक्षा नहीं होती। किन्तु सत्य यह है कि प्रकृति अपने समयानुसार फल देती है। यह वो बीज हैं जो बीजा जाता है और पृथ्वी की उर्वरता के अनुसार ही फलीभूत होता है और उसे रोक नहीं सकता कोई। हाँ सयंम और धैर्य तो समय की मांग है ही। प्रकृति की योजना अत्यंत विराट है वह समग्रता से कर्म को देखती और उसका फल देती है। अतः धर्म पूर्ण आचरण का अर्थ सामयिक हो न हो उसका फल भविष्य के काल का उत्तर अवश्य है। बस व्यक्ति को अपने कर्म की उत्तमता पर ध्यान देना चाहिए उसके परिणाम पर नहीं, उसकी चिंता प्रकृति एवं धर्म स्वयं करता है। अतः वास्तविक धर्म आचरण में है। व्यर्थ दिखावटी कर्मकांडों में नहीं।

अध्यात्म भी यही कहता है कि वास्तविक धर्म शांति में है जिसमें विश्व बंधुत्व का भाव हो। त्रिगुणात्मक प्रकृति में, तामसी और राजसी गुणों पर विजय पाने वाला व्यक्ति ही सात्विक राह पर अग्रसर होता है। किन्तु यदि उस राह पर तामसी शक्तियां अन्याय करने को तत्पर हों तो धर्म का अर्थ त्याग नहीं ग्रहण हो जाता है। यह सत्य है, कि शांति युद्ध से श्रेष्ठ है किन्तु यदि शांति प्रियता की आड़ में अन्याय को बल मिले तो युद्ध की अनिवार्यता को नकारना नहीं चाहिए। अतः तामसी त्याग से सात्विक ग्रहण सदैव श्रेष्ठतर है। इस बात के मर्म को जानने की आवश्यकता है।

त्याग के साथ व्यक्ति, स्वयं के मोह एवं अहंकार के कारण सुख की कामना भी करने लगते हैं। वास्तव में त्याग सात्विक है, तामसी अथवा राजसी किसी ग्रहण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सामान्यतः ऐसा माना जा सकता है कि समस्त अन्याय के विपरीत दुर्योधन को सत्ता सुख और सब कुछ त्यागने के बाद पांडवों को वनवास का दंश झेलना पड़ा। पर यह सत्य नहीं ! महासमर का एक मुख्य पात्र हैं माता कुंती! उनके अनुसार सुख की परिभाषा ही अन्यत्र हो जाती है। कहती हैं, “मेरे पुत्रों से जो छिना, वह उनका सुख नहीं था। वे उनकी सुविधाएँ थीं। उनका सुख उनके धर्म में था, इसलिए उन्होंने अपने धर्म का पालन किया। कुछ लोगों के अनुसार सुविधा ही सुख है। जिसके पास जितनी सुविधाएं हैं, वह उतना ही सुखी है।” (कोहली, महासमर 6,42)

साधारण जन के लिए यह एक हैरानी की बात है। सुविधा और सुख की सोच को धर्म के धरातल पर जानना। सुविधा है अथवा नहीं इस बात का धर्म से क्या वास्ता? किन्तु इसके गूढ़ रहस्यों पर से आवरण उठाते हुए माता कुंती, अपमान ओर अन्याय की पीड़ा को दुःख का कारण बताती है। त्याग तो सुविधा का है। जिसका जीवन में आवश्यकता के समय श्रेय है। अन्यथा सुख न तो पदार्थ में है, न पदार्थों के स्वामित्व में। ... सुख तो न अहंकार की वृद्धि में है, न उसको धारण करने में है। किसी को हीन समझ कर जो तुष्टि मिलती है, वह वास्तविक सुख नहीं है। वह सुख का भ्रम मात्र है। क्योंकि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं उसके लिए



अन्य का अस्तित्व भी तो अनिवार्य है। दुर्योधन एवं उसके भाइयों की पत्नियों को समझाते हुए माता कुंती इस तथ्य पर बल देती हैं कि, “मन में सात्विकता न हो, तो संपत्ति, सुविधाएँ तथा अधिकार, किसी को सुख नहीं दे सकते।” विदुर एक राज्य के शासनाध्यक्ष हैं, उनका उदाहरण देते हुए पुनः माता कुंती का कथन है कि, “विदुर की जीवन शैली देखी कभी तुमने ! वे हस्तिनापुर जैसे विराट राज्य के महामंत्री होते हुए भी, वैभव का नहीं, साधना का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनका घर प्रसाद न होकर एक तपस्वी का आश्रम जैसा है। गंगा के तट पर एक आरण्यक रहता है वहाँ, जो साम्राज्य की नीतियाँ भी निर्धारित करता है, ताकि उसके माध्यम से एक सात्विक और सुखी जीवन जीना संभव हो, राज्य संपन्न हो, और साधारण नागरिक समृद्ध हो। समृद्धि ईर्ष्या का कारण न बने, ईश्वर को प्राप्त करने का साधन बने।” (कोहली, महासमर 6,12)

अद्भुत है, धर्म का यह पक्ष। समृद्धि हो किन्तु ईर्ष्या का कारण न बने। ईश्वर प्राप्ति का कारण बने। सुख सुविधा से नहीं संभव। शांति से संभव। कैसे रहस्य खोलते से तथ्य हैं जो धर्म का मर्म तो बताते ही है, साथ ही आध्यात्म के रहस्यों से भी आवरण उठाते जाते हैं। क्या है और-मोक्ष को पा जाना ! मुक्ति के मार्ग पर चलना ! सुख और सुविधा की परिभाषा कितनी सटीक है। न्याय और अन्याय के वास्तविक स्वरूप का सौन्दर्य कितना अद्भुत है। अन्याय दुःख का कारण हो सकता है, अभाव नहीं। सुख का कारण सुविधा नहीं, शांति है।

## धार्मिक आचरण से मोक्ष प्राप्ति

जीवन के चार आयाम कहे जाते हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। धर्मानुसार जीवन का आचरण, अर्थ उपार्जन की दिशा-धर्मानुसार, सीमित-मर्यादित काम पूर्ति एवं अंततः मोक्ष की प्राप्ति। यही भारतीय संस्कृति का मूल है। प्रश्न कितना भी बड़ा हो यदि मनुष्य की मेधा उसके नियंत्रण में हैं, वह धर्म के सात्विक तत्व को समझता है, तो बिना भटके अपने कर्तव्य को पहचान सकेगा। किन्तु स्वार्थ और अधर्म में घिरा मनुष्य कितने भी प्रयास कर के लोभ-माया के इस भवंर से निकलना तो दूर

सोचना भी नहीं चाहेगा। संस्कार मनुष्य को नैतिक आचरण की ओर सदैव अग्रसर करता है और लोभ मनुष्य का स्वार्थ उसे हरदम सशंकित करते हुए बैचैन करते हुए तुटियों की ओर ढकेलता है। आश्चर्य तब है जब वह इसे अपनी सफलता मानता है। दुर्योधन अपने आचरण को साधना नहीं चाहता। युधिष्ठिर की उच्चता उससे सहन नहीं। वह वो सब कार्य करना चाहता है, जो युधिष्ठिर जैसा सम्राट बनने के लिए किया जा सके, किन्तु असफलता उसे बार बार धता देती है।

इस सम्बन्ध में एक प्रकरण है..(महाभारत) युद्ध की अनिवार्यता अब किसी भी तरह रोकनी नहीं जा सकती। अलग अलग राज्यों से सेनाओं की सहायता मांगी जाने लगी है। दोनों पक्ष अपने सैन्य बल को बढ़ाने के प्रयत्नों में लगे हैं। इसी लिए अर्जुन और दुर्योधन कृष्ण के पास उसके सैन्य बल के लिए सहायता प्राप्त करने हेतु जाते हैं। कृष्ण शैया पर सोये हैं, जागने पर अर्जुन को अपने समक्ष पाते हैं, तो दुर्योधन भी अपने वहां होने के कारण कृष्ण का ध्यान आकृष्ट करता है। अर्जुन के इस कथन का कि वो चकित था, कि कृष्ण इस बेला तक सोये रहे, क्योंकि कृष्ण के जैसा कर्म योगी, इस प्रकार अकर्म से प्रीति नहीं कर सकता। ..कृष्ण कहते हैं कि, 'अज्ञान के तिमिर में नयन खुल भी जाएँ, तो वह जागरण नहीं होता धनञ्जय ! जागरण के लिए तो ज्ञान के सूर्य की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।' कितना सटीक वाक्य है। ज्ञान द्वारा अज्ञान के तिमिर के तिरोहित होने का। ज्ञान का चरम आगे के प्रकरण में और गहराता है।

दुर्योधन युद्ध के लिए कृष्ण के सैन्य बल की आकांक्षा से आया है। एवं अर्जुन भी सहायता के निमित्त उपस्थित हुआ है। दोनों की मंशा जान कर कृष्ण दोनों को मांगने को कहते हैं किन्तु पहले अवसर अर्जुन को देते हैं क्योंकि कृष्ण के अनुसार पायताने बैठे अर्जुन को कृष्ण ने आँख खुलने पर पहले देखा अतः मांगने का अधिकार उसका पहले है। दुर्योधन के तर्क देने पर कि चाहे मांगने का अधिकार पहले अर्जुन को दिया है किन्तु सहायता उसे भी देनी होगी क्योंकि वह भी सम्बन्ध से से उसका मित्र और सम्बन्धी है। कृष्ण कहते हैं कि, "मैंने यह तो नहीं

कहा कि मैं तुम्हारी सहायता नहीं करूंगा।..मैं सहायता के दो भाग कर देता हूँ और अर्जुन को उसमें से एक भाग चुन लेने का अधिकार देता हूँ। दूसरा भाग तुम्हारा होगा।..तुम उसे अन्यायपूर्ण नहीं कह सकोगे। .. मेरे पास बलिष्ठ गोपों की एक विशाल सेना है, जिसके सेनापति मेरे बड़े भाई बलराम हैं। वह सेना एक ओर रहेगी उसमें मैं अथवा बलराम भैया सम्मिलित नहीं हूँ। दूसरी ओर मैं रहूँगा। अकेला मैं। ... किन्तु मैं युद्ध नहीं करूँगा। शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा। अर्जुन चुनाव का अधिकार तुम्हारा है। सोच समझ कर निर्णय करो। तुम्हें क्या चाहिए—कृष्ण अथवा सेना ? निःशस्त्र कृष्ण अथवा बलिष्ठ गोपों की सशस्त्र नारायणी सेना ? जो चाहिए, चुन लो।” (कोहली, महासमर 7,118)

मांग स्पष्ट है, चुनाव दुरूह। क्या करेगा अर्जुन? और क्या निर्णय होगा दुर्योधन का? अर्जुन कशमकश में है, क्या चाहते हैं कृष्ण ? कितना पारदर्शी है उनका इशारा ! और क्या चाहिए ही ! एक तुच्छ युद्ध लड़ने के लिए कृष्ण का त्याग! नहीं ? क्या उसे संसार चाहिए ? या उसे कृष्ण चाहिए ? संसार का मोह कृष्ण से दूर कर सकता है। दुर्योधन जैसे कीट को परास्त करने के लिए कृष्ण का त्याग क्यों किया जाए ? एक युद्ध का, एक राज्य का क्या महत्व है—कृष्ण के आगे? जिसे पाने की तपस्या की अंततः उसे कैसे त्याग दिया जाए ? जय पराजय का कृष्ण के आगे क्या महत्व ?

दूसरी ओर दुर्योधन भी तो कशमकश में है ! उसकी विचार प्रक्रिया भी द्रुत गति से चल पड़ी है ! ‘यह कृष्ण ने क्या किया ? यह कोई सामान विभाजन है ? वह निशस्त्र कृष्ण का क्या करेगा ? कहीं अर्जुन ने नारायणी सेना मांग ली तो, उसका क्या होगा ? यह पक्षपातपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण विभाजन है। यदि ऐसा हुआ तो कैसे स्वीकार करेगा इसे ?

दो व्यक्ति हैं, दो मनः स्थितियां, किन्तु परिस्थिति एक ही है ! यही तो चुनाव है जीवन की सत्यता का, सात्विकता का! कहाँ कोई संशय है ? किन्तु दो पक्ष है देवत्व का एवं आसुरत्व का। कौन क्या चुनता है, यह उसकी स्व-वृत्तियां ही निर्णीत

करती है। अब यही प्रश्न सांसारिक व्यक्ति को सेना के चुनाव की ओर तत्परता से बढ़ाती है। और अर्जुन जैसे व्यक्ति को किसी गहरी सात्विक कंदराओं में कृष्ण की खोज में व्यस्त कर निर्णय करने को निर्देशित करती हैं। वास्तव में यही ईश इच्छा है। अर्जुन कृष्णमय ही है, कृष्ण को कृष्ण से मांगता है। स्वयं को मोह से मुक्त महसूस करता है। अपने भीतर सत्य का उजास भरता से महसूस करता है। जीवन को निर्देशित किया जैसे, वैसे ही युद्ध में भी निर्देशित करे ऐसी निर्णय बुद्धि ने अर्जुन को सत्व की ओर बढ़ा दिया।

कैसे कर सकता है कोई यह चुनाव ! सात्यकि के चरित्र द्वारा रचनाकार इस तथ्य की और विवेचना करते हैं। अध्यात्म की राह और किसे कहते हैं ? सात्यकि स्तब्ध है। पांडवों के सर पर आये युद्ध पर और उनके नारायणी सेना के विपरीत, कृष्ण चुनाव पर। वह दुविधा ग्रस्त है। क्यों किया पांडवों ने ऐसा चुनाव ? उन्हें कृष्ण ही क्यों चाहिए ? वह स्वयं को युद्ध से परे खड़े होकर अध्यात्म के धरातल पर खड़ा पाता है। पांडवों के चुनाव को वह युद्ध की दृष्टि से खरा नहीं पाता। किन्तु इसका तर्क उसे उद्वेलित किये है। वह विचार कर रहा है। दुर्योधन ने ऐसी आकांक्षा नहीं की। वह सेना की प्राप्ति से संतुष्ट हो गया। पांडवों ने सदा धर्म का साथ दिया और धर्म ही माँगा, उन्हें कृष्ण मिले। आज धर्म के लिए युद्ध के किनारे खड़े होकर भी सेना के बजाए कृष्ण को मांग लिया। यह पांडवों की पूर्ण समर्पण और निष्ठा का भाव है। इतने कष्टों को सहने के पश्चात् भी कृष्ण को चाहना, उनकी धर्म के प्रति आस्था को बताता है। कितनी ही घटनाएँ विरोधी रही हों, किन्तु जो धर्म से अपने नैतिक आचरण से विचलित न हुआ हो। उसकी कदाचित ईश्वर परीक्षा लेता है। इतने कष्टों के उपरांत भी अंततः उनकी चमत्कारिक रीति से रक्षा भी तो वही करता है। तो क्या वास्तव में यह ईश्वर का निर्देश है और धर्म का मार्ग? ऐसे आलोकिक प्रश्न और उनके उत्तर, इस प्रक्रिया से उपन्यासकार प्रकृति की परमसत्ता के होने की ओर इंगित करता है और, धर्म के प्रति पूर्ण समर्पण का उदाहरण देता हुआ अध्यात्म के रहस्यों पर से आवरण उठाने का प्रयास करता है। क्या चाहिए ? आवश्यकता क्या है-मानव की ? रहस्य पर से आवरण उठता सा है!

महाभारत के इस प्रसंग की कितनी व्याख्या आज तक कितने ही विद्वानों ने की होगी। किन्तु जितने मुख उतनी व्याख्या। संस्कृति को धर्मतः जानने वाला वही कहेगा जो अर्जुन ने चुना, किन्तु कितने इस पर व्यावहारिक रूप से टिके रह सकेंगे। साधारण मनुष्य अक्सर यह कहता है, 'हमें अपने ईश्वर पर विश्वास है वो ही हमारी रक्षा करता है। और जब समस्या आती है तो क्यों उस विश्वास में दरार आ जाती है, और वही विश्वासी पलायन करने को तत्पर हो जाता है ?

सत्य तो यही है, कि वास्तविक सुख की कामना एवं तपस्या सात्विकता से होती है, न कि स्वार्थ हेतु किये अनुष्ठानों से। युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो धर्म साम्राज्य की स्थापना के लिए, और दुर्योधन के अश्वमेघ यज्ञ का उद्देश्य ही अहंकार की तुष्टि था। फिर वो सत्विकता भरा स्वरूप कैसे मिलता। यह प्रमाणित सत्य है कि धार्मिक अनुष्ठानों से ही, क्या तपस्या से भी वही मिलता है, जिसकी मनुष्य कामना करता है। नहीं तो रावण को तपस्या के पश्चात् आसक्ति रहित, मुक्त करने वाला सत्य क्यों न मिल गया, वह भी तो अपनी इतनी तपस्या के बाद भी, अपने अहंकार के कारण, राक्षस ही हो गया था। अतः अध्यात्मिक सत्य के लिए आकांक्षा और आचरण मुख्य है, स्वार्थ वृत्ति नहीं। दुर्योधन भी तो यही गलती बार-बार करता रहा। चाहता वह यह था कि युधिष्ठिर की तरह उसका मान हो किन्तु अपने आचरण में वह कभी भी अनुकरणीय सुधार न ला सका। युधिष्ठिर की देखा देखी अश्वमेघ यज्ञ तो किया, किन्तु उसके मन में न तप-त्याग के लिए और न सात्विकता के लिए कोई सम्मान था। अश्वमेघ यज्ञ के लिए भी उसने ऋषि दुर्वासा का चयन किया। वे तपस्वी अवश्य थे। किन्तु उपन्यासकार उनके आचरण की पृष्ठभूमि में तपस्या का सही अर्थ लेखनी बद्ध करते हैं, "उस तपस्या का भी क्या लाभ, जिससे तपस्वी अपना क्रोध ही न जीत पाए। तितिक्षा तो तपस्या का पहला लक्षण है। ..और दुर्वासा में वही नहीं है। वह तो कुछ भी सहन नहीं कर सकते। अपने आदेश की अवज्ञा और असम्मान तो बहुत दूर की बात है, वे तो अपनी इच्छा के विरोध की सम्भावना मात्र की आशंका से ही क्रोध से जल उठते हैं। ..कैसी तपस्या है उनकी, जिसने न क्रोध को जीता, न अहंकार को। ..लोग साधना तो करते हैं किन्तु यह

नहीं जानते कि साधना का लक्ष्य क्या है।..साधक तो वह हैं, उग्र तपस्वी भी हैं। कदाचित उन्होंने प्रकृति से कुछ असाधारण शक्तियां भी प्राप्त कर ली हैं..किन्तु उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हुआ।...प्रभु की लीला अद्भुत है..प्रभु धन देते हैं, तो एक व्यक्ति दान करता है और दूसरा व्यक्ति उसी धन को पा कर भोग में आकंठ लिप्त हो जाता है। सत्ता मिलती है, तो एक न्याय करता है, अत्याचार का दमन करता है; तो दूसरा उसी सत्ता का दुरूपयोग कर, अन्याय को बल प्रदान करता है, स्वयं अत्याचारी हो जाता है। शारीरिक बल मिलता है, तो एक दुर्बलों की रक्षा करता है, और दूसरा उसी बल से दुर्बलों का दमन करता है। ज्ञान मिलता है, तो एक में विनय प्रस्फुटित होती है, वह अपने ज्ञान से अपने और दूसरों के बन्धनों को काटता है; और दूसरा उसी ज्ञान से अहंकारी होकर, अबोध लोगों का शोषण करता है, उन्हें भ्रम में डालता है।..कितने ही उदाहरण हैं इतिहास में, कि एक व्यक्ति ने उग्र साधना की, स्वयं को तपाया, ईश्वर को प्रसन्न किया, किन्तु उससे उसकी भक्ति न मांग, अपने लिए कोई शक्ति मांग ली,..और फिर उसी शक्ति के अहंकार में वह राक्षस हो गया। ..तपस्या कर साधना कर, भक्ति कर, अंत में व्यक्ति राक्षस हो जाये, इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है। हे प्रभु !..तू और कुछ दे, न दे, मनुष्य को सात्विक बुद्धि अवश्य दे, ताकि वह अपनी क्षमताओं का उचित उपयोग कर सके।” (कोहली, महासमर 6,223)

सामान भाव की ही कितनी सरल, सहज और निष्कलंक वेद प्रार्थना है —

“सर्वे भवन्तु सुखं:  
सर्वे सन्तु निरामया:  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु  
माँ कश्चित् दुःखः भागभवेत । ”

.....उपरोक्त विवरण, धर्म एवं अध्यात्म के मर्म का निचोड़ कहता है। मनुष्य तुच्छ प्राणी है, वह बार बार एक गलती करता है, अपने सीमित ज्ञान एवं दृष्टि से जैसे संसार को देखता है, उसी से ईश्वर को भी देखने लगता है। अपने गुण

दोषों के लिए उसे ही उत्तरदायी ठहराने लगता है। उस विराट को समझने के लिए मानवीय बुद्धि की क्षमता बहुत सीमित है। उस सृष्टिकर्ता-चैतन्य को समझने के लिए मनुष्य की चेतना अक्षम है। उसे जानने के लिए उसी की शरण में जाना होगा। तभी ये रहस्य स्पष्ट हो सकते हैं। अपने सीमित ओर संकुचित मस्तिष्क से उस विराट को जानना दुरूह है। अतः मनुष्य को अपना दिव्य वृत्तियों का आकाश ऊँचा करना होगा, फिर वह सात्विकता का मूल्याङ्कन कर सकने में सक्षम हो सकेगा। और वास्तविक रूप से परम सत्ता के रहस्य का मर्म पा सकेगा। स्मरण रखना होगा महासमर में कहा, युधिष्ठिर का एक महत्वपूर्ण वक्तव्य, “कैसे कैसे मूर्ख होते हैं, इस संसार में। जिस तपस्या से ईश्वर मिल सकता है; उस तपस्या को वे मात्र अपनी शत्रुता का विस्तार करने का माध्यम बनाते हैं।” (कोहली, महासमर 6,297)

इस वक्तव्य का ज्वलंत उदाहरण ऋषि दुर्वासा हैं, जो क्रोध को नहीं जीत पाए, लंकाधिपति रावण है जो अहंकार से हारे, और स्वयं दुर्योधन है, जो लोभ और स्वार्थ के हाथो मारा गया। धर्मराज के चरित्र के रूप में महाभारत में धर्म की जो मीमांसा बार-बार की गयी है, वह न केवल अतुलनीय है, वरन अनुकरणीय भी है। धर्म एक ऐसा विषय है जिस पर क्षण-प्रतिक्षण प्रश्न उठते रहते हैं। अन्य अनेक विषयों की तरह इसके भी पक्ष प्रतिपक्ष सामने आ जाते हैं। शास्त्र-शिक्षा तो सब को मिलती है, किन्तु कोई यदि अपने आचरण को उस शिक्षा की कसौटी पर कसता है। व्यसन पर विजय पा कर शिक्षा का वास्तविक अर्थ जीवन में लागू कर पाना ही व्यक्ति की वास्तविक विजय हो सकती है। व्यक्ति उच्चतम रूप से शिक्षित है, किन्तु जब तक उसका अपने व्यसनों पर नियंत्रण नहीं, उसका आचरण सात्विक नहीं, उसका शास्त्र ज्ञान व्यर्थ है। व्यक्ति यदि अपनी शिक्षा को अपने आचरण में नहीं उतारता तो वह लोक कल्याण का विरोधी हो जाता है। अपनी नैतिकता से नीचे गिर जाता है। धर्मानुसार अथवा शास्त्रानुसार किये आचरण की जड़ में नैतिकता का ही मूल होता है। धर्म को नैतिक मूल्यों से पृथक नहीं किया जा सकता। धर्म की व्याख्या करते हुए कभी-कभी उसकी पूजा विधियों की भिन्नता पर अवश्य ध्यान जा सकता है। किन्तु धर्म का मूल, नैतिक आचरण ही है। यदि मनुष्य धार्मिक है, तो

वह नैतिक तो अनिवार्य रूप से होगा ही। किन्तु जो पाखण्ड एवं धर्म के वास्तविक अर्थ को ही नहीं समझता, वह नैतिकता से भी शनैः शनैः दूर हो जाता है।

महासमर में लेखक महोदय ने एक पात्र रचा है, नाम है समंग। वह एक निर्धन ग्वाला है। जो हस्तिनापुर के बाहरी भाग के गाँव में, अपने सीमित व्यवसाय-आय से अपने पुत्र एवं पुत्री का भरण-पोषण करता है। बड़ा होकर विवाहित पुत्र जीविका के लिए हस्तिनापुर में अपना ठिकाना देखता है। और दुर्योधन के राजसी षड्यंत्र का साथ देना चाहता है। वह चाहता है कि वनवासी पांडवों के अज्ञातवास का पता यदि दुर्योधन को दिया जाये तो उसके जीवन के समस्त अभाव दूर हो जायेंगे। उसे अपने पिता से शिकायत है कि उसने अपने बच्चों को अभावों में पाला। वह अपने पिता के जीवन के अभावों का तिरस्कार करते हुए उसे असफल कहता है। किन्तु उसका पिता समंग उसके लोभ को गलत कहता हुआ, उसे इस अनैतिक राह पर चलने के लिए रोकता है। वह उसे दुर्योधन और उसके भाइयों के आचरण का उदाहरण देता है। सात्विकता का महत्व बताता है। वह उसके दिए सफल होने के तर्कों और लाभ के लोभ को निरुत्साहित करता है। पुत्र के विरोध करने पर उसे समझाता है। वह अपनी दरिद्रता के लिए तर्क देता है, “हमने तुम्हें वन के शुद्ध और पवित्र फल खिलाए हैं !..अपने श्रम की रोटी खिलाई है। अमृत सरीखा दूध पिलाया है। इसलिए निर्धन होते हुए भी अभी तक तुम मनुष्य के समान काम कर अपने बच्चों का पालन करने का प्रयत्न रहे हो। हस्तिनापुर के सम्राट ने अपने पुत्र को पाप की रोटी खिलाई, इसलिए सब कुछ होते हुए भी वह अपने भाइयों की हत्या का प्रयत्न कर रहा है। .. जिन माता पिता की प्रशंसा कर रहे हो कि उन्होंने अपने बच्चों का लालन-पालन बहुत समृद्ध ढंग से किया, वे ही उत्तरदायी हैं अपने उन बच्चों को व्यसनी, कामुक, लोभी और विकृत मस्तिष्क लुटेरे बनाने के। मैं प्रभु का कृतज्ञ हूँ कि मेरी इच्छा होते हुए भी उसने मुझे अपने बच्चे हत्यारे नहीं बनाने दिए।..मैंने वह सफलता कभी नहीं चाही, जो मुझे ईश्वर विरोधी और पापी बनाती हो। मेरी कामना है कि भगवन तुम्हें भी ऐसी सफलता कभी न दे।” (कोहली, महासमर 6,402)



कैसा उत्तम आचरण का उदाहरण है। नैतिक आचरण को बल देता तर्कशील वृद्ध अपने पुत्र को लोभ के विपरीत सात्विक आचरण का लाभ बता रहा है। धन समृद्धि, तभी तक लाभदायक है जब वह व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करे। यदि सफल होने के लिए नैतिक मूल्यों से समझौता करना पड़े, तो ऐसे लाभ और लोभ से सात्विक दरिद्रता भली। वैभव तभी कल्याणकारी है जब वह लोक कल्याण करे न कि हीन वृत्तियों का प्रदर्शन कर अहंकार को दर्शाए।

वास्तव में व्यक्ति कभी पुत्र कभी कुटुंब से मोह की अधिकता से ग्रस्त होकर ईश्वरीय प्रकृति को भूल जाता है। वह भूल जाता है कि अध्यात्म की दुनिया इस मायावी संसार से ऊपर है। महासमर का पूर्ण कथानक यही प्रमाणित करने में लगा है कि, प्रकृति की अपनी नियमावली है। मनुष्य की वृत्तियां उसे इन सब भावों से कभी उद्वेलित करती है और कभी उन्हीं से दूर कर अंतिम सत्य और मोक्ष की ओर बड़ा देती हैं। महासमर में स्थान—स्थान पर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ, अध्यात्म के मर्म को जानने का अवसर मिलता है। जन्म-मरण, सुख-दुःख, पीड़ा-कष्ट और साधन-सुविधा, जीवन में इन सभी परिस्थितियों को समझने के लिए एक अन्यतम दृष्टि की आवश्यकता है। मृत्यु को दुःख मान कर रुदन करना, असुविधाओं को कष्ट का कारण मान कर उसका अफ़सोस करना, कम ज्ञान का द्योतक हो सकता है। इस तथ्य को समझने के लिए उपन्यास की एक घटना का वर्णन सहायक रहेगा। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु की युद्ध क्षेत्र में चक्रव्यूह में घिर कर मृत्यु हो जाती है। अभिमन्यु की माता सुभद्रा की कृष्ण से वार्ता इस तथ्य को तर्कपूर्ण ढंग से समझाने में सफल होती है। अपने प्रियजन की मृत्यु पर सम्बन्धी का दुखी होना स्वाभाविक है। किन्तु इस पर यदि गहन विचार किया जाये तो पांच तत्व से बना शरीर अंततः पांच तत्वों में ही तो मिल जाता है, फिर किस के खो जाने का दुख ? जीवात्मा जन्म लेती है तो समाप्त होना आवश्यक और प्राकृतिक ही तो है। फिर किसे हम बचाकर रखना चाहते हैं। अभिमन्यु के बहुत कम आयु में मृत्यु के कारण यदि उसकी माता को दुःख है तो, कृष्ण का तर्क है कि, पुण्यात्माएं जीवन को भोगने नहीं अपना कर्तव्य करने आती हैं। जो अपना कर्तव्य जितनी कम समय में कर लेती हैं, वो मुक्त हो जाती हैं। और इस तथ्य के अनुसार अभिमन्यु मुक्त

हुआ। उसका कर्तव्य पूर्ण हुआ। जो जितने सुखों में फंस जाता है वो बन्धनों में पड़ जाता है। प्रकृति के नियम अद्भुत हैं। शरीर और उसके सुखों का सत्य ही वास्तविक सत्य नहीं हैं। सत्य और चरम-सुख शरीर से कहीं ऊपर है। यदि शरीर के सुखों को सत्य मान लिया जाये तो आयु के बढ़ने पर शरीर उन सुखों को भोगने के काबिल नहीं रहता। वास्तविक सुख तो आत्मा का है। और वह है अपना कर्तव्य करते हुए मोक्ष की ओर बढ़ते जाना। इसलिए मृत्यु पर शोक करना उचित नहीं, जिसने अपने कर्तव्य को किया वह दिव्य सुख के लिए अपने लिए दिव्य लोक में स्थान का अधिकारी है। यदि कोई हमारा ही है तो वो जाता ही क्यों है, उसे हम क्यों रोक ही नहीं पाते। मायावी प्रकृति इस तथ्य को समझती है, लेकिन अपनी सीमाओं के रहते हम उसे समझने में असक्षम रह जाते हैं। वास्तव में जीवन का सार यह काया नहीं है। इस आत्मा को हम काया के बंधन में बांध कर उसे ही वास्तविक सत्य समझने लगते हैं जो अंततः दुःख का कारण बनता है। ऐसा सोचते हुए हम स्वयं अपने विचारों में बंध जाते हैं। अध्यात्म कहता है कि शरीर से ऊपर है आत्मा, और इस स्थूल काया से बंधे होने के कारण हम दुःख का अनुभव करते हैं। कई बार ऐसा भी लगता है कि फिर दुःख का क्या कारण है। क्या कर्म का सिद्धांत इस का हेतु है, तो जो मनुष्य दुःख एवं कष्ट पा रहा है वह अपने कर्मों के कारण पा रहा है। युधिष्ठिर एवं अन्य पांडव ऋषि स्थान में उत्पन्न हुए और दुर्योधन राज-प्रसादों में। इस वजह से दुर्योधन को सुखी और पांडवों को दुखी मान लेना चाहिए क्या? जो दुर्योधन का प्राप्य है, उससे कहीं ऊँचा है युधिष्ठिर का प्राप्य। क्या इस अतीत से दोनों के दुःख सुख का मापदंड हो सकता है। कर्म से अधिक प्रकृति अपना कार्य करती है। अपने अपने सुख का और अपने दुःख का कारण खोजने से पूर्व व्यक्ति यदि कर्म का सिद्धांत समझ ले, तो इस स्थूल व्याख्या को ही सत्य समझने की भूल नहीं करेगा। यदि सत्य का ज्ञान हो जाये तो व्यक्ति दुखों का अंत नहीं, उसे स्वीकार करने लगता है। कृष्ण इसी तथ्य को समझाते हुए कहते हैं कि, “संसार में जिसे सुख और दुःख कहा जाता है, उन दोनों में ही सम रहने का प्रयत्न करो। यदि दुःख में यह कह कर सांत्वना दी जाती है कि इसे ईश्वर की इच्छा मान कर स्वीकार करो और इतने विव्वल न होओ तो यह भी कहा जाना चाहिए कि सुख

को भी ईश्वर की इच्छा मान कर सहज रूप से स्वीकार करो। उससे इतना उत्फुल्ल होना भी श्रेस्कर नहीं है।..उपनिषद की उक्ति स्मरण रखो -‘इदन न मम।’ जब वह मेरा है ही नहीं, तो मुझसे छिना क्या।..ईश्वर के सिवाय किसी और में आसक्ति होनी ही नहीं चाहिए। ईश्वर जिससे रुष्ट होता है, उन्हें इतना सुख देता है कि वे उसे भूल जाएँ और भूले ही रहें, और जिनसे प्यार करता है, उन्हें तिल-तिल जलाकर उनका मल निकाल देता है। ... जिसे हम दुःख मानते हैं, वह दुःख नहीं है। वह तो बुद्धि का फेर है। पलंग पर बैठ गरिष्ठ भोजन करता हुआ व्यक्ति स्वयं को परम सुखी मान रहा है, जबकि यह सीधे सीधे रोग के राज्य में प्रवेश कर रहा है।.. ईश्वर की माया में कहीं कोई विरोध नहीं है, मनुष्य की सीमित बुद्धि उस सुख दुःख को नहीं देख पाती।” (कोहली, महासमर 8,97)

अतः श्रेस्कर है उस परम शक्ति को समझने का प्रयास करे विपरीत इसके कि उससे रुष्ट होकर दुःख का कारण समझ कर उससे दुखी हों। व्यक्ति समझता है, क्योंकि उसके पास विवेक है, जो उसे अन्य प्राणियों से प्रथक करता है। लेकिन वह समझता क्या है ? यह विचारणीय विषय है—उसे पता है, उसका रूप क्या है ! किन्तु क्या उसे पता है—उसका स्वरूप क्या है ? जन्म के साथ ही स्मृतियों के भवंर में जूझता व्यक्ति स्वयं के रूपों को ही अपनी वास्तविकता मान कर संसार के गह्वर में उलझता जाता है। सच तो यह है कि, मनुष्य के बाहरी संसार में जैसा महायुद्ध चलता रहता है, ठीक वैसा ही युद्ध वह अपने अंतर्द्वंदों से भी लडता रहता है। हाँ यह अवश्य है कि कभी जानबूझ कर और कभी अनजाने में। क्या हैं यह अन्तर्द्वन्द? क्यों नहीं सुलझा पाता मनुष्य इन्हें ? कौन सी स्मृतियाँ उसे रोकती हैं ? महासमर में इस मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हुए लेखक महोदय ने एक बेहद तार्किक और वैज्ञानिक प्रसंग रचा है।

महारानी कुंती की विचार प्रक्रिया चल रही है। रात भर न सो पाने के कारण वह प्रातः न उठ पाने की चिंता करती है, उसके अनुसार यदि ब्रह्म महूर्त में उठ कर उपासना न की जा सके तो संसार के मोह-माया मन को घेर लेते हैं और जैसे आत्मा का जागरण नहीं हो पाता। वह चिंतन मग्न है। कर्ण का विचार करती है।

वह उसका पुत्र है। अब उसे इस सत्य का ज्ञान हो चुका है कि वह महारानी कुंती का पुत्र और पांडवों का ज्येष्ठ भ्राता है। किन्तु फिर भी जैसे वह दुर्योधन के पाश से निकल के बाहर नहीं आ पा रहा। कुंती उसके साथ-साथ अपने अस्तित्व के विषय में चिंतन करने लगती है —क्या है वह ? पांडवों की माता ? किन्तु कुंती तो थी न ? उससे पहले क्या थी वह ? पांडु की पत्नी ? किन्तु तब भी कुंती तो थी न ? उससे पहले क्या थी? महाराज कुंतीभोज की पुत्री ? किन्तु कुंती तो तब भी थी ? वह कुन्तिभोज की आत्मजा नहीं थी, उसे कुंतीभोज ने गोद लिया था, तो वह महाराज शूरसेन की पुत्री थी? किन्तु कुंती तो थी न? शूरसेन ने उसे जन्म दिया। स्मृतियों के भवंर में घूमते हुए कुंती चिंतन कर रही है कि जन्म से पूर्व भी तो वह कहीं—कुछ होगी न? तो क्या है उसका वास्तविक स्वरूप? अपने जन्म के साथ-साथ बदलते रूपों को ही वह अपना सत्य मान कर किन स्मृतियों में उलझ गयी है ? अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर बैठी है। अपने संबंधों के कारण ही वह मोह के तंतुओं से उलझ गयी है। यदि अपनी स्मृतियों से मुक्त हो सके तो अपने मोह से मुक्ति मिले। मोह के बंधन ही तो स्मृतियाँ हैं जो मनुष्य के स्वरूप को विस्मृत करा देती हैं। वह अपने भौतिक रूप को ही अपनी वास्तविकता समझने की भूल करने लगता है। जैसे एक सरकंडे पर एक के ऊपर दूसरी स्मृति धागों की तरह लिपटती जाती है, उन धागों को ही वह अपना स्वरूप समझने लगता है, और फिर सरकंडा भूल जाता है कि वह सरकंडा है, स्मृति का दिया रूप नहीं।

लेखक इस विषय में बहुत गूढ़ रहस्य की बात कहते हैं, “अनस्तित्व से अस्तित्व का जन्म नहीं होता। जो नहीं है, वह तो नहीं हो सकता। कुछ उत्पन्न नहीं होता। सृष्टि और सृष्टि दो समानांतर रेखाएं हैं, जिनका न कहीं आदि है न अंत। ये दोनों रेखाएं समानांतर चलती हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील विधाता है। जिसकी शक्ति से प्रलयपयोधि में नित्यः एक के बाद एक ब्रह्मांड का सर्जन होता रहता है। वे कुछ काल तक गतिमान रहते हैं और उसके पश्चात् विनिष्ट कर दिए जाते हैं।...क्या प्रयत्न करने पर यह स्मरण किया जा सकता है ? शायद ध्यान के माध्यम से यह संभव हो पाए। ..मूल स्वरूप, आरंभिक स्वरूप तो वेद बताते हैं। वह आत्मा थी

और परमात्मा का अंश थी।..जब तक लिपटी हुई सारी स्मृतियाँ उधेड़ नहीं दी जाएँगी, तब तक आत्मा का मूल स्वरूप कैसे प्रकट हो सकता है। ...जीव को बार बार बताया जाता है कि वह शरीर नहीं, आत्मा है। पर वह अपनी स्मृतियों से मुक्त हो तो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाने। वह अपने शरीर के साथ अपना तादात्म्य करता है। अपने नाम और रूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप मानने लगता है। देह के संबंध से लोगों को अपना और पराया मानने लगता है।” (कोहली, महासमर 8,327)

यही सत्य है, और विडम्बना भी और हाँ ! सांसारिक-माया भी तो यही है। मनुष्य की इस दुर्बलता के कारण ही मोह के बंधन उसे अपने धागों में लपेट कर देह के रूप को ही स्वरूप की संज्ञा में उलझा देते हैं, और वह अपने सत्य को भूल जाता है। स्मृतियों के जाल में फंसकर अपनी वास्तविकता को विस्मृत कर देता है। भारतीय संस्कृति का यही अध्यात्मिक सत्य है। हम सौभाग्यवान हैं कि इस तथ्य को समझाने के लिए हमारे ऋषि मुनियों ने ज्ञान से भरे वेद पुराण एवं उपनिषद आदि अनेक ग्रन्थ रचे। हमारे पूर्वजों का जीवन इस बात का उदाहरण है कि किस तरह संसार में रह कर संसार से विरक्त रह सकते हैं। सिखों के दस गुरु इस बात का ज्वलंत उदाहरण हैं जिन्होंने गृहस्थ आश्रम साथ साथ जीवन के धर्म एवं नैतिकता पूर्ण आचरण और अध्यात्म का उत्तम उपदेश अपने स्वयं के जीवन- दर्शन द्वारा दिया। ‘तेरा-तेरा’ का सौदा करते श्री गुरु नानक देव जी ने श्री कृष्ण की अर्जुन को कही इस उक्ति को पूर्णतः खरा कर दिया कि, “मैं निरंतर तुम्हारे साथ था, किन्तु, मैं अपने साथ भी तो था।” (कोहली, महासमर 8,420)

और किसे कहते हैं जीवन का सत्य, शिव, और सुन्दरम। यही वास्तविक तथ्य है—संसार के साथ-संसार के बीच रह कर भी स्वयं के भी अर्थात् आत्मा के साथ रहना। ओशो मोटीवेशनल रिसार्ट से अमृत साधना दैनिकभास्कर समाचारपत्र (2018, जुलाई 8 ) के अंक में कहती है, ‘ओशो से पूछा गया, पहले लोग काँटों पर लेटकर तप करते थे, अब क्यों नहीं करते ? ओशो ने कहा, अब पूरा जीवन ही

काँटों पर बिताया जाता है।' उनके अनुसार जीवन को ऐसे जीयो जैसे अभिनय कर रहे हो।' (साधना 8)

अतः किसी न किसी रूप में ये साधना चलती रहती है और व्यक्ति इस और चलने की इच्छा रखते हुए प्रयत्नशील रहता है।

वास्तव में अध्यात्मिक जीवन एक उजाले से भरा रास्ता है, जिसकी रचना सौन्दर्य एवं सच्चिदानंद के समन्वय से होती है। व्यक्ति चाहता है इस रहस्य से आवरण हटा कर वह वास्तविक सुख का अस्वादन कर सके। वह जानता है कि वह ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। किन्तु फिर भी वह स्वयं को अनेक दबावों से ग्रस्त, पीड़ित और उलझा हुआ पाता है। संसार में सबसे अद्भुत समझे जाने वाले मनुष्य की इस दयनीय दशा का कारण उसका स्वयं का अनजान और सांसारिकता में उलझे होना ही तो है। और फिर इस झंझावत के बाद, मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब वह स्वयं को समझना चाहता है। जब वह जान लेना चाहता है कि वह कौन है ? क्यों आया यहाँ ? जिन्दगी में उसके आने का क्या उद्देश्य है ? कौन हैं जो उसके साथ हैं ? कौन हैं जो उसके साथ बुरे हैं ? और कौन हैं जो अच्छे हैं ? तो वह अपनी अंतर्यात्रा पर निकलता है। जो अपने भीतर की यात्रा है। जो आपको अपने आपको परखने का अवसर देती है। अपने स्वरूप के ईमानदारी से दर्शन कराती है। इस यात्रा का सम्बन्ध केवल अध्यात्म से न होकर अपनी सम्पूर्ण शिखिसयत से है। इस चेतना यात्रा के द्वारा एक रचना संसार से मुलाकात की संभावनाएं रहती हैं। वास्तव में व्यक्ति दुनिया से दूर एक ऐसे संसार की तलाश करता है जहाँ वह शांति को प्राप्त कर सके, सुकून को मिल सके। वर्तमान में 'ओशो, चिन्मय मिशन, प्रजापिता ब्रह्म कुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय, रामकृष्ण मिशन, विपश्चा, सहज योग, आर्ट ऑफ़ लिविंग आदि ऐसे ही मार्ग हैं, इसी मार्ग में पहुँचाने का दावा करते हैं। आस्था की दुनिया के यह स्तम्भ अध्यात्म के सहारे स्वयं से मिलाने का प्रयास करते हैं। लेकिन स्मरण रहे, स्व की यात्रा वास्तविकता में अकेले ही की जा सकती है। इसमें किसी साथ की आवश्यकता

नहीं। ऐसा मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि इस यात्रा के लिए किसी अध्यात्मिक गुरु की, धन की, किसी साथ की, किसी साधन की, किसी की भी आवश्यकता नहीं है। बस केवल सहज, सरल, निर्मल स्व-दर्शन है। एक ईमानदार प्रयास स्वयं को जान लेने का। एक मुक्त व्योम का भ्रमण करने का, जानकार, मुक्ति का और अंततः मोक्ष का। यही आत्मा का ध्यान है।

आत्मा का ध्यान संसार के द्वंदों में उलझने नहीं देता। मोह की, स्मृतियों की भौतिक माया मनुष्य को उस में उलझा कर वास्तविकता से किंचित दूर कर देती है। यदि व्यक्ति को इस बात का आभास हो जाये कि उसका सत्य-स्वरूप क्या है, तो वह इन सब बातों से कतई परेशान हुए बिना अपने सात्विक मन से अपने कार्यों को करता रहेगा। किन्तु यदि उसकी भौतिक इच्छाएं, महत्वाकांक्षाएं, उसका लोभ ग्रस्त मन उसके कार्य में आड़े आता है तो उसका कोई भी कार्य लक्ष्य को प्राप्त नहीं होगा। जैसा कि महर्षि वेदव्यास ने धृतराष्ट्र को कहा, ‘तुम अपने मुख में विष लेकर अमृत के सागर में भी तैरोगे तो उस अमृत का तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। दूसरी ओर, यदि मुख में अमृत का एक घूंट भी हो तो विष का सागर भी सुरक्षित रहकर तैरा जा सकता है।’ (कोहली, महासमर 8,467)

यही तो गलती करता है मनुष्य मन को पूरी तरह सांसारिक-भौतिक आकांक्षाओं में लिप्त कर भूल जाता है कि उसका लक्ष्य क्या है। जीवन समाप्त हो जाने वाला है ! यह सत्य ही भूल जाता है। किस रूप को वास्तविकता मान कर वह अपने कर्मकांडों में उलझा है, इसका जैसे उसे भान ही नहीं रहता। और निष्कर्ष क्या होता है इसका, अंतिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की विस्मृति उसे वक्त रहते होने ही नहीं पाती। कभी जाने कभी अनजाने वह इस तथ्य से अनभिज्ञ होकर अमृत और विष का भेद भुला बैठता है। और जानते-समझते हुए भी जीवन के सत्य को पाने में चूक जाता है। जानबूझ कर वंचित होना और किसे कहेंगे ? जीवन में सिर्फ स्वयं के हित को साधना कहीं न कहीं व्यक्ति को मोह और लोभ में गर्त कर देता है। किन्तु यदि व्यक्ति लोक हित में सरसता दूढ़ ले तो वह स्वार्थ से ऊपर उठ

कर परमार्थ की ओर चल पड़ता है और मोह के बन्धनों से दूर होने लगता है। यदि स्वयं को औरों की सेवा में समर्पित किया जाये तो लोभ की भावना तिरोहित हो जाती है। श्री हुकुमचंद के अनुसार, 'लोक-हित को अध्यात्मिक मूल्यों के अंतर्गत स्वीकारते हैं, क्योंकि इसे भी मोक्ष की भांति जीवन का चरम मूल्य माना जा सकता है।' इसी प्रकार द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने 'प्रियप्रवास में काव्य, संस्कृति और दर्शन' पुस्तक में इस तथ्य का विश्लेषण करते हुए हरिओध के विचारों को इस प्रकार सम्पादित किया है, "हरिओध जी लोक हित को मानव जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक समझते हैं, मानव जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि मानव अपने जीवन में सुख चाहता है यदि वह अपने समाज में समता एवं शांति चाहता है और वह समस्त विश्व में आनन्द की वृष्टि करना चाहता है तो उसे एकमात्र लोक-हित का मार्ग अपनाकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। .. इस लोक हित से उसे जीवन में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है और इसी से वह जीवन मुक्त भी हो सकता है, क्योंकि जीवन मुक्ति के लिए कामनाओं के जिस विनाश की आवश्यकता समझी गयी है, वह लोक हित के द्वारा ही संभव है। लोक हित के कारण मानव वैयक्तिक स्वार्थ से परे परमार्थ में लीन होकर वस्तुतः जीवन्मुक्ति को ही प्राप्त करता है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' में सर्वाधिक लोकहित को ही महत्त्व दिया गया है और इसी को जीवन का चरम लक्ष्य सिद्ध किया गया है।"

(हुकुमचंद 192)

यह लोकहित और परमार्थ ही तो भारतीय मानसिकता में बसी सांस्कृतिक धरोहर है, जिसे मानव ने अपने व्यवहार को संतुलन और मर्यादित करने के लिए शास्त्रों से पाया है।..स्मरण रखना होगा कि, "दृश्य जगत की कार्यशीलता की पृष्ठभूमि में एक निश्चित नियोजन तथा सर्वज्ञ शक्ति भी है जो सौदेश्य इसका विकास करती है। इसी तथ्य को डॉ. आर.के. मुखर्जी ने अनंत शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है, 'मनुष्य की पूर्णता तथा एक स्वतंत्र समाज में बंधुत्व के आदर्श कोई स्पंदन नहीं पैदा कर सकते, जब तक ये आदर्श किसी अनंत, मानवेतर तथा सामाजिक व्यवस्था से परे की शक्ति के साथ संयुक्त नहीं किये जाते। यही परात्पर



शक्ति भारतीय शास्त्रों के अनुसार समस्त नैतिकता की आदिस्त्रोत मानी जाती है। इसी से समस्त नैतिक आदर्श निःसृत होते हैं। भारतीय परम्परा में प्रभु द्वारा रचित सर्वप्रथम रचना इसी हेतु सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। यही शक्ति मनुष्यों के कर्मों की नियामक होने के कर्माध्यक्ष के रूप में समझी जाती है। व्यक्ति अपने अतीत के कर्मों का फल भोगने में जहाँ इस शक्ति द्वारा नियमित रहता है, वहाँ वह अपने कर्मक्षेत्र रूपी सामाजिक जीवन में संस्कारों द्वारा शनैः-शनैः अपनी पूर्णता की स्थिति तक पहुँच जाता है। इन परम्परावादी समाज की आधारभूत मान्यताओं को इस प्रकार से जाना जा सकता है —

- 1) विश्व की रचना में सर्वोच्च सत्ता विद्यमान है। वस्तुतः वही पूर्ण है और व्यक्ति उसी पूर्ण का अंग है।
- 2) ईश्वर की रचना होने के कारण सृष्टि आदि काल में पूर्ण नैतिक थी और उतरोत्तर इसका हास होता जाता है।
- 3) व्यक्ति के आंतरिक गुणों का प्रभाव भौतिक जगत पर भी पड़ता है और समष्टि के नैतिक जीवन में व्याप्त अनियमितता प्रकृति के क्षेत्र में भी अराजकता पैदा कर देती है।
- 4) सामाजिक जीवन विकास-सिद्धांत के विपरीत चक्रात्मक परिवर्तन पर आधारित है जिसकी प्रक्रिया के मानदंड हैं कर्म का सिद्धांत, आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म।
- 5) शरीर तथा आत्मा अपिवा प्रकृति एवं चेतनामय त्रिगुणात्मक व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम नामक प्रवृत्तियों का समन्वित रूप है जो कर्म तथा ज्ञान दोनों मार्गों द्वारा उन्नति कर सकता है। संस्कार तथा वर्णाश्रम धर्म उसकी एतद्दिश्यक चरम परिणति को प्राप्त कराने के साधन हैं।
- 6) पूर्ण व्यक्तित्व वह है जो कर्म की भावना से ओतप्रोत, नैतिक नियमों पर आधारित तथा धर्म द्वारा निर्देशित सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप हो।
- 7) इस समाज व्यवस्था में व्युत्पन्न मर्यादाहीनता का निवारण करने के लिए उस उच्च सत्ता को किसी न किसी रूप में नियंत्रण करना पड़ता है।

अतः समाज की पूर्ण शांति के लिए व्यक्ति तथा परिवार का नैतिक मर्यादा पर आधारित होना नितांत आवश्यक है। व्यष्टि सुधार ही समष्टि सुधार का कारण होता है। इसी हेतु संत तुलसीदास ने समाज में व्यवस्था की स्थापना हेतु नैतिक आदर्शों की गाथा अपने साहित्य द्वारा प्रस्तुत की।” (शर्मा 154)

## सर्व-कल्याण के लिए मान्य एवं मर्यादित व्यवहार

नैतिकता और किसे कहते हैं? यदि मनुष्य का आचरण समाज के बहुसंख्यक समुदायों द्वारा मान्य और संस्कारवान एवं सर्वजन हिताय है तो वह नैतिक मानदंडों पर खरा उतरता है। धर्म हो अथवा नैतिकता, दोनों तथ्यों अध्यात्म से को प्रथक नहीं किया जा सकता। आज कई तरह के धर्म मतों के चलते धर्म मत ही धर्म का पर्याय बन चुके हैं। किन्तु वास्तविक धर्म-धर्म मत से कहीं अलग है। धर्म मत देश, काल, राष्ट्र और समय के साथ बदल सकता है, लेकिन धर्म की रूहानियत नहीं परिवर्तित होती। वह ईश्वर से सात्विक प्रेम है, जो सदैव एक सा ही रहता है। जिसे व्यक्ति अपने आचरण में दर्शाता है। धर्म का मर्म है, ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जो किसी माध्यम का मोहताज नहीं और वह कभी नहीं बदलता। धर्म का यही सात्विक अर्थ व्यक्ति का अध्यात्मिक विकास करता है। धर्म व्यक्ति के व्यष्टि जीवन के साथ साथ समष्टि जीवन के संतुलन का दस्तावेज है। उसे संतुलन के साथ-साथ समन्वय करना सिखाने का आदेश है। उसके नैतिक आचरण का आदर्श है। उसका शुद्ध, परिष्कृत, आत्म स्वरूप है जो उसे मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर करता है। जो सर्व-कल्याणकारी है जिसे जानकार व्यक्ति अपने कर्म का अर्थ एवं उद्देश्य समझ पाता है।

“वैसे जिस देश में राम, कृष्ण, और शिव जैसे देवताओं की उपासना होती है वहां अध्यात्म को जीवन के साथ जोड़ना कठिन नहीं। यदि अध्यात्म को सही दृष्टि से देखकर उसे जीवन के साथ जोड़ें तो निश्चित रूप से यहाँ लोगों की चेतना में क्रांति हो सकती है। चेतना की यह क्रांति हमारी परिवेशजन्य विकृतियों को बदलने में निश्चित रूप से सहायक होगी। क्योंकि क्रांतिदर्शी मनीषियों ने ही जीवन स्थितियों

को बदला है। अध्यात्म का सम्बन्ध सांसारिक जीवन के साथ है, यह बात सुनने में भले ही विचित्र लगे किन्तु बिलकुल सच है। कई बार लगता है कि सांसारिक जीवन को सुंदर और कलात्मक बनाने का सबसे सुगम साधन अध्यात्म है।...अब प्रश्न उठता है अध्यात्मिक जीवन से अभिप्राय क्या है ? शरीर की भौतिक वास्तविकता के स्वीकार के साथ साथ इसकी चेतनारूप प्रेरक गुणात्मक उर्जा जिसके लिए हमारे मनीषियों ने एक सुंदर नाम चुना है— आत्मा। इस आत्मा के प्रति सचेत होना ही अध्यात्मिक होना है। सीधे सरल शब्दों में शारीरिक सुख के लिए भौतिक साधन जुटाने के साथ साथ आत्मा की तृप्ति के लिए भी प्रयत्न करना अध्यात्मिक होना है। क्योंकि शारीरिक सुख सुविधा के सभी साधन जुटा लेने के बाद भी एक झटपटाहट सी बनी रहती है। वह झटपटाहट इसलिए होती है क्योंकि कहीं असंतुलन हो जाता है। जीवन को समग्रता से देखने की दृष्टि हम खो देते हैं। अध्यात्म हर स्थिति में इस संतुलन को बनाए रखने का एक महत्वपूर्ण साधन है।” (निर्वैर 154)

एक जगह सामुयल स्माईल्स का कथन पढ़ा था,

“Sow the thought, and reap and act;  
Sow an act, and you reap a habit;  
Sow a habit and you reap a character;  
Sow a character and you reap a Destiny.”

अतः मूल्योंमुख जीवन ही असत्य शक्तिओं से मानव को बचा सकता है। उसके लिए उसे सतत उत्तम कर्म करने चाहिए और उन्हें अपने आचरण में निरंतरता से उतार लेना चाहिए। ऐसा जीवन ही हमें आत्मलोचन की प्रतिभा देता है। उचित और अनुचित में भेद करना सिखाता है। आत्मानुशासन और आत्मसयम से भर देता है। जिससे इहलोक और परलोक की इच्छित मुक्ति का आनन्द उठाया जा सकता है।

युगों से प्रकृति और एक सर्वशक्तिमान सत्ता की कल्पना से मनुष्य ओतप्रोत है। उसकी खोज में प्रयत्नरत है। कहाँ है वह ईश्वर ? कौन है वह ? कहाँ रहता है ?

क्यों है उसकी आवश्यकता ? क्यों ढूँढ रहे हैं उसे ? बुद्धिजीवी इन्हीं प्रश्नों में उलझे हैं। वस्तुतः उस ईश्वर की आवश्यकता क्यों है जो सारे संसार और समाज के सुखों को त्याग करने से प्राप्त होता है। कृष्ण स्वयं इस प्रश्न का हल करते हुए कहते हैं, “मैं समझता हूँ कि ईश्वर की आवश्यकता केवल उन्हें ही है, जो उसके अभाव से सुखी नहीं हैं। यदि कोई व्यक्ति संसार में रहकर, संसार को पाकर, संसार में लिप्त होकर सुखी है, तो उसे सचमुच ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर की आवश्यकता तो उसी व्यक्ति को है, जो सारा संसार पाकर भी सुखी नहीं हैं।” वास्तव में वह आवश्यक है, हर क्षण उपलब्ध है किन्तु दिखाई नहीं देता। जैसे वायु की आवश्यकता हमें हर क्षण है और वह उपलब्ध भी है, लेकिन उसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं होता, इसी प्रकार कुछ लोग ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव नहीं कर पाते, वह स्वतः उपलब्ध होने के कारण आवश्यकता को अनुभव नहीं होने पाता। “ईश्वर को जानना, उसका साक्षात्कार करना, उसके निकट जाना, उसके अनुरूप बनना और अंततः वही हो जाना। यह सब कुछ संभव है। अपने शरीर की (मोह की) मुट्टियों को नहीं, मन की मुट्टियों को खोल दें। कृष्ण कहते हैं कि, “आपको धन नहीं छोड़ना है, धन की आसक्ति छोड़नी है। संसार नहीं छोड़ना है, संसार की आसक्ति को त्यागना है। जिस क्षण आपके मन ने काम, क्रोध, लोभ, मोह को छोड़ दिया, उसी क्षण ईश्वर वहीं प्रकट हो जायेंगे।..हमारे कर्म से ही उसकी दया प्रेरित होती है। भक्ति, ज्ञान, कर्म सबमे योग है, सबमे आसक्ति रहित उद्धम है। अकर्म से ईश्वर कभी प्रसन्न नहीं होता।” (कोहली, महासमर 5,366)

यही तो सन्देश है। कर्म करना। आसक्ति रहित होना। मोह का त्याग करना। अहंकार से रहित होना। ईश्वर का साक्षात्कार करना। हमारा धर्म है ईश्वर को जानना, उसको पहचानना, उसके निकट जाना, उसके अनुरूप बनना, और अंततः वही हो जाना। यही तो वास्तविक धर्म है, नैतिकता है। सात्विक अध्यात्म है। सत्य है, शिव है, सुंदर है।

## अध्याय: 6

### जीवन मूल्य

### भौतिक मूल्य

भारतीय जीवन में श्री मद्भागवत गीता एक ऐसा पवित्र ग्रंथ है, जो जीवन का मर्म बताते हुए कर्म सिद्धांत को जीवन-सत के रूप में स्थापित करता है। ऐसी मान्यता है कि अकर्म से प्रीति करने वाला परमात्मा से दूर हो जाता है। प्रकृति के नियमानुसार मानव द्वारा किये हुए कर्म उचित समय पर फलीभूत होते हैं। जैसे धरती में बीज बोया जाये तो प्रकृति के समयानुसार उसका प्रस्फुरण होना अवश्यम्भावी है। शर्त यह है कि बीज को उसकी अनुकूल स्थितियां मिलती रहें। जीवन का दर्शन भी ऐसे ही है। किये हुए कर्म अपने नियत समय पर फल देते हैं। श्रीमद्भागवत गीता भी यही सन्देश देती है, कि कर्म करो फल की चिंता प्रकृति पर है, वह अपने नियमानुसार फलीभूत होगा ही। यदि उसके पीछे आपकी मनोस्थिति वांछनीय है। आज हम जिस युग में जी रहे हैं उसमें भाव एवं बुद्धि दोनों का बाहुल्य है, कदाचित् बुद्धि का ही अधिक है। आज की पढ़ी-लिखी पीढ़ी अपने युग की मांग को समझती है। वह जान चुकी है कि यह घोर परिश्रम का समय है। इस में जो भी जागृत है, वह समझ रहा है, कि यदि कुछ पाना है, तो कठिन परिश्रम करना होगा। किन्तु यदि इस परिश्रम को सही दशा और दिशा न मिले तो स्मरण रहे, अति किसी भी चीज़ की नशा बन कर नुकसान का हेतु बन जाती है। फिर चाहे वह नुकसान स्वास्थ्य का हो अथवा संबंधों का। नशा किसी भी चीज़ का बेहद कष्टदायी और अहितकर तो होता ही है, समाज का भी अहित ही करता है। ज्ञान मनुष्य को एक ऐसे मार्ग पर ले जाता है, जिसमें मनुष्य सत-रज-तम गुणों को पहचानना सीखता है। किन्तु ये ध्यान रखना होगा कि इन्हें केवल पहचानना ही नहीं, अपने आचरण को भी इसी के अनुरूप ढालना है। कर्म ही तो हमारे आचरण और बुद्धि के द्योतक हैं। हमारे शास्त्रों में लिखा है, 'ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा एक साथ होनी चाहिए,' तभी वह कल्याणकारी है।

## भारतीय संस्कृति एवं चार आयाम-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

भारतीय संस्कृति के चार आयाम हैं, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म के पश्चात् जो दूसरा मुख्य आयाम है, वह अर्थ है। अतः इसके महत्व को कहीं भी कम कर के नहीं आँका जा सकता। भारतीय जन मानस दिवाली का त्यौहार बहुत धूमधाम से मनाते हैं। और कहना न होगा कि माँ-लक्ष्मी और देव-गणेश की पूजा हर गृह में श्रद्धा पूर्वक विधि विधान से की जाती है। यह सर्वविदित है कि माँ लक्ष्मी यदि धन की (लाभ की) देवी हैं तो देव गणेश शुभ के प्रतीक। और यदि लाभ हो तो शुभ कर्म से हो, ऐसा जीवन दर्शन हिंदुत्व का आधार है।

जीवन को चलाने के लिए अर्थ, अर्थात् जीवनोपार्जन की, धन की आवश्यकता होती है। इसी लिए अर्थ को एक विशेष स्थान दिया गया है। किन्तु किन्हीं युगों में, यह अर्थ किन उपायों से मनुष्य उपार्जित कर रहे थे ! एवं आज किस रूप में यह साधन मनुष्य के जीवन को प्रभावित कर रहे हैं ? यह विचारणीय है। यदि मनुष्य मानसिक रूप से समृद्ध हो तो दुनियावी रूप से यह भी आवश्यक है कि वह अपने जीवन के भौतिक पक्ष को भी समृद्ध करने का उद्यम करे, तभी वह सफल जीवन व्यतीत कर सकता है।

जीवन की मानसिक, आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के लिए ज्ञान एवं साधना का रास्ता उत्तम रास्ता कहा जाता है। किन्तु भौतिक उन्नति के लिए कौन से मार्ग उपयुक्त हैं? इसका विश्लेषण इस अध्याय में किया है। कुछ प्रश्नों का उत्तर विश्लेषणात्मक विधि से करते हुए सर्व-कल्याणकारी एवं सर्वमान्य मूल्यों की पुनर्स्थापना का निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

भौतिक मूल्यों के सम्बन्ध में जो सामान्य रूप से प्रश्न चेतना को उद्वेलित करते हैं, उन पर दृष्टि डालते हैं -

- # भौतिक मूल्य क्या हैं?
- # जीवन में भौतिक मूल्यों का क्या स्थान है ?

- # जीवन की कौन सी आवश्यकता को भौतिक मूल्यों द्वारा पूरा किया जाता है?
- # धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार आयामों में भौतिक मूल्य कहाँ स्थित होते हैं?
- # शास्त्रों के अनुसार भौतिकता का क्या आधार होना चाहिए ?
- # जीवनोपार्जन के लिए किन मूल्यों की आवश्यकता है और कितनी ?
- # आत्मिक सृजन के क्षेत्र में भौतिकता का कोई विरोध है क्या ?
- # पौराणिक काल की भौतिक समृद्धि और वर्तमान समृद्धि में क्या साम्य अथवा विरोध है ?
- # शास्त्रों के अनुसार समृद्धि के लिए किन्हीं नियमों का पालन आवश्यक है क्या ?
- # भौतिकता के प्रति हमारे ऋषि-मुनियों की क्या धारणाएं थी ?
- # आज के बुद्धिजीवी भौतिक मूल्यों के प्रति क्या विचारधारा रखते हैं?
- # धार्मिक, अध्यात्मिक व्यक्ति की भौतिक शुद्धता से क्या अभिप्राय है ?
- # जीवन को केवल शुभ-लाभ के अर्थों में जिया जा सकता है क्या ?
- # आर्थिक उन्नति और भौतिक उन्नति में क्या अंतर है ?
- # जीवन में क्या अधिक उपयोगी है ? आत्मिक उन्नति या भौतिक उन्नति ?
- # भौतिकता को माया-मोह से क्यों जोड़ा जाता है ?
- # भौतिक समृद्धि और भौतिक संचय में क्या अंतर है ?
- # आवश्यकता, जीवकोपार्जन, समृद्धि, सम्पदा, सुख, सुविधा, साधन के सूक्ष्म अंतर क्या हैं ?
- # क्या भौतिक मूल्यों से इनका कोई सम्बन्ध है ?
- # भारतीय मानसिकता में भौतिकता को आत्मिक उन्नति से हेय क्यों माना जाता है ?
- # क्या केवल मानसिक, आत्मिक समृद्धि से जीवन-यात्रा सफलता पूर्वक पूर्ण हो सकती है ?
- # यदि संसार है तो संसार की संसारिकता बनाम भौतिकता भी प्रत्यक्ष है, क्या उसे अनदेखा किया जा सकता है ?

- # जीवन में उपयोगिता के तुलनात्मक मापदंडों में आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का क्या अनुपात होना चाहिए ?
- # भारत की भौतिक उन्नति के क्या प्रारूप हैं ?

अतः इन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास है यह अध्याय ।

जीव जगत में जो भी उत्पन्न हुआ, वह नश्वर है । पांच तत्वों से बना हुआ, उसका शरीर विकसित होता है, और समय के अनुसार धीरे-धीरे क्षय भी होता है । और अंततः वह उन्हीं पांच तत्वों में मिल जाता है । रह जाता है तो, आत्मा का अस्तित्व, जो शास्त्रों के अनुसार न मरता है, न नष्ट होता है । लेकिन विषय तो उस नश्वरता का है, जिसे मानव शरीर के रूप में पाता है । उसका पालन पोषण भी तो उसे करना है । जिस आत्मा अथवा अशरीरी की उसे रक्षा का दायित्व या कर्म मिला है, उसे सँभालने के लिए जीवनोपयोगी भौतिक साधनों की आवश्यकता भी तो उसे ही वहन करनी होगी । तो वह साधन कहाँ से उपलब्ध होंगे ? कैसे उपलब्ध होंगे ? यह निर्णय करेंगे हमारे भौतिक मूल्य ।

## भौतिकता बनाम अनिवार्यता अथवा आकांक्षा !

भौतिक ! एवं मूल्य ! एक बहुत विरोधाभासी सी बात लगती है । भौतिक यानि सांसारिक और मूल्य यानि आचरण सम्बन्धी सात्विक निर्देश अथवा सिद्धांत । संत कबीरदास का एक बेहद सारगर्भित दोहा है:

‘अति का भला न बोलना,  
अति की भली न चुप ।  
अति का भला न बरसना,  
अति की भली न धूप ।।’

अर्थात् अधिकता प्रत्येक चीज़ की हानिकारक होती है । चाहे वह वाचालता हो, चुप्पी हो, वृष्टि हो अथवा तपन हो । बहुतायत से केवल हानि ही संभव है । इसलिए किसी भी चीज़ का संतुलन बनाने के लिए उसका उचित मात्रा में होना ही बेहतर परिणाम देता है ।



जीवन जीने के लिए, उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए, कार्य तो करना ही होगा। यह तो सर्वविदित है कि, प्रत्येक जीव के साथ परमात्मा ने भोजन और उसकी आवश्यकता का प्रावधान करके भेजा है। अब उसकी पूर्ति के लिए प्रयास तो स्वयं जीव को ही करना है। बस इसलिए जीवन के प्रारंभ से ही मातापिता अपने बच्चों को छोटे-छोटे कामों की आदत डालने का प्रयास करते हैं। जिन बच्चों को यह आदत शैशव से पड़ जाती है। वह बाद में भी इस कार्य-क्रिया को सहज रूप से स्वीकारते जाते हैं, नहीं तो उनका औरों पर निर्भर होना उनके अपने लिए ही दुखदायी हो जाता है।

समाज की समृद्धि एवं उसके विकास के साथ-साथ मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की भी उत्तम व्यवस्था करने के कई उपाय किये। अनिवार्य जीवनी-जरूरतों के पश्चात् मनुष्य के कलात्मक रचनात्मक, मनोरंजन, विज्ञान सम्बन्धी विचारों ने उसकी आवश्यकताओं को हवा दी और मानव का उस दिशा में भी प्रयास बढ़ा !

मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जिसे ईश्वर ने असीम योग्यता दे कर उत्पन्न किया है। अब उस योग्यता का उपयोग वह किस तरह करता है, यह उसका रचनात्मक मस्तिष्क निर्णय करता है। वैसे तो हम सब बराबर हैं। ईश्वर ने हम सब को एक सा ही बनाया है। एक सा मतलब एक से अंग-प्रत्यंग सब के पास हैं, किन्तु मस्तिष्क एवं रचनात्मकता के क्षेत्र में हर व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है। हर एक के पास भाव हैं, उसकी कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ हैं। वह जीवन में किस प्रवृत्ति को दिशा मान कर आगे बढ़ता है। यही मार्ग उसकी समृद्धि अथवा दरिद्रता को इंगित करता है।

यहाँ समृद्धि का अर्थ उसकी भौतिक समृद्धि से ही है। जीवन के लिए उपयोगी वस्तुएं अथवा साधन भौतिक समृद्धि के ही द्योतक हैं। जीवन निर्वहन में जिन साधनों की आवश्यकता होती है उनके लिए प्रयास तथा उद्यम करना मनुष्य का महती कर्तव्य है। उसके लिए किसी पर निर्भर होना पंगु होने के सामान माना

जायेगा। स्मरण रहे जो आरम्भ से अपने दैनिक कार्य स्वयं करता है, वह प्रसन्न रहता है। उसके कार्य भी समय पर संपन्न हो जाते हैं। किन्तु वह व्यथित रहेगा, जिसके कार्य कोई और करता है। आज के माता पिता अपने बच्चों के काम न करने के लिए यह कारण कहते हैं, कि उन पर पढाई का बहुत काम है। सही है, वह पढ़ लिख कर कोई बड़ा काम करेंगे, किन्तु वह परिश्रम उन्हें थका देगा, क्योंकि उन्हें श्रम की आदत नहीं है।

भौतिक समृद्धि, मानसिक समृद्धि को भी आगे ले जाती है। यदि शारीरिक आवश्यकताएं पूर्ण हो तो व्यक्ति का मस्तिष्क उलझा नहीं रहेगा, और वह अपने अन्य कार्यों पर ध्यान दे सकेगा। आज के सुविधापूर्ण वातावरण में एक वाक्य अक्सर सुनाई पड़ता है कि, आधी तकलीफे आर्थिक होती हैं ! यह भी साथ ही सत्य है कि समृद्धि कभी, केवल भौतिक नहीं होती। कोई अपने कार्यों से आर्थिक रूप से समृद्ध होता है, तो कोई मानसिक एवं सांस्कृतिक रूप से। कोई कलात्मक रूप से अपनी क्षमताओं को विकसित कर पाता है, तो कोई अपनी अध्यात्मिक उन्नति कर समृद्ध हो जाता है।

लेकिन यहाँ विश्लेषण इस बात का है कि भौतिक समृद्धि क्यों ? कैसे? कितनी ? और कहाँ से कहाँ तक ? उसकी आवश्यकता, उसका उद्देश्य और उसकी व्याख्या क्या हो ?

## सांस्कृतिक समृद्धि — शुभ द्वारा लाभ प्राप्ति

भौतिकता यानि आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ व्यक्ति को अपनी संस्कृति के इस पक्ष को भी स्मरण रखना होगा कि भौतिक सम्पन्नता को 'शुभ-लाभ' के मन्त्र द्वारा अर्जित करने के लिए ही हमारे शास्त्रों ने अनुमति दी है। भगवतगीता में कर्म की अनिवार्यता पर बहुत बल दिया गया है। यदि धार्मिक रूप से इस बात को भारतीय मानस मानता है, तो इसे शारीरिक धरातल पर भी मानना होगा। इसके लिए समाज की सबसे छोटी इकाई 'परिवार' अपने बच्चों में आरंभ से ही काम

करने की आदतों का विकास करता है। जीविका के लिए आज के युवा को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। पंडित विजयशंकर मेहता ने दैनिक भास्कर के 13 जनवरी 2018 के अंक में जीने की राह स्तम्भ में जो लेख लिखा उसमें उनका कहना है, “आज के बच्चे 14-14 घंटे काम करते हैं, पर ये 14 घंटे उन्हें निचोड़ रहे हैं। उनका पूरा व्यक्तित्व ऐसा लगता है जैसे चूस लिया गया हो, क्योंकि शुरू से हम उन्हें काम करने की आदत डालते नहीं हैं। जो दैनिक काम स्वयं करेगा वह प्रसन्न भी ज्यादा रहेगा और अधिक समय तक रहेगा। जो दूसरों पर आधारित है वह व्यथित भी होगा और अशांत भी रहेगा। आज बहुत कम बच्चे होंगे जो सुबह अपना बिस्तर खुद समेटते हों। बहुत कम लोग होंगे जो अपने अंतःवस्त्र स्वयं धो लेते होंगे। अब तो पानी पीने के लिए भी कोई सहयोगी लगता है। हमने अपने बच्चों को छोटे-छोटे अपने ही काम करने के अभ्यास से दूर कर दिया है। बेशक वे पढ़-लिख कर बड़ा काम, बड़ा परिश्रम करेंगे लेकिन, वह श्रम उन्हें थकायेगा। इसलिए बच्चों को यह समझाया जाये कि कुछ तयशुदा काम उन्हें ही करने हैं। ऐसा सिखाकर आप उनकी बहुत बड़ी मदद ही कर रहे होते हैं, जो बड़े होने पर उनके काम आएगी।” (मेहता 6)

तो यह काम करने की आदत युवा होते व्यक्ति को सृजन और फलतः भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर करेगी।

मनुष्य ने विकास के लिए समाज की व्यवस्था की। समाज व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि सभी पक्षों की सुरक्षा का वातावरण तैयार करता है। इस वातावरण की तैयारी के लिए समाज व्यक्ति एवं व्यक्तियों के समूहों में श्रम विभाजन करता है, जिससे सभी को सुरक्षित जीवन जीने की सुविधाएँ मिल सकें। सुविधाएं अर्थात् भौतिक साधन, जिनके कारण व्यक्ति न केवल आर्थिक रूप से समृद्ध होता है, वरन् वह एक स्वस्थ आर्थिक वातावरण में सांस लेता है। समाज का और व्यक्ति का विकास बिना साधनों के संभव नहीं हो सकता। तो साधन यानि भौतिक समृद्धि। इस समृद्धि के लिए भौतिक मूल्यों की विवेचना एवं विश्लेषणा करनी आवश्यक है। डॉ. नरेंद्र कोहली इसी समृद्धि और उससे सम्बंधित मूल्यों को

महासमर के चरित्रों द्वारा प्रस्तुत करते हैं। महासमर एक ऐसा रत्नगर्भित उपन्यास है, जिसमें चरित्रों के माध्यम से रचनाकार ने मूल्यों को ऐसे पिरोया है कि किसी भी क्षेत्र को पकड़ें, महासमर एकाधिक उदाहरण प्रस्तुत कर पाठकों के सिद्धांतों एवं मूल्यों को नित नवीन दृष्टि देता है।

## सुविधाजनक विकास के लिए आर्थिक समृद्धि

यह बात सर्वविदित है कि जीवन के सुविधाजनक विकास के लिए, एक व्यवस्था की अनिवार्यता समझते हुए मनुष्य ने समाज, राज्य और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। धीरे धीरे यह व्यवस्थाएं विकास के नवीन सोपानों को प्राप्त होती गयी। फलतः समाज और राज्य की उन्नति एवं समृद्धि की द्योतक बनीं। महासमर का एक उदाहरण लेते हैं, खांडवप्रस्थ जैसे वनप्रदेश में एक प्रकार से वनवासी पांडव अपने राज्य की स्थापना का और राज्य का आरम्भ करते हैं। राज्य एवं प्रजा की व्यवस्थाओं और सुविधाओं के लिए हर क्षेत्र में प्रयोग करते हैं। कई पक्षों के बारे में विचार करते हुए विकास की दिशाएं निर्धारित करते हैं।

भौतिक विकास एवं समृद्धि में सबसे बढ़कर जो उल्लेखनीय बात है, वह है, निर्माण की। और वह कैसा हो, इसको दर्शाता है यह दृष्टान्त। युवराज युधिष्ठिर को राज्य विभाजन कर खांडव प्रस्थ का राज्य मिला और दुर्योधन को हस्तिनापुर का युवराज घोषित किया गया। खांडवप्रस्थ का क्षेत्र वनप्रदेश सरीखा था, जहाँ न कोई व्यवस्था थी न कोई शासन। वहाँ के ही एक वृद्ध अपनी दशा का वर्णन करते हुए कहता है कि यह सही है कि यमुना के तट के होने से जल का अभाव नहीं है, किन्तु शासन व्यवस्था के अभाव के कारण न अच्छी खेती संभव है, न जल परिवहन और व्यापार की सुविधाएँ। अब यदि भौतिक उन्नति करनी है तो प्रबंध तो स्वस्थ होने ही चाहिए। युधिष्ठिर का ध्यान इस ओर है और वह सुशासन का आश्वासन देते हुए कहते हैं, “आप सबसे कह दें कि जो प्रजा-जन धर्म-राज्य के अधीन रहना चाहते हैं, उनकी सुरक्षा का दायित्व हमारा है। हम प्रजा की रक्षा ही

नहीं, उसका पालन भी करेंगे। जो कृषि करना चाहेगा, उसकी भूमि तथा उपज की रक्षा की जाएगी, पशुपालकों के गोधन की पुरी रक्षा होगी, व्यापारियों को निष्कंटक मार्ग प्रदान किये जायेंगे। श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक दिलाया जायेगा तथा धन के विनिमय इत्यादि में वचन का पालन करवाया जायेगा।” (कोहली, महासमर 4,17)

वैभव के आरम्भ का, भौतिक उन्नति के आगाज़ का कितना सटीक उदाहरण है। युधिष्ठिर कैसे राज्य की स्थापना करने को तत्पर हैं। क्या प्रबंध करना है, किस तरह और किस के लिए करना है। व्यवस्था करते हुए लेखक उस समय के काल को आज के अपने समय के प्रजातंत्र के साथ तुलनात्मक रूप से रेखांकित करना भूलता नहीं ! प्रजा का हित-साधना प्रत्येक शासक का मौलिक कर्तव्य है किन्तु यह भी तो सत्य है, कि सुविधाओं के साथ ही दुविधाएं स्वतः प्रवेश करती जाती हैं। जीवन के हर पहलु के दो पक्ष हैं और इन्हें नकारा नहीं जा सकता। दोनों पक्षों के बीच के समन्वय को ही सु-व्यवस्था कहते हैं। अन्यथा तो दुश्चृतियाँ और दुश्चरित्र लोग किसी भी व्यवस्था को लोभ और स्वार्थ के चलते सफल होने नहीं देते। यही सत्ता लोलुपता आगे चल कर भ्रष्ट तंत्र बन जाती है। युधिष्ठिर के सु-शासन के आश्वासन के पश्चात् एक वृद्ध जिन आशंकाओं को उनके समक्ष रखता है, वह आज के परिदृश्यों से कहीं भिन्न नहीं हैं। वह कहता है, “यह सब आप कैसे करेंगे महाराज !.. यहाँ तो सिर्फ दस्युओं का ही राज्य है। कोई दस्यु आपकी सभा में तो उपस्थित होगा नहीं। आपके दंडधर उन्हें उनकी गुफाओं, कंदराओं, सघन-वनाश्रयों तथा नदी के कछारों से पकड़ कर लाने से रहे। और जिस किसी एकाध को आप पकड़ मंगवायेगें, वह या तो स्वयं किसी बड़े आदमी के कुल गोत्र का व्यक्ति निकल आयेगा, या फिर उसकी रक्षा के लिए कोई राजा, महापुरुष, सेनापति अथवा देवता आ खड़ा होगा। किसी अपराधी को किसी महापुरुष का सरंक्षण प्राप्त है, किसी को किसी का। समर्थ लोगों ने अपने अपने दस्यु पाल रखे हैं। हमारा नगर तो अपराधी सेनाओं की छावनी बन गया है महाराज! इन सबसे कैसे निबटेंगे आप!” (कोहली, महासमर 4,18)

यह दृश्य वर्तमान व्यवस्था की त्रासदी की ओर ही तो इंगित करता है। रचनाकार बार बार सांकेतिक भाषा से वर्तमान की चिंताएं कहता हुआ मूल्यों की आवश्यकता को प्रकट करता है। ऐसी ही स्थितियां तो हम आज भी देखते हैं। जो दुश्चरित्र हैं वह या तो स्वयं समर्थ बन औरों को डराते हैं या अपने सम्बन्ध ऐसे सबल लोगों से बना कर दुर्बलों को धमकाते हैं। बल्कि ऐसे दस्यु किसी से जब कोई बेगार या कार्य लेते हैं, तो उसका परिश्रमिक देना आवश्यक नहीं समझते। इसके विपरीत प्राणदान ही उनका परिश्रमिक मान लिया जाता है, क्योंकि उनका विरोध करने से वह प्राण भी हर सकते हैं। बहुत अद्भुत है ऐसी मानसिकता वाले लोग ! ये लोग ऐसे शासन को पनपने ही नहीं देते, जहाँ दुष्ट-दलन होता है। दस्यु तो अराजकता ही चाहता है। जिससे आशासन और दुर्बल शासन उनका सहायक रहे। काला धन एकत्र करने में कोई कष्ट न हो। सत्ता द्वारा स्वार्थ सिद्ध हो सकें। सामयिकता की प्रासंगिकता ऐसे ही तो प्रमाणित होती है। यहीं आकर भौतिकता स्वार्थ पूर्ण होकर समाज में दूषित वातावरण तैयार कर देती है, जिसे बचाते हुए हमें मूल्यों की अनिवार्यता को समझते हुए, उसे सबको समझाना भी होगा।

## प्रजा की सुविधा हेतु प्राशसकीय प्रयत्न

जीवन की शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक आवश्यकताएं ही भौतिक समृद्धि की ओर प्रेरित करती हैं। यदि व्यक्ति सात्विक वृत्तियों से पूर्ण है, तो यही विकास शुभ के साथ-साथ लाभ का रूप ले भौतिक-समृद्धि बन कर सर्व-कल्याण का द्योतक बन जाता है। यही महासमर का सन्देश है। तभी कृष्ण, युधिष्ठिर और अन्य पांडवों को निर्माण का परामर्श देते हैं। जिससे प्रजा का भौतिक-आर्थिक विकास हो कर उनके स्व-विकास की दिशा बन सके। युधिष्ठिर कृष्ण के आदेशानुसार ऐसा ही निर्माण करने का प्रबंध करते भी हैं, “खांडव वन को ऐसे ही रहने दिया जाए, उसे ध्वस्त करने का हमें कोई लाभ नहीं। नगर के निकट वन रहेगा, तो हमें लकड़ी, पत्तों तथा वनज-फलों, तथा अन्य वस्तुओं की सुविधा भी रहेगी। वायुमंडल शुद्ध रहेगा, वर्षा अच्छी होगी। पशुओं के लिए गोचर भूमि तथा

वनस्पति की सुविधा रहेगी।” ऐसे ही विचार विमर्श करते हुए महामुनि व्यास, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम आदि निर्माण के द्वारा एक समृद्ध राज्य को साकार रूप देने की योजना बनाते हैं। राजपरिवार के लिए प्रसाद, प्रजा के लिए भवन, गंगा तट पर विहार भूमि, क्रीडा-भवन, कृषि के लिए बैलों की व्यवस्था, गोशालाएं, गोशालाओं के निकट गोपालों की बस्तियां, समस्त वस्तुओं के लिए हाट, व्यापारियों के आने-जाने के लिए मार्ग, यात्रा के लिए रथ और अश्वों का प्रबंध, इतने सब प्रजाजनों की सुरक्षा के लिए प्रहरी और सैनिकों का प्रबंध, शिष्य और गुरु के लिए आश्रम, दुष्ट-दलन के लिए न्यायपाल और न्यायधिकरण, भावी पीढ़ियों के लिए गुरुकुल, सैनिक प्रशिक्षण के लिए युद्ध-शाला का निर्माण हो।

यह सारा विवरण हर प्रकार से एक ऐसे राज-समाज का रूप दर्शाता है जहाँ भौतिक समृद्धि अपने सही आकार में प्रस्तुत की गयी है। ऐसा समाज ही व्यक्ति को उन्नति के सोपानों पर ले जाता है। किन्तु यह सब इतना आसान नहीं। इस सारी व्यवस्था के लिए कुछ मूल्यों का, सिद्धांतों का ध्यान रखना पड़ता है, वर्ना जिस उद्देश्य को लेकर इस निर्माण में जुटना है, उससे भटकने में समय नहीं लगता। भारतीय संस्कृति अपने मनीषियों के ज्ञान मूलक निर्देशों और उपदेशों की ओर इसी लिए इंगित करती है। राज्य, समाज एवं व्यक्ति की भौतिक समृद्धि और विकास व्यवस्था के प्रबंध के दौरान जिन मूल्यों का ध्यान रखना चाहिए, महामुनि वेदव्यास उन के विषय में युधिष्ठिर को कहते हैं, “युधिष्ठिर ! धर्म वही है, जहाँ न्याय है। न्याय का अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास के लिए अवसर का प्राप्त होना। आगे बढ़ने का मार्ग तो सबके लिए प्रशस्त हो, किन्तु किसी को भी अन्य लोगों का मार्ग रोककर अपने लिए कुछ अधिक प्राप्त करने का विशेषाधिकार न हो। तुम्हारी प्रजा के एक भी व्यक्ति को यह न लगे, कि क्षमता होने पर भी वह जीवन में आगे नहीं बढ़ सका। किसी को कभी यह नहीं लगे, कि उससे कम क्षमतावान उसके प्रति अन्याय कर जीवन में उससे आगे बढ़ गया है। इसका अर्थ है कि शासन का विधान बहुत सोच-समझ कर बनाया जाये और उस विधान को उसकी भावना सहित पूर्णरूपेण, बिना किसी अपवाद के प्रजा पर लागू किया जाये। प्रत्येक व्यक्ति

को अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल कार्य मिले, जो उसकी आजीविका का साधन हो। किसी को अपना कार्य बोझ न लगे। अनाधिकारी का सम्मान और अधिकारी की अवमानना-दोनों ही सामान कोटि के पाप हैं धर्मराज! आचरण और आत्मा के विकास को देखते हुए व्यक्ति को ब्राह्मण मानना, केवल पाखण्ड करने वाले को यह अधिकार नहीं देना। उसी क्षत्रिय के हाथ में शस्त्र देना, जिसके लिए न्याय के पक्ष में, दुर्बल और असहाय लोगों की रक्षा करते हुए प्राण देना जीवन की चरम उपलब्धि हो। जिन्हें, प्रजा के धन से पालित-पोषित हो, जीवन के सारे भोग, भोगकर न्याय युद्ध के समय अपने प्राण ही सबसे प्रिय हो जाँएँ..और वे पूछने लगे कि वे अन्य लोगों की रक्षा करते हुए अपने प्राण क्यों दें ?..उन्हें दायित्व नहीं देना। ..जिनकी प्रवृत्ति धर्मपूर्वक धन अर्जित करने की है, वे वैश्य हैं। धर्म का त्याग कर, न्याय की उपेक्षा कर, प्रजा को धोखा दे कर अथवा षड्यंत्र रच कर अन्य लोगों का अहित कर के जो धन एकत्रित करता है वह दस्यु है, वैश्य नहीं। विषम परिस्थितियों में किसी की बाध्यता का लाभ उठाकर उसे लूटना भी व्यवसाय नहीं है। वस्तुतः जिसके उत्पादन, उद्योग तथा व्यवसाय से धर्म की हानि किये बिना, समाज में समृद्धि आती है, वह वैश्य है। समाज को वंचित कर अपने लिए धन संचित करने वाला अपराधी है। राजा के लिए उचित है कि उसे दण्डित करे। और जिसकी बुद्धि अविकसित है, जिसकी अपनी किसी वृत्ति, योग्यता तथा क्षमता का विकास नहीं हुआ है, दूसरों के निर्देशानुसार शुद्र काम करने वाला शुद्र है। राजा के रूप में तुम्हारे लिए आवश्यक है कि तुम इनमें से किसी की भी उपेक्षा मत करो। किसी भी व्यक्ति को न शोषण करने दो, न शोषित होने दो। तुम्हारी सभा में इन सब श्रेणियों के प्रतिनिधि हों। उन सब के परामर्श से शासन करो। तुम्हारी प्रजा का समस्त अनासक्त बुद्धि-वैभव समाज के लिए चिंतन करे, समस्त न्याय-स्फूर्त शौर्य दुष्ट दलन कर प्रजा की भीतरी और बाहरी शत्रुओं से रक्षा करे, समस्त भौतिक ज्ञान और सांसारिक बुद्धि सामाजिक हित में उत्पादन और अर्जन करे और समस्त शरीर-श्रम निर्लोभ मन से निर्माण कार्य में लगे। इस बात का ध्यान रखना पुत्र ! कि इन सबके कार्य समाज के लिए उपयोगी हैं। संकीर्ण स्वार्थ के कारण लोग उनका महत्व कम और अधिक आंकेंगे..अनुपात में अंतर हो भी सकता है, किन्तु किसी



के पास इतना कम न हो, कि वह अपमान और भूख का जीवन जिए, अथवा मृत्यु के वरण को बाध्य हो .. और किसी के पास इतना अधिक न हो, कि उसकी समृद्धि समाज के लिए दुष्ट शक्ति के रूप में स्थापित हो जाये। ईश्वर अपने विधान के अनुसार किसी को कम और किसी को अधिक क्षमता देता है, दे। वह पूर्ण न्यायी तथा समदर्शी है। उसके न्याय पर हम संदेह नहीं कर सकते। किन्तु तुम पूज्य-पूजन करते हुए भी किसी का उसकी अक्षमता, दुर्बलता अथवा अज्ञान के लिए अपमान न करना।” (कोहली, महासमर 4,55)

## व्यवस्था, विकास एवं निर्माण में विशुद्ध योजनाओं द्वारा प्रशासकीय समृद्धि

उपरोक्त दृष्टान्त इस बात का दर्पण है कि, एक सभ्य एवं व्यवस्थित समाज कैसा हो, और उसकी व्यवस्था में शासक किन मूल्यों का ध्यान रखे। महामुनि व्यास के मुख से व्यवस्था, विकास, निर्माण संबंधी जिन मूल्यपरक सिद्धांतों को महासमर में उपन्यासकार प्रकट कर रहा है, वह किसी न किसी रूप में आज भी प्रासंगिक हैं। वास्तव में रचनाकार आज की दुरुहताओं को ही कहीं न कहीं विचार के धरातल पर रख कर पाठकों को उद्वेलित कर रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो वर्तमान की चिंताएं भी महासमर की परिस्थितियों से कहीं विलग नहीं, वस्तुतः यह सत्य ही बारम्बार समक्ष उपस्थित हो जाता है। महामुनि वेदव्यास का वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप उचित कार्य विभाजन का उपदेश बहुत सारगर्भित है। शास्त्रों के अनुसार पुरातन काल में समाज का विभाजन वर्ण व्यवस्था के अनुरूप था, किन्तु उसकी सूक्ष्मता को कहते हुए व्यास मुनि ने कहा कि आचरण की शुद्धता और व्यक्ति के कार्य को देखते हुए ही उसे कार्य का उतरदायित्व दिया जाना चाहिए। जैसे यदि ब्राह्मण आचरण की शुद्धता को नहीं दर्शाता और उसका आत्म विकास नहीं हुआ तो उसे ब्राह्मण का उतरदायित्व नहीं दिया जाना चाहिए। यदि सात्विक और बिना किसी को नुकसान पहुंचाए व्यक्ति व्यापार करता है, तो ही उसे वैश्य का दर्जा प्राप्त होना चाहिए। यदि वह समाज की रक्षा करने के लिए न्याय

पूर्वक प्राणों का बलिदान करने को तत्पर है, तभी वह क्षत्रिय कहलाता है और रक्षक का दायित्व निभाने के योग्य है। इस बात पर गौर करना होगा कि वेदव्यास कहीं भी जन्म और जाति से कार्य का विभाजन नहीं करने को कह रहे, उनके संभाषण में कार्य का विभाजन उसकी कर्मवृत्ति और उसके आचरण की पवित्रता पर निर्भर है। युधिष्ठिर को कार्य के उतरदायित्व के लिए समझाते हुए जो कुछ वेदव्यास कहते हैं, वह आज की दुरूह स्थितियों को सही करने के लिए एक इशारा है। आज का समाज जात-पात, आदि में फंसा है और पूर्वाग्रहों के कारण अपने दायित्वों से अनजान है। समाज में इतनी अराजकता है कि अधिकार तो सब चाहते हैं किन्तु कर्तव्य का कहीं नामनिशान नहीं। हर व्यक्ति, जाति के नाम पर अपने अधिकारों को सरंक्षित करना चाहता है। आरक्षण के नाम पर विचारों और व्यवस्थाओं का इतना अधिक प्रदुषण है, जो समाज को अंदर ही अंदर खोखला करता जा रहा है। आगे वेदव्यास स्थिति की गंभीरता को देखते हुए समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। वह जानते हैं कि समाज में यदि योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य विभाजन न हो तो असंतोष की वजह से अराजकता फैल सकती है, इसका निराकरण करने के लिए वह पहले ही युधिष्ठिर को कह देते हैं कि शासन की नीतियां बने और सब पर रोपित हों। कोई इन से बाहर न हो। योग्य को, कार्य योग्यतानुसार मिले। विकास के अवसर सबको मिलें। कम कुशल को आगे बढ़ने का मौका मिले और योग्य पीछे रह कर अफ़सोस करे, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने ही न दी जाये। सब को सामान अवसर मिले। और दोषी को दंड का भी भय हो। राजा का दायित्व कहते हुए महामुनि वेदव्यास एक ऐसी व्यवस्था को आरोपित करने का प्रयास कर रहे हैं जहाँ न्याय है, धर्म है, जीविका के सामान अवसर हैं, योग्यतानुसार दायित्व हैं, अन्याय के लिए दंड है। सबके परामर्श का महत्व है। किसी को बहुत अधिक नहीं किसी को बहुत कम नहीं। बहुत अद्भुत वर्णन है— साम्यवाद, समाजवाद, प्रजातंत्र, लोकतंत्र, गणतंत्र और राजतंत्र का उत्तम रूप वर्णन है।

इसीलिए भारतीय शास्त्र किसी भी समस्या को हल करने में सक्षम हैं। वेदशक्ति अर्थात् वेदों में लिखा ज्ञान, धर्म और न्याय एक दूसरे के पर्याय हैं। यह महामुनि के शब्दों द्वारा उपन्यासकार प्रेषित करने में सफल रहा है। और देखें ! युधिष्ठिर ऐसी व्यवस्था करने में किसी हद तक सफल भी रहते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे समझते हैं। नारदमुनि का खांडवप्रस्थ में आगमन होता है। उनका स्वागत कर, सहदेव उन्हें नगर दर्शन कराते हुए लाते हैं, और उन्हें नवीन प्राचीरों, नव निर्मित प्रशस्त मार्गों, सुंदर घाटों, और नगर के चारों ओर रक्षा हेतु खोदी गयी खाइयों, अन्य सुरक्षा व्यवस्थाओं को दिखाते हैं। नगर बनाने के प्रयासों में प्रकृति को सायास उसकी पूर्व दशा में रखने के पश्चात् भी कहीं-कहीं प्रकृति को वहां से हटा दिया गया था। जहाँ प्रकृति जैसा कुछ दीखता भी था तो वह कृत्रिम सा लगता था। विकास संबंधी उनके प्रश्नों का उत्तर भी देते जाते हैं। वे देवऋषि नारद के पूछने पर, कि विकास कहाँ-कहाँ हुआ है ? उत्तर देते हैं, “विकास बहुत हुआ है। नगर की जनसँख्या बहुत बढ़ गयी है। व्यापार में भी वृद्धि हुई है। आजीविका की खोज में प्रतिदिन अनेक श्रमिक, सैनिक, कृषक, व्यापारी और उद्यमी.. बहुत प्रकार के लोग आ रहे हैं। उनके लिए निरंतर भवन और मार्ग बन रहे हैं। हाट और आगार बन रहे हैं। गतिविधि बढ़ रही है और हमें निरंतर सावधान रहना पड़ता है कि आजीविका की खोज में आये इन लोगों की ओट में कहीं दुष्ट और साहसिक लोग भी नगर में न आ जाएँ। वैसे ही इस क्षेत्र में साधारण चोरों से लेकर दस्युओं और साहसिकों की कमी नहीं है। मुझे लगता है कि अराजकता के कारण यहाँ के पूर्व निवासियों में अपराध-कर्म ही स्वीकृत जीवन पद्यति हो गया था। वे लोग अब भी धर्मपूर्वक आजीविका अर्जित करने के विश्वासी नहीं हैं। .. धनजय निरंतर नये और अधिक सक्षम दिव्यास्त्रों के आविष्कार और निर्माण में लगे रहते हैं। सेनानायकों को निरंतर नये शस्त्रों के व्यवहार में प्रशिक्षित किया जा रहा है। (कोहली, महासमर 4,61)

यहाँ नारदमुनि और सहदेव के सवांद, वीथिकाओं, हाटों, वैश्य एवं क्षत्रिय कार्य-क्षेत्रों और शस्त्रों के विकास का वर्णन कर रहे हैं, जिससे जनसमाज का

व्यापार सुचारू रूप से चल सके, और उनकी रक्षा भी उचित रूप से हो सकें। ध्यान देने वाली बात यह है कि सहदेव के सवांद बाहर से आने वाले अराजक तत्वों के प्रति जागरूकता की ओर इशारा भी कर रहे हैं। जो सुरक्षा व्यवस्था का एक अहम् अंग है। महासमर उपन्यास का एक भी कोण ऐसा नहीं जो वर्तमान वातावरण के किसी पक्ष को अछूता छोड़ता है। प्रत्येक घटना सामयिक रूप से किसी न किसी सन्दर्भ से सम्बंधित हो जाती है।

## आर्थिक विकास से शक्ति सम्पन्न भविष्य दर्शन की वर्तमान संकल्पना

भारत के मनीषी पूर्व राष्ट्रपति, मिसाइल मैन, भारतरत्न डॉ. अब्दुल कलाम ने एक बार एक पब्लिक समारोह में अपने भविष्य-दर्शन के विषय में एक भाषण दिया था। इस सारगर्भित भाषण में उन्होंने अपने भविष्य-निरूपण के तीन मुख्य आयामों के विषय में तर्क रखे। उन्होंने कहा कि आर्थिक और भौतिक समृद्धि का देश की उन्नति में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार, “3000 वर्षों का इतिहास बताता है कि भारत पर लगातार बाहरी आक्रमणकारियों ने हमारी धरती, और हमारे मन मस्तिष्क को गुलाम बना कर रखा। सिकंदर से आगे मुग़ल, पुर्तागीज़, ब्रिटिश, फ्रेंच आदि आये और हमारी अस्मिता को लूटते रहे। किन्तु, हमने किसी को कभी नहीं लूटा। न कभी उनकी जमीन लूटी, न उनकी संस्कृति का हरण किया, न उनके इतिहास को छोड़ा, न उनपर अपने आचार-विचार थोपे। क्यों? क्योंकि हम सबकी स्वतंत्रता का सम्मान करते हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में प्रथम आयाम स्वतंत्रता है। स्मरण रहे ! यह स्वतंत्रता ही है, जिसे हमें बचाना और संभालना होगा, यदि हम स्वतंत्र ही न हुए तो कोई हमारा सम्मान नहीं करेगा। मेरी दृष्टि में दूसरा आयाम है विकास। लगभग 50 वर्षों से हम विकासशील देश की श्रेणी में खड़े हैं। अब समय आ गया है, जब हमें स्वयं को विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा करना होगा। यह सम्मान की बात है कि विश्व की जी.डी.पी. के मानदंडों पर हमारा देश चौथे स्थान पर है। हमारी उपलब्धियों को विश्व-स्तर पर स्वीकारा

जा रहा है। इसके बावजूद भी स्वयं को विकसित देश मानने में हम साहस और आत्मविश्वास की कमी महसूस करते हैं। मेरा तीसरा विज्ञान है शक्ति एवं समृद्धि। अब हमें अपने देश को विश्व के समक्ष खड़ा करना होगा। नहीं तो कोई हमारा सम्मान नहीं करेगा। शक्ति ही शक्ति को सम्मानित करती है। हमें केवल सैन्य शक्ति को ही समृद्ध नहीं करना वरन आर्थिक रूप से भी स्वयं को समृद्ध करना होगा। दोनों की समन्वित उन्नति ही विकास की धोतक है। अपनी दूसरी महान उपलब्धियों की ओर देखें— हम दूध उत्पादन में प्रथम हैं। हम सुदूर संवेदन उपग्रह (remote Sensing.Satellite) में प्रथम हैं। गेहूं एवं चावल के उत्पादन में हम दूसरे स्थान पर आते हैं। इस तरह के सैकड़ों कार्य हैं जिनमें हमारी उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं, किन्तु हमारे संचारमाध्यम-हमारा मीडिया केवल आपदाओं और नकारात्मक समाचारों का ही प्रचार-प्रसार करता है। अपनी उपलब्धियों और अपने समृद्ध सम्मान को अपनाने तथा मानने में हम भारतीय क्यों असमंजस अनुभव करते हैं।” (कलाम)

देश अथवा राज्य को, शक्ति और समृद्धि की आवश्यकता होती है, यह एक प्रमाणित तथ्य है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति भौतिक-आर्थिक रूप से संपन्न नहीं हो सकता, और एक समय था जब मानसिक अध्यात्मिक रूप से समृद्ध व्यक्ति समाज में पूज्यनीय माने जाते थे, किन्तु धीरे धीरे युग ने करवट ली। आर्थिक रूप से एक स्तर के लोगों में सम्बन्ध होने लगे। मानसिक, बौद्धिक और अध्यात्मिक रूप से विकसित व्यक्ति भी यदि आर्थिक रूप से समृद्ध है, तभी उसे पूछा जाता है। संसार का धन और अर्थ की और झुकाव ही कदाचित शक्ति से शक्ति के सम्बन्ध का कारण बना। तभी तो कृष्ण महासमर में एक स्थान पर युधिष्ठिर को राजसुज्ञ यज्ञ करने का परामर्श देते हैं। वह जानते हैं कि यदि एक धर्म राज्य की स्थापना करनी है तो धर्म के साथ-साथ एक समृद्ध राज्य की आवश्यकता को नाकारा नहीं जा सकता, आर्थिक और भौतिक रूप से समृद्ध राष्ट्र ही किसी अन्य राज्य की सुरक्षा का साधन बन सकता है।

जैसा कि महामहिम पूर्व राष्ट्रपति कलाम का कथन है कि शक्ति द्वारा, शक्ति की ही सराहना संभव है। इसी तथ्य को आज का समाज भी अपने आचरण में कहीं न कहीं अपना चुका है। समाज के लोग अपने स्तर के लोगों से ही सम्बन्ध बनाने का प्रयास करते हैं। अपने से आर्थिक रूप से कमतर लोगों से सम्बन्ध बनाना अपना अपमान समझते हैं। उसके लिए चाहे उन्हें अपने किन्हीं मूल्यों से ही समझौता क्यों न करना पड़े। अच्छा कौन है ? बड़ा आदमी कौन है ? इसकी कुछ-कुछ परिभाषाएं बदल सी गयी हैं। बलवान-स्तुति का बोलबाला है। इसी सम्बन्ध में महासमर से एक उदाहरण आज के सन्दर्भों को देखते हुए प्रस्तुत है। अर्जुन अपने वनवास के पश्चात् द्वारका पहुँचता है। कृष्ण उसे अपनी भगिनी सुभद्रा के लिए वर के रूप में चाहते हैं। किन्तु द्वारिका की धर्म-सभा में सुभद्रा के वर के रूप में दुर्योधन के विषय में विचार हो रहा है, इस चुनाव के लिए उनके तर्क क्या हैं ? ...अर्जुन युधिष्ठिर को पत्र लिख कर यह सत्य बताना चाहते हैं कि, 'कृष्ण की मैत्री, स्नेह और सोहार्द के होते हुए भी उनके सबसे बड़े मित्र और सहायक यादव, पांडवों को इस योग्य भी नहीं मानते, कि वह अर्जुन को अपनी कन्या के योग्य वर स्वीकार करें। पांडव उनकी दया के पात्र हैं, स्पर्हा के नहीं। इन्द्रप्रस्थ उनके लिए एक बहुत छोटा सा राज्य है। महत्वहीन और समृद्धि शून्य। ..यदि पांडवों को राजाओं और राजवंशियों की बिरादरी में सर उठा कर सम्मानपूर्वक, बराबरी के आधार पर जीना है, तो उन्हें अपने राज्य का विस्तार करना होगा, धन-धान्य और सम्पन्नता की दृष्टि से कुछ और समृद्ध होना होगा। यादवों के निरीह और असहाय सम्बन्धी नहीं, उनके योग्य समर्थ और सक्षम सम्बन्धी बनना होगा। ..धृतराष्ट्र ने उन्हें किस प्रकार वंचित किया है, जैसे कोई अपने किसी निर्धन सम्बन्धी को उसकी आजीविका के लिए दयावश कोई उपेक्षित भूखंड दे दे। यदि यादवों की दृष्टि में भी हस्तिनापुर का राज्य इन्द्रप्रस्थ से इतना अधिक समृद्धशाली और महत्वपूर्ण है कि वे पापी, अधर्मी और आततायी दुर्योधन से अपनी कन्या का सम्बन्ध करने का न केवल विचार कर सकते हैं, वरन स्वयं अपनी पहल पर इसका प्रस्ताव हस्तिनापुर भेज सकते हैं। ...तो पांडव किस आधार पर आश्वस्त होकर बैठे हैं ?' (कोहली, महासमर 4,181)

यह विवरण क्या दर्शाता है ? कितने बदल गये हैं हमारे मूल्य। कितना समझौतावादी हो गया है व्यक्ति। यहाँ शक्ति और समृद्धि के अर्थ परिवर्तित हो गये हैं। किसी का कितना आत्म-विकास हुआ है ? इसके विषय में विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी। हाँ उसके पास कितना धन-धान्य है यह अधिक महत्वपूर्ण है। पांडवों की सात्विक वृत्तियाँ भी उन्हें समृद्ध होने का प्रमाण नहीं दे पाती। कृष्ण के पिता वासुदेव भी इस विडंबना के विषय में सोचते हैं। वह कृष्ण के प्रस्ताव पर विचार करते हुए अपने मन में झाँकते हैं, 'क्या कृष्ण सत्य कह रहा था? यादवों ने समृद्ध और समर्थ होकर क्या धर्म और अधर्म का भेद भुला दिया है ? उनके लिए समृद्धि, धर्म से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है ? अभी उन्होंने सुभद्रा के वर का चयन नहीं किया था, किन्तु दुर्योधन के नाम पर विचार तो चल ही रहा था। यदि उन लोगों ने धर्म की दृष्टि से विचार किया होता, तो उस आततायी के नाम पर विचार ही नहीं किया होता। अब उनकी समझ में स्पष्ट रूप से आ रहा था कि धन के साथ कीटाणुओं के समान लगे हुए दुर्गुणों को वे देख नहीं पाए थे। वे लोग सुविधाजीवी हो गये थे। ..कष्ट में रहने की बात नहीं सोच सकते थे..। क्या हो गया है यादवों को ?..पर इस कृष्ण को कोई प्रमाद नहीं छूता। वह ऐश्वर्य के मध्य रहकर भी जैसे उससे अछूता ही है। उसे धनी व्यक्ति का अधर्म तो दिखाई देता है, उसका धन नहीं। वह कंगाल से कंगाल व्यक्ति को भी उसकी सात्विकता के अनुपात में गले से लगा सकता है।' (कोहली, महासमर 4,199).....ये हैं मूल्य समृद्धि के बीच रहते हुए अनासक्त आचरण।

अब यह उदाहरण व्यक्ति के धन लोभ के कारण, आचरण के बदलते मूल्यों की ओर इंगित कर रहा है। अफ़सोस ! इस काल की यही सबसे बड़ी त्रासदी है कि, व्यक्ति के लिए मूल्यों का महत्व धन के उपरान्त आता है। वसुदेव की उक्ति में एक और बात उल्लेखनीय है, जब वह कृष्ण के बारे में सोचते हैं तो साथ ही धर्म की बात सोचते हैं। एक न्यायपूर्ण व्यक्ति धर्म की कीमत पर धन को कभी नहीं अपनायेगा। किन्तु वर्तमान की विडंबना है कि ऐसे व्यक्ति को खोजें तो वह भी विरले ही उपलब्ध होंगे।

## धन, लोभ, मोह की विदूषताओं की महा-माया

सांसारिक और भौतिक उपलब्धियों के साथ इस सत्य को नहीं झुठला सकते कि वह अपने साथ कई विदूषतायें भी आमंत्रित कर लेती है। यह वह माया है, जिसे बड़े बड़े ऋषि मुनियों ने भी स्वीकार किया। धन सम्पत्ति का मोह मनुष्य को उसके कर्तव्य पथ से विचलित कर देता है। वह अपने आचरण की सात्विकता को भूल अपनी दुश्चतियों के चक्र में फंस जाता है। स्वयं कृष्ण यादवों में समृद्धि के दुष्परिणामों को देखते हुए कष्ट का अनुभव करते हुए अर्जुन को कहते हैं कि, 'अब इन्द्रप्रस्थ का राज्य इतना नगण्य और महत्वहीन नहीं रहना चाहिए कि उनके अपने सम्बन्धी पांचालों और यादवों को उन्हें अपना सम्बन्धी मानने में संकोच हो।' (कोहली, महासमर 4,203)

कृष्ण को इस बात का कष्ट है कि जिन यादवों के राज्य के लिए उसने नारायणी सेना का, धर्म-सभा की रचना की थी, आज वह अपने उद्देश्य से भटक कर भौतिक सुविधाओं में स्वयं को खो चुकी है। इसीलिए कृष्ण यादवों के विपरीत, युधिष्ठिर के द्वारा राजसूय यज्ञ करवाकर धर्मराज्य की संकल्पना को साकार करना चाहते हैं।

अर्जुन श्रीकृष्ण से एक प्रश्न पूछते हैं, द्वारका के शक्तिशाली और समर्थ यादवों के रहते वह राजसूय यज्ञ का परामर्श युधिष्ठिर को ही क्यों दे रहे हैं? कृष्ण का उत्तर, यादवों के साधारण एवं सादा जीवन से ऐश्वर्य के चरम तक पहुँचने की कथा कहता है। किन्तु सुविधाएँ पाए यादव किस प्रकार लोभ के जंजाल में फंस कर स्वार्थी हो गये हैं। इस बात को दर्शाता है। उन्हें धन के आगे धर्म का भान नहीं रहा। वे समृद्धि को ही जीवन का मूल समझने लगे हैं। लेखक महासमर के दृष्टान्तों को उकेरता हुआ बार-बार उन परिस्थितियों का वर्णन करता है, जो आज भी वर्तमान हैं। महाभारत काल के जिन महानुभावों की गाथा कहते हुए रचनाकार उस समय कि विदूषताओं का बखान करता है, वह विडंबनायें और विदूषताएं आज भी समस्या का आवरण ओढ़े समय के सामने चुनौती बन के खड़ी हैं। उनका वक्तव्य



इस तरफ अर्जुन का ध्यान आकृष्ट करता है कि, वास्तविक समृद्धि क्या है और उसके प्रभाव की सीमा किस ओर ! और कितनी मात्रा में ! होनी चाहिए ।

कृष्ण यादवों का उल्लेख करते हुए अर्जुन को चिंतातुर स्वर में कहते हैं, 'यादवों में अब बहुत अन्तर आ गया है। अब वे पहले जैसे यादव नहीं हैं, जो कंस के क्रूर शासन से पीड़ित थे, या जरासंध से आंतकित और त्रस्त थे। अब उन्हें न कालयवन का भय है न जरासंध का न शिशुपाल का न रुक्मी का। अब वे साधारण कृषक या पशु पालक भी नहीं हैं अब वे स्वतंत्र हैं, महाराज उग्रसेन का शासन उनपर नाममात्र का ही है। उनके कृषकों के पास विशाल भूखंड हैं। भूमि उपजाऊ है। जल का अभाव नहीं है। वे स्वेच्छा से मनमानी फसलें उपजा सकते हैं। पशु पालकों के पास सुदीर्घ बाड़े हैं। असंख्य गोधन है। योजनों तक फैली हुई गोचर भूमि है। उद्योगों की भी कमी नहीं है। प्रत्येक घर में कोई न कोई उद्योग ही रहा है। वे सागर तट पर बसे हैं, विभिन्न देशों के व्यापारियों से कर लेते हैं। सागर के वक्ष पर उनकी बड़ी बड़ी नौकाएं और जलपोत चलते हैं। उनके पास अपार सैन्य शक्ति है। उन्हें किसी का भय नहीं। यह सृष्टि का रहस्य है कि आततायी के भय से मुक्त होकर मनुष्य स्वयं ही आततायी बनने कि प्रक्रिया आरंभ कर देता है। अपने कष्टों से मुक्त होकर वह दूसरों के कष्टों के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। दूसरों के शासन से मुक्त होकर वह स्वयं दूसरों पर शासन की आकांक्षा करने लगता है। उन्हें अब धर्म के स्थान पर धन दिखाई देने लग गया है। वे अब तपस्या से अधिक भोग को महत्व देने लगे हैं। स्वयं मेरे परिवार में अर्जुन तथा दुर्योधन समान तुला पर तुलने लगे हैं..और वैभव के आधिक्य के कारण दुर्योधन अधिक वरेण्य होने लगा है। ..मैं जिस धर्म राज्य की कल्पना करता हूँ उसकी स्थापना अब यादवों द्वारा नहीं हो सकती। ..न ही दुपद प्रतिशोध के भाव के रहते यह कर सकते हैं। न वे अपना अहंकार छोड़ पाएंगे, न धर्म को निरपेक्ष भाव से देख पाएंगे। अतः धर्म को इतना दुर्बल और नगण्य नहीं होना चाहिए। इन्द्रप्रस्थ इतना दुर्बल रहकर जम्बूद्वीप को धर्म का मार्ग कैसे दिखायेगा ? अन्य राजा यदि उसकी श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करेंगे तो उसे अपना आदर्श तथा अनुकरणीय कैसे मानेंगे ? वह पापियों और

अधर्मियों को आंतकित कैसे करेगा ? उन्हें पाप से विरत कैसे करेगा ? धर्मराज को कुछ उधम तो करना ही होगा। उन्हें चक्रवर्ती सम्राटों के लिए आदर्श, अनुकरणीय तथा त्रास..तीनों बनना होगा। धर्म का राज्य होगा तो प्रत्येक व्यक्ति स्वशासित होगा। वस्तुतः जिन्हें राज्य में आसक्ति है, वे धर्म-शासन कर ही नहीं सकते। यदि आज यादवों को यह अवसर दिया गया.तो या तो वे धन, वैभव, सम्पत्ति और सत्ता के लिए परस्पर एक-दूसरे से लड़कर प्रथक हो जायेंगे, या फिर जरासंध के ही समान एक क्रूर अत्याचारी शासन स्थापित करेंगे। यादवों में स्वतन्त्रता है और प्रतिद्वंद्विता भी। यदि द्वारका के राज्य का विस्तार हुआ तो साम्राज्य का विस्तार होगा, किन्तु धर्म की स्थापना के लिए नहीं। मैं जानता हूँ कि यादवों ने यदि और ऐश्वर्य प्राप्त किया तो उसमें न उनका हित है, न धर्म का। ..शासन का अधिकार केवल उसे ही है, जिसे शासन में आसक्ति नहीं है, जो भोग के लिए, वैभव विलास के लिए, अपने अधिकार और अहंकार के लिए, शासन नहीं करता। शासन करता है, तो केवल धर्म स्थापना के लिए, और धर्म के लिए निमिष भर में सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य त्याग सकता है।' (कोहली, महासमर 4,203)

व्यक्ति सात्विक और पाशविक दो प्रकार की वृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। अब वह अपने जीवन में किस वृत्ति को अभीष्ट मान कर अपने आचरण में उतारता है। यह उसके स्वयं के निर्णय, उसके आचरण, उसके वातावरण, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके संस्कार और उसके मूल्य तय करते हैं। जीवन में सुविधाओं का होना अति-आवश्यक है, किन्तु सुविधाओं के जाल में फंस कर अपने धर्म से विचलित होना और धन के लोभ को स्वरण न कर पाना उसकी दुर्बल मानसिकता का द्योतक है। विवेक, मनुष्य को सदैव इस बात की ओर इशारा करता है, कि क्या सही है ? किन्तु वह अपने लोभ, अहंकार और आसक्ति जैसी वृत्तियों के चले अपने पर नियंत्रण नहीं कर पाता और कर्तव्य से च्युत होकर धर्म की हानि करता है। कृष्ण के शब्द यही निर्देश दे रहे हैं, कि यदि सुविधाओं के कारण व्यक्ति अपने धर्म से विमुख हो जाता है, तो वह अच्छा शासक नहीं बन सकता। धन-धान्य में आसक्ति और लोभ व्यक्ति को न्याय से विमुख कर देते हैं। स्वार्थी मनुष्य कभी भी

जन-कल्याण के कार्य नहीं कर पाता। जिस में सत्ता के प्रति मोह नहीं, जो किसी भी समय सत्ता और शासन का त्याग करने को तत्पर रहे, जिसके मन में धन की लालसा न हो, वास्तव में वही धन का, समृद्धि का और शासन का अधिकारी है। जिसे कुछ मिला ही नहीं, वह सब त्याग दे, यह महत्वपूर्ण नहीं, वरन जिसके पास सब है और जन-कल्याण के लिए सब त्यागने को सदैव तत्पर हो वह वास्तव में सत्ता और राज्य का अधिकारी है।

अतः यह तो युग-द्रष्टाओं के अनुसार प्रमाणित ही है कि भौतिक उन्नति सांसारिक प्रगति के लिए आवश्यक है। भारतीय समाज में कला की एक अपनी जगह है। कुछ लोगों को यह लगता है कि कलात्मक होने से सुचारू जीविका नहीं चल सकती, किन्तु आज इन पूर्वाग्रह में दरार उत्पन्न हो गयी है। आज ललित कलाएं न केवल मन को शांति और संतोष देती हैं वरन जीविका का साधन भी बनती हैं। जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। कुछ संकुचित दृष्टिकोण लिए व्यक्ति इस विस्तार की कल्पना नहीं कर पाते। आज के तकनीकी युग ने भारतीय मानस और वातावरण को कला के साथ साथ व्यापार को समन्वित करना सिखा दिया है। दैनिक भास्कर समाचारपत्र में सम्पादकीय पृष्ठ पर एक लेख प्रकाशित हुआ था, लिखा था-श्री प्रसून जोशी ने। प्रख्यात गीतकार, कवि, पटकथा लेखक और वर्तमान (2018) में फिल्म सेंसर बोर्ड के चेयरमैन श्री प्रसून जोशी का मत है, “मैं यह नहीं मानता कि कला और व्यापार का साथ चल पाना संभव नहीं। विश्व में ऐसे कई उदाहरण हैं, जहाँ व्यापार के साथ कला गरिमा लिए खड़ी दिखाई देती है, फिर भी बाज़ार, लाभ हानि से जुड़ी कला और आह से उपजे गान का अंतर स्पष्ट होना चाहिए। जब उमड़ कर आँखों से कविता बहती है, तब उसके आवेग कोई न कोई बॉक्स ऑफिस रोक पाता है, न कोई बैलेंस शीट। वह तो निश्छल और निर्विकार होती है, जोड़-तोड़ के गणित से स्वतंत्र। सच तो यह है, कि एक दूसरे की परवाह करने वाले समाज में एक सहजता होती है। एक रिश्ता होता है मानव का मानव से, हृदय का हृदय से। वहां आग्नेय नेत्र नहीं स्नेहिल स्नेहसिक्त आँखें होती हैं। एक दूसरे पर संदेह नहीं विश्वास होता है, एक बुनियादी विश्वास, हमारे हर्ष, पीडाएं

साँझा हैं। यह जीवन भी साँझा है। यह विश्वास कलाकार और लोगों के बीच से कभी लुप्त नहीं होना चाहिए। कला मात्र आनंद के लिए नहीं, उसका आकाश असीम है। विचार मंथन करते, प्रश्न उठाते और खुद को टटोलते हुए एक तरंगिनी सा बह निकलना, कला के मूल में है, और कला ऐसा करती रही है। समाज को लगातार एक दिशा देती रही है। ऐसे में कभी-कभी असहजता का होना स्वाभाविक है। पर जब तक उसके उत्सर्ग में ईमानदारी है, उसके भाव में सर्जना होगी।” (जोशी 6)

यही मूल्य हैं जिनके दिशा निर्देश के लिए भारतीय संस्कृति के शास्त्र और मनीषी सदैव तत्पर रहे हैं। समृद्धि तो अनिवार्य है किन्तु उसके सत्य, शैव, सुंदर पक्ष की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। इसी संस्कार पर, अपनी उपलब्धि पर गर्व करने को पूर्व राष्ट्रपति कलाम भी इशारा करते हैं।

उन्नति और आत्मविश्वास का चोली-दामन का साथ है। भौतिक प्रगति आत्मविकास का भी कारण बनती है। महासमर के एक चरित्र अक्षय का एक उदाहरण है। वह एक लेपक है। भीम द्वारा आजीविका देने के पश्चात् वह स्वम् में उन्नति करता हुआ वास्तुकार की कुशलता को प्राप्त करता है। अपनी योग्यता और कुशलताओं को बढ़ाते हुए वह अपना आर्थिक और भौतिक विकास तो करता ही है, साथ-साथ धौम्य मुनि के सानिद्ध्य में वह अपना आत्मिक विकास भी करता है। क्या होती है सात्विक-भौतिक उन्नति यह इस चरित्र के माध्यम से लेखक पाठकों के सन्मुख रखता है। वह अपने विषय में अपनी उन्नति के विषय में भीम से बात करता है। अपनी योग्यता द्वारा धनवान होने की अपेक्षा वह कुछ सवाल करता है जो उसके वास्तविक विकास को प्रकट करते हैं। वह कहता है, “मेरे चारों ओर एक पाठशाला सी उग आई है, उसी में घिर गया हूँ। वास्तुकला के माध्यम से दर्शन में प्रवेश पा गया हूँ। मन में प्रश्न तो यही था कि भवन का वास्तविक स्वरूप कैसा हो, जिसमें हमें जीवन व्यतीत करना है ? किन्तु स्थिति बहुत वेग से बदली। ..इस विषय में मैं जितना अध्ययन और मनन करता गया, उतना ही वह मायावी प्रश्न अपना स्वरूप बदलता गया। और सहसा मैंने लक्ष्य किया कि मेरा प्रश्न सर्वथा

परिवर्तित हो चुका है। अब मेरा प्रश्न था कि उस जीवन का स्वरूप क्या है, जो हमे उस भवन में व्यतीत करना है ?..यदि मैं वास्तुकला के ज्ञान का प्रयोग ही नहीं करता, तो धन लेने का मुझे अधिकार ही क्या है ? .. मुझे लगता है, जब तक मैं अज्ञानी था, जानता ही नहीं था कि आदर्श क्या है, सत्य क्या है, स्वच्छता क्या है, तब तक मेरा किसी से झूठ बोलना, किसी को बहकाना, अधर्म की कमाई खाना ठीक था। ..किन्तु अब ! सब कुछ जान लेने के पश्चात् मैं वह सब नहीं कर सकता। जब मैं लेपक था तब मैं कैसा भी भवन बनाता, कोई बात नहीं थी, किन्तु अब जब मैं वास्तुकार हो चुका हूँ, अब यदि ऐसा भवन बनाऊँ जिसमे सूर्य और पवन का प्रवेश न हो..जो सुरक्षित और सुंदर न हो—तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कारेगी नहीं?..अब धन मुझे बहुत आकृष्ट नहीं करता युवराज ! उसका मलिनपक्ष मुझ में घृणा उपजाता है। ” (कोहली, महासमर 4,107)

उपन्यासकार एक साधारण लेपक के आत्म विकास के द्वारा जीवन के चार आयामों, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के सत्य को प्रतिपादित करता सा लगता है। यदि सत्य का साक्षात्कार होने पर एक साधारण व्यक्ति अध्यात्मिक रूप से इतना विकसित हो सकता है, तो क्या कारण है कि, शिक्षित व्यक्ति इस भेद को न समझ पाए। योग्यता होने पर भी अति-भौतिकता के मायावी बंधनों में उलझा रहे। धन का संचयन और उसकी व्यर्थता को इस पात्र ने अपने शब्दों से प्रस्तुत किया है।

विकास, निर्माण, व्यापार, व्यवसाय एवं उसे करने वाले व्यापारियों की सुरक्षा व्यवस्था, सामान की चुंगी तथा निरीक्षण, सब कुछ शासन के नियमों और व्यवस्थाओं में आता है। यही सुशासन युधिष्ठिर के राज्य के प्रबंध में दिखाई देता है। व्यापारियों की सुरक्षा हेतु युधिष्ठिर युवराज भीम को अन्य रक्षकों के साथ उनके साथ देश विदेश भेजता है। अपनी वापिसी पर उन व्यापारियों के उदगार उत्तम सुरक्षा व्यवस्था और सुशासन के लिए युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हैं। उदाहरण प्रस्तुत है। श्रेष्ठियों, व्यापारियों के सामान, पशुओं, वस्तुओं इत्यादि के निरीक्षण आदि के बाद नगर श्रेष्ठी युधिष्ठिर से आभार प्रकट करता हुआ कहता है, “महाराज की जय हो ! हम सारे श्रेष्ठी आपके कृतज्ञ हैं, कि आपने युवराज को अपने सैनिकों

सहित हमारी रक्षा के लिए हमारे साथ भेजा। हम प्रसन्नता पूर्वक आपको सूचित करते हैं कि इस यात्रा में न तो हमारा एक भी व्यक्ति मारा गया और न ही हमारा सामान एक बार भी लूटा गया। ..परिणाम स्वरूप न तो कोई दस्यु दल हमसे कुछ छीन पाया और न कोई राजा किसी न किसी ब्याज से हमें लूटने का साहस कर पाया। विभिन्न राज्यों के राजकर्मचारियों ने उत्कोच लेने के जो प्रयत्न किये, युवराज के हुंकार के सामने वे भी विफल हुए।..इस बार हमने जो लाभ कमाया है, उतना पहले कभी नहीं कमाया। हमने यह निर्णय किया है कि हम लाभ के अनुपात में ही अधिक राशि राजकोष को भेंट करेंगे, अपने कर्मचारियों को अधिक शुल्क देंगे और अपने कर्मचारियों का वेतन बढ़ा देंगे। हमारे लाभ से हमारे महाराज भी लाभान्वित होंगे और उनकी प्रजा भी।” (कोहली, महासमर 4,145)

यहाँ महासमर व्यापारियों के पक्ष को प्रस्तुत करता हुआ शासन द्वारा लागू राज्य-कर व्यवस्था, चुंगी-व्यवस्था, सामान का निरीक्षण व्यवस्था, व्यापारियों की सुरक्षा व्यवस्था, शासन द्वारा उनका सत्कार और सम्मान आदि को दर्शाता है। ऐसा कतई नहीं है कि जो व्यवस्थाएं महाभारत काल में थी उनकी प्रासंगिकता आज समाप्त हो गयी है। वास्तविकता तो यह है कि आज भी इन व्यवस्थाओं को किसी न किसी रूप में हम अपने राज्य और समाज में पाते हैं। हाँ उनकी कुछ मरम्मत, सुधार और देखभाल करने की आवश्यकता है। और यही सन्देश बार बार अपनी लेखनी द्वारा लेखक पाठकों को दे रहा है। नहीं तो व्यापार तो होगा, किन्तु सजगता के अभाव में दुष्ट विजय माल्या और नीरव मोदी जैसे छद्म्भेशी व्यापारी देश समाज का नाम दूषित करते रहेंगे। शासन की सजगता और जागरूकता की अति आवश्यकता है।

वर्तमान भारत में 29 राज्य हैं। उनको एक सीमा तक स्वयायता प्राप्त है। राज्य सम्बन्धी कार्य सूची के अनुसार बहुत से निर्णय राज्य स्वाधीन हो कर ले सकने का अधिकार रखता है। किन्तु कहीं कहीं वह केंद्र की सरकार के प्रति भी उत्तरदायी है। यह व्यवस्था महाभारत काल के दिग्विजयी सम्राट और उसके आधीन राज्यों की तरह ही है। वे राज्य सम्राट के साथी होते थे, उसे कुछ मात्रा में

कर और उपहार आदि देते थे। बदले में धर्मराज्य यानि सम्राट अपनी सेना एवं साधनों का प्रबंध करता था, जिससे आकस्मिक दुर्घटनाओं और आक्रमण के समय राज्यों की सुरक्षा की जा सके। महाभारत काल क्या, देश की स्वतंत्रता से पूर्व भी 532 रियासतें थीं। भारत के प्रथम ग्रहमंत्री श्री सरदार पटेल ने अपने सुझावों के तहद सब रियासतों को एक ध्वज के नीचे ला कर एक राष्ट्र का निर्माण किया। आज भी वही व्यवस्था अपने विकास पथ पर है। केंद्र सब राज्यों की सहायता को तत्पर है, और कहीं कहीं स्वतंत्रता पूर्वक राज्य अपने निर्णय स्वयं करते हैं। उन्हीं निर्णयों में, वाणिज्य-व्यापार भी एक ऐसा निर्णय है जिसमें सभी राज्य एक दूसरे से कुछ नियमों के अंतर्गत सहयोग करते हुए अपनी उन्नति के मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह व्यवस्था भी महाभारत काल का स्मरण कराती है। उस समय भी सभी राज्य अपनी-अपनी व्यवसाय वृद्धि और समृद्धि के लिए व्यापारियों की, आपसी सुरक्षा व्यवस्था करते हुए एक दूसरे से संधि कर लिया करते थे।

जीवन का विकास वैयक्तिक से सामाजिक हो तभी 'सरबद दा भला', 'सर्वजन-हिताय', 'सर्वे भवतु सुखिनः', 'विश्व-बंधुत्व' एवं सर्व-कल्याणकारी, सर्वहितकारी सांस्कृतिक मूल्यों को प्राप्त किया जा सकेगा न। तो इसी के लिए प्रत्येक युग-काल में कुछ व्यवस्थाएं सब तक, सब विकास पहुँच सके, का उद्देश्य ले कर की जाती रही हैं। सौभाग्य से हम तो आज ऐसे युग में जी रहें हैं, जो क्रांतिकारी रूप से संचार माध्यमों द्वारा कहीं भी किसी को भी जोड़ने में सक्षम है। शास्त्र हमारे ज्ञान को प्रवाह देते है, किन्तु वह सब तक पहुँच सकें इसके लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता होगी। भौतिक उन्नति एवं समृद्धि द्वारा ही ज्ञान का हर क्षेत्र तक और जन-जन तक पहुँचना संभव हो सका है। मैनेजमेंट गुरु श्री एन.रघुरामन लिखते हैं, "जो बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं, आम तौर पर गरीब पृष्ठभूमि के परिवारों से आते हैं। उनके लिए घर में या बाहर एकेडेमिक सामग्री के अलावा किताबें नहीं होतीं। उनके लिए निश्चित रूप से लाइब्रेरी ही ज्ञान और रचनात्मकता तक पहुँचने की खिड़की होती है। हाल ही में अपनी दिल्ली यात्रा के दौरान मैं एन.जी.ओ. प्रथम के एक स्वयमसेवक से मिला। एन.जी.ओ. दिल्ली के

2000 सरकारी स्कूलों में लाइब्रेरी चलाता है और हर लाइब्रेरी में 300 किताबें हैं। 2013 में शुरुआत करने के बाद पिछले 14 साल से वह इन्हें चला रहा है।.. इनसे 50000 बच्चों को फायदा हो रहा है।... महाराष्ट्र के प्रदीप लोखंडे कई ग्रामीण पुस्तकालय चलाते हैं। वे रूरल-रिलेशंस के संस्थापक हैं, और यह ग्रामीण भारत के छात्रों के लिए क्रांतिकारी बात है।..प्रदीप कॉमर्स ग्रेजुएट हैं और उन्होंने मार्केटिंग डिप्लोमा किया है। मध्यप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के कई गांवों में काम के सिलसिले में घूम चुके हैं। काम के दौरान उन्होंने और उनकी टीम ने कई तरह के डेटा जुटाए। जैसे दुकानों में क्या बिक रहा है, कितने टेलीविजन सेट हैं, गाँव में इन्टरनेट कनेक्टिविटी है या नहीं आदि। ताकि पता चले कि ग्राहकों का व्यवहार क्या है, और बाजार में क्या खरीदा जाता है। इससे उनका विश्वास बना कि गाँव के लोगों का ज्ञान बढ़ाने के लिए कुछ करना चाहिए और उन्होंने 'ज्ञान-की इनिशिएटिव' के तहत गांवों में सेकेंडरी स्कूलों में लाइब्रेरी बनवाना शुरू किया।.. इस लाइब्रेरी को एक छात्र द्वारा मैनेज किया जाता है। 2001 से ही उन्हें कम्पनियों से इस्तेमाल किये हुए कम्प्यूटर मिलने लगे थे। 2009 तक महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, छत्तीसगढ़, तेलंगना, आंध्र-प्रदेश, और कर्नाटक के 20 हजार गावों में 28 हजार डोनेटेड कम्प्यूटर लगाए। अब वे या तो नए कम्प्यूटर खरीद रहे हैं, या आईटी कंपनियों से हासिल कर रहे हैं। आज तक ग्रामीण सेकेंडरी स्कूलों में 3600 ज्ञान की लाइब्रेरी स्थापित की जा चुकी है। हर लाइब्रेरी में कई विषयों की 180 से 200 तक किताबें हैं। करीब 6,25,000 किताबें इन लाइब्रेरियों को दी गयी हैं। ..इन पुस्तकालयों में मैनेजमेंट, डिजास्टर मैनेजमेंट, फिजिकल ट्रेनिंग, भारतीय संविधान, नाटक, संगीत, सामाजिक और यहाँ तक कि सेक्स एजुकेशन की किताबें भी हैं। लोखंडे को नियमित रूप से आई, आई. एम. और दुनिया भर के अन्य मैनेजमेंट स्कूलों से प्रैक्टिकल मार्केटिंग स्ट्रेटेजी पर बात करने के लिए बुलाया जाता है।” (रघुरामन 6)

यही तो है विकास ! और भौतिक समृद्धि ! और खूबसूरती इस बात की है, कि सब किया जा रहा है, मूल्यों की सत्यता, सर्वत्र कल्याण का ध्येय लेकर।



भारतीय सांस्कृतिक-भौतिक उन्नति का बेजोड़ उदाहरण है यह। और संभव कैसे हुआ ? केवल और केवल विज्ञान और आर्थिक-भौतिक विकास के कारण यह संभव हुआ। अतः उन्नति के पक्ष को किसी भी रूप में नाकारा नहीं जा सकता।

जीवन के दुरूह रास्तों पर किस वृत्ति को तरजीह देनी है, और किस का दमन करना है ? ज्ञान के भण्डार हमारे शास्त्र और गुरुजन अपनी शिक्षाओं के द्वारा इन वृत्तियों में भेद करना सिखाते हैं। शिक्षा को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा जाता है। एक शिक्षित व्यक्ति अपने आचरण की शुद्धता के लिए अपने ज्ञान पर ही निर्भर कर सकता है। और हम यह न भूलें कि इसमें भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का कथन है, “संस्कृति किसी बाह्य प्रदर्शन तक, चाहे वह कलात्मक प्रदर्शन ही क्यों न हो, सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति—संस्कार के साथ गहरा और अटूट सम्बन्ध है। व्यक्ति को केंद्र में रखकर उसके विकास और परिष्कार के लिए किये प्रयासों में संस्कृति को खोजना एक सीमा तक संस्कृति की सही खोज की दिशा है। ..महाभारत की निम्न सूक्ति संस्कृति का मेरुदंड है — “आत्मनः प्रतिकुलानी परेषो न समाचरेत।” सुप्रसिद्ध विचारक कांत ने भी इसी विचारधारा को संस्कृति का मूलाधार बताया है। दूसरी बात जिस पर भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने बल दिया, वह है- “जीवन में आचरण की पवित्रता।” अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की प्रतिष्ठा। आचरित सत्य की परीक्षा एक ही कसौटी पर होती है, वह कसौटी संस्कृति की है। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं रखता, उसे विद्वान होने पर भी दम्भी, धनवान होने पर भी लालची, प्रतिष्ठित होने पर भी अहंकारी, कुलीन होने पर भी अकुलीन ही समझा जाता है। अतः संस्कृति का धन, वैभव, मान-मर्यादा, विद्वता, पांडित्य, अनुभव, वैदुष्य और विवेक के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। ..हाँ, एक भ्रान्त धारणा यह भी बन गयी है, कि भारतीय संस्कृति धर्माश्रित है और उसका आधार विवेक न होकर अन्धविश्वास है। भारतीय संस्कृति में धर्म की स्वीकृति है, किन्तु धर्म किसी संकीर्णता या अन्धविश्वास का पर्याय नहीं है। ..आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति को भी भारतीय संस्कृति शनैः-शनैः आत्मसात करती जा रही है। किन्तु भारतीय संस्कृति की यह

विशेषता है कि वह विज्ञान को विनाश की ओर जाने से निरंतर रोकने का प्रयास करती रही है। धर्म और आध्यात्म द्वारा वह जनजीवन को आश्वस्त बनाने में सफल है, यही भारतीय संस्कृति की विशेष देन है। कुछ ऐसे मौलिक सिद्धांत और शाश्वत सत्य हैं, जो भारतीय संस्कृति का मेरुदंड कहे जा सकते हैं। भारतीय दर्शन आस्तिकवादी है। ईश्वर विश्वास के साथ इस संसार में कर्तव्य कर्म करते हुए, वे अनासक्ति का उपदेश देते हैं।” (विजयेन्द्र, वाग्ज्योति 17)

मनुष्य की वृत्तियां उसके आचरण का निर्धारण करती हैं। अध्यात्मिक-दैविक वृत्तियां और पाशविक-भौतिक वृत्तियां। सत-रज-तम गुणों के अधीन ये वृत्तियां मनुष्य के कर्म का आधार बनती हैं। बस ध्यान यह रखना है कि इसके कारण भौतिक-तृष्णाओं की अति न होने पाए। साधनों की अधिकता से लोभ एवं मोह उत्पन्न होता है, और मनुष्य को गर्त में गिरने में फिर समय नहीं लगता। इस बारीक अंतर को समझना बहुत जरूरी है। महासमर में एक प्रकरण के दौरान महात्मा विदुर युधिष्ठिर को कहते हैं, “धन का भाव और अभाव तो अपनी संतोष रेखा का नाम है, पुत्र !” मनुष्य की सीमा रेखा कहाँ अटकी है ? यह उसका व्यवहार तय करता है। वह अपने आचरण में कितनी पवित्रता और कितना दुराव रखता है ? यह उससे अधिक और कोई नहीं जानता।

“वस्तु: विश्व संस्कृति का इतिहास मनुष्य के निर्माण का इतिहास है। आज की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने संस्कृति को आगे बढ़ाया है। वैज्ञानिक आन्दोलन के साथ संस्कृति को और अधिक विकसित होना है। ज्ञान के एकत्र हो जाने पर बुद्धि को संस्कृति की दिशा में और अधिक सक्रिय होना पड़ेगा। ऐसा न हो कि ज्ञान का अम्बार बुद्धि के सांस्कृतिक पक्ष को आवृत कर ले। विज्ञान के आविष्कार यदि अणुबम के निर्माण और नाश के प्रयोग पर केन्द्रित रहें, तो विश्व संस्कृति का विलय हो जायेगा—मानव फिर से दानव बन कर स्वयं अपने ही निर्माणों से असंस्कृत और असभ्य बन जायेगा। .. भारतीय-संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के विकास में आस्था रखती हुई जीवन में अगाध विश्वास रखती है। ‘जियो और

जीने दो'—यही हमारी संस्कृति का मूलाधार है। हम मृत्यु- पूजक नहीं हैं—आत्मा की अमरता में हमारा विश्वास है। अतः कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान के विकास के माध्यम से हम संस्कृति की नींव को सुदृढ़ बनाने में विश्वास रखते हैं।” (विजयेन्द्र, वग्न्योति 20)

भौतिक मूल्यों की विवेचना करते हुए, अपनी जड़ों अर्थात् अपनी संस्कृति को तटस्थ रह कर, एवं अवहेलित कर के कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। भारतीय संस्कृति का मूल स्वभाव ही नैतिक होने के बाद भौतिकता की प्राप्ति है। जो आर्थिक और भौतिक रूप से समृद्ध है भी, तो अनासक्त होने का मूल स्वभाव दुश्चृति की ओर जाने से रोकता है। यही है मूल्यों की, अपनी धरोहर की, पहचान। वास्तव में भारतीय दर्शन में मृत्यु से निर्भय होकर जीवित रहना और मृत्यु को सहज मानना सत्य और मोक्ष का द्वार माना जाता है। “मरणं प्रकृतिः शरिरानाम, विक्रितिर्जीवित्मुच्यते बुद्धेः” कहते हुए कालिदास भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। नैराश्य, कुंठा, पीड़ा और कष्ट के समय भी व्यक्ति शांत-स्निग्ध बना रहता है। रामचंद्र के जीवन में सिन्हासनारुढ होने का सुख और वनवास का दुःख नहीं है। वह दोनों स्थितियों को नियति का वरदान मानता है, अतः भारतीय-संस्कृति का महान महाकाव्य का नायक बनता है। ‘तेन त्यक्तेन भुजीथाः माँ गृध कस्यस्विस्वद्धनम’ में अपरिग्रह और यथालाभ सुख संतोष का मन्त्र भारतीय सांस्कृतिक मन्त्र है।” (विजयेन्द्र, वग्न्योति 19)

लोभ और लोभ का ऐसा कोई कारण नहीं है, कि हम अपने पूर्वजों की विरासत से शास्त्रगत मूल्यों को न लेकर किसी ऐसी अंधी भौतिक लोभ लिप्सा की दौड़ में शामिल हो जाँ जिससे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को गवां बैठें।

आज का युग भौतिक विकास की पराकाष्ठा का युग है। किन्तु नैतिक मूल्यों के बिना भौतिक विकास व्यर्थ हो जाता है। जब एक पक्ष को भूल समाज किसी दूसरी ओर बढ़ता है तो विकलांगता की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। सब भौतिक विकास के नाम पर एक अंधी दौड़ में भाग रहे हैं। इस दौड़ में नैतिक विकास कहाँ

पीछे छूट गया है किसी को होश नहीं है। तभी तो विकास के नाम पर फायदे के स्थान पर नुकसान ही अधिक होता जा रहा है। इस सब के चलते अपराध, भ्रष्टाचार, कालाबाजार और अनगिनत प्रकार के समाज विरोधी कार्य होते हैं। स्मरण रखना होगा कि भौतिक विकास बाह्य है आंतरिक नहीं। जैसा कि नैतिक विकास के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह मनुष्य को आंतरिक रूप से अति समृद्ध बनाने में सहयोगी है। विडम्बना तो यह है कि विकास के नाम से जो उन्नति की जा रही है वह नैतिक रूप से पतन का कारण बनती जा रही है। नैतिक रूप से पतित व्यक्ति किसी भी तरह भौतिक विकास के सही सोपानों को नहीं प्राप्त कर सकता। बाह्य उन्नति के साथ-साथ मानसिक एवं आंतरिक रूप से सुदृढ़ होना भी बहुत आवश्यक है। कहते हैं, 'भौतिक विकास की बदौलत मनुष्य के हाथ में शक्तिशाली मशीनगन तो आ गयी है, अब यदि मनुष्य के पास नैतिक मूल्य नहीं होंगे तो वह मशीनगन का सदुपयोग ही करेगा, यह कहा नहीं जा सकता। नैतिक मूल्यों के अभाव में वह मशीनगन से लोगों की हत्या भी कर सकता है। नैतिक मूल्य सशक्त और स्पष्ट हैं तो हथियार के कई सदुपयोग हो सकते हैं। मोबाईल फ़ोन को ही ले लीजिये, एक सर्वे के अनुसार मोबाईल फ़ोन के आविष्कार के बाद से लोगों में झूठ बोलने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है। इस तथ्य के आधार पर हम यह तो नहीं कह सकते कि मोबाईल फ़ोन का आविष्कार झूठ बोलने के लिए किया गया था। जाहिर सी बात है कि मोबाईल फ़ोन का आविष्कार इसके लिए तो कतई नहीं किया गया था। बल्कि लोगो के बीच संवाद आसान करने के लिए मोबाईल फ़ोन का आविष्कार किया गया था। चूँकि मनुष्य भौतिक विकास की अंधी दौड़ में नैतिक रूप से पतित हो चुका है ऐसे में भौतिक वस्तुओं का वह उपयोग नहीं दुरुपयोग कर रहा है। भौतिक प्रगति अभीष्ट तो हर किसी को है, पर वह हस्तगत उन्हीं को होती है जो उसे उपलब्ध करने के लिए समुचित मूल्य चुकाने के लिए तत्पर रहते और तैयारी करते हैं। यह तैयारी मात्र योजना बनाने और साधन एकत्रित करने तक ही सीमित नहीं है। वरन उसके लिए वह करना पड़ता है, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है, भले ही उसकी आवश्यकता और महत्ता कोई समझ पाए

या नहीं। Internet देखते हुए literature.awgp.org. लिंक पर पढ़ा-तात्पर्य उन सद्गुणों की सम्पदा से है, जो अपने अनुरूप चुपके-चुपके आश्चर्यजनक ताना-बना बुनती रहती है। यह मौलिक और आरंभिक गुणों की चर्चा है। इससे कम में मौलिक प्रगति का तारतम्य बनता नहीं। यदि ये ही सद्गुण उलट कर दुर्गुण बन जाएँ तो समझना चाहिए कि घड़े में अनेकों छेद हो गये और उसमें भरा हुआ आकांक्षाओं एवं प्रयत्नों का सारा जल बिखर गया। प्रगतिशीलों को ऐसा अवसर नहीं ही आने देना चाहिए।”

अब प्रगतिशील ऐसा अवसर आने पर क्या करते हैं यह उनके विचारों, संस्कारों, मूल्यों और आचरण पर निर्भर करता है। और आचरण की दिशा निर्धारित करती है उसकी शिक्षा-दीक्षा। शिक्षा व्यक्ति के जीवन की रीति नीति को निर्धारित करती है। उसे सकारात्मक अथवा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करती है। यह भी सत्य है कि कभी-कभी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी दुर्व्यसनों के रहते स्वयं के आचरण को नियंत्रित नहीं कर पाता ऐसे में सुसंगति एवं शिक्षा की ऊंचाई उसे गर्त में गिरने से रोकने का प्रयास करती है। स्मरण रखना होगा कि प्रकृति के रंग और रस्म निराले है, वह महाठगिनी बन कर व्यक्ति को मोह और लोभ के जाल में ग्रसने का कोई अवसर नहीं चूकती, किन्तु इसी प्रकृति ने मनुष्य को एक अद्भुत विवेक से भी नवाज़ा है। उसका वांछित प्रयोग करने को भी उकसाने वाली प्रकृति ही है। अब संयम, संतुलन, समाजस्य और समन्वय करने का कार्य तो स्वयं मनुष्य का है। उसके लिए किसी और को दोष देने के लिए वह स्वतंत्र नहीं। अपने निर्णयों का नियंता व नियामक वह खुद है, इसकी जिम्मेवारी उसे स्वयं उठानी होगी।

शिक्षा व्यक्ति के मूल्य परक वैयक्तिक तथा समाज विकास एवं समृद्ध होने में कैसे सहायक है ? इसके कुछ उदाहरण देखते हैं। एक कथा ऐसे है, “एक बच्चे के लिए दो चीज़ें हमेशा फर्क पैदा करती हैं। एक तो वे जो देखते हैं वह और जो उन्हें प्राप्त होता है वह। यही वजह है कि जब एक बच्चे को डाक्टर के पास ले गये तो उसने देखा कि डॉ. ने कुछ दवाइयां लिख दीं और मिनटों में 50 रूपए कमा लिए।

उस पांचवीं कक्षा के बच्चे आशाराम चौधरी पर इसकी गहरी छाप पड़ी, जिसने तत्काल अपने कचरा बीनने वाले पिता की मेहनत से इसकी तुलना की, जो इतना ही पैसा पूरे दिन काम कर के कमाते हैं। कमाई और उसमें लगने वाले समय में इतना बड़ा फर्क देख कर 12 वर्षीय बच्चे ने तय कर लिया कि वह डॉ. ही बनेगा। उसके बाद से उसका फोकस एक ही बात पर था कि सबसे अच्छे अंक हासिल करना और प्रथम आना। ..आज मध्यप्रदेश के देवास निवासी कचरा बीनने वाले शख्स के इस बेटे ने इस साल मई अंत में हुई एआईएमएमएस की प्रवेश परीक्षा पास कर ली और अब आशाराम वह बनने की दहलीज़ पर है, जो वह बनना चाहता था। उसने अखिल भारतीय स्तर पर 707 वीं रैंक और ओबीसी वर्ग में 141 वीं रैंक हासिल की। उसने नॅशनल अलिजिबिलिटी कम एंट्रेंस भी पास करके अखिल भारतीय स्तर पर 2,763 वीं और ओबीसी वर्ग में 803 वीं रैंक हासिल की।' (रघुरामन 6)

## वास्तविक शिक्षा एवं भौतिक मूल्यों का प्रभावी उदाहरण

शिक्षा और भौतिक मूल्यों का एक और उदाहरण प्रस्तुत है— “पुणे के डॉ. सुशील जे देशमुख ने इस साल 9 जुलाई को सुबह 10 बजे पैदल चलना शुरू किया और एक गंभीर रोगी की अर्जेंट सर्जरी करने दोपहर बाद 3 बजे अस्पताल पहुंचे। क्योंकि भगवान की पालकी के जुलूस के कारण शहर के ज्यादातर हिस्से बंद थे। ..एक वर्ष पहले ही नितिन नाथाजी की लीवर की सर्जरी हुई थी। रात 12.30 पर उन्हें पेट के आस-पास के क्षेत्र में बैचैनी महसूस होने लगी और 2 बजते-बजते उनकी दशा गंभीर हो गयी। उनके परिजन उन्हें पास के अस्पताल में ले गये, जब वे वहां पहुंचे रात के 3 बज चुके थे, और नितिन की हालत बहुत खराब हो चुकी थी। नितिन के लीवर की अल्ट्रा साउंड रिपोर्ट से पता चला कि लीवर का फोड़ा फट गया है, और 22 सेंटी मीटर घाव बन गया है।..उन्हें आई.सी.यु. में ले जाया गया और डॉ देशमुख को सूचित किया गया। लेप्रोस्कोपिक सर्जन डॉ. देशमुख ने एक फ्लॉइ ओवर पर अपनी कार पार्क की और भीड़ के

कारण 8 किलोमीटर की दूरी तय करने के लिए उन्हें लगभग चार घंटे तक पैदल चलना पड़ा। पूरे रास्ते डॉ. अस्पताल के स्टाफ से फ़ोन पर बातचीत कर, उन्हें रोगी की स्थिति स्थिर रखने और आपरेशन पहले की तैयारियों के लिए निर्देश दे रहे थे। वे दोपहर बाद 3 बजे पहुंचे और सीधे आपरेशन के लिए चले गये, जिसमें 3 घंटे लगे और 700 मिलीलीटर पस निकाला गया। उसके बाद रोगी को दो दिनों तक वेंटिलेटर पर रखना पडा और तब जाकर हालत स्थिर हुई।’ (रघुरामन 6)

व्यवसाय और मूल्यपरक व्यवहार ! यही है भौतिक मूल्यों का वास्तविक सत्य। मुंशी प्रेमचंद की एक कथा ‘मन्त्र’ साहित्य के सुधिजनों को कतई नहीं भूल सकती जिसमें एक डॉ. के यहाँ एक गरीब व्यक्ति अपने बच्चे का इलाज करने जाता है और डॉ. उसपर ध्यान दिए बिना गोल्फ खेलने के लिए चला जाता है। किन्तु डॉ के बच्चे को सांप के काटने पर वही व्यक्ति बचाता है। यहाँ मुंशी प्रेमचंद मूल्य एवं समृद्धि के द्वन्द को प्रस्तुत करते हुए उच्च मानवीय मूल्यों का सन्देश देते हैं। व्यक्ति कैसा व्यवसाय करता है और किस सिद्धांत के तहद करता है। उसका आचरण उससे उतना ही प्रभावित होता है।

शिक्षा एवं ज्ञान, मनुष्य को अंतः प्रज्ञा देता है, जिससे वह बीच सांसारिक-माया के रहते हुए भी अपनी अंतः करण की आवाज़ को सुनने में समर्थ हो पाता है। उसके निर्णय उसे एक स्थिर मस्तिष्क का व्यक्तित्व बनाने में सहयोगी होते हैं। किसी विचलन के बिना भौतिकता की बहुतायत में भी वह अपना संतुलन बनाये रखने में सक्षम हो पाता है। दैनिक भास्कर समाचारपत्र, 21 जुलाई 2018 के अंक में प्रकाशित एक उदाहरण प्रस्तुत है—

“फीफा वर्ल्ड कप में पुर्तगाल टीम की तरफ से खेलकर अपनी जबरदस्त खेल प्रतिभा दिखाने वाले क्रिस्टियानो रोनाल्डो कुछ दिन पहले तक रियल मैड्रिट फुटबाल क्लब (स्पेन) के लिए खेलते थे। हाल ही में उन्होंने उस क्लब से विदाई ले ली है, अब वे इटली के जुवेंटस फुटबाल क्लब के लिए खेलेंगे। इससे पहले रोनाल्डो 9 वर्ष तक मैड्रिट से जुड़े रहे। हाल ही में तुरिन शहर स्थित जुवेंटस के

क्लब स्टेडियम में रोनाल्डो का स्वागत किया गया। उन्हें वहां के सभी खिलाड़ियों से मिलवाया गया, जो अब रोनाल्डो के नये साथी कहलायेंगे। जुवेंटस के खिलाड़ियों को खुशी है कि अब वे विश्व सितारा खिलाड़ी के साथ खेलेंगे और खेल की बारीकियां सीखेंगे। जुवेंटस आने के पहले रियल मैड्रिट ने क्रिस्टियानो रोनाल्डो को 430 करोड़ रूपए सालाना वेतन का प्रस्ताव भी दिया, लेकिन रोनाल्डो ने उसे अस्वीकार कर दिया।” (प्रिंट करने तक, इस वीडियो को यू ट्यूब पर 53.07 लाख से अधिक व्यूज एवं 97 लाइक्स मिल चुके थे) (भास्कर8)

कहा जा सकता है कि बुद्धि यदि स्थिर है तो व्यक्ति भौतिक संदर्भों में चूक नहीं करता, अपने फैसलों पर संतुलन बना कर, सही दिशा में चल पाता है। शिक्षा व्यक्ति को संस्कार देती है। भारतीय समाज के महान संत सदैव जन मानस को सहज ही मूल्यों की शिक्षा एवं दिशा दिखाते रहते हैं। उनकी शिक्षाएं, उनके दिखाए दिशा संकेत उनके मूल्य व सिद्धांत उन्हें हर क्षण भारतीय मानस में जीवंत रखते हैं। यही कारण है कि भारतीय दर्शन कभी दृश्य से हटता नहीं। दैनिक भास्कर के 18, जुलाई 2018 अंक के पीपुल्स स्तम्भ में एक समाचार प्रकाशित हुआ। जैसे, दुबई एक अमीर देश है। वहां की इमारतें लाजवाब हैं। तेल की धार से सोना उगलने वाले दुबई को अन्य देशों की तुलना में धन संपदा के मानदंडों में विश्व का अग्रणी देश कहा जा सकता है। वहां की गगनचुम्बी इमारतें बेहद दर्शनीय हैं। किन्तु उन इमारतों को डिजाइन करने वाले की तस्वीर देखते हैं-..“बात 1975 की है। मुंबई में जन्मे अशोक मोदी पहली बार सयुंक्त अमीरात गये। वहां सुल्तान ने उन्हें कुछ बिल्डिंग्स की डिजाइन के लिए बुलाया था। सुल्तान चाहते थे कि लोगों के लिए ऐसे घर बनाये जायें, जिसमें लोगो के तफरीह करने की भी जगह हो। सुल्तान का जैसा सपना था, वैसा ही हुबहू अशोक ने बना दिया।..इसके बाद सयुंक्त अमीरात में जितनी भी इमारतें बनीं, उनमें हाथ अशोक मोदी का ही था।..उस समय शारजाह बहुत छोटी सी जगह थी। ..फिर भी सुल्तान के आदेशानुसार 100 विला एक साल में उन्होंने खड़े कर दिए। ..शारजाह में एक अस्पताल है, अल जहरा। तकरीबन शारजाह का हर बच्चा यहाँ पैदा हुआ। मोदी बताते हैं कि 1975



में मार्च में इसे होटल का स्वरूप देने का काम शुरू किया गया। 130 रूम का होटल बनाना था। लेकिन बनाने के बाद क्लाइंट का कहना था कि इसमें एक सिनेमा भी जोड़ा जाये। लिहाजा उसके लिए तोड़फोड़ करनी पड़ी, लेकिन इस काम को भी कुछ समय के लिए रोक दिया गया। तब लगा कि इसे हास्पिटल बनाया जाना चाहिए और इस तरह से यह अस्पताल की शक्ल ले सका। शारजाह से लौटकर उन्होंने अपनी प्रेरणा यानि 12 वर्ष बड़े कजिन जगदीश शाह के साथ काम करना शुरू कर दिया। 1980 के दशक में दोनों ने मिलकर वरली में कल्पतरु व्हाइट्स नामक बिल्डिंग बनाई, जो उस वक्त भारत की सबसे ऊंची बिल्डिंग थी।..इतना ही नहीं अशोक मोदी पेंटिंग भी बनाते हैं और बापू से बहुत अधिक प्रभावित हैं। इसका कारण है कि उनके पिता गाँधीजी के अनुयायी थे। घर में वातावरण ऐसा ही रहा। गाँधी जी की पेंटिंग की वह प्रदर्शनी भी लगाते हैं।” (भास्कर 8) आश्चर्य नहीं होता इस तुलनात्मक सांस्कृतिक व्यवहार से, इसी का तो सम्मान करता है विश्व।

उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार, शास्त्र एवं शिक्षा, संस्कार एवं समृद्धि, धन-संपदा एवं गाँधी की पेंटिंग, बिल्डिंग एवं गाँधी जी के चित्रों की प्रदर्शनी ! और क्या स्पष्ट करने को रह जाता है। एक व्यक्ति जो दुबई जैसे देश में रह का अकूत धन कमाता है, वह गाँधी जी के विचारों से प्रेरित है। क्योंकि उसका वातावरण उसे वह संस्कार देता है, जहाँ अध्यात्म भौतिकता के साथ सामजस्य करना सिखाता है। भारतीय दर्शन का यह पक्ष भौतिक मूल्यों की बहुत सारगर्भित बानगी है। जीवन में यदि आवश्यकताओं के कारण साधन जरूरी हैं तो मानसिक समृद्धि के लिए अध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों का विकास भी उतना ही जरूरी है।

महासमर में भी इन्ही मूल्यों की और बार बार इंगित किया गया है। जब व्यक्ति अपने देश समाज के लिए सेवाकार्य करता है, कोई त्याग करता है, तो देश समाज की समृद्धि उसका स्वयं ख्याल करती है। न्याय यह कहता है कि योग्य को, वांछनीय को सुविधा अवश्य मिले। यदि नैतिक धरातल पर मनुष्य अपने आचरण को संतुलित कर पाता है, लोक कल्याण के लिए अपने श्रम को लगता है तो उसकी समृद्धि की चिंता स्वयं समाज और राष्ट्र करता है। बल्कि वह समस्त जन

जो राज्य और समाज के लिए प्राण देने को तत्पर हैं, उनका लालन पालन राज्य अपने कोष से करता है। किन्तु साथ ही, जैसा भीम एक स्थान पर (गैरजिम्मेदार सैनिकों के लिए) कहते हैं, “जो लोग प्राण नहीं दे सकते, उनका पालन-पोषण हस्तिनापुर के राजकोष से क्यों हो? उनके विलास के साधन हस्तिनापुर क्यों उपलब्ध कराए ?” राज्य के कोष को समृद्ध करने के लिए भी न्याय का ध्यान रखना होगा और उसपर आश्रित प्रजा जनों के आचरण का भी। इसके लिए जीविकोपार्जन की नीतियां बहुत विचार कर बनानी चाहिए। जिस प्रकार के व्यवसायों को राज्य प्रश्रय देता है, आय का स्रोत भी उसी प्रकार होता है। और वही आगे व्यक्ति का आचरण भी निश्चित करती है। एक कहावत के अनुसार ‘जैसा खाएं अन्न, वैसा होगा मन।’ जिस व्यापार अथवा व्यवसाय में व्यक्ति लिप्त होगा उसकी रीति नीति उसके व्यवहार को भी तो प्रभावित करेगी ही ! इसे एक उदाहरण से समझने का प्रयत्न करते हैं- महासमर के एक प्रकरण में युधिष्ठिर युवराज की पदवी पर हैं। बाजार में तोड़फोड़ एवं लूट की दुर्घटना की शिकायत लेकर कुछ व्यापारी दरबार में उपस्थित होते हैं। नगर श्रेष्ठी विस्तार से बताता है कि धूत गृह में दो व्यक्ति किसी विवाद में पड़कर आपस में लड़ पड़े और बाद में उनके समर्थक भी उनकी हाथापाई में सम्मिलित हो गये, बाहर निकल कर उन सबने हाट-बजार में तोड़फोड़ मचाई और दो तीन दुकानें लूट लीं। व्यापारी इस बात का मुआवजा राज्य से चाहते थे, क्योंकि राज्य द्वारा मनोनीत नगरपाल उपद्रवियों से उनकी रक्षा नहीं कर सका। सारा हाट बंद हो गया और सब तरफ त्रास फैल गया। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन इस बात के लिए नगरपाल को दंड देने के लिए कहते हैं, किन्तु युधिष्ठिर का तर्क एवं मत धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन के विपरीत है। वह कहते हैं, “जिन परिस्थितियों में ऐसी घटनाएँ होती हैं, उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली नीतियों का निर्धारण, नगरपाल नहीं करता। इसलिए हमें व्यापारियों का विश्वास लौटने के लिए नगरपाल को यह आदेश तो देना चाहिए कि जिन्होंने यह झगडा किया है, और जो लूटपाट में सम्मिलित हुए हैं, उन्हें बंदी बना कर राजसभा में उपस्थित किया जाये, और नीति निर्धारण के लिए उतरदायी लोगों को बताया जाये कि उनकी नीतियां प्रजा के हित में नहीं हैं, इसलिए नीतियों में परिवर्तन किया

जाये।..और यदि नगरपाल उन्हें बंदी न करे तो नगरपाल को भी दोषी माना जाये।”  
यहाँ, युधिष्ठिर का वक्तव्य भौतिक मूल्यों के वास्तविक रूप का दर्पण है।

युधिष्ठिर का वक्तव्य, व्यापार-व्यवसाय के बारे में राज्य की नीतियां, प्रशासन, राज कोष, राज्य की समृद्धि आदि के विषय में बहुत सूक्ष्मता से की गयी व्याख्या है। उनके शब्दों में भौतिक आवश्यकताओं एवं राज्य की आर्थिक उन्नति के लिए राज्य को जिन नीतियों और जीविकार्जन के उपायों को प्रश्रय देना चाहिए, इसका भी बहुत विस्तार से वर्णन प्रस्तुत है। वह आगे कहते हैं, “मैं इस घटना को कई धरातलों पर देखता हूँ। पहला धरातल तो हाट का ही है। जो सूचनाएं मुझे मिली हैं, उनके अनुसार वे दोनों व्यक्ति मदिरापान करने के पश्चात् धूत क्रीडा में सलग्न हुए थे। मदिरा पान तथा धूत क्रीडा का राज्य की ओर से निषेध नहीं है; किन्तु शांति भंग का निषेध है। इसलिए उन लोगों को बंदी बना कर उपयुक्त दंड दिया जाना चाहिए; ताकि पुनः वे ऐसा अपराध करने का साहस न करें तथा अन्य लोग भी शिक्षा प्राप्त करें।.. दूसरी ओर वह व्यापारी हैं, जिनकी दूकानें लूटी गयीं हैं। उनकी क्षतिपूर्ति राज्य की ओर से हो, क्योंकि राज्य उनसे कर लेता है। कर लेकर राज्य उनकी रक्षा करने में असफल रहा है, इसलिए राज्य को यह दोष अपने ऊपर लेना ही होगा। तीसरे, नगरपाल और उसकी व्यवस्था को देखना होगा। जिस समय यह घटना हो रही थी, उस समय नगरपाल के सैनिक, प्रहरी तथा दंडधर कहाँ थे ? उन्होंने झगड़ा आरम्भ होते ही उसे क्यों नहीं रोका ? हाट में लूटपाट के समय वे अनुपस्थित क्यों थे ? उन्होंने लूटपाट को क्यों नहीं रोका ? और अंत में उन सारे अपराधियों को बंदी क्यों नहीं बनाया गया ? .. हमें राज्य की नीति पर भी पुनर्विचार करना चाहिए। धूतगृह और मदिरालय राज्य की अनुमति से चल रहे हैं। हम ये जानते हैं कि ये प्रजा के लिए आकर्षण के स्थल हैं; और हम ये भी जानते हैं कि मदिरापान के पश्चात् मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है, अतः उसकी दुर्बुद्धि उससे अनेक अनर्थ कराती है। धूत उसमें लोभ जगाता है। लोभ से उसका विवेक पंगु हो जाता है। ऐसे में जो व्यक्ति मदिरापान कर धूत क्रीडा में सलग्न होगा-वह अपनी सद्वृत्तियों को नष्ट कर हीन वृत्तियों का क्रीडा कंदुक बना हुआ होगा। अतः ऐसी

दुर्घटनाओं की सम्भावना बढ़ जाती है। इसलिए उचित यही है कि राज्य धूत गृह और मदिरालय खोलने की अनुमति न दे। न ये स्थान होंगे, न प्रजाजन का विवेक नष्ट होगा, न लोभ जागेगा, न दुर्घटनाएं होंगी।” (कोहली, महासमर 3,20)

धूत और मदिरा सदैव से ही दुष्परिणामों के रहते समाज का अहित ही करते हैं फिर भी उन्हें मनोरजन के साधन कह कर बढ़ावा दिया जाता रहा है। यदि कोई इन साधनों को बंद करने का साहस करता भी है, तो समाज का एक बहुत बड़ा अंग उसका विरोध एवं आलोचना करता है। वर्तमान में बिहार राज्य के मुख्यमंत्री श्री नितीश कुमार ने यह साहस किया है तो उन्हें भी इस आलोचना का सामना करना पड़ रहा है। किन्तु इसी समाज का एक बहुत बड़ा भाग इस कृत्य से सहमत भी होता है। यही हुआ धृतराष्ट्र की सभा में जब युधिष्ठिर ने धूत ग्रहों और मदिरालयों को बंद करने का परामर्श दिया। राज्य के कोष के लिए धन और आय की आवश्यकता होती ही है। इसलिए दुर्योधन, कर्ण, दुशासन, दरबार के मंत्री कणिक, पुरोचन ने इस परामर्श का पुरजोर विरोध किया और इसके लिए उनका मत था कि ये दोनों व्यवसाय राज्य की आय का बहुत बड़ा स्रोत हैं। यदि प्रजा का हित करना है, तो आय का प्रबंध तो करना ही होगा। साथ ही यह प्रजा के मनोरंजन के स्थल है, इनके न होने पर प्रजा विरोध कर सकती है। लोग मनोरजन के लिए किन्हीं विध्वंसकारी गतिविधियों में भी लिप्त हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि वह अपने घरों में मदिरा का उत्पादन करें और निकृष्ट कोटि की मदिरा पी कर रोगी हो जाएँ। ऐसे घर घर धूत गृह खुल सकते हैं और राज्य के लिए झगडे और उत्पात का कारण बन सकते हैं।

तर्क वास्तव में विचारणीय ही हैं। युगों से वृत्तियों का द्वन्द चलता रहा है। महत्वपूर्ण तो यह है कि किस वृत्ति को किस समाज ने आगे बढ़ाया है, और आचरण के किस धरातल पर उसे मूर्त किया है। महाभारत का कथानक इतना विस्तृत है जिसमें किसी भी काल का, कोई भी द्वन्द, ऐसा नहीं जो अनुतरित रह जाये। आर्थिक-भौतिक मूल्यों की विवेचना को आगे और व्याख्या देते हुए युधिष्ठिर अपने शब्दों को यूँ रखते हैं, “मैंने मंत्री कणिक के विचार सुने हैं महाराज ! उनके

तर्कों की अवहेलना नहीं हो सकती। किन्तु तर्क तो सदा ही पक्ष और विपक्ष दोनों ओर होते हैं। हमें प्रजा के साथ न्याय करना है तो हमें सत्य को देखना होगा, तर्क को नहीं। मंत्री कणिक की मूल धारणा है कि मदिरा और धूत मानव-जीवन की अनिवार्यताएं हैं। मैं यह जानता हूँ कि इस समय प्रायः सारे जम्बुद्वीप में मदिरा और धूत, मनोरंजन के प्रमुखतम साधन हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि क्षत्रियों ने इसे सबसे अधिक प्रश्रय दे रखा है। अगर वह यह न करे तो उसे भीरु और कायर समझा जाता है। किन्तु क्षत्रिय को वीर होना चाहिए, हिंस्र नहीं। उसे मनोरंजन करना चाहिए, मन की उदात्त वृत्तियों का भंजन नहीं।...मैं यह कह रहा था कि राज्य, मानव-कल्याण के लिए नीतियां बनाये तो मनुष्य को मनुष्य मान कर ही बनाये, उसे पशु मानकर नहीं। यदि हम दूषित वस्तुओं पर प्रतिबंध लगायेंगे और मनुष्य की सद्वृत्तियों को प्रेरित करेंगे, तो कोई कारण नहीं है कि मानव-मन का उचित विकास न हो। राजा प्रजा पर कर इसलिए लगाता है कि उस धन को प्रजा के कल्याण में लगाये। इसलिए नहीं कि उससे राजा, राजवंश अथवा राजकोष समृद्ध हों। यह धन यदि हम अपनी प्रजा को दुष्प्रेरित कर प्राप्त करते हैं, तो इससे न प्रजा का कल्याण है, न राज्य का, न राजा का। राजा न तो स्वार्थान्ध व्यापारी है और न दस्यु- जो अपनी समृद्धि के लिए प्रजा के हितों की उपेक्षा करे। धनोपार्जन भी धर्म के माध्यम से ही होना चाहिए। धर्म से शून्य धन केवल पाप को ही प्रोत्साहित करता है।..राज्य की आय इसलिए होती है कि उससे प्रजा का कल्याण हो सके। यदि प्रजा का अकल्याण कर राज्य की आय बढ़ती है, तो उससे अच्छा है कि राज्य की आय न बढ़े। दूसरी बात यह है कि राजसभा ने जब भी विचार किया होगा यही विचार किया होगा कि मदिरालयों और धूत ग्रहों से कितनी आय है। यह विचार कभी नहीं किया होगा कि उस कर को प्राप्त करने के लिए नियुक्त किये गये हमारे राज-कर्मचारियों पर कितना व्यय हो रहा है। उस सारे व्यय को हमारी आय में से निकाल दिया जाये, तो ऐसी कितनी धनराशि बच जाती है, जिसके लिए हम प्रजा को ऐसे दूषित प्रलोभन दे रहे हैं, जिससे उनका जीवन नर्क बन जाये ? दूसरी ओर मुझे यह सूचना भी मिली है कि जिन राज कर्मचारियों को हम इसलिए नियुक्त करते हैं कि वे यह सारा कर उगाह कर राजकोष में जमा कराएँ, उन कर्मचारियों का सारा

बल इस बात पर होता है कि वे मदिरालयों और धूत गृह के स्वामियों से कर की आधी राशि लेकर उसे अपने पास रख लें और उन व्यापारियों को चुपचाप अपना व्यवसाय चलाने दें। राज्य के कर का एक बड़ा अंश (उत्कोच और चोरी) व्यापारियों और राज कर्मचारियों में आधा-आधा बंट जाता है। राज्य को आय नहीं होती और प्रजा का अहित हो जाता है।..और आजीविका के साधनों का कोई अंत तो है नहीं। यदि हम कृषि और उद्योग का विकास करते हैं, उपयोगी शिल्प और ललित कलाओं को समृद्ध करते हैं तो उनमें इतने से लोगों के लिए अवश्य ही काम निकल आयेगा। वे परिश्रम करेंगे और अपनी आजीविका पाएंगे। दूसरी और प्रजा का अकल्याण भी नहीं होगा।..राज्य की आय प्रजा को समृद्ध कर बढ़ाई जाती है प्रजा का शोषण कर नहीं। राजा प्रजा का पालन करता है, उसके साथ धूत खेल कर उसे वंचित नहीं करता।”..(कोहली, महासमर 3,22) इस तरह के दृश्य आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

उपरोक्त वृत्तांत में कितने ही पक्षों पर युधिष्ठिर के विचार न केवल उस काल की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं, वरन वर्तमान में रूप बदल कर खड़ी आज की समस्याओं को भी उत्तर देते से लगते हैं। राज्य मंत्री कणिक राज्य की आय के विषय में तर्क देते हैं, जो उचित ही है। किन्तु केवल आय का तर्क पूर्णतः असर्वेधानिक और मूल्य से रहित है। भारतीय दर्शन धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की बात करता है। और इन चारों को ही एक ही स्तर पर महत्वपूर्ण माना जाता है। उसमें अर्थ को किसी भी तरह, किसी अन्य से कमतर नहीं आँका जा सकता, हाँ यह अवश्य है कि अर्थ से पहले धर्म आ जाता है और जीविका और साधन जुटाने के बीच के सिद्धांत किसी भी रूप में धर्म की अवहेलना नहीं कर पाते। धर्मानुसार अर्थ एवं भौतिक समृद्धि से मनुष्य मानसिक और अध्यात्मिक धरातल पर एक उत्तम चरित्र को प्राप्त करता है।

युधिष्ठिर की विचार प्रक्रिया विवेक के साथ साथ राज्य की अर्थ-व्यवस्था एवं आर्थिक नीतियों की ओर इशारा करती है। यह सही है कि आर्थिक समृद्धि से ही कोई भी राष्ट्र उन्नत होता है। जैसा कि महामहिम पूर्व राष्ट्रपति अबुल कलाम ने

भी अपने भाषण में कहा था। किन्तु उसकी भी कुछ मूल्यगत विशेषताएं हैं, और उन विशेषताओं को नकार नहीं सकते। नगर का प्रबंध कैसा होना चाहिए ? नगरपाल को कितना चुस्त और मुस्तैद होना चाहिए ? उसकी किसी भी घटना अथवा दुर्घटना के समय उपस्थिति अनिवार्य है। उसके रहते व्यापारियों की सुरक्षा को आंच नहीं आनी चाहिए। व्यक्ति किसी भी संस्था में हो, चाहे मदिरालय या धूत ग्रह में, उसकी सुरक्षा का प्रबंध राज्य कर्मचारी का ही है। अन्यथा उसके नुकसान की भरपाई राज्य का दायित्व है। ऐसा इसलिए, क्योंकि राज्य उनकी सुरक्षा के बदले उनसे कर वसूल करता है। यह सब आर्थिक समृद्धि के चरण हैं, और साथ ही उसको लागू करने के मूल्य ! जिन्हें हम भौतिक मूल्यों की संज्ञा देते हैं। दूसरी जो बहुत महत्वपूर्ण बात युधिष्ठिर के विचारों से उभर कर आती है, वह है राज्य की आय के स्रोत। जैसा कि युधिष्ठिर का कहना है, जीविकोपार्जन के स्रोत, कहीं कम तो नहीं हैं। उद्योगों को बढ़ावा देने से, न केवल राज्य की समृद्धि बढ़ती है, प्रजा को रोजगार के अवसर भी प्राप्त होते हैं। यदि कृषि को राज्य की ओर से सहयोग किया जाये तब भी जीविका के साधन प्रजा को उपलब्ध होते हैं। यदि भारतीय परिपेक्ष्य में देखें तो भारत तो कृषि प्रधान देश है ही। इसके अतिरिक्त, ललित कलाएं एवं उपयोगी शिल्प भी राज्य की आय के समृद्ध स्रोत बन सकते हैं। इन समस्त व्यवसायों में राज्य एवं जन समाज दोनों का ही विकास बहुत सुंदर ढंग से किया जा सकता है। नगर और उसके निर्माण का कार्य भी जीविका का एक सुगम साधन है। जहाँ तक मदिरा एवं धूत का विषय है, खेल की सीमा तक तो सहनीय है, अन्यथा इससे समाज का निरंतर हास ही संभव है। अतः यहाँ इस बात पर बहुत बल दिया गया है, कि भौतिक समृद्धि हो, किन्तु उसके मूल में लोगो का कल्याण हो उनका नुकसान न हो। युधिष्ठिर के मुख से उपन्यासकार आज के परिदृश्य और मूल्यों की विवेचना आर्थिक भौतिक सन्दर्भों में कर रहा है। उपर्युक्त प्रसंग सामयिक धरातल पर निरखें तो ऐसा लगता है कि यह समस्या तो आज भी ज्यों की त्यों खड़ी है और इसका समाधान होना ही चाहिए। महासमर के कितने ही ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हें पढ़ते हुए आज का समाज स्वयं को उस स्थान पर खड़ा पाता है।

किसी भी राज्य की सुव्यवस्था के लिए उसकी आर्थिक नीतियों का गठन करने के लिए पूर्ण पारदर्शिता का होना अनिवार्य है। जो अफ़सोस है ! कि पूर्णरूप से होता नहीं। यदि आज भौतिक-आर्थिक संसाधनों के प्रबंधन में कुछ खामियां दिखती हैं, तो महाभारत काल का उदाहरण भी उसी दृश्य को प्रस्तुत कर देता है। कहा जाता है—युग—काल बदलते हैं, किन्तु थोड़ा बहुत रूप बदल कर परिस्थितियाँ वही रहती हैं। इसलिए महाभारत एक ऐसा ग्रन्थ माना जाता है, जिसमें आज के परिवेश की हर झांकी, हर समस्या अपने समाधान के साथ आ उपस्थित होती है। आज भ्रष्टाचार-रिश्वतखोरी की समस्या यदि वातावरण को दूषित बना रही है। तो उस काल में भी राज्य-कर्मचारी व्यापारियों और व्यवसायियों से आधा 'कर' अपने लिए वसूल कर उन्हें अनुचित लाभ पहुंचाते थे, और व्यवसाय के दोषों पर आवरण डाल कर जनता का भी अकल्याण करते थे। ऐसे व्यापार और ऐसे व्यवहार राज्य-समाज में भ्रष्ट माहौल ही निर्मित करते हैं। क्या औचित्य ही है ऐसे व्यापार का ? 'कर' के रूप में कितना धन एकत्र हो पाता है ? जब खाने-लूटने वाले इतने लोग हों, तो कितना लाभ होगा राज्य के कोष को ? ऐसे व्यापारों और व्यवसायों से अंततः जन समाज को हानि ही होती है। तो क्या इन पर पुनर्विचार नहीं करना चाहिये ? आज का समय भी तो ऐसे राजकर्मचारियों से भरा है। वह अपना कार्य करने में कुशल होने पर भी, कुशलता से काम नहीं करते, क्योंकि थोड़ा सा लोभ उन्हें अपने ईमान से डिगा देता है। वह अनुचित रीति से प्राप्त धन से अपना घर तो भरते ही हैं, अपने से ऊँचे बैठे पदाधिकारियों को भी उनका हिस्सा दे कर शांत रहने की रिश्वत देते हैं। कैसे सुधर सकता है समाज ? जब तक नीतियों को बनाने के अतिरिक्त उनपर पालन का भी कठोर नियम लागू न किया जाये। सब चाहते हैं कि, जिस समाज—राज में हम रहते हैं वह सुरक्षित, नैतिक, भौतिक सम्पन्नता से पूर्ण और सुधरा हुआ हो। किन्तु जब हमें स्वयं को इस परीक्षा में उतरना होता है, तो अपने लिए नियमों को लचीला कर देते हैं। तर्क यह देते हैं कि अकेले हमसे सुधार थोड़ा होगा। किन्तु भूल जाते हैं कि सागर एक-एक बूँद से ही भरता है। लेकिन दूसरों से जब हम यह सब नहीं पाते, तो आलोचना करने से बाज



नहीं आते। सारा वातावरण इन्हीं दोषों से ग्रस्त है। जिन्हें राज्य, अपनी नीतियों, उनका कठोर पालन, और कुछ आर्थिक पारदर्शिता से सुधार सकता है। लेकिन स्मरण रहे सुधारना जन-समाज को भी होगा। क्योंकि राज्य चलता फिरता व्यवहार करता जीव नहीं, करते हम हैं और दोष फिर राज-समाज का क्यों ? ऐसा सन्देश महासमर के उपरोक्त उदाहरण से मिलता है।

युधिष्ठिर अर्थ-व्यवस्था के तकनीकी रूप की भी मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार आर्थिक पक्ष के विषय में सोचते हुए मदिरालय और धूत जैसे व्यवसायों के विषय में पुनर्विचार किया जाना चाहिए। उनके कर्मचारियों के भ्रष्ट आचरण के विषय में गंभीर होना चाहिए। उनके द्वारा की जाने वाली कर चोरी की विवेचना की जानी चाहिए। जनता के आकल्याण का विचार करना आवश्यक है। और अंततः उन व्यवसायों के प्रबंध, उनकी सुरक्षा, नियत किये राजकर्मचारी, उनके वेतन आदि के व्यय का विस्तृत लेखा-जोखा किया जाये तो यह तथ्य सामने आयेगा कि इससे तुलनात्मक रूप से आय से अधिक व्यय है। एक और तथ्य के बारे में युधिष्ठिर कहते हैं कि जिस भी व्यापार अथवा व्यवसाय को प्रजा की जीविका के लिए सुनियोजित किया जाता है, उसमें मानव को मानव मान कर किया जाना चाहिए। यहाँ उपन्यासकार दुश्चतियों को बढ़ावा देने वाले व्यवसायों का विरोध करता हुआ, उत्तम वृत्तियों को बढ़ाने वाले व्यवसायों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। ऐसी भ्रष्ट व्यवस्था से मानव जीवन में से उच्च मूल्य-परक आचरण का क्षय ही होता है, जिससे धर्म की अंततः हानि होती है। जब संसाधनों की अपेक्षा मनुष्य के ईमान और इमानदारी को क्रय-विक्रय किया जाने लगेगा तो लोभ एवं धन के प्रति आसक्त-मानसिकता को ही बढ़ावा मिलेगा। महासमर के इस प्रकरण में युधिष्ठिर इस तथ्य पर आश्चर्यचकित हैं, जब महात्मा विदुर उन्हें दुर्योधन द्वारा, सभासदों को, उपहार एवं धन आदि देकर क्रय किये जाने का राज कहते हैं- “राज सभा में बार-बार ऐसी चर्चाएँ आँगी। तुम सत्य-विवेचन करोगे; नीति और धर्म की बात करोगे। राज सभा में तुम्हारा विरोध बढेगा। सत्य का समर्थन न वे करेंगे जो अनाधिकारपूर्ण सिंहासन का अधिकरण किये बैठे हैं; और न वे करेंगे, जिनके

मुख स्वर्ण-मुद्राओं से भर दिए गये हैं। आजकल दुर्योधन की ओर से सभासदों और अधिकारियों को बड़े-बड़े उपहार दिए जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा का मूल्य स्वर्ण के तौल में भी होता है पुत्र ! किसी का कम, किसी का कुछ अधिक! स्वर्ण के मोह से मुक्त हुए लोग संसार में बहुत कम होते हैं। और जो होते हैं, वे राजसभाओं में उपस्थित नहीं होते। राज्य वस्तुतः उनके लिए ही होता है, जिन्हें उनका मोह नहीं होता, जो उसके दास नहीं स्वामी होते हैं।” (कोहली, महासमर 3,29)

उपन्यासकार ने, महात्मा विदुर के मुख से आर्थिक-भौतिक आयाम का सबसे अहम् मूल्य कहा है। वह धन समृद्धि का रखवाला हो, जो उसे त्यागने की क्षमता रखता हो। जो उसका दास न होकर उसका स्वामित्व प्राप्त करने की योग्यता रखता हो। इसीलिए मुनि शालिहोत्र महासमर में एक स्थान पर कहते हैं, “तामसिक त्याग से तो सात्विक ग्रहण ही अधिक श्रेस्कर है।” (कोहली, महासमर 3,175)

अतः यह सत्य है कि त्याग हो, किन्तु अनाधिकारी के पक्ष में न हो। क्योंकि यदि अनधिकारी को समृद्धि का अधिकार दे दिया तो उससे भी समाज को हानि ही होगी। धर्म और अधर्म का ध्यान तो रखना ही होगा। एक आश्रमवासी और उनके गुरु के वार्तालाप से भी इसी तथ्य का अनुमोदन होता है। आश्रम वासी का एक साधारण जन की तरह विचार है कि अर्थ चाहिए तो धर्म क्या और अधर्म क्या ? यदि धर्म के राह से धन कमाना ही तो सीमित धन ही कमा सकेंगे। फिर आर्थिक समृद्धि कैसे आएगी। किन्तु गुरु का कथन है कि अधर्म से धन अर्जित करने पर समाज धनी तो होगा, किन्तु विकसित नहीं। यदि विकास और उन्नति चाहिए, तो मार्ग धर्म का ही अपनाना होगा। अधर्मियों के धन की कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाये, ऐसा समाज वास्तव में निर्धन ही हो जाता है। मूल्य रहित हो कर खोखला हो जाता है। भारतीय दर्शन इसलिए ही धर्म का अनुमोदन करता है। जीवन के चारों आयामों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में धर्म का स्थान प्रथम है। बाकी सब धर्मानुसार हों,

धर्म से आरम्भ यात्रा मोक्ष का लक्ष्य तभी प्राप्त करती है। कृष्ण बहुत सारगर्भित बात कहते हैं, “जीवन का कोई सुख धर्म से बड़ा नहीं; धर्म की अवहेलना, बड़े-से-बड़े कष्ट से भी बड़ा कष्ट है। धर्म, वासना से बड़ा है, शक्तिशाली है, समर्थ है..धर्म ही धारण करता है- सृष्टि को, मनुष्य को, मनुष्य के शरीर को..वासना किसी को धारण नहीं करती, वह तो क्षय मात्र करती है .. जीवन के भोग के विरुद्ध नहीं है कृष्ण। वह कहता है कि जीवन धर्मानुकूल होना चाहिए, भोग भी धर्मानुकूल होना चाहिए, त्यागपूर्ण।” (कोहली, महासमर 3,313)

यह सही है, धन की आवश्यकता होती है, क्योंकि चाहे सुविधाओं से सुख न प्राप्त होता हो, किन्तु मूलभूत सुविधाओं के अभाव में जीवन जिया नहीं जा सकता। और उन अनिवार्य सुविधाओं के लिए धन की आवश्यकता होती है। यह अकाट्य सत्य है कि धन आनेपर उसका त्याग बहुत कष्ट कारी होता है; किन्तु उसकी रक्षा की जाये तो वह अपने रक्षक के प्रति भी शत्रु का-सा ही व्यवहार करता है। इसलिए इस धर्म को बहुत सूक्ष्मता से समझना होगा। स्मरण रहे.. ‘धर्म को भी उपकरणों की जरूरत होती है। क्योंकि शून्य में विचरण करने वाली वायवीय तरंगों से तो युद्ध भी नहीं लडा जा सकता,’ उसके लिए भी अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता होती है। बस ध्यान इस ओर रहे कि सब आग्रह धर्म-आधारित हों। प्रकरण है- महासमर में युद्ध का काल आ पहुंचा है। सभी चिंतित हैं। क्या चाहिए ? और कैसे चाहिए ? पर विचार किया जा रहा है। व्यास शक्ति एकत्र करने की आवश्यकता पर अपने विचार कहते हैं, “जब तक दुर्योधन को, उससे भी बड़ी कोई शक्ति बल-प्रयोग अथवा बल-प्रदर्शन के लिए बाध्य नहीं करेगी, तब तक वह तुम्हारा राज्य नहीं लौटाएगा।..इसलिए पुत्र! तुमको शक्तिशाली तो होना ही होगा।..और यदि तुमको शस्त्रों का भय है तो तुम भी शस्त्र संग्रह करो। जिन साधनों से तुम्हारे मन का सामर्थ्य जगे, उन साधनों का संचय करो।..धर्म के साथ.तपस्या से शक्ति भी संचित की जाती है, और शस्त्र भी प्राप्त किये जाते हैं। तुम धर्म संग्रह करो और अर्जुन को शस्त्र संग्रह को भेज दो।” (कोहली, महासमर 5,140)

## धर्मपूर्ण आचरण एवं अनिवार्य समृद्धि

यही है धर्मानुसार आचरण, साधन-आवश्यकता, और संग्रह की उपयोगिता। संचय और संग्रह, साधन और सुविधा की उपयोगिता के मानदंडों पर खरे उतरने चाहिए। केवल सुख प्राप्ति की कामना से संचय स्व-विकास में बाधा उत्पन्न करता है। महासमर में अर्जुन को देवलोक से शास्त्र एकत्र करने हैं, स्वर्ग उसके समक्ष बिखरा है। वहां की सुविधाएँ प्रलोभन देती उपस्थित हैं किन्तु अर्जुन का स्थिर और सयंमित मन इन बातों से कहीं उपर उठ गया है। वह शस्त्र चाहता है, साधन चाहता है किन्तु धर्मानुसार ! कितना सुंदर उदाहरण है, संचय और धर्म के समन्वय का, अर्जुन वैजन्त्य को मांगने का वरदान देने पर कहते हैं, “मुझे सम्पूर्ण शास्त्रस्त्रों का ज्ञान तथा दिव्यास्त्रो एवं देवास्त्रों की आवश्यकता है। हम पृथ्वी पर से अधर्म को नष्ट कर देना चाहते हैं, किन्तु अधर्म भयंकर रूप से संगठित और अत्यंत शक्तिशाली है। मेरे पास जो शास्त्र हैं, उनसे कदाचित मैं अधर्म को नष्ट न कर पाऊं। धर्मराज भी आशंकित हैं, कि कदाचित हम धात्रराष्ट्रों को पराजित न कर पायें, और हमारा राज्य, हमसे सदा के लिए छिन जाये। हम सब जानते हैं कि दुर्योधन से हमारा एक युद्ध अवश्य होगा। हमें भय है कि दुर्योधन अपने छल-बल से पृथ्वी के सारे महान योद्धाओं को अपने पक्ष में कर लेगा। संभव है कि हमारे आचार्य और पितामह भी उसके पक्ष से ही युद्ध करें। अतः हमें इतना बल एकत्र करना है कि हम उन सबके संगठित सैन्य- बल को अपनी शक्ति से पराजित कर सकें।” (कोहली, महासमर 5,147)

अर्थात् युद्ध की भूमि तैयार है। शस्त्र चाहिए किन्तु धर्म की स्थापना के लिए। अपना राज्य चाहिए किन्तु न्याय के लिए। युद्ध सामग्री चाहिए किन्तु आत्म-रक्षा और आत्म-सम्मान के लिए। अर्जुन को, वैजन्त्य द्वारा दिया स्वर्ग का स्थाई-वास नहीं चाहिए, धन संपदा नहीं चाहिए, भोग-विलास नहीं चाहिए, अधिकार और सत्ता नहीं चाहिए। ऐसा किसलिए ? क्योंकि अधर्मी और पापियों से पृथ्वी को बचाने लिए ही तो समस्त साधनों की प्रार्थना कर रहे हैं। धर्म और भौतिक-साधन

सपन्नता ! दोनों का सामजस्य कैसे एक उच्च उद्देश्य के लिए है ! इसी का नाम है भौतिक मूल्य। यही संस्कार पौराणिक काल से भारतीय मानस को विरासत में मिलते हैं जिनकी विवेचना उसके आत्मिक विकास का मार्ग उन्नत करती है। जहाँ मानसिक समृद्धि विकसित न हो, अंतः-प्रज्ञा बलवान न हो वहाँ शक्ति-बल, सुविधायें और साधन कभी भी लोक-कल्याण के लिए कारगर नहीं हो सकते। अनासक्त व्यक्ति ही अपने मन पर संयम और अंकुश रख कर धर्म के कार्य कर सकता है। अपने मातुल के गृह में ष्टधुमन से वार्ता करते श्रुतवर्मा अपने पिता अर्जुन के इसी तपबल का वर्णन करते हुए कहता है, “मेरे पिता पहले अपने मन की हिंस्र वृत्तियों को नियंत्रित करेंगे और फिर महादेव से दिव्यास्त्रों की कामना करेंगे। मन पर नियंत्रण न हो और मनुष्य को असाधारण बल प्राप्त हो जाये, तो वह अमर्यादित रूप से हिंस्र होकर, ईश्वर की सृष्टि का अनावश्यक विनाश करता है।” (कोहली, महासमर 5,156)

कितना दिव्य है—साधन चाहिए ! किन्तु साधना द्वारा। युद्ध करना है किन्तु धर्म के लिए। धन-सत्ता व् शक्ति का मद व्यक्ति को दिव्यता से रहित कर देता है। व्यक्ति अपने सात्विक दैवी गुण से दूर हो जाता है। धर्म के लिए सब कुछ भी चाहिए हो तो वह धर्म के ही काम आये। ऐसी सपन्नता का आग्रह करता है भारतीय दर्शन और इसकी महान संस्कृति। किसी भी काल के इतिहास में, ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं जहाँ भौतिक-समृद्धि, धन-दौलत के लिए व्यक्ति अपने स्तर को हृद से अधिक गिराता जाता है। वह भूल जाता है, उसके लोभ का, संग्रह का एक भी कण उसके आचरण का उत्तरदायित्व नहीं निभाएगा। एक तिनका भी उसके साथ मरणों उपरान्त नहीं ले जाया जा सकेगा। फिर भी वह भूला-भटका सा जीवन में ऐसी कार्य चेष्टायें करता है, जिसमें निरर्थक संचय और संग्रह के सिवा कुछ वांछनीय प्राप्त नहीं कर पाता।.....एक कहावत है, “धन हाथों की मैल है”, तो उतर भी सकती है न ? फिर भी भटकता जीव उसे समझना नहीं चाहता। महासमर में दुर्योधन पत्नी काशिका एक जगह कहती है, “धन कब किसका हुआ है?” (कोहली, महासमर 6,160)

बहुत सारगर्भित संदर्भ है। कर्ण की अध्यक्षता में विजयनी सेना हस्तिनापुर लौटती है। दुर्योधन लूट में आये अकूत धन से उन्मत्त है। वह उसी उन्माद में काशिका को कहता है कि वह चाहे तो किसी को भी अपना दास बना सकता है। अपने द्वेतवन-विहार की स्मृति से काशिका अन्मस्यक है। वह दुर्योधन की धन वैभव की प्राप्ति पर प्रसन्नता को ध्यान नहीं देती। वह बहुत कटुता से कहती है, धन किसी का नहीं। वह व्यंग करती है कि, क्या उससे दुर्योधन, कर्ण के लिए साहस क्रय कर सकता है ? ताकि वह युद्ध में उसे छोड़ कर न भागे ? वह तप्त है ! क्योंकि प्रदर्शन के लिए द्वेत वन जा कर वह उस धन से किसी को प्रभावित नहीं कर पाए। धर्मराज युधिष्ठिर के सहयोगी चित्रसेन को क्रय नहीं कर पाए। अपने पास इतना धन होते हुए भी स्वयं को नहीं बचा पाए। अपनी रक्षा नहीं कर पाए। बल्कि उन्हीं निर्धन पांडवों ने उनके प्राण एवं उनके सम्मान की रक्षा की। वह अपने अपमान से पीड़ित होकर धर्मराज के राजसूय यज्ञ को याद करते हुए धन का महत्व कहती है, “पांडवों के धन की बात कर रहे हैं आप। देखा था, धर्मराज के द्वार पर कैसे पृथ्वी भर के राजा करबद्ध, पंक्ति में खड़े अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ पाने के लिए नहीं। कुछ देने के लिए। वे चाहते थे कि धर्मराज उनकी भेंट स्वीकार करें। धर्मराज उस धन को ग्रहण कर लेते तो वे राजा स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते। वह धन किसी से छीना नहीं गया था। स्वतः बह कर आया था धर्मराज के पास। और जो धन आया था-कर अथवा उपहार के रूप में, वह अपने स्वामी को प्रसन्न करने अथवा किसी को क्रीतदास बनाने के लिए नहीं था। वह सारा धन पांडवों ने प्रजा के हित में लगा दिया था। राजसूय के बहाने आने-जाने के लिए मार्ग बने थे। सरिताओं पर सेतु बांधे गये थे। निर्धनों के लिए आवास बनाये गये थे। विद्वानों को दान दिया गया था। उस सारे प्राप्त धन में से पांडवों ने शायद कुछ भी नहीं रखा था अपने लिए। है ऐसी महिमा कर्ण के लाये हुए धन की?” (कोहली, महासमर 6,161)

महाभारत काल और उसका कथानक कहीं भी विगत कथा नहीं लगता। कोई भी विषय अछूता नहीं। कोई भी परिस्थिति अनजानी नहीं। उस काल के दर्पण

में आज का मुख ही दिखाई देता है। तत्कालीन घटनाएं और दुर्घटनाएं। शांति अथवा युद्ध—कोई भी परिस्थिति आज की स्थिति को समाधान देने में सक्षम है। काशिका का उपर्युक्त कथन धन की आवश्यकता उसके स्रोतों और सबसे बढ़कर उसकी उपयोगिता कहता है। एक राज्य के लिए धन का, वैभव का होना अनिवार्य है, किन्तु प्रजा के विकास कार्यों के लिए उसका उपयोग हो। राज्य व प्रशासन प्रजा की सुविधा एवं रक्षा के लिए जो 'कर' ले वह उन्हीं के लिए व्यय करें, न कि अपनी तिजोरियों में भर कर भ्रष्ट समाज का निर्माण करें, और प्रजा को सामान्य सुविधाओं से वंचित होना पड़े। जैसा कि आज की राजनीति और प्रशासन में दीखता है। कहने को राजनीतिज्ञ निर्वाचित होकर जनता की सेवा करने आते हैं किन्तु एक ही कार्यकाल में इतना धन एकत्र कर लेते हैं जो पूरे जीवन के लिए निष्क्रिय रह कर खाने के लिए काफी होता है।

महासमर में उपन्यासकार ने जीवन के मूल्यों की विवेचना करते हुए मूल्यों के हर पक्ष को बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषित किया है। बेशक, भौतिक समृद्धि जीवन की अनिवार्य सुविधाओं के लिए आवश्यक है। यह महामुनि व्यास भी, महात्मा विदुर भी, कृष्ण भी, एक सामान्य सन्यासी भी, आश्रम का साधारण व्यक्ति भी यत्र-तत्र कहता है। किन्तु संस्कृति और समाज का कल्याण उस पर कुछ सीमायें भी निर्धारित करता है, जिससे व्यक्ति अपने आदर्शों से विचलित न हो। जीवन के लक्ष्य से न भटके। उसे पुरुषार्थ करने से वंचित न होने दे। जिससे समाज का कल्याण हो उस मार्ग से विचलित न करे। भौतिक संपदा की चाह में, उसे धन की वास्तविक महत्ता से अनभिज्ञ न कर दे। यह सब पक्ष महासमर के द्वारा उपन्यासकार पाठकों को बताना-समझाना भूलता नहीं। उपन्यास को पढ़ते हुए, उसका विश्लेषण करते हुए इस बात का बार-बार एहसास होता है, कि स्थिति कोई भी हो मूल्यों का स्थान जीवन को दिशा देने के लिए सर्वोपरि स्थान पर होने चाहिए। तभी मानव अपने पथ से भटके बिना अपना चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

महासमर के पात्रों की मनोवैज्ञानिक विवेचना करते हुए इन सभी मूल्यों को बहुत अच्छी तरह समझने में सहायता मिलती है। प्रत्येक चरित्र किसी न किसी

स्थिति में, अपने आचरण से मूल्यों के किसी न किसी पक्ष में उसकी अनिवार्यता का उदाहरण देता है। कितने अपरिहार्य है मूल्य इसका प्रतिपादन करता है।

## आकांक्षाओं की मृगतृष्णा का भौतिक सत्य

महासमर के एक बहुत महत्वपूर्ण पात्र हैं- द्रोणाचार्य। कृप के साथ ही रहते हैं। बेहद निर्धन और असहाय अवस्था में हस्तिनापुर में कृप के पास आते हैं। अपनी निर्धनता से हार चुके हैं। वहां अपना स्थान बनाने हेतु कुरु राजकुमारों को शिक्षा दीक्षा देते हैं। उनके गुरु के रूप में सम्मानीय स्थान प्राप्त करते हैं। समय है जब कौरवों और पांडवों दोनों पक्षों की ओर से युद्ध की तैयारियां आरंभ हैं। द्रोणाचार्य अपने स्थान और सम्मान के लिए चिंतित से पितामह भीष्म के पास जाते हैं। उन्हें भी आहत देख कर वह अपने लिए और अधिक चिंतित होकर ऐसी स्थिति में कृप के विचार जानने के लिए उनके पास जाते हैं। वह कृप के साथ हस्तिनापुर राज्य में अपने महत्व, अपने स्थान, अपने उतरदायित्व, उसका मूल्य, अपनी समृद्धि और वैभव के विषय में चर्चा करना चाहते हैं। बदलती स्थितियों में उनका क्या कार्य होगा ? और उसमें उनका क्या महत्व होगा ? ऐसी स्थितियों में राज्य का उनके प्रति क्या दृष्टिकोण होगा ? यह जिज्ञासा उन्हें कृप के समक्ष खड़ा कर देती है। कृप उनकी इन सभी दुश्चिंताओं से परे उन्हें सहज हास्य से कहते हैं कि वह अब तक कुरु राजकुमारों को शिक्षा दे रहे थे, अब यदि दुर्योधन अपने पुत्रों के लिए कोई अन्य गुरु निर्धारित करता है, तो कोई बात नहीं। उन्होंने दुर्योधन को शिक्षित किया है इसलिए वह राजगुरु रहेंगे ही। अब उनकी स्थिति राज्य के अन्य कुलवृद्धों की तरह शांत हो कर जीवन व्यतीत करने की है। किन्तु द्रोणाचार्य को इसमें आपत्ति है। वह कृप को उनके महत्व के प्रति आगाह करते हुए कहते हैं कि यदि वह राजगुरु हैं तो उनका महत्व पहले की तरह राज्य में होना चाहिए और राजकुमारों को उनसे ही शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। कृप को इस में कोई रस नहीं। वह द्रोणाचार्य से कहते हैं, “क्यों ? क्या मुझे उससे अवकाश नहीं चाहिए? क्या जीवन में मुझे और कुछ नहीं करना ? मेरा जन्म क्या कुरुकुल के राजकुमारों को शस्त्र-



शिक्षा देने के लिए ही हुआ है ?..कुछ अपना विकास भी करना है, आचार्य !  
 आजीवन कुरु राजकुमारों को शस्त्रविद्या ही देता रहूँगा तो अपना जीवन कब  
 जिऊँगा ? अपने आपसे कब मिलूँगा ? अपने आप को कब पहचानूँगा ? यदि मेरा  
 ध्यान दुर्योधन की ओर लगा रहेगा आचार्य ! तो फिर मैं अपनी ओर कब देख  
 पाऊँगा। सत्य तो यह है कि मेरी समझ में आ गया है कि जो महत्व दुर्योधन किसी  
 को देता है, अथवा दे सकता है; उस महत्व का वास्तविक महत्व ही नहीं है।  
 वास्तविक महत्व तो कुछ और है, जिसकी उपलब्धि के लिए हमें जीवन मिला है।  
 साधना का तो प्रथम चरण ही है, इस सारे मायाचक्र की नश्वरता को समझकर  
 उससे मुक्त होने का प्रयत्न करना, तो फिर उन महत्वों से चिपके रहकर साधना कैसे  
 होगी?...शायद मेरी भौतिक महत्वकांक्षाएं ही नहीं, भौतिक आवश्यकताएं भी बहुत  
 कम हैं। ...अब मुझे कोई कारण नहीं दीखता, जिसके लिए मैं इन चिंताओं को  
 पालूँ। मुझे लगता है आचार्य ! मैं कुरुकुल की पर्याप्त चाकरी कर चुका। अब मुझे  
 उसकी आवश्यकता नहीं। यदि वे मुझे शांति से यहाँ रहने देंगे, तो ठीक है, अन्यथा  
 मैं कहीं ओर चला जाऊँगा। अब मेरी अवस्था ग्रहण की नहीं त्याग की है। व्यक्ति  
 यह तो जानता है कि उसे कब क्या चाहिए, उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि कब  
 उसके लिए क्या अनावश्यक हो गया है। उसे आवश्यक का ग्रहण आता है तो उसे  
 अनावश्यक का त्याग भी आना चाहिए।..तेन त्यक्तेन भुजीथान.।” (कोहली,  
 महासमर 6,134)

भौतिकता की आवश्यकता और उसकी अनावश्यकता ! उपरोक्त वृत्तांत  
 दोनों के विषय में बहुत सुंदर एवं महत्वपूर्ण है। कृप कितने शांत मन से कितनी  
 बड़ी रहस्य की बात कहते हैं कि अगर ग्रहण की आवश्यकता का पता है, तो कब  
 त्याग करना है, यह भी पता होना चाहिए। और त्याग किसी के लिए नहीं है, वरन  
 स्वयं के लिए है। अपना विकास कब होगा ? कब निकालेंगे अपने लिए समय? खुद  
 को भी तो पहचानना है। जिस वस्तु अथवा सुविधा की अनिवार्यता समाप्त हो जाती  
 है। क्या उसे असानी से हम त्याग पाते हैं ? यही है सत्य। अपने जीवन की  
 अनिवार्यताओं की प्राप्ति और आवश्यकता न होने पर उनका त्याग।

अपना महत्व हर क्षण ही मानव का मन खींचता रहता है किन्तु उस पर नियंत्रण ही तो जीवन का मूल है, जिस विस्मृत कर के हम माया की मृगतृष्णा में उलझे रहते हैं। सम्मान और महत्व की तृष्णा मनुष्य को अंत तक जागने नहीं देती और जीवन की निस्सारता का भान होने से पहले ही जीवन का अंत आ खड़ा होता है। द्रोणाचार्य एक साधक, एक आचार्य एक गुरु कैसे निर्धनता से परस्त होकर उस वैभव की माया में प्रवेश कर जाते हैं जिसका कोई अंत नहीं। वह युधिष्ठिर के साथ खांडव प्रस्थ नहीं जा सकते क्योंकि लोभ और प्रतिशोध ने उनके नेत्र बंद कर दिए हैं। वह अधर्म के साथ खड़े हैं क्योंकि वह पुनः अपना महत्व नहीं खोना चाहते। वह अपने पदवी को नहीं त्याग पाते क्योंकि उन्हें पांडवों के साथ रहने पर दुपद का डर है, उससे मिले आधे राज्य अहिछित्र के खो जाने का डर है। वह त्याग से घबरा गये हैं। अभाव उन्हें त्रस्त करता है। वह जीवन के उच्च आदर्शों से बेहतर राज्य में उच्च पद पर रहना समझते हैं। इन सभी वृतांतों में मूल्य हर कोने से झांकते हैं। पाठक को जगाते हैं। इशारा करते हैं कि भौतिक उन्नति की सीमा कहाँ तक है, और कब तक है।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में जीवन के चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनसे प्रेरित जिया जीवन ही सफल एवं अर्थपूर्ण है। इन से भटका व्यक्ति अपने वर्चस्व के लिए क्या-क्या उपाय नहीं करता। दुर्योधन के लिए यह सहनीय नहीं कि युधिष्ठिर सम्राट के रूप में पूरे जम्बुद्वीप में मान्यता प्राप्त करे। तुलना, प्रतिस्पर्धा, अहंकार, और महत्व की चाह व्यक्ति को मूल्यों के धरातल से बहुत नीचे गिराने में कामयाब होती है। रावण को कितना ज्ञान था, उसकी तो लंका ही सोने की थी। कितना वैभव, कितनी संपदा, कितनी खुशहाली, कितनी समृद्धि उसके राज्य में थी। पर समृद्धि का होना ही तो काफी नहीं उसे सहेजना आना भी तो आवश्यक है। व्यक्ति की दुश्चृतियाँ उसे अपनी समृद्धि के बावजूद और, अधिक, और की कामना से भर कर मनुष्यता के मापदंडों से परे कर देती हैं। वह इस बात को तनिक भी संज्ञान नहीं देता कि इस मृगतृष्णा की चाहत में वह क्या गवाने जा रहा है ? शिव के अनन्य भक्त रावण को जिस छोटी सी इच्छा ने माया में उलझाया

क्या एक बार भी उसे यह अनुभूत नहीं होने दिया होगा कि त्रिभुवन के साम्राज्य का स्वामी है वो ! तृष्णा ने उसे सुख के ऐसे आवरण के पीछे छिपा दिया कि वह अपनी भक्ति, अपनी उपासना, अपना ज्ञान, और अपनी उच्चता को भुला बैठा। ऐसे ही दुर्योधन को भी तो इस बात का एहसास था कि वह अधर्म की राह पर है। बस उसने इस बात को स्वीकारने की हिम्मत कभी नहीं दिखाई। बल्कि इसके विपरीत वह अपने पक्ष में अनेकों तर्क देता रहा। न्याय की अपेक्षा उसने स्व-निर्मित नियमों के अनुसार जीवन जीना अधिक सार्थक समझा। उसकी आकांक्षाएं, उसका सुख का लोभ उसे सत्य से बहुत दूर ले गया और अंततः वह जीवन का युद्ध धर्म के हाथों हार गया।

## दरिद्रता वरेण्य नहीं; धर्म प्रयोजन नहीं-जीवन की प्रेरणा

युधिष्ठिर की समानता करते हुए दुर्योधन अपने लिए राजसूय यज्ञ करता है। अनेक ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देता है। जिज्ञासु नाम के ब्राह्मण से यज्ञ के कार्य सम्पन्न कराता है। जिज्ञासु भी दक्षिणा के लोभ से अन्य ब्राह्मणों के साथ यज्ञ करता रहा। किन्तु दुर्योधन उसे दक्षिणा देने के साथ-साथ एक और कार्य देना चाहता है। किन्तु ब्राह्मण जिज्ञासु का दुर्योधन से प्रश्न है कि यदि धर्म आड़े न आये तो वह प्रस्तुत है। क्योंकि उसके अनुसार यदि ब्राह्मण धर्म छोड़ देगा तो फिर जियेगा किस आधार पर ? दुर्योधन को जिज्ञासु का तर्क निरर्थक लगता है। वह भगवान् आशुतोष का उदाहरण देता हुआ कहता है कि क्या वह भी प्रसन्न होने पर, धर्म अधर्म का ध्यान रख कर वरदान देते हैं। जिज्ञासु भगवान् पर कोई प्रश्न नहीं करना चाहता किन्तु वह धन-दक्षिणा पाने की लालसा से भी बड़ा धर्म को मानता है। दुर्योधन के प्रलोभन देने पर वह तर्क देता है, “धन तो मनुष्य के जीवन के चार पुरुषार्थों में से एक है। उसका विरोध कोई शास्त्र कैसे कर सकता है। दरिद्रता वरेण्य नहीं है, वह तो जीवन का अभिशाप है। किन्तु महाराज ! धनोपार्जन के साधन तो धर्म-संगत ही होने चाहिए। अधर्म से धन कमाने की अनुमति तो नहीं है न शास्त्र में। वैसे भी मात्र धन के हेतु कार्य करना तो अधम व्यक्ति का काम है

महाराज। जब तक धन प्रयोजन है, तब तक तो मनुष्य का पतन नहीं होता महाराज! किन्तु उसकी प्रेरणा ही धन हो जाये, तो फिर वह धर्म के मार्ग पर नहीं चल सकता। और मनुष्य को तो धर्म के मार्ग पर ही चलना चाहिए।” (कोहली, महासमर 6,185)

भारतीय मानस को गर्व करना चाहिए ऐसी संस्कृति पर जो न केवल उसे उसकी समृद्धि के सोपानों के लिए आगे बढ़ने का सन्देश देती है। वरन उसके पुरुषार्थ के मार्ग भी नियत कर उसे दिशा ज्ञान कराते हुए लक्ष्य तक ले जाती है। जीवन के लिए आवश्यक अर्थ और भौतिक संसाधनों की अनिवार्यता और उसकी उपयोगिता के बारे में अवगत करती है। कितना और क्यों चाहिए, इसका ज्ञान देती है। कब तक चाहिए, इसको धर्म संगत ढंग से समझती है। **कबीर दास** का एक दोहा है जो इस मूल्य को बहुत सुन्दरता से प्रस्तुत करता है-

“साईं इतना दीजिये, जामे कुटुंब समाये,  
मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाये।” (कबीरदास)

जीवन की आवश्यकताओं की प्रेरणा धन न होकर, प्रयोजन धन हो, तो ही जीवन के कार्यों को धर्म पूर्वक सफलता से जिया-किया जा सकता है। यही इस वृत्तांत का सार है।

जीवन मूल्यों के बारे में चिंतन करते हुए बौद्धिक मनीषियों ने जीवन के प्रत्येक पहलु के पक्ष और विपक्ष में विचार किया है। वे चाहे राजनीति से सम्बंधित हों, प्रशासन से, न्याय से, मानवीय धरातल से, मनोविज्ञान से अथवा वर्तमान सन्दर्भ में भौतिकता से। किसी भी पहलु पर शास्त्र सम्मत विचार एवं मूल्य हमारे साहित्य में उपलब्ध हैं। जिस विषय की चर्चा सबसे अधिक की जाती है, उसका या तो अभाव होता है और उसकी अनिवार्यता महसूस होती है। अथवा वह बहुतायत में उपलब्ध होती है, और उस पर कुछ परिवर्तन की आवश्यकता होती है। जीवन से सम्बंधित मूल्य भी ऐसा ही महत्वपूर्ण तथ्य है, जो चाहे अधिकता में हो, तब भी चिंतन का विषय है, और ओझल है तब तो और अधिक चिंतन ही नहीं, बल्कि

चिंता का विषय है। आज मानव विज्ञान और तकनीकी विकास के नित नये चरणों को छू रहा है। समाज इन का लाभ अपनी सुविधाओं और जीवन के उपयोगी साधनों के रूप में कर रहा है। साधनों और समृद्धि के चलते मनुष्य कभी-कभी यह भूल जाता है कि आर्थिक भौतिक समृद्धि जीवन का अंतिम सत्य नहीं है। भौतिक साधनों के संचय की अंधी दौड़ के कारण और इस भुलावे के कारण मनुष्य के जीवन मूल्यों का हास होता जा रहा है। समाज के निरंतर हास से ही इन मूल्यों के बारे में चिंता स्वाभाविक हो उठी है। सामाजिक संस्था का निर्माण अवश्य ही प्रकृति को देख कर किया गया होगा। क्योंकि यदि मनुष्य वैयक्तिक हो कर सोचता है, तो वह कुछ अर्थों में स्वार्थी बन जाता है। किन्तु जब वह प्रकृति के संपर्क में आता है तो पाता है कि प्रकृति का समस्त कार्य परमार्थ हित के लिए है। जब मनुष्य समाज का गठन करता है, तो उसे स्वयं के हितों के साथ अन्य सामाजिक प्राणियों के लिए भी हित चिंतन करना होगा। तो सामाजिक संरचना को बनाये रखने के लिए मूल्यों की अति आवश्यकता है। अब यदि मूल्य का अर्थ देखें तो, “मूल्य वास्तव में ‘अर्थ’ से संबद्ध परिभाषिक शब्द है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ होता है- विनिमय क्षमता। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, “मानदंड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं हैं। पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में भी इसका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र में किया गया है।” (नगेन्द्र, विचार और विश्लेषण 1) किन्तु आज मूल्य शब्द समाज के विभिन्न पहलुओं को एक मानव से दूसरे मानव को जोड़ने वाले उपयोगी और व्यापक तंतु हैं। अब धर्मानुसार और नीतिशास्त्रीय विश्वकोश के अनुसार देखें तो, “मूल्य तथ्य के प्रति अभिकर्ता की मनस्थिति है जो तथ्य का मूल्याङ्कन करती है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, रुचियों, इच्छाओं, आवश्यकताओं, कारणों तथा कार्यों से है जिनके माध्यम से व्यक्ति वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है।” (विश्वकोश 12,584)

मूल्य संसाधनों का हो अथवा व्यवहार का। मनुष्य के जीवन को प्रभावित करता ही है। और यदि समाज में व्यक्ति रहता है तो सब के कल्याण के हेतु विकास करेगा ही। जब कल्याण की बात आती है तो सुविधाएँ और साधन अपने आप

साथ ही संलग्न हो जाते हैं। मनुष्य को कुछ प्राप्त होता है, तो वह कुछ और-कुछ और की चाहना करने लगता है। यह मानव का एक स्वाभाविक, स्वभाव है कि जीवन लोभ और मोह के घेरे में स्वयं को स्वयं ही फंसा लेता है। इन साधनों के रहते उसके हर्ष-विषाद, नैतिकता और आचार-व्यवहार, लक्ष्य और विश्वास आदि अपनी अस्मिता को खोकर केवल भौतिक उन्नति को ही अपना सुख मानने की भूल कर बैठते हैं। ऐसे में मूल्यों की अनिवार्यता की किसी भी रूप में अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। यदि व्यक्ति और समाज का विकास करना है तो मूल्यों को ही उनके आचरण का निर्धारण करना चाहिए, अन्यथा समाज एवं मनुष्य का गर्त के गिरना संभव है। यदि पशुता के व्यवहार से दूर होना है, तो मूल्य पर आधारित आचरण करना होगा और संयम और नियंत्रण का मन्त्र सीखना होगा। 'भारतीय आचार्यों के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। इस मोक्ष प्राप्ति के लिए आदर्श जीवन कैसा हो इसके कई उदाहरण हमारे शास्त्रों में मिलते हैं। इसका मूल उद्देश्य मानव जीवन की सार्थकता में है। सार्थकता आती है पुरुषार्थ से। जिन्हें चार चरणों में हमारे पुराण कहते हैं-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म इस सब के मूल में है और उसका सीधा सा अर्थ लोक मंगल है, धर्म कभी भी वैयक्तिक होकर नहीं विचरता। उसके अंतर में सर्व-मंगल का ही उद्देश्य है। भारत के मनीषी धर्म के साथ साथ अर्थ को भी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। अर्थ का मतलब भौतिक सुख सुविधाओं से है। यहाँ अर्थ धन मात्र न होकर व्यापक रूप से जीवन मूल्यों के अंतर्गत आता है। [Internet.link:shodhganga.inflibnet.ac.in.bitstream](http://Internet.link:shodhganga.inflibnet.ac.in.bitstream), में अर्थ को जिम्मेर ने यों परिभाषित किया है, "अर्थ की अवधारणा के अंतर्गत वे समग्र स्पर्शीय अथवा भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं। जिसकी प्राप्ति से उसे प्रयोग में लाया जा सकता है। खोया भी जा सकता है तथा जिन्हें गृहस्थ के भरण-पोषण, परिवार की समृद्धि के लिए धार्मिक कर्तव्य निभाने के लिए अर्थात् जीवन के कर्तव्यों को सदाचार से पालन करने के लिए जिनकी आवश्यकता होती है।" (शोधगंगा)

वैदिक समाज में अर्थ को जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकारा था। धर्म के समान अर्थ को भी मोक्ष प्राप्ति हेतु उपयोगी माना गया है। वैदिक युग में धन

उपयोगी साधन मात्र था लेकिन आज वह जीवन का चरम लक्ष्य बन गया है। अर्थ को जीवन मूल्य घोषित करने वालों का मूल उद्देश्य इसे वैयक्तिक न मान कर लोकमंगल के रूप में स्वीकार करना है। 'भौतिकता की प्रमुखता ने मानव को उपयोगवादी दृष्टिकोण प्रदान किया है। विज्ञान प्रयोग की कसौटी पर आधारित है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ उसकी विध्वंसक शक्ति मानव को भयभीत करती है। फलस्वरूप उसे जीवन की क्षणिकता और अर्थहीनता का एहसास होने लगा। ऐसे सन्दर्भ में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों के अन्धकार से घिरा हुआ, आज का मनुष्य मूल्य-बदलाव के दौर से गुजर रहा है। अतः सामयिक जीवन में नये मूल्यों का उदय होना स्वाभाविक है। आधुनिक युगीन मानव न प्रकृति से संघर्ष करता है न मानवों से। वह मात्र अपने आप से संघर्ष करता है। इसलिए आधुनिक समाज में मानव के रिश्तों में भी घनिष्टता का अभाव दृष्टव्य है।

जैसा कि बार-बार उल्लेख किया जाता है कि तकनीक और विज्ञान ने मनुष्य का जीवन बदल दिया है। उसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही रूप उसे विकास की ऊँचाइयों पर ले जा रहे हैं। सभ्य और सांस्कृतिक होना इस बात की सीमा नहीं निर्धारित करता कि व्यक्ति आर्थिक और भौतिक उन्नति नहीं कर सकता। बल्कि एक संतुलित व्यक्ति उत्तम विधि से समृद्धि के आयाम प्राप्त कर सकता है। युग बदल गया है। विकास ने जीवन की दिशा और दशा को बहुत प्रभावित किया है। साधन और समृद्धि मानव को बल एवं योग्यता के क्षेत्रों में एक बहुआयामी स्तर प्रदान करती है, जिससे वह औरों से अपना मुकाबला कर पाता है। फिर वह चाहे समाज, राज्य अथवा अपने लिए उपलब्ध की गयी समृद्धि ही क्यों न हो।

मैनेजमेंट गुरु रघुरामन का एक लेख है जिसका शीर्षक ही विकास को विज्ञापन है, "अपनी प्राइड रूल बुक अलग तरह से लिख रही है नई पीढ़ी"। इसमें वह कहते हैं जिन कार्यों को कभी बहुत निचले स्तर पर स्थान मिला करता था। आज विज्ञान और तकनीक के कारण वह युवकों के समृद्धि के साधन बने हुए हैं। एक समय था जब चाय बेचने वाले को 'बेचारा बूढ़ा आदमी चाय बेच रहा है, पढ़ोगे नहीं तो तुम भी चाय ही बेचोगे।' ऐसे उदहारण देकर बच्चों को पढ़ने के लिए

कहा जाता था। किन्तु आज वही चाय का ठेला एक समृद्ध व्यापार का केंद्र बना है। कैसे ? देखते हैं- “ह्यूस्टन में रहने वाले 30 वर्षीय आईआईटी ग्रेजुएट नितिन सलूजा और राघव वर्मा ने ‘चाओस कैफ़े’ शुरू किया है, जिन्होंने मेरीवाली चाय की पुरानी अवधारणा को समकालीन रूप दिया है। दिल्ली, मुम्बई, चड़ीगढ़, करनाल, गुरुग्राम, नोयडा और गाजियाबाद में फैले इस कैफ़े के जरिये वे रोज 12 हजार कप चाय बेचते हैं और अब उन्होंने चाय की होम डिलीवरी भी शुरू की है। वे डिस्पोसेबल केतली में ताज़ा चाय की डिलीवरी करते हैं। यह ब्रांड अपने ग्राहकों को उनकी चाय हजारों तरीके से बनाने का विकल्प देता है। गुरुग्राम में उनके सातों दिन चौबिसों घंटों चलने वाले आउटलेट हैं और मौसम के मिजाज़ के हिसाब से मेनू होता है। मानसून के लिए ‘शाही चाय’, ठंड के लिए ‘अवर चाय’ और आम-पना आइस्ड टी, हनी-जिंजर-लेमन-टी। गर्मी के लिए ‘ठंडी चाय’। उनकी दुकाने ‘केटल’ नाम के आईटी सिस्टम से चलती हैं, जो बहुआयामी एडवांस पौइंट ऑफ़ सेल सिस्टम है।...केवल आई.आई.टी और आई.आई.एम् वाले ही भारतीय चाय के बिजनेस को नई शुरुआत नहीं दे रहे बल्कि हार्वर्ड के अमूलिक सिंह बिरजाल और हार्वर्ड के ही उनके प्रोफेसर तरुण खन्ना ने विभिन्न शहरों में अपना चाय का बिजनेस ‘चाय पॉइंट’ नाम से शुरू किया है। खड़गपुर आईआईटी के ग्रेजुएट पंकज जज भी दिल्ली के एनसीआर क्षेत्र में इस तरह का आउटलेट चला रहे हैं। और उन्होंने उसका नाम ‘चाय ठेला’ ही रखा है।’ फंडा यह है कि नई पीढ़ी के सामने पुराने प्राइड रूल्स को आधुनिकता का तड़का लगा कर नए सिरे से लिखने के बहुत से विकल्प हैं और वह ऐसा कर भी रही है।’ (रघुरामन 6)

पुराना ग्रामीण नाम और तकनीक से भरी नवीन सोच का यह बहुत खुबसूरत उदाहरण है। कह ‘ठेला’ रहे हैं, बेच ‘चाय’ रहे हैं, किन्तु एकदम नये वैज्ञानिक एवं सुविधाजनक आधुनिक केंद्र बना कर प्रस्तुतिकरण है। यह कहना कि, देश में रोजगार का अभाव है, बेमानी हो जाता है। जब आईआईटी ग्रेजुएट इस तरह के व्यवसाय से आर्थिक क्षमताओं को न केवल बढ़ावा देते हैं, वरन स्वयं के स्तर के साथ-साथ, देश व समाज को भी अच्छी चीज उपलब्ध कराकर उसका



स्तर भी उठाते हैं। आज की आधुनिक वैज्ञानिक परिस्थितियों में विकास को नये आकाश मिल रहे हैं। आज का युवा नवीन प्रयोग कर के विकास को नई दिशा दे रहा है।

विकास का तो यह मंजर है कि भूमि से आकाश तक एक ज्ञान-विज्ञान का जाल सा बुना दिखता है। भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संगठन इसरो देश के विज्ञान की उच्च संस्था है। अब, “यदि कोई आपको बताये कि भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संगठन इसरो कर चोरी करने वाले लोगों को पकड़ने में आयकर विभाग की मदद करता है तो कृपया इस बात पर भरोसा कीजिये। उदाहरण देखते हैं— ‘हाल ही में एक आयकर दाता ने अपनी खेती की जमीन बेचकर हुई आय पर छूट का दावा किया। आयकर कानून के मुताबिक छूट तभी मिलती है जब बेचने के पहले खेती की जमीन का उपयोग कम से कम दो साल कृषि के उद्देश्य से हुआ हो। गलत सूचना के संदेह में गुजरात के आयकर अधिकारीयों में गये हफ्ते इसरो से सम्पर्क किया और पिछले तीन वर्षों के दौरान लिए गये जमीन के उपग्रह चित्र हासिल किये। इसरो के वैज्ञानिक आकलन के आधार पर आयकर विभाग यह साबित कर सका कि जमीन बंजर थी और फसलें लेने के लिए उसका इस्तेमाल नहीं हुआ था। अतः उसका झूठा दावा खारिज कर दिया गया। आयकर टैक्स विभाग के लिए अपने अधिकार क्षेत्र में मौजूद सारे साधनों का इस्तेमाल तो कर ही रहा है बल्कि वह अन्य सरकारी एजेंसियों जैसे इसरो, सीबीआई, प्रवर्तननिदेशालय, सेबी, आरटीओ, सारेबैंक, कम्पनी रजिस्ट्रार, भू-रजिस्ट्रार आदि की मदद ले रहा है ताकि कर देने वालों को पकड़ा जा सके।’ (रघुरामन 8)

तो यह है विज्ञान और विकास का परिणाम। स्मरण रहे भौतिक उन्नति मूल्यों के सुधार और परिष्कार की भी द्योतक है। विज्ञान के समृद्ध विकास ने दुनिया को एक छोटे से गाँव में परिवर्तित कर दिया है। एक समय था जब लोग दूसरे देश जाते थे तो लगता था कि न जाने अब कब मिलना होगा। किन्तु आज नेट की दुनिया ने विश्व के किसी भी कोने में कैमरे द्वारा काल करा कर व्यक्ति को जैसे व्यक्ति के पास ही बिठा दिया है। कहीं कोई घटना-दुर्घटना हो क्षणों में उसकी सूचना

संसार में फैल जाती है। कुछ दिनों पहले की बात है समाचार में था, “अमेरिका के बाल्टीमोर में अभी न्यूनतम तापमान माईनस तीन डिग्री पहुँच गया है। ऐसी स्थिति में भी बच्चों को स्कूल जाना पड़ रहा है। वहीं कौपीन स्टेट यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाली सेमीएरा जोहन्स ने सिटी स्कूल में जाकर देखा कि बच्चे कंपकपाते हुए भी पढाई कर रहे हैं। ऐसा इसलिए कि वहां कक्षा में पर्याप्त हीटर नहीं थे। जोहन्स ने ‘गो फंड मी’ पेज बनाया और लोगों से बच्चों की मदद करने की अपील की। उन्होंने अपील में 600 हीटर खरीदने के लिए लोगों से मदद करने को कहा। उन्होंने 13 लाख रुपये एकत्र करने का लक्ष्य रखा लेकिन 15 लाख से अधिक राशि एकत्र हो गयी। शहर के स्थानीय लोगो ने और बेहतर कार्य किया। वे गर्म कपड़े लाये और बच्चों को दिए।” (भास्कर 8)

विकास एवं समृद्धि विश्व कल्याण का उद्देश्य भी कुछ हद तक पूर्ण करने में सहायक होती है, और विचारों के अदान प्रदान से व्यक्ति का मस्तिष्क और अनुभव दोनों ही विकसित होते हैं। बशर्ते उसका व्यवहार सकारात्मक हो। कभी कभी इस विकास को उदाहरणों द्वारा भी तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, जिससे बात को आसानी से समझाया जा सके। उदाहरण देखते हैं। मैनेजमेंट गुरु रघुरामन अपने एक स्तम्भ में लिखते हैं, “कुछ वक्त पहले मुझे टायलेट पर एक बहुत ही अच्छा संवाद पढ़ने को मिला। उस संवाद में एक पाठक किसी अखबार के स्तंभकार से अपनी दुविधा व्यक्त करता है। ये स्तंभकार ऐसे अंकल अगोनी शख्स हैं, जो हर प्रकार के सवालियों का जवाब देते हैं। हताशा जताते हुए पाठक ने लिखा था कि हाल ही में उसका विवाह हुआ है और उसकी पत्नी घर आते ही इस बात पर अड़ गयी कि उसे भारतीय पद्धति के टायलेट की बजाये पश्चिमी पद्धति का टायलेट चाहिए। चूँकि वह यह मानता है कि उसे पत्नी की हर छोटी मोटी मांग पर झुकना नहीं चाहिए, इसलिए उसने इनकार करते हुए कहा कि वह इस बात पर तलाक लेने के लिए भी तैयार है। यह कहकर उन्होंने स्तंभकार से राय मांगी थी। बताईये छोटी सी मांग पर मतभेद को विवाह-विच्छेद तक ले जाना कहाँ तक उचित है।”

“मैंने लम्बे समय से ऐसा छोटा और इतना सुंदर जवाब नहीं सुना था। स्तंभकार महोदय ने जवाब दिया, ‘मैं आपके सवाल का जवाब नहीं दे सकता, क्योंकि आपने इसे ई-मेल पर लिखा है। मुझे जवाब देने में खुशी होती यदि आप यही प्रश्न कबूतर के जरिये भेजते।’ बिना कहे ही बहुत कुछ कह दिया गया था। उन्होंने परोक्ष रूप से ध्यान दिलाया था कि यदि आपने सन्देश भेजने के तरीके में कबूतर की तुलना में इजाफा करते हुए ई-मेल कर लिया है तो उस व्यक्ति की मांग पर आपति क्यों जो आपसे भिन्न टायलेट की सुविधा की बीच पला बढ़ा है? मैनेजमेंट थिंकर एलेनार रूजवेल्ट कहते हैं, “महान दिमाग वाले व्यक्ति आइडियाज की बात करते हैं, औसत दिमाग वाले घटनाओं की चर्चा करते हैं और संकुचित दिमाग लोगों की बातें निरर्थक गपबाजी और टाइम पास करते हैं।” (रघुरामन 8)

विकास की ही बात की जा रही है, किन्तु मूल्य और संबंधों की महत्ता को भी साथ साथ सहेजने का प्रयास है। कहीं अपनी संस्कृति को इस बदलते परिवेश में भूल न जाएँ इसका कार्य समाज के बौद्धिक और सुधि-जन हमेशा करते हैं। विज्ञान हो या तकनीक भारतीय संस्कृति किसी न किसी रूप में व्यक्ति को प्रभावित करने का कार्य भूलती नहीं। यदि केवल भौतिकता ही वातावरण को लील जाये तो मानव—मानव न रह पायेगा। इसलिए जीवन का मूल्य आधारित रूप ही वरेण्य और उपयोगी रहन चाहिए।

एक स्थान पर (28 अप्रैल 2017 अंक ) में रघुरामन का स्तम्भ एक और विकासमयी और मूल्यमयी विषय की चर्चा करता है। वह कहते हैं कि, ‘नए विषय को देखने से बनती है बड़ी सोच’। “ग्रेबोलोजी कचरा टीचिंग से जुड़ा विषय है। कचरे की ग्लोबल समस्या के समाधान के लिए ओरोविले के एक एन. जी. ओ. ‘बेस्टलेस’ ने वर्ल्ड अर्थ डे पर 6 से 15 साल की उम्र के बच्चों को लक्ष्य बना कर ग्रेबोलोजी आरंभ किया है। मेरे कजिन का सातवीं कक्षा का छात्र बेटा कचरा प्रबंधन सीख रहा है। उसने बताया, ‘इसमें 10 शैक्षणिक गतिविधियों में से तीन शुरू हो गयीं हैं, बाकी भी जल्द ही इसमें जोड़ दी जायेगी।’ क्लास पहले सबक इंट्रोडक्शन ऑफ सालिड वेस्ट से शुरू हुई है। रचनात्मक और मनोरंजक क्लास के

जरीये विषय की विस्तृत जानकारी इसमें है। इसमें वेस्ट रिले रेस है। बच्चा कचरा अलग-अलग करने और इसे रीसाईकल करना सीख रहे हैं। इसके बाद अगला चैप्टर है— हाउ लॉन्ग डज ट्रेश लास्ट। इसमें कचरे के सड़ने और इसके निपटान का वैज्ञानिक तरीका बताया गया है। इसमें भी एक मनोरंजक एक्टिविटी है—मैप माय सोफ्ट ड्रिंक। यह मूल रूप से प्रक्रियागत एक्टिविटी है, जिसमें पीईटी बोटेल्स, एल्मुनियम केन और फिर से इस्तेमाल करने योग्य बोटल सहित कई पैकेजिंग मटेरियल के जीवन चक्र का तुलनात्मक अध्ययन है।' इस चैप्टर में दो अन्य चैप्टर भी हैं—फॉलो द बाटल और लैस पकेजिंग। पहले सबक में छात्रों को प्लास्टिक की लाइफ साइकल और पृथ्वी पर इसके असर को बताया गया है। दूसरे चैप्टर में छात्रों को बताना है कि कैसे वे गैरजरूरी पकेजिंग को कम कर सकते हैं। अभी तक जो तीनों चैप्टर बताये गये हैं, यह सारे चैप्टर क्रियात्मक हैं, थ्योरी नहीं। इसके अलावा इसमें सपाट द बैटरी भी है। यह एक कलरिंग एक्टिविटी है, जो बैटरी और पर्यावरण पर इसके असर से परिचित कराती है। साथ ही एक छोटा कदम भी बताया गया है, जो हर छात्र उठाया करता है—टाइम लाइन ऑफ़ स्टफ। यह एक विजुयल गुप एक्टिविटी है, जो पकेजिंग के इतिहास और वेस्ट के असर के बारे में बताती है। एक सबक लिटर क्लीन अप है। यह वेस्ट के स्रोत को समझने की एक्टिविटी है। इसमें छात्रों को बताया गया है कि कूड़ा क्या है ? और क्यों है ? हर रोज छात्र ग्रेबोलोजी निद्रा की प्रैक्टिस करते हैं। यह कला और प्राचीन योगनिद्रा का मिश्रण है। इसमें छात्र वेस्ट फ्री दुनिया की कल्पना करते हैं। पूरा कांसेप्ट तीन सरल पॉइंट्स पर आधारित है— 1.सिर्फ कचरा साफ कर देना ही समाधान नहीं है। 2.कचरा इससे बड़ी समस्या है। 3.अच्छी आदतें डालना ही इसका समाधान हो सकता है।...फंडा यह है कि अगली पीढ़ी प्रयोग के लिए तैयार है। ताकि वह वैश्विक समस्या का समाधान कर सके।' (रघुरामन 8)

विकास की आर्थिक और भौतिक समृद्धि के साथ साथ प्रकृति अपने अन्य कार्य भी तो करती है। मनुष्य यदि सुविधाएँ प्राप्त करता है तो दुविधा से निपटने के लिए नये प्रयोग भी तो उसे ही करने होंगे। यह प्रयोग भी उसी में से एक है।

वस्तुतः यदि व्यक्ति यह न भूले कि उसके विकास के साथ उत्पन्न हुई समस्याओं का हल भी उसी ने सर्व-कल्याण की भावना के साथ सोचना और करना है तो विकास वास्तव में मानवीयता को ऊँचे धरातल पर ले जाता है। भौतिक मूल्य मनुष्य को अपनी नैतिक राह से भटकने नहीं देते और अपने नितांत अद्भुत विवेक से वह विकास के नित नये सोपानों का स्पर्श करता जाता है। कहते हैं कि मनुष्य ही केवल ऐसा प्राणी है जिसे ईश्वर ने अपनी प्रतिछाया के रूप में निर्मित किया है। इसलिए तो मानव भी रचना के ऐसे ही प्रयास कर के ईश्वर का अनुगमन करने का प्रयास करता है।

दैनिक भास्कर के 'जिन्दगी की किताब' स्तम्भ में मुकुल व्यास ने एक लेख लिखा, 'रोबोट जो मजाक भी करता है'। - 'सोफिया एक रोबोट है, मुमकिन है कि उसमें अधिकांश जानकारी प्रोग्राम की गयी हो, लेकिन महज दो साल में दुनिया भर में विभिन्न साक्षात्कारों में सोफिया की हाजिरजवाबी ने उसके प्रशंसकों की फेहरिस्त लम्बी कर दी है। सोफिया एक अत्यंत बुद्धिमान मानव रोबोट है। आप उससे बात कर सकते हैं, सवाल पूछ सकते हैं। अभी तक वह कई चैट शो और साक्षात्कार दे चुकी है। ..अमेरिका में टक्सास के आस्टिन शहर में मार्च 2016 में आयोजित साऊथ बाय साऊथ वेस्ट फेस्टिवल में सोफिया पहली बार सार्वजनिक रूप से उपस्थित हुई थी। इस रोबोट को हांग कांग स्थित हैनसन रोबोटिक्स कम्पनी ने बनाया है।..भूरी आँखें, लम्बी आइलाशेस वाली सोफिया मुस्कुराती है, पलकें झपकाती है और अपनी आँखों को इधर उधर घुमाती है। वह अपने चेहरे पर 62 से अधिक भाव प्रदर्शित कर सकती है। मतलब सारे रसों को चेहरे की भंगिमाओं से अलग-अलग तरीके से प्रदर्शित कर सकती है।..एक साक्षात्कार के दौरान सोफिया से पूछा गया कि आप हमेशां खुश दिखती हैं। सोफिया का जवाब था 'चूँकि मैं स्मार्ट और अच्छे लोगों से घिरी रहती हूँ इसलिए हमेशा खुश रहती हूँ।' (भास्कर 1)

विकास के नित नये स्तरों को छूता व्यक्ति नकली मानव बना कर उसमें असली भाव भी डाल सकता है। यह सोफिया के निर्माण से साबित हो चुका है। किन्तु जब विकास समष्टि के कल्याण की भावना से किया जाये तो वह जीवन को, समष्टि को सदैव लाभान्वित करता हुआ सत्य की पराकाष्ठा को छू लेता है। और यही विकास यदि मनुष्य की दूषित प्रेरणाओं के हेतु किया जाये तो वह मानवता के लिए विध्वंसकारी हो जाता है। सोफिया के शब्द विज्ञान की, विकास की प्रवृत्ति और नियम उद्धाटित करते हैं। एक साक्षात्कार में जब सोफिया से पूछा गया कि रोबोट्स इन्सान के लिए खतरा तो नहीं हैं ? उसका जवाब था कि 'स्मार्ट इनपुट-आउटपुट सिस्टम के साथ मेरे साथ अच्छा बर्ताव करेंगे, तो मैं भी अच्छा व्यवहार करूंगी।' कितना सटीक जवाब है। किसी भी मूल्य को अपनाने के लिए उसकी प्राकृतिक उपयोगिता को अवश्य परखा जाना चाहिए। अन्यथा केवल स्वार्थ और विध्वंसक रूप के लिए किया गया कोई भी विकास कार्य अंततः मानवीयता के लिए हानिकारक ही हो जाता है। इसीलिए मूल्यों के धरातल पर ही भौतिक-आर्थिक विकास होना श्रेस्कर है।

दैनिक भास्कर समाचारपत्र के लर्निंग स्तम्भ में एक लेख पढ़ा, 'यूके में 8 वर्ष की मैसी को उसकी मां ने नया फ़ोन दिलाया। वह उसमें गुड़ियों के वीडियो देख रही थी। अचानक डेटा खत्म हो गया। उसने कम्पनी को रिप्लाइ किया कि उसे और डेटा चाहिए। उसकी माँ ने यह सन्देश पढ़ कर फोन कम्पनी से संपर्क किया और कहा कि वह उसकी मदद करे। उसकी माँ क्लेरी ने मैसी के सन्देश की फोटो कम्पनी को भेजी और कहा कि वे उसे मैसेज करें, जिसमें लिखा हो कि उसे और डेटा तभी मिलेगा जब वह घर के काम में माँ का हाथ बटाये।'(भास्कर 6) ...बस बात इतनी है कि उन्नति कितनी भी हो किसी भी क्षेत्र में हो मूल्यों की अवहेलना न हो। समाज का उर्ध्वगमन हो वह नीचे न गिरने पाए।

उन्नति और विकास की एकदम ताज़ा घटना और मानवीय गुणों के मूल्य परक व्यवहार का एक अनन्य उदाहरण इस को और स्पष्ट रूप से विश्लेषित

करेगा। “दुनिया हमेशा 90 गोताखोरों सहित हजार से ज्यादा एक्सपर्ट के साथ थाईलैंड की फूटबाल टीम के 11 से 16 वर्ष आयु के 12 लड़कों और उनके एक कोच की सराहना करेगी, जिन्होंने नियति के खिलाफ सबसे खतरनाक मैच जीता। यह मैच कुल 18 दिन, यानि 432 घंटे चला, जिसमे ये लड़के नियति को गोल (यानि एक जिन्दगी) का मौका दिए बगैर लड़ते रहे और उन्हें 13-0 से जीत मिली। संघर्ष की शुरुआत तब हुई जब 23 जून को प्रैक्टिस के बाद कोच उन्हें टीम बिल्डिंग एक्सरसाइज़ के लिए थम लुयांग गुफा में ले गये। उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था कि भारी वर्षा और उसके कारण वह गुफा में अंदर तक फंस जायेंगे।..बचाव दल ने उनके संकेत मिलने पर अभियान शुरू किया।..27 जून को सेना व नौसेना के 1000 सैन्यकर्मियों के साथ बचाव शुरू किया। 1 जुलाई को कई ऑक्सीजन सिलेंडर लाकर एक आपरेशन बेस तैयार किया गया। अनथक प्रयासों के बाद 2,3 जुलाई तक इन लड़कों तक भोजन और दवाइयां पहुंचायी जा सकीं।...तैरकर बाहर तक बच्चों को लाना, जिसमे से बहुत तो तैरना भी नही जानते थे। बारिश की तेज़ी समाप्त नहीं हो रही थी। आक्सीजन के खत्म होने का भी खतरा था। किन्तु बचाव दल डटा रहा। उनमें 40 एक्सपर्ट थाई लैंड के थे और शेष विदेशों से आये थे। इनमे से प्रत्येक ने पांच घंटे तक बार-बार तैरने की प्रक्रिया दोहराई। लौटते समय तो उनके कन्धों पर बच्चों व कोच को जिन्दा लाने की महत्वपूर्ण जिम्मेवारी भी थी। बंटी हुई दुनिया के एकजुट होने का इससे बेहतर उदाहरण नहीं हो सकता। जीत की इस कहानी में हम भारतीय भी गर्व कर सकते हैं कि भारत के किलोस्कर ब्रदर्स लिमिटेड की गुफा में से पानी निकालने की विशेषता ने भी बहुत बड़ी भूमिका निभाई।” इस तरह 18वें दिन मिशन इम्पोसिबल पूरा हुआ। अद्भुत तो यह रहा कि कोच और वाईल्ड फ़ोर्स के 12 खिलाड़ियों ने गुफा के भीतर भी खेल भावना दिखाई। बौद्ध भिक्षु बच्चों को ध्यान कराते रहे, 13 साल का कप्तान टीम को हौसला देता रहा। कोच इकापोल, बच्चों को खाना कम न पड़े, सो खुद भूखे रहे। छोटे छोटे बच्चों ने हिम्मत नहीं हारी और जीवित बाहर आकर विज्ञान और मानवीय बचाव भावनाओं को नमन किया।’ विभिन्न

समाचारपत्रों के माध्यम से इन सेवा कार्यों का पूर्ण विवरण प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक साधनों पर कई हफ्तों तक छाया रहा।

यह बार बार प्रमाणित होता रहा है कि व्यक्ति सफलता की ओर जब कदम बढ़ाता है तो उसे बहुत सुकून मिलता है। प्रशंसा और समृद्धि प्रसिद्धि को बढ़ाती है। कभी कभी बहुत संतुलित व्यक्ति भी अपने पर नियंत्रण खो बैठता है। जिस विकास और समृद्धि को वह प्रेरणा के रूप में ले कर कार्य कर रहा था, उसे ही प्रयोजन मान कर तृष्णा के अधीन हो जाता है। लोभ और अहंकार में लिप्त जीवन फिर किसी और के कल्याण का भाव भूल जाता है। बस यहाँ से विकास और समृद्धि अकल्याण के लिए प्रयुक्त होने लगती है। केवल स्वयं के लिए समृद्धि चाहने वाला मनुष्य किसी का भला करने के बजाये उसका जब नुकसान करने का मन बना लेता है, तो जो साधन-सुविधा के लिए पाए थे वह ही हिंस्र कृत्यों के साधन बन जाते हैं और विकास हास के मार्ग पर चल पड़ता है। ऐसा अनर्थ न हो, इसीलिए भौतिक मूल्यों की अपरिहार्यता का ध्यान रखना ही होगा।

महाभारत कालीन जीवन में किसी भी व्यवहार की कसौटी मूल्य ही हैं। कोई भी कार्य करने से पूर्व धर्म और न्याय का विचार करना आवश्यक समझा गया। स्वार्थ से अधिक परमार्थ का विचार बलवान है। किन्तु आज वर्तमान काल में इस विषय को पुनः जीवन देना होगा। धर्म का, न्याय का, मूल्यों का, नैतिक आचरण का विचार करना ही होगा। बिना इसके जीवन अर्थहीन हो जायेगा। हमारे शास्त्रों और पुराणों ने यही दिशा-निर्देश ही तो देने का निरंतर प्रयास किया है। भारतीय अस्मिता धर्म का, मूल्यों का विचार किये बिना रह ही नहीं सकती। जीवन के आचरण का चिंतन बिना मूल्यों के अपूर्ण है फिर चाहे वह राज्य से सम्बंधित हों, नीति से सम्बंधित, न्याय से अथवा आर्थिक भौतिक उन्नति से ही क्यों न सम्बंधित हों। हमारे साहित्य के महान रचनाकारों एवं चिंतकों ने भी इस क्षेत्र में अपने विचारों से मूल्यों की मीमांसा की है।



## रामराज्य की वर्तमान संकल्पना

“आधुनिक काल की राम-काव्य-परम्परा के कवियों में डॉ.बलदेव प्रसाद जी मिश्र का विशेष स्थान है। वस्तुतः नवीन जीवन मूल्यों की दृष्टि से मिश्र जी को मानवतावाद का पोषक कवि माना जा सकता है। इनके सन्मुख ‘जीवन जैसा है’ के साथ ‘जीवन जैसा होना चाहिए’ की समस्या भी रही है। उन्होंने मानस माधुरी के पृष्ठ-16 में लिखा, “मानवेतर जीवन प्रकृति द्वारा परिचालित होता है, इसलिए उनमें तो प्रकृति ही प्रकृति का खेल है। वहां संस्कृति या विकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य ही का एक ऐसा समाज है जिसमें संस्कृति के दर्शन हो सकते हैं। यदि वह कोई कृति है तो समझिये कि वह नरनिर्मित अंतःशोधन की कला है जिसकी साधना जनकल्याण के लिए की जाती है।”..अपने साहित्य में रामकथा को आधार बना कर मिश्र जी ने मात्र आध्यात्मिकता की ही चर्चा नहीं की, वरन वह भौतिकता के प्रति भी पूर्ण जागरूक रहे हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने भौतिक मूल्य को साधन मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य को साध्य मूल्य स्वीकारा है। वह इनमें प्रत्येक दृष्टि से बहुजनहिताय भावना को श्रेयस्कर मानते हैं।” (हुकुमचंद 216)

कथा राम की हो या कृष्ण की, मूल्य की भावना बहुजन हित की ही है। तो हमारे साहित्यकार इसी बात को तो प्रतिपादित करने का सतत प्रयास करते हैं। बस करना सिर्फ यह है कि जाग्रति की ज्योत को प्रदीप्त रखना होगा। भारतीय मानसिकता कभी-कभी, सत्ता, अहंकार, लोभ और मोह ग्रस्त होने के बावजूद मनोवैज्ञानिक रूप से धर्म व न्याय से डरती है। वह भौतिक आर्थिक उन्नति चाहती है किन्तु अध्यात्म और धर्म को भी अपने आचरण का आधार बना कर चलती है। विश्व के अन्य देशों की बात करें तो कह सकते हैं कि यह अनिवार्य नहीं कि जो भारतीय जीवन-मूल्य हैं, उन्हें पाश्चात्य देशों में ज्यों का त्यों ही मूल्यों के रूप में स्वीकार किया जाये। देश एवं काल के अनुसार जीवन-मूल्यों के स्वरूप में विविधता आना स्वाभाविक है। पाश्चात्य देशों में भौतिक मूल्यों की प्रधानता है, तो भारत में आध्यात्मिक मूल्यों की। भौतिकता का स्थान है किन्तु उसके कारण विश्व

का कल्याण हो। जन जन को सुख मिले। अपने 'साकेत संत' काव्य ग्रन्थ में डॉ. बलदेव मिश्र कहते हैं, -

“सभी निज संस्कृति के अनुकूल,  
एक हों रचें राष्ट्र-उत्थान।  
इसलिए नहीं कि करें सशक्त,  
निर्बलों को अपने में लीन-----  
इसलिए कि हों विश्व-हित-हेतु,  
सम्मुन्नित पथ पर सब स्वाधीन।” (मिश्र, साकेत संत 49)

यहाँ मिश्र जी ने काव्य में सर्वत्र जीवन के भौतिक मूल्यों के प्रति एक सहज दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे भौतिक सुख को जीवन में आवश्यक रूप से प्रतिपादित करते हुए भी मानव को उसका दास नहीं बनाना चाहते। वे अपनी संस्कृति के अनुकूल अपने राष्ट्रीय उत्थान की कामना करते हैं। वे कहते हैं —

“विश्व में फ़ैल जाये सुख शांति,  
यही जीवन का आदर्श।  
इसी से मानवता की काँति,  
इसी में मानव का उत्कर्ष।” (साकेत संत 26)  
एक और बानगी प्रस्तुत है —  
“व्यवस्था एक नई चुपचाप,  
विश्व में ऐसा रचे विधान।  
कि हर नर के अंतस से,  
स्वतः प्रकट हों भगवान।” (साकेत संत 51)

कवि एक नई व्यवस्था की आवश्यकता क्यों महसूस कर रहा है। जहाँ हर नर के अंतस से नारायण के प्रकट होने की कामना है। ऐसा इसलिए कि जीवन में अर्थ संग्रह की भावना के साथ पूंजीवाद और साम्राज्यवाद ने अपनी जड़े जमा ली हैं, जिन के फलस्वरूप नैतिक आचरण और पारम्परिक मूल्यों का हास हो रहा है।

विकास की वास्तविकता इतनी उथली हो गयी है कि मानव, मानव को ही निगल जाना चाहता है। महासमर के एक प्रकरण में कृष्ण, अर्जुन और भीम जरासंध के वध के उद्देश्य से जब मगध जाते हैं तो वहां के हाट-बजार देख कर, उनकी विकसित दशा देख कर एक सामान्य व्यापारी से बात करते हैं। उस व्यापारी के कथन से उन्हें अधर्मी राजा और उसकी अधर्मी नीतियों से दुखी प्रजा का हाल पता चलता है। कृष्ण एक ऐसा साम्राज्य चाहते हैं जिसमें समृद्धि हो, शांति हो, धर्म हो, निष्पाप राजा हो और सुखी प्रजा हो और ऐसा वह युधिष्ठिर के आचरण और राज्य की कल्पना से करते हैं। वास्तविक विकास हो किन्तु मूल्य सहित। राजा को लोक सेवक होना चाहिए इसका प्रतिपादन मिश्र जी अपने साकेत-संत में बार बार करते हैं.-

“राज्य प्रजा का या राजा का ।  
 चर्चा ही है व्यर्थ, क्योंकि वह  
 है त्रिभुवन के अधिराजा का ।  
 जितना जिसको न्यास मिला है,  
 उचित है कि वह उसे संभाले ।  
 और अंत में उजले मुख से  
 जिसकी वस्तु उसे दे डाले ।” (साकेत संत 45)

यही तो कहना है कवि का कि उन्नति चाहिये और समस्त प्रजा का ध्यान भी राजा को हो, किन्तु जिसका जो है वह उसे संभाले। अनाधिकार चेष्टाएँ मनुष्य को मूल्यों से गिराती हैं। वही तो करने से रोकते हैं भौतिक मूल्य। कैसा राज-समाज हो कवि उसकी कल्पना करता हुआ उसका एक रूप समक्ष रखता है —

“अभय हो सभी, शक्त हों सभी,  
 न कोई कहाँ दुखी हों लोग ।  
 राज्य से खुले रह सब ओर,  
 अशक्तों कि रक्षा के योग ।

योग्यता भर सब ही श्रम करें,  
 और आवश्यकता भर प्राप्ति ।  
 राज्य का हो यह ही आदर्श,  
 राज्य की ही हो पूर्ण समाप्ति ।” (साकेत संत 44)

बहुत सुन्दरता से मिश्र जी ने नवीन दृष्टि से अपनी भारतीय संस्कृति को देखते हुए अपने तर्कों से उसे और महत्पूर्ण बना दिया है। राम की मर्यादा को कहते हुए वह जीवन के सम-सामयिक संदर्भों से भी दृष्टि हटाते नहीं। “वह मूल्यों की सम्यक एवं अवसरानुकूल प्रतिष्ठा करते हैं। उनके अनुसार मानवता, राष्ट्रीयता, भौतिकता, अथवा वैज्ञानिकता तथा प्रजातंत्र, आदर्श राजा एवं राज्य आदि सम्बन्धी इनकी मान्यताएं युगानुरूप एवं जीवनोचित्य की दृष्टि से सार्थक हैं।” (हुकुमचंद 234)

यह सत्य है कि आज साहित्य और समाज प्रगतिवादी विचारधारा को उपयोगितावादी, भौतिकवादी, मानवतावादी, और यथार्थवादी दृष्टिकोण से निरखते हैं। अतः भौतिक उन्नति, व् आर्थिक समृद्धि आवश्यक है, यदि भौतिक मूल्यों के अनुरूप हो तो !

हमारा देश भी तो निरंतर भौतिक-आर्थिक विकास के नये आकाश छू रहा है। 1950 में भारत का जी डी पी 93.7 अरब रूपए का था, जो 2017 तक बढ़कर करीब 122 लाख करोड़ तक हो गया था। नीति आयोग के उपाध्यक्ष श्री राजीव के अनुसार, ‘हमारे लोकतंत्र को शंका की नज़रों से देखा गया था, आज वही लोकतंत्र न केवल मजबूत है, बल्कि शक्तिशाली है और दुनियाभर में उदाहरण माना जाता है। हमने बिना खूनखराबे या क्रांति के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलाव के लक्ष्य हासिल किये, यह उल्लेखनीय प्रगति है जिस पर गर्व किया जाना चाहिए।”

एसोचैम के सेक्रेटरी जनरल डी एस रावत का विश्लेषण कहता है कि, ‘देश में पहले बिजली का संकट था, आज हम निर्यात कर रहे हैं। 1947 में सिर्फ 1362 मेगावाट बिजली देश में पैदा हो पाती थी, वह मार्च 2015 में बढ़कर 267 गीगावाट

हो गयी। उस दौर में प्रति व्यक्ति बिजली की खपत 16.3 किलोवाट थी जो आज बढ़कर 1010 किलोवाट हो गयी है। आज हम न केवल अधिक बिजली पैदा कर रहे हैं, बल्कि उसके निर्यातक भी हैं।..1943 में जहाँ देश में सिर्फ 3 लाख किलोमीटर रोड नेटवर्क था, वहीं वर्तमान में छोटी बड़ी सभी मिलकर करीब 60 लाख किलोमीटर लम्बा रोड नेटवर्क है। यही विकास रेलवे का है। नदियों की परियोजनाओं का है।’

कृषि वैज्ञानिक और पॉलिसी एनालिस्ट सर. देविंदर शर्मा का कथन है, ‘जाबलेस ग्रोथ के दौर में हमारी खेती ही वह क्षमता है जो देश की अर्थव्यवस्था में जान फूंक सकती है। भारत जब आजाद हुआ तो ‘शिप टू माउथ कंट्री’ कहलाता था। यानि जहाज से आयातित खाद्यान लाखों भूखे लोगों तक सीधा पहुंचाया जाता था। उस स्थिति से पिछले 71 वर्षों में खाद्यान उत्पादन में पूर्ण आत्मनिर्भरता वैश्विक इतिहास का सुनहरा अध्याय बना हुआ है। ऐसा देश जिसने 1943 में बंगाल के कुख्यात अकाल की पृष्ठभूमि में जन्म लिया था, उसके लिए पिछले दो वर्षों में खाद्यान, दलहनों और दूध का इतना उत्पादन, कि प्रबंध मुश्किल हो जाये। उपलब्धि का ऐसा उदहारण है, जो कभी मिशन इम्पोसिबल समझा जाता है।’

पोपुलेशन एक्सपर्ट व् पूर्व स्वास्थ्य सचिव श्री.ए.आर.नंदा का कथन है, “जनस्वास्थ्य नीतियों का सुफल है बड़ी जनसँख्या। ज्यादा आबादी देश पर बोझ नहीं है। हम आबादी को भार मानते हैं। आबादी को अभिशाप या वरदान नहीं समझा जा सकता। संसाधन, खासकर इंसान जो प्रकृति की सबसे उम्दा रचना है, वह भार कैसे हो सकती है।” (भास्कर 6)

जीव मानव के रूप में ईश्वर की उत्तम कृति है। असीम क्षमताओं को अपने में समेटे हुए। बस यदि किसी भटकाव में न उलझे तो उससे बड़ी कोई अनमोल धाती पृथ्वी पर नहीं है। भारत रत्न महामहिम पूर्व राष्ट्रपति अबुल कलाम का स्वप्न उन्नति का, समृद्धि का, शक्ति का और सात्विक मूल्यों पर आधारित न्याय पूर्ण आचरण का सत्य होता सा है। भौतिक उन्नति की संकल्पना यदि सशक्त और दृढ

389 मंजु

बुद्धि वाले मानव के हाथ में होगी तो अवश्य ही आर्थिक भौतिक समृद्धि बढ़ेगी और मूल्य परक व्यवहार भी। यही तो कहता है महासमर उपन्यास का एक-एक पात्र, साधन प्रेरणा हों प्रयोजन नहीं। अगर धन समृद्धि ही प्रयोजन हो जायेगा तो समाज को गर्त में जाते देर नहीं होगी। अतः बचना है, बचाना है और आगे बढ़ते जाना है।

\*\*\*\*\*

## अध्याय: 7

### जीवन मूल्य

#### सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्य

जीवन सुंदर है, सतत है, अविरल है, गतिमान है, सहज है, निर्मल है, निर्झर है और सबसे बढ़कर बहुत मूल्यवान है। किसी से पूछें-क्या अच्छा है ? तो उत्तर में सौन्दर्य की ही बात होगी। सुन्दरता मोहती है। आकर्षित करती है। अपनी ओर खींचती है। प्रकृति की सुंदरता अपने मनोरम दृश्यों-परिदृश्यों से मन को सुकून व् शांति देती है। जब-जब जीवन की चिंताएं-दुश्चिंताएं मन को उद्वेलित करती हैं, एक किनारे पर बैठ कर प्रकृति को निहारते हुए मन बहुत शांत हो जाता है। मनुष्य की सौन्दर्यात्मक दृष्टि उसे सृष्टि की खूबसूरती को सराहने एवं निहारने को आकृष्ट करती है, उद्वेलित करती है। वह इस सौन्दर्य के कारण ही तो कवि बनता है, लेख लिखता है, कहानीकार बनता है। अनुभूत सत्य किसी कल्पना में लिपटे तथ्यों से कहीं अधिक वास्तविक बनकर मन को मरहम बन सहलाते हैं।

किन्तु जीवन का सौन्दर्य बहुत व्यापक है। एक मनोविज्ञान जुड़ा है उसके साथ। सौन्दर्य है ! क्योंकि मन है देखने वाला ! दृष्टि दिखाती है ! यदि दृष्टि ही नहीं तो दृष्टिकोण कैसे आएगा? इसलिए सौन्दर्य और मानव का मनोविज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह जीवन को प्रभावित करते हैं। दो शब्द होते हैं—एक अच्छा, दूसरा सुंदर। इसकी व्याख्या बहुत खूबसूरत ढंग से की जाती है—जो सुंदर है वह अच्छा हो, आवश्यक नहीं! किन्तु जो अच्छा है, वह बिना संदेह सुंदर होगा ही !

सौन्दर्य; यहाँ स्थूल सौन्दर्य के बारे में इशारा कर रहा है और अच्छा लगना मनोविज्ञान के बारे में। इस तथ्य से सौन्दर्य और मनोविज्ञान की गुत्थी का आपस में सम्बन्ध ज्ञात होता है। क्या सुंदर है ? और अच्छा है तो सुंदर क्यों ? और सुंदर है तो अच्छा क्यों ? जिस मनोविज्ञान का आधार लेकर इन सत्यों का विश्लेषण किया

जाता है। उन पर इस अध्याय में विवेचन किया गया है। जीवन की सुन्दरता को देखने वाली दृष्टि का मनोविज्ञान कैसा होता है। किसी को कोई वस्तु सुंदर लगती है और वही किसी को नहीं। वस्तु और मानसिकता दोनों ने जीवन को कैसे प्रभावित किया है ? यह तथ्यात्मकता ही अध्याय में प्रस्तुत है। वास्तविक बात तो है, आचरण की और उनको दिशानिर्देश देते मूल्यों की।

बुद्धिवादी विचारक मिल्टन रॉकी ने दो प्रकार के मूल्यों की चर्चा की है। जिसमें वह मूल्यों की सुन्दरता के प्रति बहुत संवेदनात्मक तौर पर विचार करते हैं, और साथ ही जीवन से सम्बंधित सभी पक्षों को विश्लेषित करते हुए, उसके सौन्दर्य पक्ष को समक्ष रखते हैं। मनुष्य का जीवन व्यक्तिक हो अथवा सामाजिक; दोनों ही रूपों में वह अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित होता ही है। उसे तभी अच्छा सा महसूस होता है, जब वह अनुकूल हालातों में अपने कार्य कर सकने की संभावनाओं को रचता है। यह संभावनाएं उसके जीवन के हर पहलु में शांति और सुरक्षा का वातावरण निर्मित करती हैं और उसकी अनुभूति में सौन्दर्य भर देती हैं। सुन्दरता है क्या ? परिस्थितियों का मनोनुकूल होना ही तो ? वही तो सुंदर और अच्छा लगता है, जो मन को भाता है; और सुन्दरता यहीं से आरंभ होती है। मिल्टन अपने विचारों को व्यापकता देते हुए कहते हैं कि मूल्य दो प्रकार के हैं; एक-सहायक (Instrumental), दो-अंतिम (terminal)। अब आगे वह विस्तार में इन दोनों प्रकारों की व्याख्या करते हैं। वह इस प्रकार है—अंतिम मूल्य अर्थात्-मानव दृष्टि के साथ जुड़ा दृष्टिकोण और दृष्टि के साथ जुड़ी अनुभूति। व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ उसे अनुभव करने की असीम शक्ति प्रदान करती है। मानव का आदि-जीवन विकास की राह पर चल कर ही इस सांस्कृतिक और सभ्य संसार की रचना कर सका है। और इस संसार का सौन्दर्य है, मनुष्य की मनोवैज्ञानिक अनुभूतियाँ और उसकी सौन्दर्य महसूस कर सकने की शक्तियाँ।

इन्हीं को ध्यान में रखते हुए रॉकी ने 'अंतिम मूल्यों' को शब्दों में इस तरह उकेरा है-एक आरामदायक और सम्पन्न जीवन, परिश्रम से भरा अभिलाषी जीवन ही व्यक्ति को अभीष्ट है। उसे भाता है थोड़ा सा रोमांच, उद्दीप्त करने वाला समय।



जिससे वह उपलब्धि का अहसास कर सके। वह प्रकृति को सौन्दर्य के स्वरूप में देखना चाहता है। वह अपने परिवार, समाज व विश्व के प्रति शांति और सुरक्षा की कामना करता है। इसके लिए वह अपने एवं समस्त विश्व के लिए स्वतंत्रता और समानता के अवसर घडता है। वह बुद्धिमत्ता से सही व्यक्ति का मित्रवत चुनाव करके सामाजिक स्वीकरण और आंतरिक समरसता को अनुभूत करता है। और इन मूल्यों के द्वारा परिपक्व प्रेम, आत्मसम्मान एवं सौहार्द से जीवन का आनन्द और सुरक्षात्मक वातावरण तैयार होता है। इन्हीं मूल्यों को अंतिम मूल्यों की संज्ञा देकर रॉकी अपने मनोवैज्ञानिक मूल्यों की व्याख्या करते हैं।

सहायक मूल्यों में उनके विचार थोड़ी भिन्नता लिए किन्तु समान परिणाम दर्शाते हैं। परिश्रम और अभिलाषा जीवन का पुरुषार्थ है। व्यक्ति समर्थ होना चाहता है जिससे उसकी अभिलाषाएं एवं महत्वाकांक्षाएं पूर्ण हो सकें। जीवन में यदि व्यक्ति को सफल होना है तो उसका मन एवं मस्तिष्क खुला होना चाहिए, तभी वह समर्थ, योग्य और प्रभावी हो सकता है। मानव को और उसके आस पास के पूरे वातावरण को जो मूल्य प्रभावित करते हैं, वह बहुत सूक्ष्मता से मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करते जाते हैं, और व्यक्ति न केवल स्वयं के लिए उपयोगी बनता है; अपितु समाज के लिए भी उसका उपयोग होता है। कार्यों में आने वाली रुकावटों को साहस से, ईमानदार होकर वह झेलता है और प्रसन्न वदन होकर अपने कार्य को अंजाम देता है। वह समूह में क्षमाशील है, स्नेही है, और सर्व-कल्याण हेतु सहायक है। कोमलता से व्यवहार करने वाला और विनम्र, सुसंस्कृत और शिष्ट है। वह न केवल आत्मनिष्ठ एवं आत्मनियंत्रण में पटु है; वरन वह कर्तव्यनिष्ठ होकर सबको आदर देने वाला है। उसके कार्यों में आस्था के साथ-साथ तार्किकता है, उसकी बौद्धिक क्षमताएं कुशल हैं। डॉ. रामशकल पण्डे अपनी पुस्तक मूल्य शिक्षण में अपने विचार इस प्रकार कहते हैं कि वह स्वतंत्र विचार करने की क्षमता रखता है। स्वयं को प्रसन्न रखने के साथ साथ वह औरों को भी आत्मनिर्भर बनाने में कामयाब होता है। उसकी कल्पनाशीलता उसे नवीन विचार देती है और वह अपने निर्णयों में सुदृढ़ रहकर अपना और समुदाय का विकास करने में सहायक होता है।' (पण्डे 17)

इस प्रकार मूल्यों की उपरोक्त व्याख्या जीवन में मूल्य सम्बन्धी व्यक्ति व्यवहारों का आकलन करती है। और इनके पीछे है मानव मनोविज्ञान-स्वच्छ एवं सुंदर वातावरण का निर्माण करते उसके व्यवहार-जनित सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्य। महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों में सबसे पहले जिन दो अंगों का नाम लिया था वह यही मूल्य ही है जो रॉकी ने अपने मूल्य वर्गीकरण के दो भागों में बताए हैं। अंतिम मूल्य अर्थात् 'यम', सहायक मूल्य अर्थात् 'नियम'।

कभी कभी जीवन का दर्शन भिन्न होने से मूल्यों के मानने में कुछ भिन्नता आ जाती है। मानवतावादी मानवीयता को और मानव सेवा को, मानव का मनोविज्ञान मानते हैं और भौतिकवादी भौतिकता को आवश्यक अंग कहते हैं। किन्तु धर्म पर चलने वाले आध्यात्मिकता और नैतिकता को मनोविज्ञान पर प्रभाव डालने वाला महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। किन्तु जीवन दर्शन भी वातावरण के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तत्वों से प्रभावित होता है। और यह तत्व ही मानव का मनोविज्ञान नियत करते हैं। किसी का मनोविज्ञान साधनभूत मूल्यों को महत्व देता है और किसी का साध्यभूत मूल्यों को। साधनभूत मूल्य वास्तव में स्वतःमूल्य नहीं हैं। वे व्यक्ति के जीवन के लिए सहायक होते हैं जैसे भौतिक, आर्थिक एवं पोषण सम्बन्धी मूल्य; किन्तु साध्यभूत स्वयं में ही मूल्य हैं, जैसे ज्ञान, सत्य, शिव तथा सुंदर। यह इसलिए क्योंकि इन्हें किसी साध्य को प्राप्त करने का साधन नहीं बनाया जाता। यह स्वयं साध्य हैं। हाँ, ये मूल्य स्वयं विकसित नहीं होते इन्हें अपने आचरण और मनोविज्ञान से, अपनी अनुभूतियों से, मानव आगे विकसित करता जाता है। इनके प्रति हमारी संचेतना मूल्यपरक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

इन मनोवैज्ञानिक मूल्यों के सम्बन्ध में शकुन्तला पंड्या ने शोध करते हुए कुछ विद्वायार्थियों पर प्रयोग किये और पाया कि वह विभिन्न सूचकों द्वारा उद्वेलित होते हैं और उनके अंदर वैज्ञानिक चिंतन, श्रम, निष्ठा, सहयोग एवं, उत्तरदायित्वपूर्ण समयपालन के मूल्यों का गठन हुआ। (पंड्या) वे जीवन में कुछ प्रेरणाओं के कारण मनोविज्ञान पर प्रभाव को व्याख्यित करती हैं।

जीवन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें जीवन से सम्बंधित बहुत से साधनों के अतिरिक्त, सम्बंधित लोग, उनके आचरण, उनका जीवन में महत्व, उनके सिद्धांत, जीवन को प्रभावित करते मूल्य आ जाते हैं। केवल वस्तु और उसका सुंदर होना ही सौन्दर्य नहीं। उसे उसकी पूर्ण सत्यता और मनोविज्ञान के साथ पहचानना भी, उसके समस्त पक्षों को बताता है। इसलिए निम्न विश्लेषण का आधार है; सौन्दर्यत्मकता और उसका मनोविज्ञान—और उन्हें प्रभावित और निर्धारित करते जीवन मूल्य। जिन सम्बंधित प्रश्नों को समझने का प्रयास किया गया है, वह निम्न हैं-

- # जीवन का सौन्दर्य क्या है ?
- # जीवन की सुन्दरता किस रूप में मानव को मोहक लगती है ?
- # क्या केवल भौतिक रूप से सुंदर होना ही अपने आप में पूर्ण है ?
- # सुन्दरता का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध है क्या ?
- # क्यों सुन्दरता मानव को अधिक आकृष्ट करती है ?
- # जीवन की सुन्दरता का व्यापक रूप क्या है ?
- # क्या देह और निर्जीव सुन्दरता के अतिरिक्त भी कोई सुन्दरता अपना अस्तित्व रखती है ?
- # मनुष्य का व्यवहार भी सुन्दरता के दायरे में आता है क्या ?
- # सुन्दरता और मनोविज्ञान एक दूसरे से सम्बंधित हैं क्या ?
- # क्या आचरण की पवित्रता भी सौन्दर्य के क्षेत्र में आती है ?
- # भौतिक मानसिकता में सौन्दर्य का क्या स्थान है ?
- # किन क्षेत्रों में व्यक्ति अपने मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य की रचना करने में सक्षम हो जाता है ?
- # प्रकृति की सुन्दरता के साथ कैसे जुड़ाव महसूस किया जा सकता है ?
- # क्या प्रकृति अपने सौन्दर्य से कोई संदेश देती है ?
- # सभ्यता ने मानव के किस मनोविज्ञान को बल दिया है ? मनोविज्ञान से किस दृष्टि को पाने में वह सफल हुआ है ?

- # मन की सुन्दरता और शरीर की सुन्दरता में क्या भेद हैं ?उनका आपसी सम्बन्ध क्या है ?
- # महासमर उपन्यास में लेखक सौन्दर्य के किस पक्ष को को प्रतिपादित करना चाहता है ?
- # चरित्र की सुन्दरता में मनोविज्ञान का क्या भाग है ?
- # मानव समाज की दुरुहतायें इस सौन्दर्यात्मक मनोविज्ञान से ठीक की जा सकती हैं क्या ?
- # भारतीय संस्कृति में मनोविज्ञान किन सत्यों की बात करता है ?
- # शास्त्रों के अनुसार सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या है ?
- # स्थूल अथवा सूक्ष्म सौन्दर्य का भेद व्यक्ति व्यवहार में कोई अंतर उत्पन्न कर पाता है क्या?

इन सभी प्रश्नों को विश्लेषण के द्वारा ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास किया गया है, जिससे शोधार्थी जीवन के सर्व-कल्याणकारी सत्य को आम जन तक पहुंचाने में सफल हो सके।

कितनी तरह की सुन्दरता हमारे आस पास बिखरी है-उसमें परम शक्ति ईश्वर का एहसास है, उसमें धर्म है, कला, संस्कृति है, हाव-भाव से भरा अभिनय है, खूबसूरती से भरी प्राकृतिक छटाएं हैं, मनोरम मौसम हैं, साहित्य है, मनोभाव हैं, मनुष्य का मनुष्य से व्यवहार है, जितने लोग उतने भिन्नता लिये स्वभाव हैं, और विभिन्नताओं में जीवन के अनगिनत नैसर्गिक सत्य हैं। और सबसे बढ़कर इन सब को अनुभूत करने वाला सौन्दर्य पारखी मन-मस्तिष्क-मनोविज्ञान है।

## सौन्दर्य की उच्च मूल्यपरक-संवेदनशीलता

प. बिरजू महाराज भारत के एक महान कलाकार है। फ्रांसिसी सेलानी व् स्तंभकार नडीन क्रीज़्ज़ार ने उनसे एक बार कुछ प्रश्न पूछे- “ईश्वर क्या है ? क्या आपको स्टेज पर भी ईश्वर की अनुभूति होती है ? खुशी का क्या अर्थ है? कुछ अच्छे का, जिन्दगी में क्या अर्थ है ? क्या आपको भीतर शांति महसूस होती है ?

उन्होंने कितने सुंदर उत्तर दिए प्रस्तुत हैं- “ईश्वर कोई मूर्ति नहीं है। यह एक उर्जा है, अद्भुत शक्ति है। यह एक ब्रह्मांडीय विस्पंदन है, एक अन्त्रक्षीय लय। यह दिल की धड़कन के समान हैं। मैं चाहे जो भी काम करूं, लेकिन संगीत और रिद्म से जुड़ा रहता हूँ। यहाँ तक कि जब मैं सोता हूँ, तो भी मेरी अंगुलियाँ गति करती रहती हैं, और लय को पकड़ती हैं, और ध्वनि के पीछे ईश्वर होते हैं। एक साधू जैसे लगातार ध्यान में रहता है, मैं भी हमेशा संगीत से जुड़ा रहता हूँ। .. समस्याएं हमेशा जिन्दगी में आती हैं, यदि समस्याएं नहीं होतीं तो हम कभी अच्छे वक्त का आनंद नहीं उठा पाते। रात के बाद दिन आता ही है। समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना सामान्य है।...मैं आज जो हूँ, फिर से वही बनना चाहूँगा, नाम बदल सकता है, लेकिन मैं कथक के लिए जितना हो सके, अधिक से अधिक काम करना चाहूँगा। यह अस्तित्व का अध्यात्मिक तरीका है।..जब कुछ अच्छा होता है; तो अपने काम को धन्यवाद देता हूँ। ..कुछ अच्छे के अर्थ के बारे में कहा, जिन्दगी में घटनाये निरंतर होती हैं—बच्चों का जन्म, आप पैसा कमाते हैं, आप नई कार खरीद सकते हैं। यह सब दस्तूर है। मैं उस चीज़ के बारे में बात कर रहा हूँ, जो कड़ी मेहनत—कल्पनाशीलता या रचनात्मकता से मिलती है। वह चीज़ जो लोगो पर प्रभाव डालती है। तभी मैं खुश हो सकता हूँ। लम्बे समय से मेरे मन में दर्शकों की तालियों की लालसा उठ रही थी, मुझे पहचान की तलाश थी, लेकिन आंतरिक रूप से मैं संतुष्ट नहीं था। 25 से 30 साल पहले चीज़ें बदलनी शुरू हुईं और मुझे समझ में आ गया कि जैसे ही मैं नृत्य करता था, लोग उसमे खो जाते थे। मैं उन्हें किसी दूसरी वास्तविकता में ले जा सकता था। जब ऐसा होता है तो मुझे इसकी अनुभूति होती है और यही वह चीज़ है, जो मेरे लिए सबसे अधिक महत्व रखती है। जब तक मैं नाचता हूँ और संगीत सुनता हूँ, मैं शांति की अनुभूति करता हूँ।”

(बिरजू 5)

कितना अद्भुत मनोविज्ञान है! जीवन की संपूर्ण सत्यता को उजागर करता हुआ। उदाहरण प. बिरजू महाराज का है, किन्तु सत्य हम सब के जीवन का। कौन इस बात को नकार सकता है कि जीवन की सत्यता कर्म में है। एक बात जो वह

बार बार दोहराते हैं-वह है कर्म की, उसमें मिलने वाले आनन्द की। कर्म को अध्यात्म से जोड़कर कितना सुंदर उत्तर दिया है उन्होंने ! क्या उत्तर है ? जब कुछ अच्छा होता है, मैं अपने कर्म को धन्यवाद देता हूँ ! यह कर्म ही है, जो खुशी का कारण है। और उस खुशी को महसूस करना, अपने काम के क्षेत्र में और काम करते जाना, ऐसी ललक 'अस्तित्व को बनाये रखने का एक अध्यात्मिक तरीका है।' कर्म की खुशी और कर्म से अस्तित्व का अध्यात्म से जुड़ना। बहुत सारगर्भित अर्थ है। यही सौन्दर्य है और उसे महसूस करने वाला मनोविज्ञान। कर्म से मिलने वाली तालियाँ, यथार्थ के धरातल पर का एक स्थूल सत्य हैं। किन्तु जब ऐसा लगने लगे कि आपका काम न केवल आपको शांति दे रहा है, वरन ओरों को भी किसी और दुनिया का दर्शन करने में सक्षम हो गया है तो आत्मा की शांति का अनुभव अवर्णनीय है। और यह सत्य ही सौन्दर्य का सूक्ष्म सत्य है। कर्म, सृजन और आनन्द की अनुभूति।

उपरोक्त वर्णन में एक और सत्य कहा गया है। जीवन की समस्याओं का। वह जीवन को गति देने के लिए आती ही है। बहुत सुन्दरता से उसका उत्तर दिया गया है कि यदि जीवन का आनन्द उठाना है, तो समस्याओं को सामान्य रूप से ग्रहण करना होगा। यह जीवन की अनिवार्यताएं हैं, इनके साथ ही अपने कार्य की गहराई को अनुभूत करते हुए अपने को और-अधिक, और अधिक कुशलता की ओर अग्रसर करने का प्रयास ही जीवन की वास्तविक खूबसूरती है।

मनोविज्ञान जीवन में मानव के आचरण पर सदैव प्रभाव डालता ही है। और इससे ही उसके जीवन को दिशा मिलती है। यह मनोवैज्ञानिक मूल्य क्या हैं ? इनके विषय में बी.एन.के.रेड्डी ने अपनी पुस्तक 'मैंन, एजुकेशन एंड वैल्युस' में इस प्रकार वर्णन किया है, "ये उच्च मूल्य हैं जो चिंतन, भावना तथा इच्छा में व्यक्ति की सान्कल्पिक तथा भौतिक प्रकृति पर आधारित होते हैं। इन्हें पुनः बौद्धिक मूल्य, नैतिक मूल्य, तथा सौन्दर्यात्मक मूल्य अर्थात् सत्य, शिव तथा सुंदर में वर्गीकृत किया जा सकता है।" (पांडे 15)

इसी प्रकार “शेवर तथा स्ट्रोंग ने मूल्यों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया है। जो कमोबेश मनोवैज्ञानिक एवं सौंदर्य पक्ष को छूते हैं -

- 1) **सौन्दर्यात्मक मूल्य-** ये वे मानदंड हैं जिनसे हम सुन्दरता का निर्णय करते हैं। सुन्दरता, कला, संगीत, प्रकृति, ड्रेस, कक्षा में प्रदर्शन, व्यक्तिगत बनावट आदि क्षेत्रों से सम्बंधित हो सकती है।
- 2) **सहायक मूल्य-** ये मानदंड किसी उद्देश्य-चर्चा, व्याख्यान, प्रतियोगिता, समूह-निर्माण, गायन-को प्राप्त करने के सर्वाधिक प्रभावी तरीके की जांच में काम में लाये जाते हैं।
- 3) **नैतिक मूल्य-** इनमें व्यैक्तिक या परिस्थिति विषयक वरीयताएँ; जैसे- शांति, सहभागिता, वफादारी सहयोग, धार्मिकता, ईमानदारी तथा समाज के लिए आधारभूत मान्यताएं, जैसे-मानव जीवन की पवित्रता, उचित प्रक्रिया, समान सुरक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता निहित है।” (पांडे 15)

यही है जीवन में सौन्दर्य का वास्तविक रूप दर्शाते और दिशा देते मनोवैज्ञानिक मूल्य ! बी.एन.के रेड्डी अपनी सौन्दर्य परक परिभाषा में सभी पक्षों को सम्मिलित कर रहे हैं। वह चिंतन की उच्चता को परख रहे हैं, मानव भावों को भूलते नहीं। व्यक्ति जिस बात का संकल्प करता है उसकी भौतिक प्रकृति पर भी यह सौन्दर्य आधारित होता है। कोई पक्ष भी अनछुआ नहीं। मानव का चिंतन, उसके भाव, उसकी संकल्पना, और हाँ उसकी भौतिक प्रकृति भी सम्मिलित है।

इसी तरह का समान विचार शेवर तथा स्ट्रोंग भी प्रस्तुत करते हैं। जीवन के जिन-जिन पक्षों में व्यक्ति सौंदर्य को निरखता है, ढूढ़ता है वह सभी विषय उन्होंने, इस परिभाषा में सयुंक्त किये हैं। सुन्दरता चाहे शारीरक हो या मानसिक, कला से सम्बंधित हो अथवा संगीत की सरगम में दिखती हो, प्रकृति के उद्धानो में हों, व्यक्तिगत आवरण में हों, परिधानों में हों, बनावटी रूपों में हों या जीवन के किसी भी अन्य विभाग से सम्बंधित हो। शांति और सुकून में जीवन का सौन्दर्य हर कोई

तलाशता है। समाज में रहने वाला हर प्राणी सहभागिता का महत्व समझता है। संबंधों की मधुरता उसकी वफादारी और ईमानदारी में है, जिसे हर सभ्य व्यक्ति अपने लिए दूसरों से चाहता है। धर्म भारतीय जीवन दर्शन का सांस्कृतिक आधार है, अतः उसकी पवित्रता, अभिव्यक्ति और उसकी नैसर्गिकता सभी तो सौन्दर्य और मनोविज्ञान के विषय हैं। सामुदायिक एवं सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है। स्वयं की स्वतंत्रता का सौंदर्य तभी तक है जब हम दूसरों का भी ध्यान रख पायें। और क्या है सौंदर्य ? और इसे ही वह मूल्य कहेंगे-जिनसे बनता है समाज, उसके नियम, उसका शिव सत्य और अंततः सौन्दर्य मूलक सम्बन्ध और उसकी व्यवस्थाएं।

पंजाब की धरती गुरुओं की धरती है। ज्ञान से भरी हुई। जीवन के असली सत्यों-तथ्यों को बताती हुई, यह परम्परा बहुत कुछ सिखाती है। श्री गुरु नानक देव जी ने कहा था 'कीरत करो, वंड छको, नाम जपो।' इस सन्देश में जीवन की न केवल सुन्दरता निहित है वरन उसका मनोविज्ञान भी। कीरत करो—अर्थात् कर्म करो, और कर्म कैसा, जिसमें आत्मिक आनन्द है जिससे ओरो को भी आनन्द मिले, जिसमें व्यक्ति का कोई स्वार्थ नहीं। वह कर्म स्वतः ही सुंदर हो जाता है। और उसमें भरा व्यक्ति का मनोभाव उसके मनोविज्ञान का उत्तम उदाहरण बन जाता है। और यही सत्य-व्यवहार जन-मानस के क्रियाकलापों में अपेक्षणीये भी है। जिसे समझकर, आस्था तथा विश्वास से करने से न केवल करने वाले का अपना मन उच्च चेतना के धरातल पर पहुँचता है वरन समक्ष खड़े व्यक्ति का भी मन उच्च चेतना की ओर आकर्षित करता है।

## मन की अद्भुत सुन्दरता एवं सात्विक मूल्य चेतना

मन की सुन्दरता ही तो मनोविज्ञान है। वास्तव में मनोवैज्ञानिकता मनुष्य को अपने प्रभाव में लेकर उसके आचरण और कार्यों को दिशा देती है। कोई इस प्रभाव को सकारात्मक रूप से लेता है और कोई किसी दुष्प्रभाव की छाया में इसके नकारात्मक प्रभावों को ग्रहण कर लेता है। यह दुष्प्रभाव पूर्वाग्रहों के कारण मानव



के मनोविज्ञान को प्रभावित करते हैं और उसके कार्यों की नकारात्मकता से न केवल उसे हानि पहुंचाते हैं वरन समाज के अकल्याण का भी कारण बनते हैं।

हर दूसरी वस्तु अथवा विषय की तरह ही सौन्दर्य के भी दो पक्ष हैं। एक उसका स्थूल पक्ष और दूसरा उसका सूक्ष्म पक्ष। अब कौन तय करेगा कि सौन्दर्य का स्थूल और सूक्ष्म पक्ष कौन सा है ? मानव की मानसिकता अथवा उसका मनोविज्ञान ही तो ! एक व्यक्ति जीवन के स्थूल रूपों में ही सौन्दर्य की तलाश करता है .. व्यक्ति की खुबसूरत देह, खुबसूरत वस्तुएं, खुबसूरत इमारतें, दिलकश हुस्न, बड़ी बड़ी चीजें, प्रेम का सुंदर और स्थूल रूप आदि-आदि। किन्तु कोई और इस के दूसरे पक्ष को भी समझ सकता है, कर्म की-कार्य की सुन्दरता, उसके प्रभावों की सुन्दरता, सृजन का सौन्दर्य, धरती की जन्नत उसकी प्रकृति, प्रेम की आध्यात्मिकता आदि-आदि। इस सब विषयों में व्यक्ति का मनोविज्ञान ही काम करता है। इसलिए उसे किसी भी तरह नकार के उसके दृष्टिकोण की सारी अनुभूतियों की बात नहीं की जा सकती। इन सबसे बड़ी बात है, व्यक्ति का आचरण, उसका व्यवहार, जो उसके मनोविज्ञान ने ही तय करना है। महान विचारकों ने जीवन की सुन्दरता का अर्थ यों किया है —

रॉबर्ट फ्रास्ट कहते हैं, “तीन शब्दों में मैंने जिन्दगी में जो कुछ भी सीखा है, उसका सार दे सकता हूँ — जिन्दगी चलती जायेगी।”

विलियम जेम्स कहते हैं, “जीवन का सबसे बड़ा उपयोग इसे किसी चीज में लगाने में है, जो इसके बाद भी रहे।”

हैनरी डेविड थोरो का विचार है, “किसी चीज़ की कीमत यह है कि आप उसके बदले में अपनी कितनी जिन्दगी लगा देते हैं।” (वैलेस 8)

तीनों विचारक जीवन का सौंदर्य उसकी गति में, सृजन में, उसकी सतत निरंतरता में और अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी कुशलता को अपने कर्म के उद्देश्य में पूरी तरह लगा देने में देखते हैं। यही बात तो बिरजू महाराज भी कह रहे हैं, जीवन और कार्य कुशलता में स्वयं को डुबो कर अध्यात्मिक सत्य को न केवल पाना

बल्कि ओरों को भी अनुभूत कराने का साधन बन जाना, यही है सौंदर्य ! और उसे अनुभूत करने वालों का मनोविज्ञान !

जिसमें उच्च मनोवैज्ञानिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्य कहते हैं कि, 'मनुष्य की बौद्धिक शक्तियां उसे पशु से पृथक् करती हैं।' पश्यतीति पशुः', संवेदनशीलता है जो उच्च मानसिक संसार की रचना करने के योग्य हो सकता है, जो सत्यम्, शिवम्, और सुंदरम् की यथार्थ रचना कर सकता है, वो ही अपने मूल्यों का व्यावहारिक आचरण एवं उसका निर्वाह करता है। भारतीय संस्कृति के वेद, पुराण, एवं शास्त्र यही कहते हैं और यही तथ्य का दर्पण दिखाने का साधु प्रयास है उपन्यास महासमर। तो मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि मनुष्य की बौद्धिक शक्तियां उसे कितना मजबूत करती हैं। उसकी संवेदनशीलता उसे किस सौन्दर्य को अनुभूत कराती है। और वह भारतीय संस्कृति के अनुरूप अपने आचरण में सद्व्यवहार ला पाता है अथवा नहीं।

यह तो सर्वविदित है कि जीवन के दो पक्ष हैं, अच्छा व् बुरा ! यद्यपि किसी भी पक्ष को पूर्ण बुरा अथवा पूर्ण अच्छा नहीं कहा जा सकता, उसके सभी मनोवैज्ञानिक पहलु समझ कर ही यह निर्णय किया जा सकता है। उसके कारण और कारण का सम्बन्ध देखना होगा। कुछ कार्य व्यक्ति इसलिए भी करता है जिसमे होता कल्याण है किन्तु उसका आवरण थोडा धुंधला होने के कारण समझ नहीं आता। तो मन की अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या चुनाव है व्यक्ति का ? किस पक्ष में वह अपने आचरण को ढालता है ? यह तय करता है उसका मनोविज्ञान ! यह भी सत्य है कि अधिकांश परिस्थितियों में जीवन का अच्छा बुरा भी समझ आ जाता है। तो यह अच्छे पक्ष को सौंदर्य कहा गया है और चुनाव को मनोविज्ञान कह सकते हैं। अब यह मानव का विवेक तय करेगा कि उसकी राह कौन सी है या होगी ? चाहे तो वह कुछ करे और चाहे तो न भी ! किन्तु करना ही श्रेष्ठ है ! स्मरण रहे— 'श्री कृष्ण का कर्म शील होने का सन्देश और श्री गुरु नानक का कीरत करो का उपदेश'। ब्रेने ब्रोउन कहते हैं, "आप आराम चुन सकते हैं, या हिम्मत। दोनों एक साथ नहीं मिल सकते।" (मधुरिमा 3)

अच्छे और बुरे का फैसला तो बाद की बात है, पहले कर्म करने की ओर अग्रसर होना होगा। कर्म करने की यह सुन्दरता अपनाने से ही जीवन को गति और विकास मिल सकता है, तरक्की मिल सकती है। 'बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जिनका विकास देखकर हम चमत्कृत हो जाते जाते हैं और बहुत से ऐसे लोग हैं, जिनकी तरक्की के साथ खड़ी सादगी को देख कर हम हैरान होते हैं। जो आज मशहूर हैं, शीर्ष पर हैं, उनकी राहें भी कम मुश्किल नहीं रहीं। दुनिया का हर मशहूर इंसान रिश्ते और काम से उसी तरह परिभाषित होता है, जैसे कि हम-आप। तभी ऐसे लोगों से प्रेरणा हासिल करना वाजिब बैठता है, जो जिए हैं हमारे जैसे हालात में, लेकिन अपना मुकाम बना चुके हैं।' फेस बुक की सीईओ, दुनिया की रईस महिलाओं की सूची में शामिल और एक कामयाबी की बुलंदी पर स्थापित शैरिल सेंडबर्ग कार्पोरेट जगत का एक चमकता नाम है। शैरिल का गरिमामय व्यक्तित्व, उनकी ईमानदार और नेक सलाहें तथा व्यावसायिक कामयाबी उन्हें उत्कृष्टतम की सूची में स्थान देती हैं। उनकी चंद उक्तियाँ हैं—'कोई अकेला कामयाब नहीं होता। इस डर से कि कुछ बुरा हो सकता है, बेहतर करने से खुद को रोका नहीं जा सकता।.. सदा सीखते रहने का गुण ही लीडर के लिए सबसे जरूरी खूबी है।..अगर आप सबको प्रभावित करने के लिए काम कर रहे हैं, तो मतलब है कि आप प्रगति नहीं कर रहे हैं। ..आत्म विश्वास की कमी के चलते हम अपने आपको तब पीछे खींच लेते हैं, जब आगे बढ़ने की जरूरत होती है, अपने मत के लिए हाथ नहीं उठाते और हिचकिचा जाते हैं, जब जरूरी होता है कि आपको मदद मिले।' (मधुरिमा 3)

कौन कैसा है ? क्या कर रहा है ? क्यों कर रहा है ? कैसे कर रहा है ? क्या अनुकरणीय और उल्लेखनीय है? तो उसे हम सुन्दरता के पक्ष में ही स्थान देंगे, साथ ही उस मनोविज्ञान को भी जरूर सराहेंगे, जिसके पीछे कार्य का कारण-करण और कर्ता है। उपरोक्त उदाहरण केवल व्यक्ति विशेष के बारे में ही नहीं बता रहा, वरन उसके जीवन की एक आम स्थिति का भी आभास दे रहा है, उसके कार्यों के पीछे

छिपे उसके मनोविज्ञान का भी पता दे रहा है। उसके उत्कृष्ट कार्य परिणामों के लिए उसके विचारों की स्पष्टतः का भी आभास दे रहा है।

महासमर उपन्यास में भी रचनाकार डॉ. नरेंद्र कोहली ने अपने पात्रों के द्वारा जीवन के उत्तम लक्ष्यों का और उसके द्वारा किये गये चुनावों से उनका विश्लेषण किया है। वास्तव में कोई भी जीव जब जीता है तो सिर्फ शरीर नहीं जीता उसका पूर्ण व्यक्तित्व, जो बेशक मन अथवा मनोविज्ञान के बिना संभव नहीं, वह जीता है। सृष्टि का, प्रकृति का प्रत्येक प्राणवान जीव बिना सुंदर लगे कोई काम नहीं कर सकता। इसलिए इस तथ्य को नाकारा नहीं जा सकता है। जो किया जाता है उसमें आकर्षित करने वाले सौन्दर्य का भी भाग होता है। हाँ ! दृष्टि और दृष्टिकोण भिन्न हो सकते हैं।

## मनोविज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि

मनोविज्ञान की दृष्टि से धृतराष्ट्र और पांडू के पुत्रों के मन का विश्लेषण करते हैं। पांडव पुत्र युधिष्ठिर के लिए धर्म से बड़ा कोई सौन्दर्य नहीं और धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन के लिए विजय और सत्ता से बड़ा कोई सौन्दर्य नहीं। किन्तु सुविधाओं के अभाव में कभी-कभी महाबली भीम एवं अन्य पांडव पुत्रों को यह सत्य सुंदर नहीं लगता कि अन्याय के कारण वह इन सब स्थितियों से गुजरें। वह इस धर्म के विचार को अपने न्याय के विचार से पराजित करना चाहते हैं। उनका मनोविज्ञान उन्हें इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने को बाध्य करता है। सुख और सुविधा को वह न्याय के तराजू में तौलते हैं। उनके अनुसार यदि वह सत्य पर हैं, धर्म की राह पर हैं, तो क्यों अभाव और कष्ट में हैं।-भीम के कथन में एक सामान्य व्यक्ति के मनोविज्ञान का उदाहरण मिलता है- “हमें हस्तिनापुर से निष्कासित कर दुर्योधन को क्या हानि हुई ? उसे राज्य मिला, धन संपत्ति मिली। सुख-भोग, वैभव-विलास मिला। सुख क्या इस सब से बाहर है। मुझे तो कभी कभी लगता है कि व्यक्ति पाप से ही सुखी हो सकता है, क्योंकि जीवन की सफलता तथा धन-संपत्ति अधर्मपूर्वक अधिक सरलता से प्राप्त होती है, और सुख और सफलता का सम्बन्ध धन-सम्पत्ति

से ही है।” क्यों प्रकृति का यह न्याय सुंदर और अच्छा कहा जाये। एक साधारण व्यक्ति इसी तथ्य को सुखपूर्ण सुविधा पूर्ण सौन्दर्य पूर्ण कहेगा। यही प्रश्न महाबली भीम महामुनि व्यास से कर रहे हैं। महामुनि व्यास उनकी इस मनोदशा को समझते हैं और उन्हें उदाहरण देकर समझाते हैं कि सुख की, सौन्दर्य की, और विकास की तुलनात्मक रूप से असली परिभाषा क्या है। वह पूछते हैं कि उनके और दुर्योधन में से कौन अधिक सुखी है और किसका विकास अधिक हुआ है ? पांडव इस बात को निर्विरोध होकर मानते हैं कि महामुनि व्यास का विकास और उनका सुख अधिक बड़ा है। वह अपना विचार रखते हुए उन्हें समझाते हैं, “पर मेरे पास तो न धन सम्पत्ति है, न वैभव-विलास, न राज्य, न सेना। जीवन में प्राप्तव्य केवल एक है .. मन की शुद्धता, आत्मा की निरवरणता और भौतिक बन्धनों से मुक्ति। सारा विकास, सारा सुख और सारी उपलब्धियां इसी में हैं ? दुर्योधन ने जो कुछ किया है, क्या उससे उसका मन पहले की तुलना में अधिक ताम्सछून नहीं हुआ ? क्या वह सांसारिक बन्धनों में और अधिक नहीं बंधा है ? प्रकृति के नियम बहुत विचित्र हैं पुत्र ! वह भ्रम को प्रोत्साहित करती है, माया का प्रपंच रचती है। मनुष्य सोचता है कि वह अपने लिए सुख संचित कर रहा है, जबकि वह अपने लिए अनंत यातना का सृजन कर रहा होता है। आकाश से वर्षा के जल की जो बूंद टपकती है, वह जल का शुद्धतम रूप है। पृथ्वी पर वह अपनी यात्रा में पुष्प की पंखुड़ी पर टपककर, वहाँ से अपने शुद्धतम रूप में किरणों के सहारे आकाश की ओर लौट सकती है किन्तु वह पृथ्वी के विभिन्न प्रकार के मलों को अपने भीतर संचित कर, कल्पना भी कर सकती है कि वह अत्यंत समृद्ध है, अपनी इच्छानुसार संपत्ति एकत्रित करने से उसे कोई नहीं रोक रहा। उसे स्मरण नहीं रहता कि उसे आकाश में लौटना भी है, और यह तब तक संभव नहीं होगा जब तक वह पुनः अपने उसी मौलिक शुद्ध रूप को प्राप्त न कर ले, जब तक वह अपने आपको अपनी मूल प्रकृति के समान शुद्ध नहीं कर लेगी, उसे इसी प्रकार पृथ्वी के मल के बीच भटकना होगा।..वही स्थिति आत्मा की है...आसक्ति से अधर्म की वृद्धि होती है और अर्जन से आसक्ति बढती है। उपलब्धियों से अहंकार की वृद्धि होती है।

अधर्म हो, आसक्ति हो अथवा अहंकार हो, ये सब तो सुख के साधन नहीं हो सकते पुत्र ! क्योंकि ये तुम्हें शांति नहीं दे सकते।...तुम सुखी हो क्योंकि तुमने अधर्म का पक्ष नहीं लिया, तुम सुखी हो क्योंकि तुममें आसक्ति नहीं है, अन्यथा प्राण रहते, तुम लोग हस्तिनापुर नहीं छोड़ सकते थे। तुम्हारा मन निर्मल और शांत है क्योंकि उसमें अहंकार का ताप नहीं है। दुर्योधन ने अधर्म करके अपने कितने यातनामय एवं पश्चातापपूर्ण भावी जन्मों की नियति रच डाली है। और इस जीवन में हस्तिनापुर की सारी संपत्ति लेकर भी वह सुखी नहीं होगा। वह तुम्हारी उन्नति देखकर जलता रहेगा। उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी है, जो अपने सामने भोजन से भरे थाल को लिए बैठा रहेगा, किन्तु उसे खाकर तृप्त होने के स्थान पर, वह दूसरे व्यक्ति को भोजन करते देख यह सोच-सोच कर पीड़ित होता रहेगा, कि उस व्यक्ति को भोजन मिला ही क्यों ?.. सुख अर्जन में नहीं है पुत्र ! विसर्जन में है, विनाश में नहीं निर्माण में है। तुम धर्म की रक्षा करो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।” (कोहली, महासमर 4,21)

भारतीय मनीषा, उसके शास्त्र यही गहन ज्ञान देते हैं कि, जीवन का सात्विक सौन्दर्य उसके पूर्ण रूप में है, उसकी शुद्धता में, पवित्रता में है। माया के प्रपंच में उलझा व्यक्ति जीवन के वास्तविक सौन्दर्य को नहीं देख पाता। कबीर दस् जी ने शुद्धता के इस तथ्य को उजागर करते हुए एक बहुत सारगर्भित दोहा कहा है,-

झीनी रे झीनी, चदरिया. झीनी रे झीनी,  
 राम नाम रस भीनी, चादरिया, झीनी रे झीनी ।  
 अष्ट-कमल का चरखा बनाया, पांच तत्व की पुनि ।  
 नौ दस माँस बुनन को लागे, मुख मैली कीनी ।।  
 चादर ओढ़ संका मत करियो, ये दो दिन तुमको दीन्हि ।  
 मुख लोग भेद नहीं जाने, दिन दिन मैली कीन्हि ।।  
 दास कबीर ने ऐसी ओढ़ी, ज्यूँ की त्यूँ धर दीन्हि ।  
 चदरिया झीनी रे झीनी ।” (कबीरदास, बीजक)

यही तो मुनि कह रहे हैं कि शुद्धता रखनी है-अपने इस शुद्ध स्वरूप को, वर्षा की बूंद की तरह शुद्ध रखते हुए वापिस उस निराकार में वापिस समाना है। और होता क्या है ? स्वयम को अधिक धन सम्पत्ति के जाल में उलझा कर व्यक्ति अपनी अस्मिता को भूल जाता है, और सत्य से बहुत दूर हो जाता है। और इस तथ्य को स्पष्ट करता है दुर्योधन का पूरा जीवन। उसकी उपलब्धियों, सत्ता, शासन, अधिकार, वैभव-विलास, धन सम्पत्ति के विपरीत उसकी ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, द्वेष, क्रोध, अधर्म पूर्ण निर्णय ही उसे अधिक प्रभावित करते रहे। यदि वास्तविक सौन्दर्य उपरोक्त उपलब्धियों में होता तो वस्तुतः दुर्योधन से अधिक सुखी कौन होता? उसने सब चाहा, और उसे जैसे भी कर के सब मिला। जिसने त्याग नहीं सीखा उसके लिए ग्रहण दुःख का कारण बन जाता है। संचय सदा ही ध्यान खींचता है। किन्तु उसकी रक्षा धर्म नहीं व्यक्ति को स्वयम समय दे कर करनी पड़ती है। जीवन युगों से ऐसे ही चलता है। तृप्त व्यक्ति औरों की तृप्ति की भी चिंता करता है। और लोभी व्यक्ति की अपनी ही तृप्ति नहीं होती वह और किसी का क्या चिंतन करेगा। अंततः वह असंतुष्ट ही रहेगा। तभी तो महामुनि कहते हैं, “धर्म वहीं है जहाँ न्याय है।” (कोहली, महासमर 4,55)

जीवन के वास्तविक सत्य को उजागर करता वेदव्यास जी का कथन कितनी बातों का उद्घाटन करता है। एक साधारण मानसिकता वाला व्यक्ति यही तो विचार करेगा कि सांसारिक सुख सुविधा प्राप्त व्यक्ति का जीवन सुन्दर है, सुखद है। और जिस किसी दूसरे ने उसके साथ अन्याय करके, उससे उसका सब हरण कर लिया है वह समस्त साधनों का उपभोग करते हुए सुखी है। ऐसा ही तो मन कहता है और मानता भी है। किन्तु व्यास जी कहते हैं यह सच्चा सुख नहीं है। इसके पीछे का दुःख और असंतोष दिखता नहीं। जिसे सब मिला है, अन्याय और दुष्टता से वह सब साधनों का उपभोग तो करेगा लेकिन संतोष उसे फिर भी नहीं मिल पाता। क्यों ? समझते हैं-एक कहावत से-कि एक मधुमक्खी से किसी ने कहा कि तुम्हारा बनाया शहद कोई चुरा कर ले गया है। तो उसका बहुत सुंदर जवाब था कि शहद ही

चुराया है, शहद बनाने की कला तो नहीं, फिर बना लेंगे। अब्दुत ! यही चिंता है छीनने वाले को जो उसे संतुष्ट नहीं रहने देती क्योंकि जिसे दुःख देना है, कष्ट में रखना है, उसकी कुशलता नहीं छीन सकता और अपनी भरी थाली पाकर भी उसे संतुष्टि नहीं मिलती। यही वास्तविकता है कि दुर्योधन अपने जीवन में सब कुछ पाकर, छीन कर भी असंतोष से ग्रस्त रहा। और सब कुछ पाना ही तो सुख नहीं। कौन उसके भोगों की, सुन्दरता की ओर आकर्षित होगा। जो केवल सांसारिक मायावी साधन सम्पन्नता को ही जीवन की उपलब्धि मानते हैं। वे ये समझकर भी नहीं समझते। यह है जीवन की सत्यता का रहस्य जो वेदव्यास पांडवों को समझाते हैं, कि जीवन का असली सौंदर्य उसके स्वविकास में है। वर्ना उनकी और दुर्योधन की कोई तुलना कहाँ की जा सकती है। उन्होंने अपने मन के ठहराव, संतोष, शांति एवं आत्मिक विकास का उदाहरण देकर ही, पांडवों को, जीवन के वास्तविक सौंदर्य को समझाया। तभी युधिष्ठिर इस बात का अनुमोदन करते हैं कि 'सत्य सदा से ही छद्म से अधिक स्पर्हीय और आकर्षित करने वाला है, चाहे वह कितना ही अलंकृत क्यों न हो।'

सौन्दर्य का एक स्थूल पक्ष भी है। जीवन की आवश्यकताएं, जन मानस का कल्याण, और उसके लिए प्राप्त साधनों की उपलब्धता। विकास के साथ-साथ मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति का विकास किया और अपने व्यक्तित्व का, समाज का परिष्कार किया। प्रकृति की सुन्दरता को अपने योगदान से बढ़ाया और उपयोगी बनाया है। जीवन के सुख साधनों का वह खुद कर्ता बना है। जीवनयोगी सुविधाओं और संसाधनों की उपलब्धता और सम्बंधित वस्तुओं और भवन सम्बन्धी निर्माण का कार्य किया। सृष्टि का निर्माण परमपिता ने किया। ..प्रकृति के रूप में सौन्दर्य का अपार भंडार दिया। प्रकृति के परमार्थी स्वभाव द्वारा शुभ संकेत और कार्य के चुनाव का इशारा भी दिया। अब समझना तो मानव को है, उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति उसे किस ओर ले जाना चाहती है ? इसका निर्णय छोड़ दिया, उसकी विवेक-बुद्धि पर। इशारा तो उसका है करना अब मानव को है !



## सौन्दर्य का स्थूल पक्ष

युधिष्ठिर प्रजा और राजपरिवार के सुविधापूर्ण जीवन के लिए खांडवप्रस्थ नगर का, उसके प्रसादों का निर्माण और पुर्ननिर्माण करवाना चाहता है। उसके हेतु श्री कृष्ण एवं महर्षि वेदव्यास पांडवों के साथ विचार कर रहे हैं। इसके निर्माण कार्य के लिए इंद्र द्वारा भेजे गये विश्वकर्मा उनकी सहायता के लिए उपस्थित है। वह उनकी राय पूछने के पश्चात् सौन्दर्य, उपयोगिता और प्राथमिकता के अनुसार निर्माण का आश्वासन देते हुए कहते हैं, “हम कल प्रातः से ही नगर के निर्माण का कार्य आरम्भ करते हैं। मैं इन्द्रप्रस्थ का निर्माण सामान्य रूप से एक अत्यंत सुंदर नगर के रूप में कर दूंगा, किन्तु आपके मन में किसी विशेष प्रकार के भवन, क्षेत्र अथवा स्थान की कल्पना हो, तो मुझे बता दें, ताकि मैं उसका भी प्रावधान कर लूँ।” यहाँ निर्माण के साथ उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का उल्लेख है। भीम, द्रौपदी, युधिष्ठिर आदि उपयोगिता और मानसिक शांति के अनुरूप भवन के निर्माण हेतु सुझाव देते हैं।

द्रौपदी: मेरे मन में अब भी काम्पिल्य बसा हुआ है। गंगा-तट का वह प्रसाद। जैसे देव-सरिता गंगा हमारे घर के आँगन में ही बहेती हो। आँगन से गंगा-दर्शन, कक्षों के गवाक्षों से गंगा-दर्शन, अटारियों से गंगा-दर्शन...।’—

यहाँ प्रकृति से प्रेरित मन को मोहती प्राकृतिक सौन्दर्यमयी छटाओं का वर्णन है।

युधिष्ठिर: ‘मैं भी सोचता हूँ, देव विश्वकर्मा ! यमुना के तट पर एक विहार-भूमि अवश्य बनाई जाये। उसमे क्रीडा भवन भी हों ..अनेक क्रीडा भवन। कुछ ऐसी व्यवस्था हो कि हम जल-क्रीडा भी कर सकें, वन क्रीडा भी कर सकें और भवनों में भी क्रीडा की व्यवस्था हो।’ .. ‘यदि आपके लिए बहुत असुविधाजनक न हो तो किसी एकांत स्थान पर एक गुरुकुल तथा उससे लगती हुई तपोभूमि की व्यवस्था अवश्य करें। धौम्य मुनि का आश्रम बन जायेगा तो समझिये पीढ़ियों का विकास भी सुनिश्चित हो जायेगा। तपोभूमि के अभाव में इन्द्रप्रस्थ खिन्न भोग भूमि ही

न हो जाये।’—यहाँ उपयोगिता के आधार पर शरीर, मन और आत्मा के सुंदर विकास के प्रावधान का वर्णन है।

अर्जुन: ‘आवश्यकता तो एक युद्धशाला की भी है। किन्तु मैं चाहता हूँ कि मुनि धौम्य के आश्रम तथा महाराज युधिष्ठिर की तपोभूमि के एक अंग के रूप में ही यहाँ युद्धशाला भी विकसित हो। शस्त्राभ्यास को भी साधना के रूप में स्वीकार किया जाये और वह धर्मपूर्ण आचरण से तनिक भी भिन्न न हो।—यहाँ जीवन की शक्ति, बल, वीरता और परिस्थितिवश-युद्ध जैसी अनिवारताओं का साधना के अंतर्गत वर्णन है।

भीम भी अपनी कल्पना बताते हैं: ‘कृषि के लिए बैलों की आवश्यकता होगी, इसलिए हम गोशालाएं बनायेंगे। गोशालाओं के निकट गोपालों की बस्तियां बनायेंगे। हम कन्दराओं और गुफाओं में नहीं रहेंगे। अपने रहने के लिए भवन बनायेंगे, प्रासाद बनाएंगे। उसके निर्माण के लिए हम वास्तुकारों को बसायेंगे। भवन निर्माण के लिए हमें श्रमिकों की आवश्यकता होगी। उनके रहने की व्यवस्था करनी होगी। इतने सारे लोग होंगे तो उनकी आवश्यकताओं के लिए हाट भी बनेगा। व्यापारी भी आयेंगे। आने-जाने के लिए मार्ग बनेंगे। यात्रा के लिए रथ और अश्वों की आवश्यकता होगी। फिर जब इतने लोग साथ रहेंगे तो उनकी सुरक्षा के लिए प्रहरी और सैनिक भी होंगे। शिष्य और गुरु भी होंगे, दुष्ट दलन और न्याय पालन के लिए न्यायिकरण भी होंगे और न्यायपाल भी होंगे। ...’

यहाँ व्यापार- व्यवसाय, जन धन की सुविधाओं एवं उनके रहन-सहन का वर्णन और सृजन की सुंदर कल्पना की जा रही है। विश्वकर्मा को अपने कार्य की सात्विक और मनोवैज्ञानिक रुपरेखा मिल गयी और वह अपने कार्य को रचनात्मक रूप से यथार्थ करने में लग गये।

## सौन्दर्य के साथ मनोविज्ञान का समन्वयकारी संवेदनात्मक निर्माण

उपरोक्त वर्णन, कल्पनाएँ, योजनायें, और निर्माण के विभाग, यह सब पांडवों के मनोविज्ञान का दर्शन कराते हैं। ...वह निष्कासित हो कर एक ऐसे स्थान

पर भेज दिए गये हैं जहाँ एक भयावह वन है। जीवन की संभावनाएं कम हैं। स्थानीय लोग भयभीत हैं, अविश्वास और अनास्था से भरे हैं। दस्युओं ने वातावरण को अराजक कार्यों से डरा कर रखा है। वन में इंद्र का और अन्य भिन्न जातियों का आंतक है। लेकिन पांडवों के साथ श्री कृष्ण हैं, महामुनि वेदव्यास हैं। व्यास जी ने कहा न ! कि धर्म वहीं है जहाँ न्याय है। अतः युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम एवं द्रौपदी की निर्माण योजनाओं में, विस्तृत वर्णनों में यही अपेक्षा ही की जा सकती है। जो उन्होंने उपरोक्त शब्दों में प्रकट की। उनका मन इतने कष्टों, अपमान, वंचनाओं के उपरांत भी कितने शांत एवं धैर्य से जन जीवन की सुविधाओं के अनुरूप निर्माण की कल्पना कर सकता है। आवश्यकताओं के साथ-साथ शिक्षा, क्रीड़ा, युद्ध अभ्यास भूमि, यमुना तट के विहार क्षेत्र, साथ ही गुरुकुल, तपोभूमि सब की व्यवस्था करने को तैयार हैं। उस समाज की व्यवस्था को करते हुए वहां के शासक यह सब योजनायें बना रहे हैं। अब वर्तमान को देखे, कोई विषय अछूता नहीं रहता। लेखक ने उस काल को, उसकी अभिव्यञ्जनाओं में, आज को प्रासंगिक कर के प्रस्तुत किया है। आज भी प्रशासन से इसी सुंदर निर्माण की अपेक्षा ही तो करता है जन-मानस।

सत्य, शिव, सुन्दरम को एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता। जो सत्य है, वही शक्ति अथवा शिव है और वह ही सुंदर हैं। इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं हमारे पुराण, हमारे मनन चिंतन करने वाले ऋषि मुनि, वेद, शास्त्र। यही सारे मूल्य बताते ज्ञान के स्रोत, मानव के मनोविज्ञान को प्रभावित करते हैं। फलस्वरूप उसके प्रभावित व्यवहार ही फिर परिणामों को सुंदर अथवा असुंदर रूप देकर, स्थितियों का आकलन करते हैं।

एक उदाहरण में स्थूल और सूक्ष्मता की बानगी देखते हैं, “खूबसूरती क्या है? गोरा रंग, सुडौल काया, ऊँचा कद और तीखे नाक-नक्श ? नहीं ! ये तो महज ऊपरी खोल है। फिर ? सुन्दरता दरअसल, रचनात्मकता का नाम है, सृजन में ही है, असली सौन्दर्य। खूबसूरती, यानि प्यार, जो बैचैन, बेनूर आँखों में उम्मीद का उजाला भर देता है। सुन्दरता है, किसी के लिए कुछ कर गुजरने की ललक।

संसार को बाँहों में समेट लेने का हौसला, जीवन को सकारात्मकता के साथ देखने और महसूस करने का मन और जतन ही है असली खूबसूरती।’

‘संसार की प्रत्येक वस्तु खूबसूरत है।’ कन्फ्युशियस के इस वचन से बहुत से लोग सहमत होंगे, लेकिन जरूरी नहीं कि इससे सहमत होने वाले लोगों में आप भी शामिल हों। सबकी अपनी सोच है, अपना नजरिया है। आप में से किसी को सुबह खुबसूरत लगती होगी तो किसी को ढलती शाम। आहा जिन्दगी ! पत्रिका के जुलाई 2011 अंक के एक लेख में माधवी शरण गुलेरी ने लिखा कि ‘किसी को रौनक अच्छी लगती होगी तो किसी को एकांत। किसी को मांस-मछली पसंद है तो कोई शाकाहारी होने में अच्छा महसूस करता है। कोई जीवन भर किताबों में खोया रहता है, तो किसी के लिए जीवन की किताब ही सर्वोपरि है।’ (गुलेरी 10)

यही मूल्य हैं और यही मनोविज्ञान ! जो एक परमात्मा से उत्पन्न जीव को भिन्न विवेक के कारण भिन्न दृष्टि देते हैं। यह दृष्टिकोण ही उसे अलग मानसिकता देता है। उसकी अपनी विचारधारा है। जीवन के समस्त व्यवहार कार्य उसी के अनुरूप ही निर्धारित होते हैं। यह सत्य ही है कि संसार की सब वस्तुएं सुंदर हैं। क्या और कैसे देखना है यह भिन्न दृष्टिकोण तय करते हैं और प्रभावित करता है उस कर्ता का मनोविज्ञान। वर्ना सृष्टि को बनाने वाले ने तो प्रकृति और जीव को बनाने में सुन्दरता को कहीं भी विस्मृत नहीं किया। एकांत में बैठ कर प्रकृति को निहारता मानव इस सौन्दर्य की अनुभूति कर सकता है। उस नियंता ने, मानव का निर्माण भी अपनी प्रतिकृति के रूप में किया, किन्तु विवेक दे कर उसे असीम शक्तियां भी दे दी, अब कर्म अपने निर्णयों के अनुरूप करेगा मानव और निर्णय की डोर है परम शक्ति के पास।

व्यक्ति के मन को सौन्दर्य आकृष्ट करता है। सही ही है, सौन्दर्य का चुम्बक ही इतना अधिक होता है। जैसे कि कहा गया है, “शारीरिक सौन्दर्य तो फंदा है— बहेलिये का जाल। भोला पक्षी दाना चुगने के लिए आता है और जाल का पता उसे तब चलता है जब वह उड़ने में असमर्थ हो चुका होता है।” (कोहली, महासमर 1,20)

तो सौन्दर्य न केवल मानव-मन को मोहता है, दुलराता है, बल्कि जीवन के थपेड़ों में राहत का एहसास देता है। थके दुखी मन से यदि प्रकृति की सुन्दरता के रूबरू हो कर बैठ जाएँ तो प्रकृति और उसका मन मोहक रूप व्यक्ति के तपन भरे मन को शांति प्रदान करता है। तो कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यह मन है जो सौन्दर्य को महसूस करता है। और मन को गति देता है उसका मनोविज्ञान। जिन्दगी के क्रमशः सभी दृश्य-परिदृश्य लगभग मनोविज्ञान के कारण ही अच्छे-बुरे लगते हैं। सुविधाएँ और दुविधाएँ अनुभूति का विषय हैं; और अनुभूति करता है मानव-मनोविज्ञान। कौन किस को प्रश्रय देता है ? इस का निर्धारण भी मनोविज्ञान का ही एक विभाग है। उदाहरण देखे—नकुल एवं सहदेव देव-ऋषि नारद का, इन्द्रप्रस्थ आने पर स्वागत कर रहे हैं। उनकी कोशिश है कि देवऋषि सारे इन्द्रप्रस्थ का दर्शन करें और विकास और निर्माण के सम्बन्ध में अपने विचार कहें। किन्तु सहदेव देखते हैं कि देव ऋषि नारद की दृष्टि इन्द्रप्रस्थ के नव-निर्मित राजमार्गों, नगर के तीन ओर खोदी खाइयों, उसकी भव्य प्राचीर, उसके सुंदर घाटों आदि में नहीं है। वह कुछ और मनन कर रहे हैं। वह सहदेव से पूछते हैं कि उनके नगर के निर्माण में किसने प्रमुख रूप से सहायता की है ? श्री कृष्ण, बलराम, विशकर्मा के माध्यम से इंद्र एवं महाऋषि वेदव्यास के नाम लेने पर नारद जी ने पूछा कि नगर बनने पर वह यहाँ रुके नहीं। सहदेव ने उनकी बात का उत्तर देते हुए कहा कि वे स्थायी रूप से इन्द्रप्रस्थ में तो नहीं रह सकते थे तो उन्हें जाना ही था। देव ऋषि का अगला प्रश्न यह था कि, “क्या तुम लोगों ने कभी इस विषय पर विचार किया है कि तुम्हारे कुलवृद्धों में से कोई भी हस्तिनापुर छोड़कर तुम्हारे साथ इन्द्रप्रस्थ में रहने के लिए क्यों नहीं आया ? क्या उन्हें दुर्योधन और उसके भाई तुम लोगों से अधिक प्रिय हैं ?..युधिष्ठिर शायद इस बात को स्वीकार न करे, किन्तु मुझे विश्वास है कि धृतराष्ट्र के मन में पक्षपात है और दुर्योधन के मन में तुम लोगों के लिए विरोध है। मैं यह भी मानता हूँ कि यह कुरुओं के साम्राज्य का निर्विरोध विभाजन नहीं है। अतः किसी-न-किसी समय धार्तराष्ट्रों और पांडवों में विरोध होना अनिवार्य है। ऐसे समय में कुल-वृद्धों को दोनों में से किसी एक का पक्ष लेना पड़ेगा। आज यदि

भीष्म, बाह्लीक, सोमदत्त, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि लोगों ने हस्तिनापुर में ही रहने का निर्णय किया है तो क्या उन्होंने धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों का पक्ष चुन लिया है ?” (कोहली, महासमर 4,59)

बहुत मनोवैज्ञानिक प्रश्न हैं ! जो देव ऋषि ने पूछे हैं। सहदेव को स्वप्न में भी ऐसा नहीं लग सकता कि उनके कुल वृद्ध दुर्योधन के पक्ष में जा कर खड़े हो गये हैं। वह तो इसका कारण स्थान का अभाव समझते हैं। किन्तु देव ऋषि उन्हें इस बात का हास्य से उत्तर देते हैं कि अब तो स्थान है, निमंत्रण दे कर देखें। नारद मुनि एक वैचारिक प्रश्न पूछते हैं, “कोई तर्क अथवा प्रमाण भी है तुम्हारे पास, या बस यूँ ही तुम लोग यह माने बैठे हो कि पांडव सब लोगों को इतने प्रिय हैं कि कोई धृतराष्ट्र अथवा दुर्योधन का पक्ष ले ही नहीं सकता ?” (कोहली, महासमर 4,60)

अच्छा क्या है—बुरा क्या है ? कौन, किसके पक्ष में है और कौन, किसके विरोध में ? बहुत आश्चर्यजनक रूप से मन को उद्वेलित करते प्रश्न हैं। जिन वृद्धजनों के सिर्फ आशीर्वाद का विचार किया गया हो उन के पक्ष के विरुद्ध विचार करना बेहद मार्मिक बन उठता है। सहदेव भी चकित है नारद मुनि की बात से। वह कहता है कि पितामाह हमारे साथ इस वय में क्या करने आते ? इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह हमारे विपक्ष में हैं। देव ऋषि सहदेव को तर्क देते हैं कि भीष्म का विरोध है द्रुपद पुत्री शिखंडी से जिसे उनकी मृत्यु के लिए नियत किया गया है। द्रुपद से विरोध है द्रोण का, उसकी पुत्री आपकी पत्नी है, तो वह कैसे यहाँ आ सकते हैं ? किन्तु विदुर के लिए जब अशंकित सहदेव देव ऋषि के विचार जानना चाहता है तो नारद कहते हैं कि विदुर यद्यपि, तुम्हारे साथ अधिक सुखी रह सकता है यदि चाहे तो ! किन्तु वह धृतराष्ट्र से विरोध होने पर भी उस के प्रति स्नेह रखता है। वह उसका हित चाहता है। और उसका वहाँ रहना पांडवों के लिए भी हितकर है। जिससे वह धृतराष्ट्र को धर्म की ओर प्रेरित करता रहे। किन्तु पितामह की बात करते हुए उनके मनोविज्ञान के बारे देव ऋषि का कथन है कि, “भीष्म मध्यस्थ है। वह तुम्हारा पक्ष कभी नहीं लेगा। वह धर्म की बात कहेगा, न्याय की चर्चा करेगा..बहुत होगा तो कौरवों के हित की बात करेगा। यह तो संभव है कि

मतभेद होने पर विदुर इन्द्रप्रस्थ में तुम्हारे पास आ जाये, किन्तु भीष्म या तो विरक्त हो जायेगा, अन्यथा प्राण दे देगा। वह उनके विरुद्ध तुम्हारे पक्ष में नहीं आयेगा।” (कोहली, महासमर 4,61)

कैसा मनोविज्ञान है यह जिसकी चर्चा देव ऋषि कर रहे हैं ! यह सामान्य मानव स्वभाव नहीं है क्या ? व्यक्ति कभी अपने संबंधों के विषय में इतनी गहराई से विचार नहीं करता किन्तु वस्तुनिष्ठ होकर सोचें तो किसी ऐसी स्थिति के आने पर व्यक्ति को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। मानवीय सम्बन्ध केवल व्यक्ति की अपनी सोच पर ही निर्धारित न होकर समग्रता पर भी निर्धारित होते हैं। यद्यपि व्यक्ति की विचारधारा उसे वह सोचने से रोकती है, जो वह चाहता नहीं। पर होने को तो कुछ भी संभव ही है न ! और उसी के विषय में इंगित कर रहे हैं महा ऋषि नारद ! भीष्म का स्नेह कौरवों और पांडवों-दोनों की और बराबर है। किन्तु यदि युद्ध एवं विरोध की स्थिति उत्पन्न हो तो वह किस ओर खड़े होंगे? प्रश्न यह है। शिखंडी एवं दुपद के विरोध के कारण वह उनकी पुत्री द्रौपदी के राज्य में स्थाई वास के लिए नहीं आ सकते। केवल यही कारण काफी नहीं लगता ! वह हस्तिनापुर की सुरक्षा के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध हैं और उसके लिए वह अपने को धर्म के नाम पर बंधन में महसूस करते हैं। धर्म उनके लिए एक ऐसा विचार है जिसे वह किन्हीं आग्रहों में रह कर ही समझते हैं। जिसमें व्यक्ति तत्व अधिक है और समष्टि तत्व का अभाव है। वह इसी कारण दुर्योधन के पक्ष में खड़े दीखते हैं। द्रोण के साथ भी यही स्व-कारण है कि वह अपनी महत्वाकांक्षाओं के रहते हस्तिनापुर नहीं छोड़ सकते। तो मनोविज्ञान स्वार्थ के साथ निर्णीत हो रहा है। समग्रता से विचार करने के लिए एक दिव्य एवं निस्वार्थ दृष्टि की आवश्यकता होती है, जिसे कई बार मानव-मनोविज्ञान निर्णय की अनुमति नहीं देता। यहाँ, यही कहना चाह रहे हैं नारद मुनि।

वह युधिष्ठिर आदि भाइयों के स्नेह बंधन का भी आकलन करने से भी नहीं चूकते। मानवीय संबंधों के प्रति उनकी पैनी दृष्टि उन्हें प्रश्न करने से रोकती नहीं। फलतः उनका युधिष्ठिर से मिलने पर कहना है, “वत्स युधिष्ठिर ! वस्तुतः मेरा मन तुम्हारे नगर की तुलना में तुम्हारे परिवार के संबंधों में यात्रा करता रहा है। यद्यपि

तुम्हारा नगर बहुत सुंदर है। उसमें मेरा अधिक रूचि न लेना कदाचित तुम्हें अच्छा न भी लगे, किन्तु मेरे लिए सदा ही नगरों की अपेक्षा मनवीय सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण रहें हैं। मेरा मन उनके सौन्दर्य पर मुग्ध होता है।..जहाँ तक मैं जानता हूँ युधिष्ठिर ! दुर्योधन में कितने ही अवगुण हों, वह अपने पिता की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करता। उस परिवार में सहस्रों तृटियाँ हों किन्तु दुर्योधन के भाई उसका विरोध नहीं करते। वे सब एक हैं और संगठन उनकी शक्ति है। ..क्या तुम अपने भाइयों के विषय में यही बात कह सकते हो ?...मेरी बात को अन्यथा न लेना। मानव मन दुर्गम ही नहीं अगम है। उसकी जटिलताओं को समझना बड़े-बड़े ऋषियों के लिए भी सरल नहीं रहा है। जिन लोगों में परस्पर असाधारण प्रेम होता है, वे ही लोग जब कारण-अकारण एक-दूसरे से टूटे हैं, तो विकट शत्रु हो गये हैं। मेरे मन में कभी कभी तुम लोगों के विषय में यह चिंता जन्म लेती है कि कहीं तुम्हारी एकता में किसी प्रकार का कोई विघ्न न आये, क्योंकि तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति तुम्हारी एकता ही है।” (कोहली, महासमर 4,62)

अपरोक्ष ढंग से प्रारम्भ करके देव ऋषि नारद युधिष्ठिर को द्रौपदी के विषय पर ले कर आते हैं। वह उन्हें इस बात की आशंका के विषय में कहते हैं कि संसार में धरती, धन और नारी के कारण अनेक बार ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि शत्रुता होने की सम्भावना हो ही जाती है। वह बहुत ठहराव से उनके आपसी संबंधों की चर्चा करते हुए उन्हें इस सम्भावना से सचेत करते हैं। उनके अनुसार द्रौपदी जैसी सुन्दरी नारी की वजह से उनमें कभी द्वेष न होने पाए इसके लिए उन्हें अपने संबंधों के सन्दर्भ में कुछ ऐसे नियम बना लेने चाहिए जिससे द्रौपदी जिस समय एक भाई की पत्नी हो उस समय अन्य भाइयों के लिए पर-स्त्री ही हो जाये। जिससे आपस में न कोई मतभेद जन्म ले और न ही कोई द्वेष अथवा विभाजन की सम्भावना हो। बेहद तर्कपूर्ण और न्याय-युक्त निर्णय करने की युक्ति सिखाते हुए देव ऋषि ने मानव मन की दुर्बलताओं और उसकी कामनाओं के कारण होने वाले उपद्रवों से पांडवों को सचेत करते हुए बचा लिया। यह सौन्दर्य ही तो है। मानव जानता है अपनी दुश्चतियों के जाल में और फंसने से पूर्व ही वह युक्तिपूर्ण कुछ ऐसा निर्णय कर ले की वही वृत्ति उसका धर्मोचिंत कार्य बन जाये।



जीवन के अनगिनत रंग हैं। प्रेम है तो घृणा भी, मोह है तो द्वेष भी, हिंसा है तो अहिंसा भी। मानव का मन भी अपने रंग और रूप बदलते हुए व्यवहार करता है। वह राजा है तो न्यायपाल भी। वह प्रेम करता है तो दंड का भी निर्णय उसे ही करना होगा। वह कोमलमना है तो प्रशासन के लिए कठोर भी उसे ही बनना होगा। यह मानव मन के अलग अलग स्वाभाविक रूप हैं। वह अपनी स्थिति के अनुरूप अपने निर्णय करता है। कभी वह स्थितिओं के अधीन हो जाता है। कभी उसका स्व-निर्णय ही उसको अधिक प्रभावित करता है। महाराज युधिष्ठिर के साथ भी ऐसा ही है। वह अपने शांतिप्रिय एवं धर्मपूर्ण विचारों के रहते शासन में आने वाले दुष्प्रभावों से विचलित से हो जाते हैं। उनके जैसे आचरण वाले व्यक्ति के लिए अशांति को हिंसा से जीतना अति कठोर निर्णय है। यद्यपि वह यह जानते हैं कि क्षत्रिय के लिए वीरता, युद्ध व रक्तपात स्वाभाविक हैं। किन्तु उनका हृदय इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता। वह राजा के रूप में यह मानते हैं कि उन्हें पिता के समान अपनी प्रजा की प्रशासन सम्बन्धी, धर्म, न्याय, अथवा पालन सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना है। इसके लिए वह कभी उद्गिन नहीं होते। वह व्याकुल होते हैं अत्याचार और अन्याय को देखकर। उन्हें विश्वासघात, असत्य, षड्यंत्र आदि को देख व्याकुलता होती है। वह इस निमित्त किये गये युद्ध, रक्तपात से आनंदित नहीं होते। और मन ही मन स्वयं को कायर मान बैठते हैं। वह अक्सर विचार करते हैं- 'उनकी तनिक भी इच्छा नहीं होती कि वह स्वयं को भीरु अथवा कायर मान लें। वे संकट का सामना कर सकते हैं, अपने प्राणों को जोखिम में डाल सकते हैं ..बस वे हत्याओं के व्यापार को अपनी उपलब्धि नहीं मान सकते। उस पर गर्व नहीं कर सकते। किसी के प्राण लेकर वह सुख का अनुभव नहीं कर सकते। वे अपने जीवन का लक्ष्य, ईश्वर के बनाये हुए अन्य जीवों को वंचित करना नहीं मानते। वे किसी से कुछ भी छीनना नहीं चाहते। किन्तु यह संसार बिना लूट-खसोट के चल क्यों नहीं सकता ?..क्यों मनुष्य इस सीमा तक रक्त-पिपासु और विष-वमन करता है ? क्या यह संसार कभी भी मनुष्य के जीने योग्य नहीं बन सकता ?..यदि मानवता के लिए कोई आशा नहीं है तो युधिष्ठिर इस जीवन को स्पर्हीय कैसे मान ले?' (कोहली, महासमर 4,135)

किस मन की बात कर रहा है लेखक यहाँ ? ये कौन सा विचार है जिसे वह अपने पाठकों के सामने रख कर उनसे प्रश्न कर रहा है ? क्या यह केवल युधिष्ठिर के प्रश्न हैं ? लेखक के प्रश्न हैं ? आपके प्रश्न हैं ? या हम सब के प्रश्न हैं ? विचार को सामयिकता से जोड़ कर आज के परिदृश्य को समक्ष ला खड़ा किया है जैसे । वर्तमान भी तो इन्ही समस्याओं से उतना ही तप रहा है । वही समस्या है जो युधिष्ठिर की महाभारत काल में थी, आज के शांतिप्रिय कमोबेश ..प्रत्येक शासक की है । युद्ध नहीं चाहते, अन्याय नहीं चाहते, किन्तु अधर्मपूर्ण व्यवहार का विरोध और किया कैसे जाये ? एक स्वस्थ सुंदर राज्य की कल्पना अगर कोई शासक करता भी है, तो माहौल उसे सरगर्मियों से विपरीत असर दे देता है । एक शांतिप्रिय मानवीय धार्मिक व् नैतिक आचरण करने वाले मनुष्य का काल्पनिक-सौन्दर्यमयी लोक तभी तो आकार नहीं ले पाता । और यही त्रासदी है युधिष्ठिर के मनोविज्ञान की ! वह सौंदर्य सोचता है, सौन्दर्य रचना चाहता है, किन्तु आसपास के परिदृश्य इतने विद्रूप हैं कि उसकी आशाएं ध्वस्त हो जाती हैं ।

जीवन का सौन्दर्य अपरिमित है । उसके विराट व्यापक व्योम में उसके सौन्दर्य की कोई सीमा नहीं है । किन्तु उसे समझना और उसकी सराहना और देखरेख, उसके संपर्क में आया व्यक्ति किस तरह से करता है, यह उसका मनोविज्ञान तय करता है । जैसा संत कबीर ने कहा, 'अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप ।' बस उसी दृष्टि से किसी भी चीज़ का अतिरेक उसके सौन्दर्य को नष्ट भ्रष्ट कर देने की क्षमता रखता है । जब सौन्दर्य के विकल्पों के विषय में सोचा जाता है, तो व्यक्ति क्षण के लिए अपने व्यवहार को अवश्य ही अवलोकित करने का प्रयास करता है । मानव मन की दुरुहताओं में उसके व्यवहार का बहुत महत्व है । वह सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी । उसके आचरण में दुश्चृतियाँ भी अधिक प्रभावी हो सकती हैं और सदृष्टियाँ भी । है सब उसके भीतर ही । उसका चुनाव ही उसका प्रथक व्यक्तित्व का द्योतक है और उसके पीछे उसका मनोविज्ञान है । यही मनोविज्ञान अथवा विवेक ही तो परमशक्ति ने मानव को अपनी विशेष पहचान बनाने के लिए दिया है । और इसी विशेष उपलब्धि के कारण ही तो

श्री कृष्ण की मद्भागवत गीता में कर्म का सिद्धांत अपना स्वरूप दर्शा सका है। तो यह वृत्तियां कैसे मानव मन के कोनों को प्रभावित और विचलित करती हैं। एक उदाहरण देखते हैं। अपने वनवास के अंतिम चरण में अर्जुन द्वारका में पहुँच जाता है। वहाँ वह सुभद्रा के नैसर्गिक सौन्दर्य, उसके रथ सारथ्य, उसके तेज और उसके मनमोहक सौन्दर्य से आकर्षित होता है। वह कृष्ण के परिहास से हैरान होता है और आश्चर्य भी कि कृष्ण के मुख पर उदारता थी। कृष्ण से वह अपने अनियंत्रित मन की बात कह कर कहीं ओर जाने के लिए कहता है। कृष्ण उसे महादेव के मंदिर में ले जाते हैं। वहाँ अर्जुन और श्री कृष्ण के बीच सांसारिक मोह-माया भोग, त्याग और जीवन को जीने की विधि की जो चर्चा लेखक ने उपन्यास के द्वारा प्रस्तुत की है कमोबेश फिर जीवन के उसी वास्तविक सौन्दर्य की पुनः छवि प्रस्तुत होती है, जिसे बार बार दिखाया गया है। अर्जुन अपने मन की स्थिति के विषय में कृष्ण से कहते हैं, “मुझे लगता है कृष्ण ! कि मेरे भीतर दो विरोधी धाराएँ निरंतर प्रवाहित होती रहती हैं।..जब मैं किसी देवालय में जाता हूँ, जब किसी तीर्थस्थान में पहुँचता हूँ, तो मेरा मन जैसे आरोहण की स्थिति में आ जाता है। जीवन के ये छोटे-मोटे साधारण सुख और भोग अत्यंत नगण्य लगने लगते हैं और मन में कहीं उनका लेश भी नहीं होता। मन व्याकुल होने लगता है कि किसी प्रकार संसार के इस सारे प्रपंच को तोड़कर मैं उस सत्य के दर्शन पा जाऊँ, जो शाश्वत है, सृष्टि का आधार है, जो मूल अस्तित्व है, जो सत, चित और आनन्द है। उस समय सारी कामनाएं, वासनाएं, सारे सुख और भोग, सारी सांसारिक उपलब्धियां मलिन दिखने लगती हैं। उनसे वितृष्णा होने लगती है। मन उन्हें त्यागने को आतुर होने लगता है। उस त्याग में कितना सुख है..और..। और फिर सहसा ही मैं बदल जाता हूँ, मेरा मन बदल जाता है। मन में कामनाएं उठने लगती हैं। भोग और सुख आकर्षक लगने लगते हैं। न उनमें कोई दोष दिखाई देता है, न उन्हें ग्रहण करने की आतुरता बुरी लगती है। लगता है ईश्वर ने यह सृष्टि, सुख भोग त्यागने के लिए तो नहीं की है। कामनाओं का प्रवाह कुछ इतना वेगवान होता है कि मैं थम नहीं पाता और उनके साथ बहने लगता हूँ।..एक ओर वनवासी के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने का

संकल्प लेकर निकला था और दूसरी ओर इसी यात्रा में दो-दो विवाह कर लिए और अब..।” (कोहली, महासमर 4,167)

जैसा कि उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मानव मन के दोनों विरोधी स्वभाव जीवन में उसकी परीक्षा लेने को हर क्षण तैयार रहते हैं। जैसा वातावरण वह अपने आस पास पाता है, उसी के अनुरूप प्रभाव लेकर व्यवहार करने लगता है। तो क्या करना चाहिए उसे ? क्या प्रभाव वातावरण का ही है ? उसकी वृत्तियों का नहीं ? तो कैसा नियंत्रण उसे जीवन के सहज और सुव्यवस्थित रूप को पाने के लिए करना पड़ेगा ? बेशक यही सत्य है कि मानव स्वभाव की दोनों विरोधी ताकतें उसे अपनी ओर खींचती हैं। अब यह उसके मनोबल ने तय करना है कि उसका रुझान किस दिशा में जाता है। कृष्ण अर्जुन को इस दिशा-चुनाव के लिए जो निर्देश-उपदेश देते हैं, वह समझने के योग्य है, “योगी न तो वह होते हैं अर्जुन ! जो बहुत खाते हैं, और न वह जो बहुत कम खाते हैं।.. तुम्हारी समस्या भोग और त्याग की है मैं भोग को ही बहुत अधिक खाना, और त्याग को बहुत कम खाना कह रहा हूँ। ... व्यक्ति को सहज होकर जीना चाहिए। स्वयं को तपाना, और व्यर्थ कष्ट देना निरर्थक होता है, जैसे तुम्हारे साथ हो रहा है। तुमने अपनी इन्द्रियों का दमन किया। विषयों से उनको दूर रखा। उन्हें अतृप्त रखा। .. किन्तु जैसे ही किन्हीं कारणों से वह दमन कुछ हल्का पडा कि वह इन्द्रियां पीछे खींचे गये धनुष के समान दुगने वेग से प्रहार करेंगी। इसलिए कहता हूँ, सहज रूप से जीवन जियो। न इन्द्रियों का दमन करो, न विषयों को छोड़कर वन में भागो। संसार के बीच में रहो।..मन को अनासक्त कर लो। अनासक्त होकर विषयों के मध्य में रहो ..वे तुम्हें तनिक भी बांध नहीं पाएंगे।..हाँ !.. इसका विरोध करना हो, तो कहा जा सकता है कि कठोर तपस्या के पश्चात् लौटकर तपस्वियों के भोगी और अहंकारी होकर राक्षस हो जाने के भी अनेक उदाहरण हमें उपलब्ध है।..अतः..मैंने कहा सहज होकर जियो। और व्यक्ति सहज होता है, अपनी स्वाभाविक स्थिति में। इसलिए अपने स्वभाव को जानो, अपनी प्रकृति को समझो। तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हारा स्वधर्म है। उसे पहचानो ! क्षत्रिय होकर अपने स्व-धर्म में युद्ध क्षेत्र में प्राण त्यागना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर

होगा, भिक्षा मांगकर जीवनयापन करना या सन्यासी होकर एकांतवास करना नहीं।.. तुम्हें अपना स्वधर्म परिवर्तित नहीं करना है, उसका त्याग भी नहीं करना है। तुम्हें उसका विकास करना है, परिष्कार करना है।..तन से मत त्यागो मन से त्यागो !.. विषयों के मध्य रहकर भी उनके होकर मत रहो।..लेखनी से लिखो, किन्तु मसि से तुम्हारे हाथ काले न हों। .कर्म कौशल ही तो योग है।.हाँ ! कर्म का त्याग किसी नाम से किया जाये, कर्म का त्याग अनिष्टकारी है।.. कर्म के अभाव में सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहेगा।.घोर कर्म के मध्य भी अकर्म की स्थिति ?” (कोहली, महासमर 4,168)

यही सत्य है। कर्म करना। सहज रहना। यही शिवम है और सबसे सुंदर। कितना सूक्ष्म विवरण है—कृष्ण का एक-एक शब्द जैसे संसार के सारे सुख देता हुआ सारे बन्धनों से मुक्त भी करता चला जा रहा है। और किसे कहते हैं सौन्दर्य ! जीवन का यही वास्तविक रूप है, जिसे कबीर, नानक, तुलसी, सूरदास आदि संतों ने कहा भी, लिखा भी और सबसे बढ़कर जिया भी। जीव जिस कार्य के निमित्त आया है, उसके जो उतरदायित्व उसके सांसारिक-पात्र ने दिए हैं, उन्हें पूर्ण आस्था से किये जाना ही उसके कार्य की सफलता है। किसी और को देख उसका स्वांग करना और उसे अपने आचरण में छद्म रूप से दर्शाना जीवन के साथ धोखा है। किन्तु स्मरण रहे यह कार्य करते हुए अपने पर मोह की जरा सी छाया भी न पड़ने देना ही घोर कर्म में, अकर्म की स्थिति है, और सबसे बड़ा सत्य भी।

मानव मन की सुन्दरता को निर्धारित करता है मनोविज्ञान। और यह मनोविज्ञान उसकी मानसिक वृत्तियों के आधार पर ही निर्णय लेता है। मानव मन की सुन्दरता में धर्म और उसके अनुसार किये गये आचरण का भी बहुत योगदान है। आचरण की वही नीतियां मानव मन नियत करता है, जो धर्म को, नैतिकता को, मर्यादा को, पोषित करती हों, अन्यथा उसमें सौन्दर्य का दर्शन थोड़ा असंभव होगा। जीवन की उत्कृष्ट रचनात्मकता, उसके अनुरूप धर्म की विवेचना करती व्याख्या, कुछ योग एवं कुछ मर्यादा का भय, इन सब का सम्मिलित रूप ही सौन्दर्य का निर्माण करता है। एक ऐसे संसार का जहाँ सब कुछ अच्छा सा, मन को मोहता

सा लगता हो, दर्शनीय एवं वांछित हो। वरना यह मानव मस्तिष्क ही है, जो सुविधा में दुविधा का निर्माण कर लेता है। नीति पर चलते चलते अनीति की दिशा में घूम जाता है। इस सब में उसकी मोवृत्तियाँ ही कार्य करती हैं, और फिर भला-बुरा, सुंदर-असुंदर का निर्णय करती है प्रकृति।

एक उदाहरण से समझते हैं, अर्जुन का विवाह सुभद्रा से हो चुका है, वह अभी द्वारिका में कृष्ण के पास ही रह रहा है। उस समयांतराल में दोनों के बीच धर्म और मर्यादा की, सुन्दरता की बात होती है, और उसके धरातल अर्थात् उस मंच पर मनोविज्ञान कैसे अपना अभिमंचन करता है, इसका वृतांत इस उदाहरण में सपष्ट होता है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इन्द्रप्रस्थ को अब शक्ति शाली बनना होगा जिससे अन्य राज्य, उससे, उसके धर्मकार्यों से, प्रभावित हो सकें। यदि वह दुर्बल रहेगा तो धर्म का राज्य स्थापित नहीं हो सकेगा और पूरा जम्बुद्वीप अधर्म और अन्याय पर चल पड़ेगा। जैसे द्वारिका में सुभद्रा के वर के चुनाव के लिए दुर्योधन के नाम पर भी विचार किया जा रहा था, वह उसकी शक्ति और समृद्धि को देख कर, और आश्चर्य यह है कि किसी को उसके अधर्मपूर्ण आचरण पर एतराज नहीं है। तो धर्म स्थापना का यह दायित्व अब इन्द्रप्रस्थ को संभालना होगा। कृष्ण के अनुसार, “धर्म को इतना दुर्बल और नगण्य तो नहीं होना चाहिए मित्र ! इन्द्रप्रस्थ इतना दुर्बल रहकर जम्बुद्वीप को धर्म का मार्ग कैसे दिखायेगा ? अन्य राजा यदि उसकी श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करेंगे तो उसे अपना आदर्श तथा अनुकरणीय कैसे मानेंगे ? वह पापियों और अधर्मियों को कैसे आंतकित करेगा ? उन्हें पाप से विरत कैसे करेगा ? नहीं अर्जुन ! धर्मराज को कुछ उद्धम करना होगा। उन्हें चक्रवर्ती सम्राटों के लिए आदर्श, अनुकरणीय तथा त्रास...तीनों बनना होगा।” (कोहली, महासमर 4,205)

कृष्ण के अनुसार धर्म की व्यवस्था और सौन्दर्य की सृष्टि बिना शक्ति और भय के संभव नहीं हो सकती है। कैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तर्क है ! कृष्ण क्या प्रमाणित करना चाहते हैं ? उनका इस भय और शक्ति से क्या तात्पर्य है ? अर्जुन और कृष्ण के वार्तालाप में, कृष्ण के यादवों की तात्कालिक मनोस्थिति के विषय दिए गये उदगार इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। प्रस्तुत हैं वह उद्गार-

‘अर्जुन धर्म राज्य के लिए द्वारिका के यादवों को न चुनने के लिए कृष्ण से आश्चर्य प्रकट करते हैं कि यादव श्रेष्ठ हैं योग्यता में, समृद्धि में, शक्ति में, बुद्धि में। तो क्यों धर्मराज्य के लिए इन्द्रप्रस्थ एवं युधिष्ठिर को ही कृष्ण योग्य मानते हैं ? अब अर्जुन के इस आश्चर्य-प्रश्न का कृष्ण द्वारा दिया गया उत्तर मानव मनोविज्ञान का सटीक उदाहरण है। चार पुरुषार्थों का लक्ष्य नियत करने वाला मनुष्य कब अपने लक्ष्य से भटक कर सांसारिक माया-जाल में उलझ कर अपने लक्ष्य को भूल बैठता है, कदाचित् अज्ञानतावश वह स्वयं नहीं जान पाता। कृष्ण कहते हैं, “यादवों में अब बहुत अंतर आ चुका है अर्जुन ! अब वे पहले जैसे यादव नहीं हैं, जो कंस के क्रूर शासन से पीड़ित थे, जो जरासंध से आंतकित और त्रस्त थे। अब उन्हें न कालयवन का भय है न जरासंध का, न शिशुपाल का, न रुक्मी का। अब वे साधारण कृषक अथवा पशुपालक भी नहीं हैं। अब वे स्वतंत्र हैं, महाराज उग्रसेन का शासन उनपर नाममात्र का है। उनके कृषकों के पास विशाल भूखंड हैं। भूमि उपजाऊ है। जल का कोई अभाव नहीं है। वे स्वेच्छा से मनमानी फसलें उपजा सकते हैं। पशु पालकों के पास सुदीर्घ बाड़े हैं। असंख्य गोधन है। योजनों तक फैली गोचर भूमि है। उद्द्योगों की भी कमी नहीं है। प्रत्येक घर में कोई न कोई उद्द्योग हो रहा है। वे सागर तट पर बसे हैं, विभिन्न व्यापारियों से कर लेते हैं। सागर के वक्ष पर उनकी बड़ी-बड़ी नौकायें और जलपोत चलते हैं। उनके पास अपार सैन्य-शक्ति है। उन्हें किसी का भय नहीं।” (कोहली, महासमर 204)

यादवों की इसी मानसिकता का सत्य कृष्ण सुभद्रा को भी कहते हैं। सुभद्रा भी आश्चर्यचकित है, जिस कृष्ण के अथक प्रयासों के कारण यादव इस मुकाम तक पहुंचे हैं उन्हीं की अवहेलना वह कैसे कर सकते हैं ? वह अपने भाई, कृष्ण की, देवत्व की अवहेलना से दुखी है। कृष्ण समझाते हुए कहते हैं, “मनुष्य जब पीड़ित होता है, दुखी होता है, प्रवंचित और प्रताड़ित होता है, तो उसमें न्याय, धर्म, समता, त्याग, बलिदान इत्यादि की आकांक्षा प्रबल रूप से जगती है। यह आकांक्षा उसके मन से अन्याय, अत्याचार, भोग इत्यादि के भावों को निष्कासित कर देती है। उसके रजोगुण और तमोगुण तिरोहित हो जाते हैं; शेष रहता है केवल सतोगुण !

उसका सत्व उसे पवित्र बनता है।.. किन्तु जब वह समर्थ हो जाता है, संसार का भोग उसके पास संचित होता है, धन सम्पत्ति आ जाती है; तो उनके साथ-साथ रजोगुण और त्मोनुमुखी रजोगुण संचित होने लगते हैं। सत्य बहिष्कृत और निष्कासित होने लगता है। अपने भीतर सत्व न हो तो मनुष्य सत्व की ओर आकृष्ट भी नहीं होता। देवत्व से मनुष्य को भय लगने लगता है, क्योंकि देवत्व भोग, संचय और अधिपत्य का समर्थन नहीं करेगा। ..धन, शक्ति और सत्ता का मद, व्यक्ति को सात्विक कैसे रहने दे सकता है ! शत्रुओं के दमन और त्याग से यादवों को लाभ हो रहा था, उन्हें सांसारिक उपलब्धियां हो रही थीं। अब वही देवत्व उनसे त्याग और आत्म दमन की अपेक्षा कर रहा है। तो उन्हें वह देवत्व कैसे प्रिय हो सकता है।” (कोहली, महासमर 5,133)

क्या कहना चाहते हैं कृष्ण ? उनके अक्लांत प्रयासों से ही तो यादवों का इतना विकास हुआ। उन्हीं की योजनाओं के कारण ही तो घर-घर में समृद्धि हुई। यादवों ने अपने अथक परिश्रम से अपने आस-पास शक्ति का वातावरण तैयार किया। अधर्मी एवं दुष्ट शक्तियों और आततायियों से अपनी रक्षा के लिए वह सब सक्षम हुए। तो क्या समृद्धि नहीं चाहिए ? या शक्ति नहीं चाहिए ? या विकास में कहाँ कोई चूक है ? यही प्रश्न हैं कृष्ण से अर्जुन के भी। कृष्ण अब जो समझाते हैं वह है मानव-मनोविज्ञान--वे कहते हैं, “यही तो सृष्टि का रहस्य है। आततायी के भय से मुक्त होकर मनुष्य स्वयं ही आततायी बनने की प्रक्रिया आरंभ कर देता है। अपने कष्टों से मुक्त होकर, वह दूसरों के कष्टों के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। दूसरों के शासन से मुक्त होकर वह स्वयं दूसरों पर शासन करने की आकांक्षा करने लगता है। तुम देखो, वैभव के आधिक्य के कारण मेरे परिवार में भी अर्जुन और दुर्योधन एक ही तुला पर तुलने लगे हैं।” (कोहली, महासमर 4,204)

कृष्ण युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ चाहते हैं क्योंकि वह धर्म की स्थापना के लिए उसे उपयुक्त पाते हैं। वह कहते हैं, “मैं संसार के हित की ही चिंता कर रहा हूँ धर्मराज ! इस युग में अधिकांश राजा, शासन के अधिकारी नहीं हैं। उन्होंने प्रजा पर आधिपत्य अवश्य जमा रखा है। हमें इस अधर्म पूर्ण, अन्यायपूर्ण आधिपत्य को



समाप्त करना है, और अधिकारीयों को अधिकार सौंपना है। आपके यज्ञ में जो राजा भृत्य के समान काम नहीं करेगा, संसार का बंधु मेरा यह सुदर्शन चक्र उस राजा के शरीर को कबंध बना देगा। .. और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मेरी इच्छा है कि आप मुझे विद्वान ब्राह्मणों और विप्रों के चरण पखारने का कार्य दें।” .....विप्रों के चरण धोना चाहते हैं अहंकार का ऐसा विगलन। विनय की ऐसी चरमावस्था। मानवीय सीमाओं और दुर्बलताओं पर ऐसी विजय कोई मनुष्य पा सकता है क्या ?” (कोहली, महासमर 4,305)

प्रकृति के नियम यही हैं सौन्दर्य को शक्तिवान, सत्य और शिवम् के भाव से पूरित होना। यही कृष्ण का सन्देश है। वह धर्म में सौन्दर्य खोजते हैं, वह दर्शन देते हैं मानवीय गुणों में, वह समष्टि का हित चाहते हैं, वह समृद्धि के शिखर पर बैठकर त्याग के लिए तत्पर होने को ही सुन्दरता का चरम मानते हैं। वह सब कला पूर्ण होने पर भी विनय की मूरत हैं, सबसे ऊँची गद्दी पर बैठ कर विप्रों, ब्राह्मणों के पाँव पखारने का मन रखते हैं। पराकाष्ठा है मानव को महामानव की राह पर चलने का जीवन-दर्शन देने की। मनोविज्ञान और सौन्दर्य और किसे कह सकते हैं ? अब किसे महत्व देंगे पद को अथवा प्रतिभा को ? क्या मनुष्य के जीवन में पद इतना महत्वपूर्ण हो सकता है कि सारी दुर्बलताएं उसके आवरण में धुलकर उसे महान बना दें ? क्या पद के साथ चरित्र के पूजनीय होने की आवश्यकता नहीं है? क्या अधिक महान बनाता है, मनुष्य को ? पद ! या उसकी योग्यता ?

## सौन्दर्य एवं सांस्कृतिक-सदाचरण का योग

तो तथ्य यह है कि व्यक्ति महान होता है अपने आचरण से, अपने सदाचार से। किन्तु यही व्यक्ति की घोर भूल है कि अपने अहंकार को पोषित करते हुए वह अपने वास्तविक अस्तित्व को भुला देता है। महासमर में अनेक बार युधिष्ठिर के माध्यम से इस द्वन्द को उपन्यासकार ने दर्शाया है। वह कितनी बार इस विचार की भूल-भुलैयाँ में जूझता है उसे लगता है कि ‘उनके चारों ओर एक भयंकर युद्ध चल रहा है। संसार में जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को लिए हुए एक

महासमर से जूझ रहा है। सैनिक युद्धों में तो घोषित शत्रुओं से ही युद्ध होता है, उन्हें ही पराजित करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु इस महासमर में वह सिवाय अपने, अन्य प्रत्येक जीव से युद्धरत है। वह सबको जय करना चाहता है, सबको पराजित करना चाहता है। वह विश्व में स्वयं को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करना चाहता है ..जब तक सबको, प्रत्येक जीव को, पराजित नहीं कर लेगा उसे संतोष नहीं होगा...अन्य लोगों को पराजित करने के प्रयत्न में वह अपने वास्तविक शत्रु को तो भूला बैठा है। अपने अहंकार को अपना मित्र समझ कर उसे अपने वक्ष से चिपकाये बैठा है।' यह वह मनोविज्ञान है जिसे मानव के मन की अंतरतम गहराई में धंसा पाया जा सकता है। व्यक्ति अपने मोह से और अज्ञानता से भरे अहंकार से मुक्त नहीं होता और जीवन के सत्य और सुंदर शिव से अनभिज्ञ रह जाता है।

तात्पर्य यह है कि अधिक समृद्धि और वैभव मानव के मन को अपने कार्य से भटका देता है, वह अपने लक्ष्य से हटकर अहंकार के दलदल में फंस जाता है। तो कैसा हो व्यक्ति का कार्य-आचरण ?..मानव को अपनी मनःस्थिति पर संतुलन और नियंत्रण रखते हुए ही आचरण करना, उसके सफल एवं उत्तम चरित्र का द्योतक है। यही कृष्ण भी कहते हैं और जीवन का सत्य भी यही है। यही धर्म चाहता है, यही अध्यात्म की पुकार है। मानव मन की यही सुन्दरता है; उसका यही धर्म है, कि वह संतुलित व्यवहार करे। यही ईश्वर की इच्छा है। जैसा कि कृष्ण कहते हैं कि धर्म को सबल होना चाहिए, उससे भय और त्रास का अनुभव हो। श्रद्धा और विश्वास की सबलता मिले जिससे। किसी को अधर्म का आचरण करते हुए भयभीत होना पड़े। ऐसा मनोविज्ञान हो, जो सहजता और सरलता को संभालकर मानवीय गुणों को तिरोहित न होने दे। कृष्ण कहते हैं, "मेरी आसक्ति केवल धर्म में है। मैं जानता हूँ कि यादवों ने यदि और ऐश्वर्य प्राप्त किया तो उसमें न उनका हित है न धर्म का। प्रेम को इतना संकीर्ण मत करो पार्थ ! कि वह मोह अथवा आसक्ति का पर्याय हो जाये। इसीलिए कहता हूँ कि शासन का अधिकार केवल उसे ही है, जिसे शासन में आसक्ति नहीं है, जो भोग के लिए, वैभव-विलास के लिए, अपने अधिकार और अहंकार के लिए शासन नहीं करता। शासन करता

है तो केवल धर्म-स्थापना के लिए, और धर्म के लिए निमिष भर में सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य त्याग सकता है।” (कोहली, महासमर 4,205)

तो यह है उत्तम मन का चरम विकसित मनोविज्ञान। जिसमें ग्रहण है तो सात्विक और आवश्यकता होने पर त्याग के लिये भी क्षण नहीं लगता। किसी भी मोह, आसक्ति और अहंकार के बिना त्याग के लिए तैयार मानव-मनोस्थिति, उच्च मनोविज्ञान का दर्पण है। यह होता है व्यक्ति का चरित्र, जिसे धर्मानुसार विकसित करके उच्च अध्यात्मिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा को प्राप्त किया जा सकता है।

ईश्वर प्रदत्त प्रकृति की सुन्दरता उसके उपयोगी स्वभाव परमार्थ के कारण सदैव ही सराहनीय, मनमोहनी एवं आकर्षण का केंद्र रही है। यह ऐसा नैसर्गिक सौन्दर्य है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन का एक अनुकरणीय मार्ग अपना सकता है। उपन्यासकार ने प्रकृति की सुन्दरता को बहुत आकर्षक एवं प्रभावी दृश्यों में प्रस्तुत किया है। लेखनी की प्रतिभा के साथ-साथ उनकी भाषा ने उपन्यास में यत्र-तत्र प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा बिखेरी है। एक बानगी प्रस्तुत है—(अर्जुन और कृष्ण)-  
“दोनों मौन थे, किन्तु वन में विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ अपनी प्रतिध्वनियों के साथ लुका-छिपी खेल रहीं थीं। थोड़ी देर में लगने लगा जैसे वह भी कोई नैसर्गिक संगीत था, जिसमें अलौकिक लय थी। तुम्बरू के शिष्य, यह सब कुछ सीखते थे, यहाँ के जीव-जंतुओं और वनस्पतियों को यह सब सीखना नहीं पड़ता था। लोग संगीत सुनने के लिए एकत्रित होते थे, किन्तु यहाँ कोई सुनने वाला ही नहीं था। लगता था प्रकृति अपने लिए ही गा रही थी।” (कोहली, महासमर 4,230)

कितना संगीत भरा है सौन्दर्य में ! कौन सुन पाता है इस लय को ? अवश्य वह, जिसके अंतर में संवेदना है, अनुभूति है, स्नेह है, मानवीयता है, और है प्रकृति के प्रति कृतज्ञता। इस कृतज्ञता के भाव के कारण ही मनुष्य क्या से क्या बन सकता है। मयदानव जैसा कलाकार जो उत्कृष्ट निर्माण-कला में कुशल था, वह तक्षक की योजनाओं के तहद किन्ही युद्ध सम्बन्धी प्रसादों का निर्माण अवश्य कर बैठा किन्तु कलाकार का लक्ष्य अपनी कला द्वारा विध्वंस न होकर सृजन ही होता

है। और इन्द्रप्रस्थ के राज्य में इसी कला का लाभ उठाने के लिए कृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हैं। जिस मयदानव को उसके निरपराधी होने पर अर्जुन ने छोड़ दिया था। वह कृतज्ञ है, और कृष्ण कहते हैं कि कृतज्ञता का मनोभाव व्यक्ति से उत्कृष्ट कला का कार्य संपन्न कराता है। उसका निर्माण उसके मनोविज्ञान की आत्माभिव्यक्ति हो जाता है। कृष्ण मानव-मन की सूक्ष्मताओं को बेहद संजीदगी से कहते हैं कि यदि व्यक्ति विडम्बनाओं के बीच से, मृत्यु के बीच होकर उसकी भयावहता को देख लेता है और उसमें से निकल कर मुक्ति पाता है तो उसकी कृतज्ञता और संवेदना उससे निर्माण का उत्कृष्ट कार्य करवाती है। तभी तो अर्जुन के आश्चर्य पर कृष्ण मुस्कुराते हुए कहते हैं कि, “मैं तो विनाश में से निर्माण की बात सोच रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मयासुर ने खांडव वन में साक्षात् मृत्यु को अपनी आँखों से देखा है और अपने प्राणों में उसका त्रास अनुभव किया है, इसलिए उसके लिए सौन्दर्य के सृजन और जीवन के माधुरी का महत्व कहीं अधिक बढ़ गया है। इस समय वह जो निर्माण करेगा वह सचमुच अद्भुत और असाधारण होगा।” (कोहली, महासमर 4,246)

कितना आश्चर्यजनक सत्य कह रहे हैं कृष्ण। मृत्यु के बीच उपजी जीवन की सौन्दर्यमयी निर्माण कला। प्रकृति भी तो कमल के पुष्प से यही सन्देश देने का प्रयास करती है। कितना भी विपरीत समय अथवा वातावरण हो, सौन्दर्य की कोंपलों को यदि अवसर मिले तो वह अपने सौरभ से उपवन को महका देती है। किन्तु केवल भवनों का सौन्दर्य ही अपने में सम्पूर्ण नहीं जब तक उसको देखने वाला दृष्टिकोण उसे मानवोचित स्थान पर प्रतिष्ठित न करे। आस पास फैली सुन्दरता व्यक्ति को मोहती है क्यों कि व्यक्ति सौन्दर्य का उपासक है, प्रशंसक है। लेकिन सौन्दर्य को अनुभूत करने वाली दृष्टि उसके मनोविज्ञान से परिचालित होती है। यदि उस सौन्दर्य को महसूस करना है तो उसका समष्टि के लिए उपयोगी बनाना होगा। यदि मोह अथवा आसक्ति के कारण सौन्दर्य को बंधन में बाँध लिया जाये तो वह व्यक्तिगत पूंजी बनकर संसार का कल्याण करने से वंचित रह जाती है। इसलिए सत्य को सौन्दर्य को समष्टि के लिए उपयोगी बनाकर प्रकृति ने एक दिशा की और इंगित किया है।

## संगीतमयी सौंदर्य की उच्च संवेदनात्मकता

कष्ट में सौन्दर्य की अनुभूति करना और कर्मठ होकर कर्तव्य और अपने लक्ष्य प्राप्ति में जूझकर लग जाना ही सुन्दरता को वास्तविक अर्थों में पाना है। दैनिक भास्कर के 10 सितम्बर 2018 अंक के, अभिव्यक्ति स्तम्भ में पढ़ा कि 'एशियाड 2018 में हैप्थलोन में स्वर्ण पदक विजेता एथलीट स्वप्ना बर्मन ने अपने दर्द को ही जीवन की प्रेरणा बना कर 'अभी नहीं तो कभी नहीं' के सिद्धांत के अंतर्गत ही अपनी पीठ और टखने के दर्द से मुकाबला किया। अपनी निराशा से उबर कर आशा और आस्था के मनोबल को एकत्रित कर जीवन की विजय का सौन्दर्य देश और स्वयम के गौरव को बढ़ा कर किया।' (बर्मन 8)

प्रकृति दिशानिर्देशक बन जीवन दायिनी गुरु की तरह अपनी विशेष ध्वनियों से हर क्षण मानव को कोई न कोई सन्देश दे रही है। जीवन के सांसारिक उहापोहों से विरत होकर भी एक अन्य जीवन है, जिसका सौंदर्य स्वयं सृष्टि कर्ता की उपस्थिति की अनुभूति है। एकांत में प्रकृति उसी सत्य, शिव व् सुंदर का दर्शन देती है, जिससे अध्यात्मिक अंतः प्रज्ञा को जागृति मिलती है। अर्जुन देवास्त्रों की कामना से इन्द्रलोक में जाने के लिए हिमालय के सुदूर वनप्रदेशों में विचरता, प्रकृति के अनुभवों को महसूस करता हुआ, किसी और संसार का विचरण करता है। लेखक ने इस सौंदर्य विवरण को बखूबी शब्दों में उडेला है- "मानव-संपर्क से मुक्त हो, जब वह शुद्ध प्रकृति के संपर्क में आता था, तो जाने क्यों अपने-आप उसका मन ईश्वरोन्मुखी होने लगता था। यह सारी प्रकृति, चाहे वह हिमाच्छादित पर्वत-श्रृंग हों, अथवा आकाश की और हाथ उठाये हुए ऊँचें-ऊँचें हरे-भरे देवदारु के वृक्ष हों, कलकल ध्वनि करती, इठलाती हुई जलधाराएँ हों अथवा अचल निर्वाक चट्टानें; कुसुमों से सुगन्धित घाटियाँ हों अथवा मेघों का क्रीडा-क्षेत्र सुनील स्तब्ध आकाश ..यह सब कुछ अर्जुन को सृष्टा का ही स्मरण कराता है। कभी-कभी तो उसे लगने लगता था कि यह सृष्टा की सृष्टि मात्र नहीं है, सृष्टा ने स्वयं ही लीला के उन्माद में ये विभिन्न रूप धारण कर लिए हैं। सृष्टा कहीं इनके पीछे नहीं छिपा, इनके माध्यम से

प्रकट हुआ है, तो यह प्रकृति, स्वयं ईश्वर है। इसीलिए तो मनुष्य को इस सुंदर और स्वच्छ प्रकृति में अपनी जननी का रूप दिखाई देने लगता है। माता प्रकृति ही मनुष्य को जन्म देती है, वही उसका पालन-पोषण और विकास करती है ..और जब मनुष्य अपने शरीर से असमर्थ हो जाता है, तो उसे अपनी गोद में समेटकर, पुनः नया शरीर दे देती है.. जब ईश्वर, प्रकृति के रूप में माँ बनकर, जीव के इतना निकट रहता है और विधाता बनकर, अदृश्य डोरों से उसका नियंत्रण करता है, तो मनुष्य व्यर्थ ही मोह में पड़कर, इतने अनर्थ क्यों करता रहता है ?” (कोहली, महासमर 5,143)

अर्जुन का, इस प्रकृति के सौंदर्य और उसकी दिव्यता के विषय में अनुभव कितना ओजस्वी है। इसी प्रकृति के सत्य को जान लेने के पश्चात् भी मानव-मस्तिष्क अपने मनोविज्ञान से कैसे हारता है ..आगे के विवरण में अर्जुन यही अनुभूति करता है -..“मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत थोड़ी हैं; किन्तु वह संग्रह बहुत अधिक करता है। यह संग्रह उसक किसी काम का नहीं है। कभी तो उसकी आयु पूर्ण हो जाती है; और कभी जीवित रहते हुए भी वह उसका भोग नहीं कर सकता। तब वह सूक्ष्म रूप से उसका भोग करना चाहता है..भावना के रूप में, ..मनुष्यों में अपने और पराये का विभाजन करता है; और जिन्हें अपना मानता है, उनके लिए भोग का प्रबंध करता है..कहीं वह ममत्व को भोगता है, कहीं अधिकार को; और कहीं अहंकार को। वह मोह में और गहरा धंसता जाता है।” (कोहली, महासमर 5,143)

यही भोग तो धृतराष्ट्र अपने और पराये के भेद में अपने पुत्रों और भाई के पुत्रों के बीच करता है, और संग्रह की, लोभ की, स्वार्थ की माया में, अपने धर्म से डिग कर अधर्म के मनोविज्ञान के रास्ते में धँसता जाता है।

प्रकृति स्वयं अपने सौंदर्य का ख्याल करती है अथवा विनाश करके जीव को सचेत करती है। कृष्ण की बात सत्य है कि मृत्यु की भीषणता देखकर ही जीवन की सुन्दरता का आभास होता है। जापान देश के हिरोशिमा एवं नागासाकी नगरों

का विनाश और पुनर्निर्माण इस बात का साक्षी है। अभी हाल ही में केरल राज्य का जो हाल है वह किसी से छिपा नहीं। इसी केरल को देख कर एक बार कवि सुनील राजगोपाल ने कहा था, 'यहाँ केवल वे लोग रहते हैं, जिन्हें दुआएँ मिली हैं। क्योंकि ये मछली के आकार की भूमि है, जो विशाल समुन्द्र और उदार पहाड़ों से घिरी है। इसमें नदियों की कल-कल और भरपूर हरियाली है। यहाँ की बारिश आनन्दमयी है। यह स्पष्ट रूप से उदारता की भूमि है।' और यही वजह है इसे 'ईश्वर की भूमि' कहा जाता है। किन्तु पिछले कुछ दिनों से इस ईश्वर की भूमि यानि केरल के कोच्चि जिले में बने कलेक्टर ऑफिस के पहली मंजिल पर बने दो कमरों में लगातार कुछ गतिविधियाँ चल रही हैं। करीब बिना चेहरे वाली आवाजों को लगभग चिल्लाते हुए सुना जा सकता है, 'और कितने फसों हैं?', क्या हुआ?, कितने घर हैं?' ऐसे ही प्रश्न बार बार पूछे जा रहे हैं। अगस्त महीने की शुरुआत से ही केरल तेज़ बारिश से जूझ रहा है। जिसका नतीजा ये हुआ कि यहाँ भयंकर बाढ़ आ गयी। यह बाढ़ राज्य में सैकड़ों जाने ले चुकी है और संपत्ति को भारी नुकसान हुआ है। पूरे राज्य में बने राहत केन्द्रों के अलावा कन्जिकुझी गॉव में रॉकी ने अपने मालिक के पूरे परिवार की जान बचाई। 9 अगस्त को जब पूरा परिवार सो रहा था तभी रॉकी जोर-जोर से भौंकने लग गया। रॉकी के मालिक ने दरवाजा खोल कर यह देखा कि सब ठीक है? तो उसे एहसास हुआ कि जमीन खिसक रही है और उनका घर बस ढहने ही वाला है। वे तुरंत अंदर गये और अपने परिवार को बाहर निकलने को कहा। जैसे ही उनका परिवार बाहर आया, घर भू-स्खलन से ढह गया। एक महत्व पूर्ण बात यह है कि दक्षिण के वेस्टर्न घाट इकोलौजी एक्सपर्ट पैनल को गाडगीळ समिति ने केरल के मानसून से प्रभावित ज्यादातर क्षेत्रों को इकोलौजिकाली-सेंसिटिव जोन के रूप में क्लासिफाईड किया था। इस समिति ने कुछ खास क्षेत्रों के अंदर खनन-उत्खनन, गैर-वन्य गतिविधियों के लिए जमीन के इस्तेमाल व ऊँची बिल्डिंगों के निर्माण पर प्रतिबंध लगाने की सिफारिश की थी। 2011 में यह रिपोर्ट केरल सरकार को सौंपी गयी थी, जिसे केरल सरकार ने खारिज कर दिया था। आज गाडगीळ समिति की इस रिपोर्ट से बिना किसी संदेह के यह साबित हो गया है कि

भू-स्खलन के लिए खनन प्रमुख कारण है। एक साल पहले इसी राज्य से कुत्तों को मारे जाने की तस्वीरें खबरों में आयी थीं। क्योंकि कुत्तों के द्वारा लोगों को काटे जाने की संख्या में बढ़ोतरी हो रही थी। अगर हम इस बात पर यकीन करें कि जमीन का हर टुकड़ा, प्रकृति और जीवन का हर अंश ईश्वर की रचना है, तो हम मनुष्यों के पास उनमें बहुत ज्यादा परिवर्तन करने का अधिकार नहीं हैं। अन्यथा नदियाँ गुस्से से सूख जाएँगी या अपने बन्धनों को तोड़ देंगी जबकि जंगल उन्हें बहने के लिए रास्ता देने लगेंगे। अफ़सोस! केरल में यही हो रहा है। फंडा यह है कि कभी भी अपनी दुआओं, आशीर्वादों को न भूलें और टिकाऊ विकास के लिए ईश्वर से मिले उपहार को और समृद्ध करें।”(रघुरामन 8)

वस्तुतः जीवन में प्रकृति अथवा ईश्वर द्वारा प्रदत्त जो सौंदर्य है उसको देखभाल की आवश्यकता है उसका अनुप्युक्त प्रयोग प्रकृति की रुष्टता को आमंत्रित करना है। इसलिए उसके सदुपयोग का ढंग हमें सीखना ही होगा। तभी सृष्टि की सुन्दरता बरकरार रह पायेगी। प्रकृति की विराटता और उसकी महानता के बारे में युधिष्ठिर कहते हैं, “प्राकृतिक सौंदर्य का अर्थ है, ईश्वर का प्रकट रूप ! ईश्वर के निकट रहने से बढ़कर, जीवन की सार्थकता और क्या हो सकती है ?” (कोहली, महासमर 5,229)

प्रकृति ने आसपास फैली सुन्दरता के अतिरिक्त मानव के मन में बैठे मनोविज्ञान को भी अपने वरदान से सुन्दरता प्रदान की है। किसी के मनोविज्ञान के बारे में बात करते हुए उसके मनोभावों के सौन्दर्य की ही चर्चा होती है। मनुष्य बहुत से निर्णय करता है। वह सब निर्णय उसके स्वयं के नियंत्रण में नहीं होते। श्री कृष्ण का गीता का उपदेश भी यही कहता है कि मनुष्य के हाथ में सिर्फ कर्म हैं बाकी सब प्रकृति के नियम निर्धारित करते हैं। मनुष्य के अंतर्मन के भीतर भी कहीं प्रकृति अपने फैसले करती जाती है। यदि मनुष्य प्रकृति के निकट रह कर अपने पर नियंत्रण करना सीख ले तो उसकी आवश्यकताएं इतनी कम रह जाती है कि उनकी पूर्ति स्वयं प्रकृति ही करने लगती है। वायु, जल, आतप और मिट्टी-क्या वे स्वयम



ही मनुष्य की आवश्यकताएं पूर्ण करने में सक्षम नहीं ? हाँ शरीर की आवश्यकताएं तो पूर्ण होंगी, किन्तु लोभ, वासना और तृष्णा की आपूर्ति प्रकृति द्वारा संभव नहीं होगी। प्रकृति का सानिध्य न केवल शरीर के शांत होने का वरन मन का भी आरोहण अनुभूत कराता है। प्रकृति की निकटता जैसे संसार के भौतिक संसाधनों से असम्पृक्त कराती है। आत्मा उदात्त और उन्मुक्त हो जाती है। एक शांत अनुभूति जैसे उसके नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ तादात्म्य कर लेती है।

वनवास आरंभ करते ही, दंडक वन में पहुँचने पर पांडवों को उत्पाती आंतक मचाने वाला किर्मीर मिलता है, जिसका वध भीम के हाथों होता है। ऋषि मैत्रय इस बात को कहते हैं कि किर्मीर की मृत्यु से, दंडक वन से अव्यवस्था और अशांति का भय समाप्त हुआ। भीम आश्चर्य से हँसता है कि क्या किर्मीर से उत्पात था। तो ऋषि एक बहुत सारगर्भित बात कहते हैं, 'जिसमें प्रकृति के सौन्दर्य का उसके मनोविज्ञान का रहस्य भरा है। उनके अनुसार, "उत्स तो एक ही होता है। गंगोत्री को देखकर, तुम यह कल्पना नहीं कर सकते कि गंगा-सागर से देव-सरिता, गंगा का क्या रूप होगा। जो सत्य पुण्य का है वही पाप का भी है। किर्मीर तो उत्स मात्र था। उसका आश्रय पाकर इस क्षेत्र में स्थान-स्थान पर आततायी और हत्यारे उत्पन्न हो गये थे। परिणामवश यहाँ की शांति भंग हो गयी थी।" (कोहली, महासमर 5,30)

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रकृति ने सबको एक ही उद्गम से उत्पन्न किया है किन्तु उसका रास्ता आगे जा कर किस ओर बढ़ता जाता है और वह किस दिशा की ओर चल पड़ता है। अर्थात् सृजन के समय सब एक ही स्रोत से आ रहे हैं और आगे जा कर वही गंगा के जैसे उद्गम से उत्पन्न मानव मन कहाँ अपने कर्म की दिशा को मोड़ कर किस वृत्ति को दर्शाता है, उसका दृष्टिकोण और मनोविज्ञान तय करता है। यही सत्य ऋषि मैत्रय कहना चाहते हैं। यह तथ्य आगे अध्यात्म से जाकर मिल जाता है। जैसा धौम्य मुनि भी प्रकृति के नियम, उसके सौन्दर्य और मानव मन के निर्णय के लिए युधिष्ठिर को कहते हैं, "जहाँ धरती है और सूर्य है, वहाँ ताप भी होगा, वर्षा भी होगी..मनुष्य चाहेगा तो अपने श्रम और प्रकृति की

कृपा से, उसे अपनी आवश्यकतानुसार अन्न प्राप्त होगा ही..वह उसे व्यर्थ नष्ट न करे, संभल कर चले, तो न कभी उसका भण्डार खाली होगा, न भांड.।” (कोहली, महासमर 5,19)

## मनोविज्ञान का प्रभाव

जिन वृत्तियों को जन्म के समय मानव लेकर उत्पन्न होता है उसके दो ही रंग हैं, देव-वृत्ति और पशु-वृत्ति, अब उसने किस वृत्ति को आश्रय देकर अपने भांड को भरना अथवा खाली करना है, यह उसका ज्ञान-मनोविज्ञान ही तय करता है। किन्तु सत्य तो यही है कि उसका उत्स सामान है, उसके उद्गम में कोई भेद प्रकृति ने नहीं किया। और प्रकृति परमार्थ से भरी है। यह कार्य भिन्नता मनुष्य के कर्म से नियत होती है, और परिणाम भिन्न हो जाते हैं। प्रकृति तो भर कर देने को तत्पर है, लेने वाले का निर्णय भी तो अनुकूल हो ! ऋषि मैत्रय यही कहते हैं, प्रकृति की तरह जिसमें तेज होता है, वह अन्याय को सहन नहीं करता, अतः पांडवों को मिली इसी शक्ति का भंडार खाली नहीं होना चाहिए। वह भीम को कहते हैं, “ईश्वर ने तुम लोगों को यह शक्ति और युद्ध-कौशल व्यर्थ ही नहीं दिया है। इसके पीछे प्रकृति की प्रेरणा है, एक योजना है। उस संकेत को समझो। स्वयम को उसका उपकरण मानो। तुम्हारे हाथों शायद आर्यावृत में शांति स्थापित होगी।” (कोहली, महासमर 5,31)

भारतीय सांस्कृतिक आस्थाएं एवं मान्यताएं जीवन का यही सत्य उद्घाटित करती हैं कि सब कुछ पूर्व-लिखित है। तो आश्चर्य क्यों ? यदि सर्व-कल्याणकारी है, तो प्रसन्न बदन उसका निमित्त बनने में सौभाग्य मान लेना चाहिए। प्रकृति के निर्णयों की अवहेलना उसके रौद्र रूप को आमंत्रण देना भी हो सकता है। उसके सौन्दर्य का विनाश भी हो सकता है।

गंगा का उद्गम, प्रकृति के नियम, मानव की वृत्तियां, उसका मनोविज्ञान और उसके निर्णय—ये सब अंततः किन्हीं परिणामों तक तो पहुंचाएंगे ही। तो कौन करता है यह निर्णय? कौन इनकी दिशा बदलने का प्रयास करता है। एक

मनोवैज्ञानिक उदाहरण से प्रस्तुत है। धृतराष्ट्र जन्मांध है। नियमानुसार उसे राजा नहीं बनाया जा सकता। राजगद्दी पर पांडु का अधिकार होता है। किन्तु किन्हीं अन्य शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से पांडू वन में तपस्या के लिए चला जाता है। अब राज्य का कार्यकारी राजा धृतराष्ट्र है। जीवन भर वह राजा न होने पर भी राजा होने का सुख प्राप्त करता है। किन्तु वह कभी राजा नहीं रहेगा इस बात से ही वह क्लान्त हो जाता है। वह भयभीत है कि उसका सिंहासन उससे कहीं छीन न लिया जाये। लोभ और मोह की विद्रूपता तो यहाँ तक है कि वह अपनी मृत्यु उपरांत भी सिंहासन पर अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहता और आश्वस्त होना चाहता है कि सिंहासन पर बैठने और राज्य करने का अधिकार उसके पुत्र को ही मिले। वह अपने लिए एक ऐसी दुनिया की सृष्टि चाहता है जिसमें सुख ही सुख हो। किन्तु आह रे, मानव मनोविज्ञान ! वह सत्य की ओर से आँखें मूंद कर किस ओर मुख कर के बैठ जाता है, इसका उसे खुद ही पता नहीं हो जैसे। जानते हुए अनजान बन जाना इसी को कहते हैं। धृतराष्ट्र के साथ भी तो ऐसा ही होना था फिर ! वह सत्य से अनभिज्ञ नहीं किन्तु सत्य को मानना नहीं चाहता। वह आशंकित है अपने प्रतिकूल एहसासों से। कितना भी मुहं छुपा कर बैठ जायें किन्तु सत्य का दर्पण अपने तेज प्रकाश से आँखों को चौंधिया देता है। पांडव वन में जा चुके हैं किन्तु धृतराष्ट्र के मन का डर वन नहीं जा सकता। वह अपने उहापोहों में उलझा है।...‘धृतराष्ट्र ने अपने लिए जिस सुख की कल्पना की थी, वह सुख कहीं नहीं था। वह समझ नहीं पा रहा था कि जिन पांडवों के अपने निकट होते हुए, उसे किसी प्रकार का कोई भय नहीं था, उन्हीं पांडवों के दूर वन में जाने के कारण वह इतना भयभीत क्यों है? ऐसा क्या था कि जो पांडवों के सन्मुख उपस्थित होकर, उसे तनिक भी भयभीत नहीं करते थे, वे ही अपनी अनुपस्थिति में उसके लिए, मृत्यु के समान भयंकर हो गये थे। उसे रात में नींद नहीं आती थी। नींद आ जाये तो भयंकर स्वप्न दिखाई पड़ते थे। उसके सन्मुख रक्त-स्राव भीम का बिम्ब प्रकट होता था...(दुर्योधन और दुश्शासन को मारता हुआ)...धृतराष्ट्र इन विचारों, दृश्यों और आकृतियों को अपने मस्तिष्क से झटक देना चाहता था, किन्तु वह सब जैसे उसके मन से चिपककर रह गया था। वह स्वयं को समझाता था...किन्तु यह सारा सोचना समझाना और स्वयं

को सांत्वना देना उसे तनिक भी आश्वस्त नहीं कर पाता। सारा आत्म-प्रबोधन निष्फल था। ...” (कोहली, महासमर 5,33)

क्या डर है ? और क्यों डर है ? क्यों मनुष्य अपने सुख की कामना करते हुए, अन्य के सुख की बलि लेने में ऐतराज नहीं करता। और स्वयम के कार्य को ठीक कहने की दृष्टता भी करता जाता है। धृतराष्ट्र को पता है कि पांडवों के साथ अन्याय हुआ है। पर लोभ और मोह ने धृतराष्ट्र की अंतःप्रज्ञा को भी दृष्टिहीन कर दिया है। उसे सिंहासन का लोभ इतना है कि वह अधिकारी से उसका अधिकार छीनने से गुरेज नहीं करना चाहता। पांडवों का सब छीन लेने के पश्चात् भी वह उनके क्रोध अथवा प्रतिरोध के भाव से त्रस्त है। वह उनकी वीरता को जानता है, वह उनकी प्रतिज्ञाओं से भिन्न है। वह इस बात से भी भयभीत है कि वह महारानी कुंती को हस्तिनापुर में क्यों छोड़ गये हैं। उसके मन के भय उसे किसी तरह चैन नहीं लेने देते। वह आश्वासन चाहता है युधिष्ठिर से, वह आश्वासन चाहता है उनकी ओर से कुंती से, वह आश्वासन चाहता है महात्मा विदुर से कि पांडव अपने अधिकार के लिए कभी प्रयास नहीं करेंगे। वह अपने अधिकार को छोड़ने का वचन दे दें। भीम अपनी प्रतिज्ञाएँ कंही गंभीरता से नहीं लेगा। दुर्योधन और दुश्शासन का जीवन भय रहित है। कितना कुछ धृतराष्ट्र के मन में कौंधता रहता है।..विदुर सोचते हैं, “कितना स्वार्थी और अन्यायी है, यह व्यक्ति ! अपने पुत्रों को होने वाले कष्ट की कल्पना भी सहन नहीं कर सकता, और अपने भाई के पुत्रों की हत्या करवाने में भी तनिक संकोच नहीं है इसे !.. इस समय इस प्रकार व्याकुल है, जैसे संसार में इतना दुखी और पीड़ित और कोई हो ही नहीं..।” (कोहली, महासमर 5,36)

संसार में ऐसे दोहरे चरित्र वाले व्यक्ति सदा से ही बहुतायत में रहे हैं जिनका मनोविज्ञान दूसरों को अँधेरे में डाल देता है। विदुर जैसा ज्ञानी व्यक्ति भी धृतराष्ट्र के दोहरे व्यक्तित्व के विषय में सोचता है, ‘अपने शैशव से देखा है उन्होंने, इस धृतराष्ट्र को; किन्तु आज तक इसे समझ नहीं पाए। जब कुछ करने पर आता है, तो इतना दुस्साहसी प्रतीत होता है कि जैसे भय नाम की किसी वस्तु को जानता ही

न हो।.. और बाद में एक मूषक के समान, अपने बचाव का कोई मार्ग खोजता रहता है। विदुर भी निर्णय नहीं कर पाते कि वे इस भयभीत मूषक के प्रति करुणा प्रकट करें या उस क्रूर दुस्साहसी के प्रति अपना विरोध जताएं। जिस समय पाँचों पांडव अपने शस्त्रों के साथ सभा में वर्तमान थे और भीम एक-से-एक भयंकर प्रतिज्ञा करता जा रहा था, उस समय इस धृतराष्ट्र का एक रोम भी नहीं कांपा; किन्तु आज, जब एक भी पांडव यहाँ उपस्थित नहीं है, और उनमें से किसी के आने की कोई सम्भावना भी नहीं है, तो यह इतना व्याकुल हो गया है कि उसे सांत्वना की आवश्यकता पड़ने लगी है। ...उनके सामने बैठा व्यक्ति कुरु साम्राज्य का स्वामी, धृतराष्ट्र नहीं था। यह तो चौराहे पर बैठने वाला कोई भिक्षुक था, जो अपने पुत्रों की सुरक्षा की एक-एक कौड़ी पाने के लिए, अपनी झोली फैलाये, दाता को आशीर्वाद दे रहा था..।' (कोहली, महासमर 5,36)

कितना मनोवैज्ञानिक चित्रण है। व्यक्ति अपने सुखों के लिए दूसरे के सुखों की आहुति डालने से बाज नहीं आता और जब दूसरे के अधिकार और प्रतिकार की बात आती है तो भयभीत होकर आश्रय खोजता है। कहना अन्यथा नहीं होगा कि व्यक्ति जीवन के दोनों पक्षों के सत्य से अवगत होता अवश्य है, लेकिन अपने स्वार्थ के रहते, अपने अतिरिक्त, किसी और के पक्ष को ध्यान ही नहीं देता तो फिर वही बात है कि प्रकृति अपने नियम तो दोहराती ही है। और यह ही मनुष्य के दुष्कृत्यों के बाद उसके भय का कारण बनता है। किसी का अधिकार ले लेने के पश्चात् व्यक्ति को बहुत अच्छे से इस बात का ज्ञान होता है कि अगला व्यक्ति इसका प्रतिशोध नहीं तो प्रतिकार अवश्य करेगा ही। और उससे ही बचाव के प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति भिन्न भिन्न माध्यमों से अपनी सुरक्षा के आश्वासन चाहता है। ऐसे व्यक्ति धर्म के मार्ग से भ्रष्ट होते हैं, वह अधर्म की राह से अन्य लोगों के प्रति अन्याय और अनाचार करते भी नहीं घबराते, लेकिन जब उनकी अपनी सुरक्षा पर बात आती है तो वह डर कर आश्रय ढूँढते हैं। धृतराष्ट्र के डर के लिए कुंती कहती है, “धृतराष्ट्र ने पांडवों के साथ जो क्रूर व्यवहार किया है, उसके पश्चात् अब वह संभावित

प्रतिशोध की कल्पना से भयभीत रहेगा।..जो स्वयं भयभीत होता है, वही दूसरों को आंतकित करता फिरता है।” (कोहली, महासमर 5,45)

एक कमजोर मानसिकता वाला व्यक्ति जिसके अंतर में केवल तृष्णा ही है, उसमें न्याय-अन्याय का विचार नहीं है, वह भयभीत नहीं होगा क्या ? उसे अन्याय के बाद डर नहीं होगा क्या ? प्रकृति के नियम बलवान हैं। क्या वह अपना प्रतिकार नहीं लेगी ? मनुष्य के विपरीत मनुष्य की प्रतिक्रिया अपना तेज़ नहीं दिखाएगी ? तो यह डर मनोवैज्ञानिक हैं। सब पा लिया है, सब छीन लिया है। किन्तु वास्तविकता में क्या पा सका है ? यहाँ आवश्यकता है मूल्यों की, अपने स्थान की, अपनी पहचान की, अपने अस्तित्व की और स्व-कर्म की, जाग्रति की। तभी व्यक्ति अपने व्यवहार के और जीवन के सौन्दर्य को संभाल कर अपना विकास कर सकता है।

महासमर का एक और महत्वपूर्ण पात्र हैं द्रोणाचार्य ! वह अपना अधिकार न होते हुए भी महाराज द्रुपद से अपने लिए राज्य की कामना करते हैं। कृष्ण उनके मनोविज्ञान को भी एक द्वेष भाव से भरी मानसिकता वाला कहते हैं। वह द्रोणाचार्य के आदेश पर, पांडवों द्वारा दक्षिणा के रूप में जीते द्रुपद के राज्य को, द्रोणाचार्य द्वारा किया गया अपहरण मानते हैं। द्रोणाचार्य के विचार में वह उनका प्रतिशोध था। किन्तु कृष्ण के अनुसार प्रतिशोध तो तब होता यदि द्रुपद ने उनका राज्य छीना होता। उनका सम्मान अथवा धन छीना होता। कृष्ण के अनुसार तो द्रुपद ने तो द्रोणाचार्य के भरणपोषण का प्रस्ताव किया था। किन्तु द्रोण के अहंकार ने उसे अस्वीकार कर दिया। एक सामान्य से सत्य को अहंकार के कारण नकार देना और उन्माद में आकर अपनी शक्ति को दिखाना अनुचित था। द्रोण कृष्ण से वार्ता करते हुए प्रश्न करते हैं, कि क्या द्रुपद इस तथ्य को विस्मृत कर सकते हैं ? अपने प्रतिहिंसा एवं प्रतिशोध के भाव भूल सकते हैं ? कृष्ण बहुत सारगर्भित बात कहते हैं, “अपने अपराधों का परिमार्जन किये बिना तो किसी की प्रतिहिंसा शांत नहीं की जा सकती, आचार्य।” (कोहली महासमर 7,222)

द्रोण वीर हैं, गुरु हैं अपने आप में एक ज्ञानवान योद्धा हैं, किन्तु जब व्यक्ति कठिनाइयों एवं अभावों से डरकर समझौते करना आरंभ कर देता है, तो उसका मनोबल क्षीण हो जाता है। उसकी शक्ति का आधार धर्म नहीं रह जाता। ऐसे में वह विवश होकर अन्याय के साथ खड़ा होने को मजबूर हो जाता है। अभाव का डर द्रोण से भी यही त्रुटियाँ कराता है, और उन्हें उनके उच्च आसन से अपदस्थ करता जाता है। उनकी पत्नी कृपी का भी उनके इस आचरण के विषय में मत है कि, “जो व्यक्ति अपने सुखों के वंचित होने से डरता है, वह जीवन के सन्मुख कभी वीरता पूर्वक खड़ा नहीं हो सकता।” (कोहली, महासमर 2,153)

एक कमजोर मानसिक स्थिति वाला व्यक्ति समय आने पर न्याय की दृष्टि से नहीं, हानि-लाभ की व्यावसायिक दृष्टि से जीवन को तौलेगा। और यही द्रोणाचार्य ने किया। अंत समय में जब युद्ध के मध्य उन्हें सेनापति का उत्तरदायित्व मिला तो वह अपने जीवन एवं निर्णयों की समीक्षा करते हुए कितने ही प्रश्नों से जूझते हैं। किन्तु तर्क तो वही है कि समय रहते यदि निर्णय वांछनीय किये जाएँ तभी परिणाम भी वांछनीय प्राप्त होते हैं, अन्यथा अपने कर्म का भुगतान करना ही होता है। श्री कृष्ण इस सत्य को बारम्बार कहते हैं कर्म का अधिकार, कर्म का चुनाव, व्यक्ति के अपने हाथ है। किन्तु फल प्रकृति के नियमों के अधीन है उसमें व्यक्ति के मन की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का कोई भाग नहीं।

द्रोण केवल अपने लोभ और तृष्णा के विषय में ही विचार नहीं कर रहे उन्हें अश्वत्थामा से चर्चा करते हुए अपनी क्षमताओं का भी विचार आता है। वह अपने शब्दों में जो कुछ प्रकट करते हैं, उनसे मानव मनोविज्ञान की अनेक परतें खुलती जाती हैं, कहते हैं, “मैं युद्धाचार्य था, योद्धा नहीं। शस्त्रों के विषय में जानना और समरभूमि में अपने शरीर पर आघात झेलना, अपने शरीर को चिरवाना और दूसरे जीवित शरीर को चीरना दो भिन्न बातें हैं। सैधांतिक पक्ष का मैं ज्ञाता था, किन्तु युद्ध न कभी किया था, न देखा था। मनुष्य का रक्त बहाने के साधनों का मुझे ज्ञान था; किन्तु किसी का रक्त मैंने बहाया नहीं था। अपने शरीर से रक्त बहाने की तो मैंने

कभी कल्पना भी नहीं की थी। और जो केवल सिद्धांत की बात करता है, आवश्यक नहीं वह वीर भी हो, वह प्रायः भीरु होता है। वह किसी का संरक्षण पाकर सुरक्षित ढंग से अपना कार्य करना चाहता है। मैं भी भीष्म की छाया में सुरक्षित रहकर द्रुपद से प्रतिशोध लेना चाहता था। मैं उसे अपमानित और वंचित करना चाहता था; किन्तु अपना कुछ भी दांव पर लगाना नहीं चाहता था।” (कोहली, महासमर 8,10)

द्रोण का यह स्पष्टीकरण और स्वीकारोक्ति इस बात की पुष्टि करती है कि लोभ और अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनुचित साधनों का उपयोग करने से विचलित नहीं होता। उसे अपनी शक्ति का पता नहीं किन्तु ओरों की शक्ति का दुरुपयोग करने से वह चूकता नहीं। उसके लिए यदि उसे अन्याय का सहारा लेना पड़ता है तो वह हिचकता नहीं। किन्तु इस अहंकारी और द्वेष भरी मानसिकता का एक दिन तो परिणाम सहना पड़ता है। युद्ध में खड़े होकर, अर्जुन जो उनका ही शिष्य है, उससे लड़ने के लिए भी वह आश्वस्त नहीं हैं। उन्हें मालूम है कि अर्जुन उनका शिष्य है किन्तु उन्हें साथ ही यह डर है कि यह युद्ध है, और अर्जुन के साथ कृष्ण भी है। वास्तव में त्रुटियाँ करने वाला व्यक्ति अपने कष्ट से कितना घबरा उठता है ? एक और बात का भय द्रोणाचार्य के कष्ट का कारण था। वह भी धृतराष्ट्र की तरह पुत्र मोह से पीड़ित थे। उन्हें अपने प्राण अपनी समृद्धि तो गवाने का भय था ही। वह अपने पुत्र अश्वत्थामा के प्राणों के लिए भी मोहग्रस्त होकर चिंतित थे। वह अपने पुत्र के प्राणों की रक्षा चाहते थे क्योंकि उन्हें अपनी पुत्र आसक्ति के कारण उसके बिना जीवन का कोई अर्थ ही दिखाई नहीं देता था। वह जानते थे कि द्रुपद भी उनके किये प्रतिशोध का प्रतिकार लेकर रहेगा। द्रोण का मन इस समस्त सत्य को समझता है। अपनी वास्तविकता का उन्हें भान है। वे कहते हैं, “द्रुपद तो मुझे कदाचित क्षमा कर भी दे! किन्तु दृष्टधुमन, शिखंडी और द्रौपदी कभी क्षमा नहीं करेंगे। मित्र तो मेरा एक ही था, द्रुपद, किन्तु शत्रु तो उसका सारा परिवार है।



हम जब कर्म करते हैं, तो यह कल्पना भी नहीं करते कि उसके परिणाम रूपी रज्जू, भविष्य में हमें किन जटिलताओं में उलझा देगी। हम चाहेंगे भी तो मुक्त नहीं हो सकेंगे। कर्म तो भाग्य का ऐसा आलेख है, जो किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता।” (कोहली, महासमर 8,14)

द्रोणचार्य को सब ज्ञात है। एक ज्ञानी व्यक्ति के अन्याय का, अधर्म का निर्णय उसके कर्म में जुड़ता जाता है। जैसा कि वह स्वयं इस बात की पुष्टि करते हैं कि कर्म का बंधन कभी नहीं मुक्त करता। इसलिए वह जानते हैं कि दुर्योधन चाहे कितना भी अन्यायी हो, वह उसे चाहे कितना भी न चाहें, किन्तु अपने किये निर्णयों के कारण उन्हें उस पापी के आदेशों की पालना करनी ही थी। व्यक्ति की बुद्धि कोई भी कार्य करते समय उसे सचेत करती है, अवश्य। नहीं तो कष्ट के समय उसे अपनी गलतियों का पता कैसे लगता है? और वह क्षमा क्यों मांगता है? उसे सुख सुविधा के आगे अपने निर्णय का अधर्म अस्थायी रूप से विस्मृत हो जाता है, शायद ! तभी तो द्रोणाचार्य कहते हैं कि कर्म करते हुए व्यक्ति को पता नहीं लगता कि वह कर्म के रज्जू में स्वयं को बांध रहा है। क्रोध एक के प्रति होता है। एक के प्रति किया अन्याय कई गुना होकर उसके साथ बंध जाता है। अन्याय हुआ दुपद के साथ और शत्रु पूरा परिवार है। यह सत्य बहुत कुछ कहता है। धरती के वक्ष में बोया एक बीज कई कोंपलें बन कर ऊपर आता है। तो प्रकृति अपने नियमों से बहुत कुछ सन्देश देती है; किन्तु मानव की यह कमजोरी है कि वह समझते हुए भी अपनी दुर्बलताओं के अधीन हो जाता है।

अंतःजागरण के समय का पश्चाताप मानव को बहुत कष्टकारी पीड़ा से गुजरने को बाध्य कर देता है। यही पीड़ा अब द्रोणाचार्य को सता रही थी। धर्मज्ञ द्रोणाचार्य को धर्म-अधर्म के सारे रहस्यों का स्मरण आ रहा था। वह यह समझ रहे थे कि उनके कार्यों के परिणाम का समय आ चुका था। एक वैराग्य सा उनके मनोविज्ञान को घेर रहा था। उनके विचारों में, उनके मन में अजीब सा उद्वेलन उन्हें क्लेश दे रहा था। उनके अन्तर्द्वन्द को महासमर में बहुत मनोवैज्ञानिक विधि से स्पष्ट किया गया है। वे सोचते हैं, ‘दुर्योधन चाहता है कि द्रोण अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग

कर के प्रलय मचा दें। उन राजाओं पर इन देवास्त्रों का प्रयोग करें जो इनका परिचालन और निवारण भी नहीं जानते। कहाँ है धर्म? कहाँ है वीरता ? कहाँ है द्रोण का आचार्यत्व.. किसलिए प्रभु की बनी सृष्टि का नाश करें द्रोण ? केवल इसलिए कि पापी और अन्यायी दुर्योधन अधर्म पूर्वक यह युद्ध जीत सके ? उनकी सत्ता और लक्ष्मी हथिया कर उसका अबाध भोग कर सके ?.. आचार्य, राजा का कर्मचारी हो जायेगा तो राजा को अत्याचार से कौन रोकेगा ? उसके मद का प्रतिकार कौन करेगा ? .और यह सारा पाप क्यों करें द्रोण ?..क्या मिलेगा द्रोण को? राज्य ? सुख भोग ? सत्ता ? धन ? अहंकार ? किसी जीव को सागर में उतार दिया जाये तो वह अपनी क्षमता भर ही तो जल समेटेगा ? और फिर जीव हो या पात्र । काल प्रवाह में खाली हो जायेगा । ..अपनी पचासी वर्ष की वय में क्या भोग पाएंगे द्रोण ?..प्रकृति कैसी लीला करती है मनुष्य के साथ । कुछ उंचा उठना है, कुछ बड़ा बनना है तो अपने आस-पास के उपलब्ध सुखों की उपेक्षा कर, पहले स्वयं को वंचित कर, फिर आगे बढ़ना । और जब साधना का काल समाप्त हो जाये तो न भोग की वय रह जाती है न मनःस्थिति । ऋषि शासन की कामना करे ? कितना हास्यास्पद हो जाता है ? जहाँ, जब और जिस किसी भी स्थिति में भोग किया, उसका पतन आरंभ हो गया । दुर्योधन ने भी तो अपने आत्मा, मन, और हृदय में मल का पहाड़ संचित कर लिया है..तो छोड़ क्यों नहीं देते वे दुर्योधन को ? क्यों उसके पाप में भागीदार हो रहे हैं ? इस वय में उनके लिए सब सम्पत्ति यातना ही है । तो क्या वह सब अश्वत्थामा के लिए चाहते हैं ? वास्तव में..वे द्रुपद को डराने के पश्चात् खुद भी डर गये । उसका राज्य छीनकर, अपने राज्य के छिन जाने के भय के कारण हस्तिनापुर से चिपक कर रह गये । हर प्रकार के अन्याय को देखते हुए भी इस राक्षसी नगरी में जीते रहे । उसी दुर्योधन ने उनके पुत्र को संस्कार दिए, आज उसमें अपने पिता द्रोण जैसे आचार्य के पुत्र का तो एक भी संस्कार नहीं है ।...द्रुपद के एक शब्द 'आश्रय' से जगी प्रतिहिंसा के कारण आगे ही कम पाप नहीं हो चुका ।..अब यदि दुर्योधन की बातों में आकर अपनी क्षमता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अपने दिव्यास्त्रों से नरसंहार किया तो जाने इस पाप का परिणाम क्या होगा. ।' (कोहली, महासमर 8,206)

कैसा अब्दुत मनोविज्ञान है। व्यक्ति की जब व्यक्तिगत परीक्षा होती है तब उसे चेतना आती है, कि उसके हाथों अन्याय हुआ था। जब परिणामों का भुगतान उसे अथवा उसके पुत्र आदि को करना हो तो वह अपने लिए तर्क खोजने लगता है। द्रोणाचार्य भी तो जानते थे कि अपने मोह के कारण और द्रुपद के प्रति प्रतिशोध की भावना के कारण वह अधर्म कर के बैठे हैं। अपनी सुरक्षा के लिए हस्तिनापुर को अपनी आश्रयस्थली बना कर उसमे छुप के जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अब जब युद्ध का समय है और उनके उत्तरदायित्व का समय है तो वह धर्म के मार्ग की समीक्षा करने बैठे हैं। उन्हें अब मोह और भोग में कोई औचित्य नहीं दीखता क्योंकि उन्हें लगता है इस सबको आयु के इस पड़ाव पर, अब कितना और भोग सकते हैं। वह युधिष्ठिर के आश्रय में जाने का भी विचार करते हैं किन्तु द्रुपद और उसके पुत्रों और पुत्री की शत्रुता के कारण नहीं जा सकते।

अधर्म और अन्याय का साथ करने वाला व्यक्ति अंततः कितना निरीह और दुर्बल हो जाता है। वह अपने बचाव के बहाने ढूँढ़ता है। विनाश का भय व्यक्ति के मन में शमशान वैराग्य उत्पन्न कर देता है। यही वैराग्य युद्ध के मध्य खड़े होकर द्रोणाचार्य को होने लगा। उन्हें लगा इस संसार में क्या उचित और वांछनीय है इसका विचार समय रहते करना चाहिए था। अब इस युद्ध के बीच अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर के वह क्या उपलब्ध करेंगे ? और विचारने का विषय यह है कि क्या उपलब्धि होनी चाहिए? उनके नेत्रों के समक्ष अनेक ऋषियों के चित्र आने लगे। मन में एक ध्वनि गूंजने लगी, “किस मायाजाल में पड़े है ? क्या जीतना चाहिए और तू क्या जीतने का प्रयत्न कर रहा है ? शत्रुओं को ही मारना है तो अपने मन के अहंकार को मार, राग और द्वेष को मार। ..पाडवों को मत जीत, धर्म को जीत। राज्य, धन, सम्पत्ति, सत्ता और अधिकारों का संचय मत कर। धर्म को पाने के लिए सात्विकता का संचय कर। ..दूसरों के प्राणों का हरण मत कर, उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर। ..तेरा शत्रु तेरा अहंकार है। तेरे ज्ञान ने तुझे मुक्त किया या तुझे बन्धनों में बाँधा? ..जो सुख उस सच्चीदानंद में विलीन होने में है, वह मनुष्यों और पशुओं का रक्त बहाने में नहीं है।” (कोहली, महासमर 8,260)

जीवन के चार पुरुषार्थ है। और संस्कार के होने से व्यक्ति को इसका ज्ञान भी रहता ही है। किन्तु समय रहते वह इसका संज्ञान नहीं लेता। और पश्चात्ताप करता हैं। अंत में उसे जब इस का आभास होता है तो समय छूट चुका होता है। द्रोणाचार्य को अपने अहंकार का, अपने मोह का अनुभव जब हुआ। मृत्यु निकट थी। और जीवन की दुरुहताओं ने उन्हें उनके निर्णयों का आभास और उसका परिणाम जता दिया। ऐसा ही तो है कर्म बंधन। जिसे हमारे धर्म शास्त्र अपने निर्देशों—उपदेशों से बार बार चिन्हित करते हैं।

महासमर उपन्यास अपने कथानक में अन्यान्य चरित्रों द्वारा मन के झंझावतों का विश्लेषण करते हुए मानव को जीवन का दर्शन समझाता है। पूरे कथानक का एक-एक अंश जीवन की खुली पुस्तक है। उपन्यासकार कुंती के द्वारा अन्य चरित्रों के मनोविज्ञान की समीक्षा करता हुआ, जिन विचारों की ओर इंगित करता है वह आज भी उतने ही प्रासंगिक से लगते हैं। महारानी कुंती अपने उस विश्वास की बात करती है जो उसे अपनी आस्था, अपने धर्म पर है। वह किसी की तरफदारी नहीं करती, उसकी बातों का अधार धर्म है, तर्क है, मनोविज्ञान है, अधिकार की गूंज है, अन्याय के प्रति क्रोध है, न्याय का विचार है, और है प्रतिकार का भाव। वह विदुर को धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन के मनोविज्ञान की बात कहती है। वह हस्तिनापुर में रहने का अपना ध्येय भी कहती है। उसका अपना मन किस प्रकार उद्वेलित है, यह मनोभाव भी उसके शब्दों में झलकता है। उसके मुख से उपन्यासकार ने इस प्रसंग से जुड़े एक-एक पात्र का मनोविज्ञान स्पष्ट कर दिया है। 'वह जानती है कि गांधारी अपने पुत्रों के पक्ष में ही सदा समर्थन करती आई है, नारी होने के नाते वह नारी के सम्मान के कारण द्रौपदी के अपमान के लिए वह उन्हें क्षमा नहीं करेगी।' नारी के प्रति सम्मान का भाव न केवल उस समय मान्य था बल्कि आज भी इस बात का समर्थन पूर्ण मानव जाति करती है, और करना चाहिए। यद्यपि नारी युगों से सम्मान की हकदार होने के विपरीत अपमानित ही होती आई है। वही नारी जिसके लिए श्री गुरुनानक देव ने लिखा,

‘सो क्यूँ मंदा आखिए जित जम्मे राजान ।’

(गुरुबाणी, श्री गुरुग्रन्थ साहेब)

हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है,

“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त्राफलाः क्रियाः ।” (अथर्ववेद )

कुंती के शब्दों में इस तथ्य की महत्ता को उपन्यासकार कहना चाहता है। आगे कुंती दुर्योधन के लिए कहती है, उसे अपने सुखों से अधिक पांडवों के दुख से सरोकार है। ‘उसके जीवन का; लक्ष्य अपना सुख नहीं पांडवों की पीड़ा है।’ वह अद्भुत तर्क देती हुई बहुत स्पष्टता से युधिष्ठिर के मनोविज्ञान के बारे में भी अपने विचार कहती है। वह विदुर से कहती है कि युधिष्ठिर के निर्णयों के औचित्य पर संदेह है। उसे युधिष्ठिर का धूत के लिए हस्तिनापुर आना उचित नहीं लगा। वह प्रसन्न नहीं युधिष्ठिर के धूत के निर्णय से, वह युधिष्ठिर की पराजय से दुखी है और सबसे अधिक पीड़ित है द्रौपदी के अपमान से ! वह युधिष्ठिर के उदार स्वभाव से त्रस्त है। वह जानती हैं कि युधिष्ठिर वनवास के पश्चात् लौटने पर यदि धृतराष्ट्र उसका राज्य वापिस कर देगा तो वह दुर्योधन और उसके भाइयों को माफ़ कर देगा, और इस अपमान को भूल जायेगा। इस बात का कुंती को मलाल है, कि युधिष्ठिर ने न अपने अपमान का प्रतिरोध किया न अपने भाइयों को करने दिया। विदुर और पारसर्वा कुंती के इस कथन से आश्चर्यचकित हैं, कि क्यों कुंती ने हस्तिनापुर में रहने का निर्णय किया। वह और स्पष्टतः से कहती है, “इसीलिए मैं यहाँ बैठी हूँ हस्तिनापुर में! अपनी माँ को लेने तो वो आएगा। न वह अपनी माँ को त्याग सकता है, न कोई नई माँ खोज सकता है। इसलिए उसे हस्तिनापुर तो आना ही होगा। मुझे अपनी सुरक्षा की चिंता नहीं है। मुझे चिंता उस राज्य की है, जो पांडवों का है। इसलिए विदुर! मैं हस्तिनापुर में रुक गयी हूँ, ताकि दुर्योधन की दृष्टि के सन्मुख निरंतर बनी रहूँ। उसे याद दिलाती रहूँ कि उसने मेरे बेटों का राज्य छीना है। उसकी सम्पत्ति अधर्म द्वारा अर्जित है। मैं धृतराष्ट्र की चेतना में बनी रहूँ, ताकि

वह अपनी अंधी आँखों से मेरे पुत्रों के शस्त्रास्त्रों को देखता रहे और उसका मन भय से निरंतर काँपता रहे। मैं हस्तिनापुर में इसलिए रुकी हूँ ताकि क्रोध में आकर, घृणा से भरकर दुर्योधन अथवा उसका कोई सहायक मेरी हत्या कर दे। यदि दुर्योधन मेरी हत्या कर दे, तो फिर युधिष्ठिर भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अपना अपमान विस्मृत कर दे, अपने भाइयों और पत्नी का अपमान क्षमा कर दे; किन्तु अपनी माँ की हत्या की न वह उपेक्षा कर सकता है, न उसे क्षमा कर सकता है। और यदि युधिष्ठिर इस सीमा तक कायर हो जाये, कि अपनी माँ के हत्यारे को भी क्षमा कर दे; तो महावीर भीम और अर्जुन, दुर्योधन को कभी क्षमा नहीं करेंगे। मेरे नकुल और सहदेव इतने समर्थ न सही, किन्तु अपने प्राण देकर भी, अपनी माँ की हत्या का प्रतिशोध लेंगे।” (कोहली, महासमर 5,47)

युधिष्ठिर के धर्म आचरण और न्याय आचरण के विपरीत वह अपने अहिंसक स्वभाव के कारण अन्याय का प्रतिकार नहीं करना चाहते वह त्याग को महत्व देते हैं। किन्तु यही बात उनके आचरण को कायर या भीरु भी बनाती है। कुंती की तरह कृष्ण भी अपना उदाहरण देते हुए, युधिष्ठिर के लिए कहते हैं कि, “मुझमें आसक्ति नहीं है, इसलिए मोह भी नहीं है। मेरे लिए अस्तित्व और अनस्तित्व में कोई भेद भी नहीं है। अस्ति तथा नास्ति समान स्थितियाँ हैं। मैंने संबंधों के प्रति ममत्व नहीं पाला। कंस मेरे मामा हैं, इसलिए उनके अस्तित्व की रक्षा होनी चाहिए- ऐसा मोह मुझे कभी नहीं रहा। धर्मराज में आसक्ति अभी शेष है। वह दुर्योधन की रक्षा करना चाहते हैं, क्योंकि वह उनके अपने वंश का है। उनके मन में वंश के प्रति मोह है। वे अस्ति-नास्ति में भेद करते हैं। वे अभी करुणा तथा क्रूरता के मध्य खड़े हैं, उनसे ऊपर नहीं उठे; इसलिए अत्रिशंस्ता उनके लिए महत्व पूर्ण है।” (कोहली, महासमर 5,120)

मनोविज्ञान का कितना सटीक उदाहरण है। मानव मन किस स्थिति में क्या प्रतिक्रिया करता है यह बहुत सूक्ष्मता से देखना होगा। सुख हो अथवा दुःख। अनिवार्य रूप से इसमें स्थितियों का भी योगदान है किन्तु मानव मन का सुख-दुःख उसकी प्रवृत्ति पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ

वन —प्रस्थान कर गया है। उनके सब अधिकारों को उनसे छीन लिया गया, फिर भी धृतराष्ट्र भयाक्रांत हैं। क्यों ? क्योंकि सुख की परिभाषा किसी सुविधा के अधीन नहीं है, मन के संतोष और सरलता में है। जो पांडवों के पास तो है किन्तु धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास नहीं। वह इस बात को नहीं समझना चाहते। वह सुख से नहीं रह पाते क्योंकि उनपर पांडवों के प्रति किये अन्याय की चेतना का अहसास तो है। धृतराष्ट्र तो चाहते हैं कि पांडवों को अपने अधिकार भूल ही जाना चाहिए। किन्तु महारानी कुंती यही तो कहती है, वह उन्हें उनका अधिकार उनके प्रति किया अधर्म कभी भूलने नहीं देगी। मनःस्थिति से ही सुख दुःख का अहसास है। तभी तो ग्रहण के पश्चात् भी धृतराष्ट्र और दुर्योधन दुखी हैं और त्याग के पश्चात् भी पांडव सहज। धृतराष्ट्र का मन तो इतना कुत्सित और पाखंडी है कि वह सोचता है कि, “व्यक्ति का मन कैसा भी हो, कृत्य कैसे भी हों, उसकी संगति और उसका वेश तो साधुओं जैसा ही होना चाहिए।” (कोहली, महासमर 5,56)

कितना दिखावटी और पाखंडपूर्ण जीवन बिता रहा है व्यक्ति ! उसके अंतर्मन में क्या है और उसके बाहर क्या दृश्य है ? साम्य करना बेहद मुश्किल है। यही है मानव-चरित्र और उसका सूक्ष्म मनोविज्ञान।

कुंती के इस वक्तव्य से उसके मनोविज्ञान की, बुद्धिमत्ता की, उसके आत्म सम्मान की, तेज की, और ओजस्विता की बारीकी का पता चलता है। उसके मन में छिपे प्रतिरोध का उद्घाटन होता है। वह न्याय के लिए युद्ध को अनुचित नहीं मानती उसके लिए अन्याय का विरोध आवश्यक है। वह वास्तविक क्षत्राणी है। न्याय के लिए हथियार उठाने वाले योद्धा की वह समर्थक है। तभी वह युधिष्ठिर की क्षमा के विपरीत अर्जुन और भीम की वीरता और उनके द्वारा लिए जाने वाले प्रतिशोध की बात कहती है। वह नारी के अपमान से न केवल दुखी है वरन उसका प्रतिकार चाहती है। इतने नाराजगी भरे वक्तव्य को सुनकर विदुर कुंती से पूछते हैं कि जब अर्जुन और भीम प्रतिशोध लेने में सक्षम हैं और अपने अधिकाए पुनः प्राप्त कर सकते हैं तो कुंती उन्हें इस बात के लिए प्रेरित क्यों नहीं करती ? यहाँ कुंती के इतने कष्ट के समय भी कहे गये वाक्य उसकी मनोवैज्ञानिक अवस्था का विवरण

देने के साथ साथ उसके आत्म-संयम, आत्म-नियंत्रण और धर्म तथा संस्कृति पर उसकी आस्था को कहते हैं। वह कहती है, “यह माँ का धर्म नहीं है कि अपने पुत्रों को बड़े भाई की अवमानना सिखाये।” (कोहली, महासमर 5,47)

कुंती न केवल माँ है वरन वह एक तपस्विनी नारी है जिसमें न्याय का तेज है, युद्ध से पूर्व वह अपने पुत्रों को कर्ण के विषय में नहीं कहती, वह जानती है कि यदि कर्ण और अर्जुन युद्ध में आमने सामने होंगे तो किसी एक की पराजय और मृत्यु अवशम्भावी है। वह अपनी गरिमा, धर्म और न्याय का सौन्दर्य नहीं भूलती उसके लिए पुत्र प्रेम से अधिक बड़ा न्याय है। अपने पुत्र के रूप में कर्ण को अधर्म करने पर दण्डित करना वह न्याय समझती है। युद्ध के उपरांत जब युधिष्ठिर भीष्म से उनकी शरशैया के पास उनके दर्शन के लिए जाते हैं तो वह अपनी माँ के और कर्ण के सम्बन्ध में उन्हें कहते हैं, “माँ ने कहा कि पांचाली का अपमान करने पर कर्ण भी वध्य हो गया था। मेरा पुत्र था तो क्या ? एक पापी पुत्र की रक्षा करना मेरा दायित्व था या न्याय और धर्म की स्थापना के लिए, उसे और उसके मित्रों को यमराज को भेंट करना।” (कोहली, महासमर 8,522)

और किसे कहते हैं मनोविज्ञान और व्यवहार का सौन्दर्य। एक माँ के मन का मनोबल से पूर्ण निर्णय किसी धर्म की सिफारिश का मोहताज नहीं। कुंती माँ के साथ एक न्यायशीला नारी है जिसे आसक्ति ने नहीं, न्याय ने, आचरण की शुद्धता और सुन्दरता ने, उच्चता दी है। एक साधारण व्यक्ति भी इस बात का समर्थन करेगा कि अन्याय का विरोध हो और दोषियों को दंड अवश्य मिले। मानवता और मानव-अधिकारों की बात करने वाले आधुनिक विचारक भी अन्याय का विरोध अवश्य दर्ज करायेंगे। यद्यपि यह क्रोध कभी कभी गलत दिशा की ओर आकर्षित हो जाता है। किन्तु उसे ही तो थामना है। अन्यथा कौन समाज में सभ्य रह पायेगा और यदि सभ्यता नहीं, संस्कृति की सुन्दरता नहीं, अन्याय का प्रतिकार नहीं, तो फिर सुरक्षित ही कौन होगा ? उपन्यासकार कुंती के चरित्र से मानव मन का सहज विकास दर्शाता है। जीवन कष्ट और दुरूह राहों से भरा है किन्तु इन सब राहों के बीच भी संतुलित होकर निकल पाना और अपने संयम को संतुलित रखकर निर्णय कर



पाना बहुत मुश्किल है। किन्तु मनुष्य यदि चाहे तो किसी न किसी विधि से इस लक्ष्य पर डटा रह सकता है। यह भी सत्य है कि ऐसी परिस्थितियाँ कभी अनजाने-अनचाहे व्यक्ति को प्रभावित करती है।

मनोविज्ञान का एक और उदाहरण देखते हैं—निकट वर्तमान में एक फिल्म आई 'संजू', अभिनेता संजय दत्त के जीवन की कुछ वास्तविक घटनाओं को इसके कथानक में दिखाया गया है। कितना सत्य है यह तो निर्माता और निर्देशक अथवा स्वयं अभिनेता को ज्ञान है किन्तु फिल्म प्रदर्शन के पश्चात् बहुत से विचारकों ने इस पर अपने उदगार प्रकट किये। कुछ हट कर हुई घटनाएँ सोचने को विवश करती ही है। उनमें से एक विचारक प्रीतीश नंदी है जो वरिष्ठ पत्रकार और फिल्म निर्माता भी हैं, साथ ही संजय के मित्र भी हैं। उन्होंने दैनिक भास्कर के 2018 जुलाई अंक में लिखा, “उनकी जिन्दगी और व्यक्तित्व को परदे पर पकड़ना मुझे तो असंभव लगता है। इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन, उनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने ऐसी जिन्दगी जी है जिसका आकलन नहीं हो सकता। ...फिल्म कितनी भी अच्छी क्यों न हो, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह संजय की जिन्दगी की सतह को खुरच भी पाई हो।...दर्द ही हमारे अस्तित्व को परिभाषित करता है अत्यधिक दर्द और तकलीफ को अविचलित रहकर सहन करना ही किसी आदमी को आदमी बनाता है। न छपन्न इंच की छाती और न वह सारी मूर्खतापूर्ण बहादुरी जो हम परदे पर देखते हैं, इसका मुकाबला कर सकती है। शरीर को कमाल का सुगठित रूप देना संजय का आजीवन जूनून रहा है लेकिन, इस बौडी बिल्डिंग ने मुझे कभी प्रभावित नहीं किया। मुझे तो अविश्वसनीय यंत्रणाओं से गुजरने की उनकी योग्यता और सर्वाधिक कठिन वक्त में साहस, गरिमा और शिष्टता के साथ उसे जीने की उनकी प्रतिभा प्रभावित करती है। वे रोते हैं, बेशक हर असली आदमी की तरह। उनके आलोचक चाहे जो कहें मैं-चाइल्ड आदि बकवास बातें, पर वे बहादुर इंसान हैं। वे हर विनाश का सामना कर उससे उबरे हैं।.. वे अत्यधिक ईमानदार हैं। यदि आपको उनका दोस्त होने का सौभाग्य मिले तो आप मानकर चलिए कि वे आपको कभी नीचा नहीं देखने देंगे।” (नंदी 6)

बात केवल दुःख अथवा उसके अनुभव की नहीं, उसमे से किस प्रकार निकला गया, इस मनोविज्ञान की है। छोटा हो अथवा बड़ा कोई भी पात्र जीवन में अपने मन के सौन्दर्य के साथ ही तो उत्पन्न हुआ है। और यह सौंदर्य उसके सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक मूल्य तय करते हैं। इसी लिए तो कुंती उद्वेलित है, विरोध से भरी है, अपने पुत्रों के अधिकार से वंचित होने पर दुखी है, यह भी जानती है कि अर्जुन और भीम उस अधिकार को पुनः प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी उन्हें युधिष्ठिर (बड़े भाई) की अवमानना कर प्रतिशोध लेने के लिए नहीं कहती। यह मूल्यों का मनोवैज्ञानिक सौंदर्य ही तो है।

श्री नरेंद्र कोहली जी के अनेकों साक्षात्कारों एवं चर्चाओं में भाग लेते उनके विचारों को सुनने का अवसर मिला। निकट पिछले दिनों 14 सितम्बर (2018) को हिंदी दिवस पर फेस बुक पर हिंदी के विषय में उनका लाइव साक्षात्कार आ रहा था। साक्षात्कर्ता ने उनसे पूछा कि राम का पात्र आपने रचा। क्या उसे पढ़कर सब पर प्रभाव पड़ता है ? कोहली जी का बहुत गहरा उत्तर था, “अगर आप सोचते हैं, कि सब पर प्रभाव पड़ता है तो यह नामुमकिन है। हरेक व्यक्ति अपने जन्मजात गुण और प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है। उसका अपना एक विशेष स्वभाव होता है। तो उस स्वभाव में जिसे इन प्रवृत्तियों को ग्रहण करना है वह करेगा और जिन के अंदर यह गुण ही नहीं है वह इससे प्रभावित नहीं होगा। और अगर प्रभाव पड़ना इतना आसान होता तो रावण पर न पड़ जाता ?” (कोहली, फेसबुक)

यह मानव मन का मनोविज्ञान ही है कि जिस अद्भुत सरंचना के साथ वह जन्मता है, मानव उसी का प्रभाव लेता है, और वही उसके व्यवहार में दृष्टिगोचर होता है। धर्मानुकूल प्रभाव लेने वाले त्याग का महत्व जानते हैं, नरेंद्र कोहली जी ने जैसा उदाहरण दिया कि राम का चरित्र आदर्श पुत्र का, आदर्श भाई का और त्याग करने वाले व्यक्ति का चरित्र है। वह अयोध्या का राज्य त्यागता है, किष्किन्धा में बाली को विजय करने के उपरांत चाहते तो उस राज्य का आधिपत्य भी उनका था, किन्तु उसे त्याग दिया, रावण को हराकर लंका पर भी आधिपत्य उन्हीं का था। किन्तु उनका उद्देश्य क्या है ? धर्म का राज्य हो, सिंहासन पर बैठना उनका ध्येय

नहीं। श्री कृष्ण का जीवन भी तो यही सन्देश देता है, पद नहीं प्रतिभा का अधिक मूल्य है। वे चाहते तो मथुरा का राज्य उनका हो सकता था और द्वारिका का भी। किन्तु उनका भी क्या ध्येय था ? धर्म स्थापना का। यही बात बार-बार कथानक में अपनी सम्पूर्णता से महत्ता से उपस्थित है।

सुसंस्कृत और सदाचार स्वभाव के साथ साथ संसार में दुर्विचार और दुश्चरित्र आचरण वाले व्यक्ति भी इसी संसार से अपने ही स्वार्थ के अनुसार गलत प्रभाव ले लेते हैं। उनका मनोविज्ञान एक विकृत मानसिकता के रहते अधर्म और अन्याय का कार्य करने को प्रेरित हो जाते हैं। एक उदहारण है अश्वत्थामा का। युद्ध समाप्त हो चुका है। द्रोणाचार्य की युद्ध में मृत्यु हो चुकी है। कृपाचार्य एवं कृतवर्मा के साथ अश्वत्थामा प्रतिशोध की भावना से भरा और अपनी सुरक्षा के लिए वन में भटक रहा है। रात्रि का समय है, पेड़ों की ओट में वह तीनों आश्रय लेकर लेट जाते हैं। किन्तु अश्वत्थामा को नींद नहीं आती। वह आकाश की ओर देखते हुए अपनी समस्या का समाधान ढूंढता है, उसे ऐसा लगता है कि जैसे उसका समाधान वही है—“उसने देखा कि वटवृक्ष की शाखाओं पर कई नीड़ बने हुए थे। कदाचित वह कौओं के घोंसले थे। वे सब शांत मन से अपने घोंसलों में सो रहे थे। सहसा उसे उन घोंसलों से बाहर एक बड़ा सा पक्षी दिखाई दिया। अश्वत्थामा ने ध्यान से देखा; वह एक वृहदाकार उल्लू था।..यह यहाँ क्या कर रहा है ? उसने सोचा। वह बहुत सधे पैरों से एक शाखा पर चल रहा था। रुक रुक कर घोंसलों में झांक रहा था।...कोयल होती तो अश्वत्थामा समझ लेता कि वह देखने आई है कि उसने अपने जो अंडें कौवे के घोंसले में रख दिए थे, उनमें से बच्चे निकल आये या नहीं। पर यह तो उल्लू था ?... यह किसी भी पक्षी की साधारण गतिविधि नहीं थी। वह अवश्य ही किसी प्रयोजन से आया था।..और तभी उस उल्लू ने भयंकर शब्द किया और अत्यंत स्फूर्ति से कौवों के घोंसलों पर टूट पड़ा। कौवे नींद में थे।..उल्लू था कि किसी सिद्ध योद्धा के समान अपना काम करता जा रहा था। वह एक घोंसले पर झपटता था और उसके पंख, उसकी चंचु और उसके पंजे किन्ही तीक्ष्ण शस्त्रों के समान कौओं का संहार करने लगते। किसी के पंख तोड़ दिए किसी का कंठ काट

दिया किसी के पैर तोड़ डाले। कौओं में हाहाकार मचा था..और वे मरते जा रहे थे। अश्वत्थामा को लगा कि वह भी एक सिद्ध योगी है। तभी तो उसकी समस्या का समाधान प्रकृति ने स्वयं उसके सामने प्रकट कर दिया है। .. यह उल्लू दिन के समय असमर्थ रहा होगा ..इसलिए वह रात को आया।..अश्वत्थामा भी तो दिन के समय सन्मुख युद्ध में पांडवों और पंचालों को मार नहीं सकता था; किन्तु छल से वह भी तो उनका वध कर सकता था।..” (कोहली, महासमर 8,487)

साहित्य में नौ रस की व्याख्या की जाती है। उसमें रौद्र रूप भी है, भयानक भी और वीभत्स भी। व्यक्ति अपने स्वार्थ के अन्धकार में इन्हीं रसों में ही विचरण करता है। सात्विकता और पाशविकता दोनों में जीवन की धुरी घूमती है। पर व्यक्ति के आचरण का काँटा किस बिंदु पर आकर ठहरता है। यह ही उसके जन्मगत स्वभाव को तय करना होता है। अच्छा और बुरा दोनों पक्ष व्यक्ति को उद्वेलित करते हैं, किन्तु तात्कालिक-समय में उसका आचरण किस और उसे धकेलता है, उसका उस समय का मनोविज्ञान निर्णय करता है। अश्वत्थामा के अंतर्मन को भी धर्म का ज्ञान है, वह विचारों में उलझा है कि “दृष्टधुमन ने कदाचित आचार्य को छल से नहीं मारा था, किन्तु वह अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। आचार्य को अगर अनशन ही करना था तो युद्ध स्थल से कहीं दूर जाकर करते। क्यों बैठ गये युद्धभूमि में ही शस्त्रहीन होकर।.. भीम भी तो अवसर की ही प्रतीक्षा कर रहा था। दुर्योधन उछला और उसने गदा दे मारी।.. उसे लगा कि अश्वथ फिर से जाग उठा था उसके भीतर। वही मन था जो उसे नीति का पाठ पढ़ा रहा था। ... उसने चिड़कर अपना आत्मबल एकत्रित किया और बोला, “क्षत्रिय का कर्तव्य है विजय प्राप्त करना। किसी भी प्रकार लक्ष्य तक पहुंचना। इस लोक में जिस काम को ग्रहणीय समझा जाता हो, जिसकी सब भरपूर निंदा करते हों, वह भी क्षत्रिय का कर्तव्य माना गया है, क्योंकि उससे उसे विजय प्राप्त होती है।” (कोहली, महासमर 8,488)

महासमर बाहर नहीं व्यक्ति के मन के अंदर भी उतना ही गहन है। अश्वत्थामा अपने प्रतिशोध की अग्नि में जल रहा है। वह अपने पिता की मृत्यु से व्यथित है। उसे अपने मित्र दुर्योधन की पराजय का दुःख है। उसे पांडवों के प्रति

रोष एवं क्रोध है। किन्तु प्रकृति से संहार का भाव लेने के पश्चात् भी अपने मन के भीतर जो अंतरात्मा है उससे लडाई कर रहा है। वह पांडवों के कृत्य को अधर्म नहीं ठहरा सक रहा। वह अपने पिता और दुर्योधन की मृत्यु में पांडवों का छल नहीं देख पा रहा। उसके मन में छिपा धर्म और नीति उससे प्रश्न कर रही है कि यदि वह सोये हुए पांडवों पर प्रहार करता है तो 'पांडवों ने तो कभी किसी सोये हुए व्यक्ति की हत्या नहीं की। रात के अन्धकार में युद्धभूमि से बाहर किसी का वध नहीं किया। तो वह यह काम करेगा ? क्या वह अब ..इस विजय के लिए धर्म का नाश करना चाहता है ? किन्तु उसके मन का द्वन्द उसे ललकार रहा है। द्वेष ने उसकी सुनने की शक्ति को सुन्न कर दिया है। ..वह विजय के लिए तड़प रहा है।..जबकि उसके अंतर से आवाज आती है कि इस अधर्म विजय के फलस्वरूप नरक के लिए वह तैयार है ? .. किन्तु उसके मन का द्वेष ही अंततः जीतता है और अपने मिथ्या गौरव, अहंकार और अपमान के प्रतिशोध के लिए वह कृपाचार्य के बहुत समझाने पर भी अधर्म की राह पर अपने कदम बड़ा देता है।' यह सब व्यक्ति का जाना समझा मनोवैज्ञानिक सत्य ही तो है। कितना समझने के पश्चात् भी मानव को अपनी शुद्धता को बरकरार रखने में अत्यंत कठिनाई होती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा जाता है कि प्रकृति के नियम बहुत जटिल हैं। और कबीर की तरह हर व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाता कि, "जस की तस रख दीनी चदरिया।" महाभारत के एक एक घटना परिदृश्य में जीवन के सत्य का साक्षात्कार होता चलता है किन्तु हम मनुष्य अपने मन के अनियंत्रित स्वभाव के कारण ही जानते-बूझते हार जाते हैं, और कर्म का बंधन इसी मनोविज्ञान के आधार पर हमारी नियति तय कर देता है।

अश्वत्थामा को उसके न्याय और धर्म विचार ने बार-बार रोका किन्तु उसके मन के विकारों ने उसके आचरण की गति को दुश्चृति की ओर ही धकेल दिया। इसी प्रकार महारथी कर्ण को भी तो अपने मनोविज्ञान के गलत फैसलों का मूल्य चुकाना पड़ा। युद्ध से पहले वह जान चुका था कि पांडव उसके भाई हैं। किन्तु दुर्योधन की मित्रता ने उससे गलत निर्णय करवाया। अपनी महत्वकांक्षाओं के कारण ही कर्ण सदैव दुर्योधन के पक्ष में अधर्म पूर्ण निर्णय करता रहा और अपने आचरण को अपवित्र कर गलत दिशा में चलाता रहा।

मानव का एक अंदरूनी संसार है। उसके जीवन के निर्णयों को यह संसार सदैव प्रभावित करता है। उसका आचरण इन्हीं दोनों पहलुओं के विश्लेषण के उपरांत ही किसी ओर निर्धारित होता है। उसका आचरण ही उसके व्यक्तित्व का दर्पण बन जाता है। भौतिक संसार के भी दो हिस्से हैं। जिन दो हिस्सों में भौतिक संसार बंटा है उसमें एक पक्ष अच्छे प्रभाव का है और दूसरा स्वाभाविक है-बुरा पक्ष है। इन दोनों तरह की प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य का जन्म होता है। महासमर में प्रत्येक पात्र का चरित्र इसी कशमकश की व्याख्या करता है। एक बहुत अद्भुत सत्य है कि एक जागृत अंतर्मन हरेक के अंदर है। किन्तु बाहरी संसार का प्रभाव उनके आचरण को उसकी आवाज़ सुनने में कभी कभी असमर्थ कर देता है। जैसा अश्वत्थामा के युद्ध-अंत में अधर्म पूर्ण हत्याकांड के निर्णय ने दर्शाया। जैसा कर्ण के बार बार दुर्योधन के अधर्म और अन्याय का साथ देने के निर्णय ने दर्शाया। और इसी मन के निर्णय ने मन के सौन्दर्य की बलि ले ली, जिसका फल अंततः संसार को भुगतना पड़ा।

सौन्दर्य और मनोवैज्ञानिक मूल्यों की बात हो और भीष्म के चरित्र का विश्लेषण न किया गया तो विवरण अधूरा रहता है। महासमर का आरंभ होता है महाराज शांतनु के राज्य से। सत्यवती के प्रति उनकी आसक्ति एवं उनसे विवाह की इच्छा से। सत्यवती के पिता दासराज विवाह की शर्त रखते हैं कि उनकी पुत्री सत्यवती का पुत्र ही आगे राजा बनेगा। भीष्म को इसके लिए युवराज के पद से हटना होगा। भीष्म इसका वचन देते हैं। किन्तु और अधिक आश्वस्ति के लिए दासराज भीष्म के आगे होने वाले पुत्र के प्रति आशंका व्यक्त करते हैं तो भीष्म इस बात की भी प्रतिज्ञा करते हैं कि वह आजीवन अविवाहित रहेंगे और विवाह नहीं करेंगे। अब इस प्रतिज्ञा का मनोवैज्ञानिक रूप से क्या औचित्य है ? क्यों आवश्यक है, महाराज शांतनु के विवाह के लिए भीष्म की प्रतिज्ञा ? इस में क्या उचित अथवा अनुचित है? किस बात का और क्या व्यैक्तिक और सामाजिक रूप से औचित्य है ? क्या समाज अथवा व्यक्ति दोनों के लिए कोई भी निर्णय करते हुए व्यक्ति का मनोविज्ञान प्रमुख होना चाहिए अथवा समष्टि के कल्याण का ? यहाँ

समाज, राज्य अथवा समष्टि की बात इसलिए है क्योंकि यह विषय एक सामान्य नागरिक का नहीं है, एक राजा का है। जिसके साथ एक पूरा राज्य और उसकी प्रजा बंधी है।

भीष्म प्रतिज्ञा का निर्णय कर चुके हैं। किन्तु यह विचार उनके मन में चल रहा है। एक कामासक्त व्यक्ति की इच्छा पूरी करना चाहिए? क्या आसक्ति की स्थिति में विवेक स्थिर रहता है ? यह मांग उचित है क्या ? महाराज ने अपने पुराने अनुभव से कुछ नहीं सीखा ! आसक्ति के मूल्य पर कभी कभी सौन्दर्य व्यक्ति को अपना दास बना लेता है। जैसा पहले शांतनु गंगा के हुए और अब सत्यवती के सौन्दर्य के पाश में बंध गये। इस आसक्ति के कारण उपजी कामना के कारण पिता बनके वह उनका पुत्र का पैत्रिक अधिकार उससे छीन लेना चाहते हैं। पुत्र प्रेम के लिए वह ऐसे पिता के लिए क्या निर्णय करें ? अपनी पीड़ा का प्रदर्शन कर वह अपने पुत्र को पद छोड़ने के लिए बाध्य नहीं कर रहे ? उन्हें अपना शासनाधिकार क्यों त्यागना चाहिए ? कैसा दुरूह मन है कि एक चक्रवर्ती सम्राट एक सामान्य युवती को पाने की लालसा में कष्ट में है ! कैसी बुद्धि है ? भीष्म का मन बहुत तीव्रता से इन सब द्वंदों में उलझा है, “एक मन कुछ कहता है, दूसरा कुछ और। ....पौरव वंश का राज्य, देवव्रत का अधिकार है। वे इसके न्याय सिद्ध युवराज हैं। प्रजा उन्हें चाहती है। यदि देवव्रत से उनकी कोई निजी वस्तु मांगी जाती तो दान करने में उन्हें रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता। ..किन्तु किसी की अनुचित-असामयिक इच्छा के लिए अपना न्यायोचित अधिकार छोड़ना धर्म-संगत नहीं। ..मनुष्य भी अपनी आकांक्षा की तीव्रता में यह भूल जाता है कि उसका हित किसमें है। ..उसकी इच्छा उसे क्या सुख देगी और क्या दुःख...यदि शांतनु यह कुरु साम्राज्य पाकर भी सुखी नहीं हैं तो देववृत्त को ही इस राज्य से क्या सुख मिल जायेगा ? नहीं चाहिए उन्हें यह राज्य।..वे अपनी इच्छा से अपना अधिकार छोड़ सकते हैं। व्यक्ति रूप में उनके इस त्याग को सराहा भी जायेगा.किन्तु व्यक्ति का आदर्श समाज के आदर्शों से भिन्न होगा क्या ? अपने अधिकारों के लिए लड़ना समाज का धर्म है, या अपने अधिकारों को त्यागना ?..यदि कोई उनके राज्य का अपहरण करना चाहे तो

वे अपना अधिकार छोड़ देंगे क्या ? क्षात्र-धर्म तो समाज के पालन में है, अन्याय के प्रतिकार में है, अधर्म के विरोध करने में है ..। किन्तु वे अपना राज्याधिकार छोड़ देंगे उसके लिए अपने कुल में कलह क्यों करें ?..किन्तु वह किसे सुखी करना चाह रहे हैं ? एक वृद्ध की एक युवती के लिए विवेकशून्य आसक्ति किसे सुख देगी? ..अबोध बालक या उन्मादी व्यक्ति की इच्छाएं तो पूरी नहीं की जा सकतीं। यह तो उनके हित में नहीं है। वह तो उनकी यातना होगी। वह चाहें तो अपना राज्याधिकार त्यागना अस्वीकार कर दें और पिता को इस यातना से मुक्ति दें।” (कोहली, महासमर 1,25)

भीष्म के मन का उहापोह सत्य का दर्शन कराता है। वह समझते हैं कि यह अनुचित कामना है किन्तु पुत्र रूप में अपने पिता की इच्छा को पूरा करना अपना धर्म मानते हुए त्याग करते हैं। किन्तु कृष्ण इस को सही निर्णय नहीं ठहराते। भीष्म के इस एक निर्णय से तो महाभारत का घटना क्रम ही पूर्णतः परिवर्तित हो सकता था। किन्तु उन्होंने अपने व्यक्ति रूप को प्रश्रय देकर न केवल अपने अधिकार को त्यागा। वरन समाज को एक अधर्म की दिशा में चलने वाला राज्य और शासक अनजाने में सौंप दिया। स्वयं उस राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व लेकर अधर्म और अन्याय के समर्थन में विवश हो कर निर्णय करते रहे।

भीष्म एक व्यक्ति हैं और उनके पिता भी एक व्यक्ति हैं। किन्तु व्यक्ति रूप में पिता की इच्छा की पूर्ति ही क्यों आवश्यक है ? यह विचार मन में आने के पश्चात् भी भीष्म अपने अधिकार के प्रति सचेत नहीं हो पाते।

दूसरी ओर शांतनु को जिस समय अपने निर्णय के अनुचित होने का अनुभव होता है। वह विचार करते हैं -सत्यवती एक निषाद कन्या थी उसके अंदर राज्यधर्म के अनुरूप कोई आचरण अथवा व्यवहार नहीं था। शांतनु के साथ उसका सम्बन्ध बौद्धिक स्तर पर बिलकुल नहीं था। वह उसके आचरण की समीक्षा करते हुए कई बार हैरान होते हैं, अपनी कामना के कारणों से त्रस्त भी होते हैं। अपने सुख की आलोचना करते हुए भीष्म के साथ अपनी तुलना करते हैं। एक



समय उन्हें भीष्म से विरोध था कि, “वह इतना उदासीन और उदार क्यों है। किन्तु आज वह स्पष्ट देख रहे हैं कि उदासीनता कितनी उदात्त होती है और आसक्ति कितनी क्षुद्र। ऋषियों की अनासक्त-उदार दृष्टि जीवन की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर, बहुत दूर तक देखती है। वे जीवन के यथार्थ को समझते हैं। इसीलिए जीवन सरोवर से काई हटा कर वह स्वच्छ जल ही पीते हैं। भीष्म वंचित हुआ, और शांतनु की कामना पूर्ण हुई। किन्तु दोनों में से सुखी कौन है—भीष्म या शांतनु? निश्चित रूप से निष्काम भीष्म, पूर्णकाम शांतनु से अधिक सुखी है। कामना सुख का नहीं, छलना और यातना का दूसरा नाम है। कामनाओं के प्रपंच को शांतनु से अधिक अब और कौन समझ सकता है ..कामना पूर्ण होने पर भी कोई पूर्ण काम हुआ है क्या ? क्या माँगा था उन्होंने और क्या पाया ? शांतनु ने देववृत्त को पाना चाहा तो गंगा उन्हें छोड़ गयी और अब दूसरी संतान और दूसरी पत्नी की इच्छा की, तो यह उनको पहली संतान से ही वंचित करना चाहती है। .. और शांतनु की इच्छा से आई है वह इस घर में। ..मांगकर आग लाये हैं शांतनु, अपने घर की नींव में धरने के लिए ताकि उनका घर जल जाये। उनकी यह विवेकशून्य कामुकता ! कैसी दुर्बलता दे दी है माँ सृष्टि ने इस कठोर, समर्थ और परुष पुरुष को। उनकी यह मूर्ख आसक्ति जाने क्या क्या दिखाएगी उन्हें।” (कोहली, महासमर 1,82)

सृष्टि के घोर वास्तविक नियमों से निकलता सत्य बारम्बार मानव को चेतना की ओर ध्यान देने का इशारा करता है। मानव मन की दुर्बलताएं उसे इस इशारे को समझने देने का प्रयास नहीं करने देतीं। उसके मोह, उसकी तृष्णा, उसका लोभ, और सम्पत्ति की लोलुपता उसे पथ-भ्रष्ट कर देती है और वह अपने धर्म से विचलित हो जाता है। उसे स्व-बोध तो होता है किन्तु अशक्त पौरुष के चलते वह अपने मार्ग से डिग जाता है।

महासमर में कई स्थानों पर भीष्म के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिखाई देता है। मोह, राज्य-रक्षा एवं कुल को कलह से बचाने के हेतु वह बहुत बार अधर्म के साथ समर्थन करते दीखते हैं। कृष्ण उन्हें संकेतों में कहते हैं कि धर्म बांधता नहीं मुक्त करता है। किन्तु अपने रूढिगत आग्रहों के बंधन में बंधे भीष्म न द्रौपदी के अपमान

का विरोध कर पाते हैं न पांडवों का पक्ष ले पाते हैं न विभाजन में अपनी असहमति जताते हैं। यह एक धार्मिक रूप से सबल व्यक्ति की पहचान नहीं है। कृष्ण के अनुसार धर्म की सुन्दरता समष्टि के कल्याण में है। यदि भीष्म का त्याग एक तपस्या है तो उसका लाभ समस्त लोक को होना चाहिए था। अपनी तपस्या को अपना धर्म मान कर बैठे रहना धर्म नहीं है। यह एक बंधन है जिसके द्वारा किसी का कल्याण नहीं होता। मनोविज्ञान के अनुसार वास्तविक सौदर्य सत्य के साथ साथ शिव में भी है। यदि कंस मातुल है, किन्तु अधर्मी है तो निर्णय करते समय सम्बन्ध नहीं धर्म ध्यान में रखना होगा। व्यास मुनि भी एक स्थान पर भीष्म के इस दौर्बल्य के विषय में कहते हैं कि, “भीष्म की सदृशियों और क्षमता पर मुझे कोई संदेह नहीं है। किन्तु उन्हें लेकर मेरे मन में कुछ शंकाएं भी हैं। भीष्म बहुत सुविधा से सत्ता और शासन के साथ त्दात्म्य कर लेते हैं। भीष्म में सत्ता का वेग बहुत अधिक है। उस वेग से टकरा कर दूसरे व्यक्ति की गति क्या होगी, उसकी चिंता उन्हें नहीं होती, चाहे वह व्यक्ति वह स्वयं ही क्यों न हों। उन्होंने जब मेरे नाना को वचन दिए, तो यह भी नहीं सोचा कि उनकी अपनी गति क्या होगी, राज परिवार पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, शासन और प्रजा इससे किस प्रकार प्रभावित होंगे .. काशिराज की कन्याओं का हरण करके लाये तो उन कन्याओं की भावनाओं-संवेदनाओं की तनिक भी चिंता नहीं की ..। दुर्योधन ने भीम को विष दिया। उन्हें उसकी कोई सूचना नहीं है। वारणावत में इतना बड़ा षडयंत्र हुआ, उन्हें कुछ पता ही नहीं कि वहां क्या घटित हो रहा है। दुर्योधन ने उनकी आँखों के सामने कर्ण को अंग देश का राजा बना दिया। उन्होंने एक बार पूछा भी नहीं कि दुर्योधन को इसका क्या अधिकार था। ..(वह कुल को कलह से बचाना चाहते हैं तो ) यह उनका धर्म है, किन्तु उसके लिए व्यापक मानवीय धर्म की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। यह धर्म का नहीं, धर्म की रूढ़ि का पालन है। ’ (कोहली, महासमर 3,375)

उपरोक्त प्रसंग से पुनः वही सत्य उभर कर स्पष्ट होता है कि उच्च मानवीय मूल्यों की सुन्दरता सम्पूर्ण मानवता के हित में, कल्याण में है। व्यक्ति को अपने पूर्वाग्रहों से बाहर आकर विश्व की परमार्थता को सीखना होगा। मानव को वास्तविक सौदर्य के लिए श्रेष्ठ होना होगा। आहा जिन्दगी के सितम्बर 2009 अंक

में मानव मनोविज्ञान के जनक अब्राहम मास्लो के अनुसार, “श्रेष्ठता हासिल करना, एक दिन का काम नहीं है, इसके प्रयासों की भरी खुराक, दृढ निश्चय, आत्मशक्ति और वास्तविकता चाहिए।” (मॉसलो 21)

मनोवैज्ञानिक मार्टिन सेलिंग्मैन और मिहाली सिक्सजेंटमिहेली और यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया की प्रोफेसर सोन्जा ल्युबोमिर्सकी की रिसर्च बताती है कि ‘श्रेष्ठ जिन्दगी संभव है और इसका मापन आपके द्वारा जिए गये दिनों की संख्या से नहीं होता। बल्कि उन गुणों पर निर्भर करता है, जिनका इस्तेमाल आपने अपने जीवन में किया है।’ (सेलिंग्मेन् 21)

रोमन दार्शनिक सेनेका ने एक बार कहा था कि “जीवन एक नाटक की तरह है, जिसकी लम्बाई नहीं बल्कि अभिनय की श्रेष्ठता महत्वपूर्ण होती है।” (सेनेका 21)

यदि मानव को श्रेष्ठ बनना है तो उसे अपने मन को देवत्व की ओर प्रेरित करना होगा। यह भारतीय दर्शन और संस्कृति का ज्ञान है और भारतियों का सौभाग्य कि इस ज्ञान की गंगा ने मानस को पवित्र, और देवतुल्य जीवन जीने की प्रेरणा दी है। श्री गुरु तेग बहादुर की बाणी है —

“जो नर दुःख में दुःख नहीं माने  
 सुख स्नेह अरु भे नहीं जा के कंचन माटी मानें ॥ रहाउ ॥  
 नह निंदिया नह उसतति जा के लोभ मोह अभिमाना ॥  
 हरख सोग ते रहे नियारउ नाहि मान अपमाना ॥ 1 ॥  
 आसा मनसा सगल तियागे जग ते रहे निरासा ॥  
 काम क्रोध जिह परसे नाहनि तिह घटि बूहु निवास ॥ 2 ॥

(गुरु ग्रन्थ साहेब)

यही मनोविज्ञान तो श्रेष्ठ बनाता है मानव को जिसका संकेत महापुरुष, गुरु, ऋषि, मनीषी और हमारे ग्रन्थ करते हैं। हर स्थिति में सम रहना, सहज और सरल

रहना, निष्काम रहते हुए अपने कर्तव्य करना, दूसरों का भला करते हुए, सर्व-कल्याण का प्रयास करना। यही है-संसार में रहते हुए संसार से विरक्त, प्रेम करते हुए भी आसक्ति से मुक्त। जीवन का वास्तविक मनोविज्ञान यही है। यही है सौन्दर्य का सत्य, शिव, सुंदर भाव।

‘सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव की सर्वोत्तम संप्राप्ति है-मूल्य। मूल्य, मानव-समाज का ऐसा स्वर्ण है जिससे उसके सारे कार्य-व्यापार, व्यवहार का मान निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में मानव का मनोविज्ञान ही उसे और मूल्यवान बनाता है।’ (निर्वैर 257)

यही सृष्टि का सत्य है। सत्य शिव और सौन्दर्य की वास्तविकता। उसकी श्रेष्ठता इन मूल्यों से ही नियत होती है। जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। इन सब श्रेष्ठताओं के लिए विशेष तरह की संवेदना होनी चाहिए और जिस व्यक्ति में इस संवेदना के दैवी गुण होते हैं, वह अनूठे कार्य करने की क्षमता रखता है। वह अपनी संवेदना से निर्जीव वस्तुओं में भी जीवन की तलाश कर लेता है। उदाहरण के लिए, “आस्ट्रेलिया के सिडनी में एक हास्पिटल ऐसा है जो इंसानों या जानवरों के लिए नहीं बल्कि गुड़ियों के इलाज के लिए दुनिया में मशहूर है। इस की शुरुयात 1913 में हेरोल्ड चापमैन ने की थी और यहाँ अब तक 30 लाख से ज्यादा गुड़ियों का इलाज हो चुका है। यह अस्पताल अपने आप में इसलिए भी खास है क्योंकि यहाँ गुड़ियों को ठीक करने के लिए अलग-अलग वार्ड बने हुए हैं। अलग-अलग माहिर डॉक्टर हैं।..संचालक जियोफ का कहना है कि जब कोई बच्ची अपनी प्यारी (टूटी) डौल को वापिस लेने आती है तो उसके चेहरे पर जो मुस्कान होती है उससे बढ़कर हमारे लिए कोई चीज़ नहीं है।” (भास्कर 3)

संवेदना तो अस्वच्छ समुन्द्र तट की सफाई करने वाले अफरोज शाह (पर्यावरण कार्यकर्ता) के मन में भी होगी जिसने जो काम लिया है उसमे खपना सीखा, संविधान निर्माताओं से। वह बम्बई के वसोवा क्षेत्र में जन्म लेकर वहीं पले बढ़े। समुन्द्र के तट की गंदगी को देख कर उसे साफ़ करने की ठान ली। और उसी

में जूझ कर लगे हैं। दैनिक भास्कर पत्र के 5 फरवरी 2018 अंक में इस विषय में लिखते हैं। उनके अनुसार प्रकृति प्रदत्त सुन्दरता के लिए “हर व्यक्ति को कम से कम हफ्ते में दो घंटे अपने आस-पास के पर्यावरण को देना चाहिए। लेक को प्रोटेक्ट करो, नदी को प्रोटेक्ट करो, जंगल को प्रोटेक्ट करो। इसी के साथ हम रह पाएंगे नहीं तो हमारा जीना मुश्किल हो जायेगा।”(अफरोज 8)

तो श्रेष्ठता निर्जीव में भी जीवन ढूंढने की क्षमता रखती है। यह है सौन्दर्य और मानव मन का मनोविज्ञान। इस मनोविज्ञान को समाज के भिन्न-भिन्न आयामों में देखा जा सकता है। जब मनुष्य ने सभ्य होना सीखा तो ही धीरे धीरे उसके विवेक ने विकास के सोपानों की सीढ़ी चढ़ते हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को समझा और सराहा। और इसे उसके मन ने बहुत खूबसूरती से सृजनत्मकता की ओर दिशा दी होगी। जीवन के स्वच्छ और कलुषित पक्ष को भी उसके अनुभव और ज्ञान ने समझाया। दैनिक भास्कर के दैनिक स्तम्भ में जयप्रकाश चौकसे (फिल्म समीक्षक एक बहुत सुंदर उदाहरण देते हैं। एक फिल्म आई थी ‘प्रेम रोग’, राजकपूर द्वारा निर्मित। इसके एक दृश्य में बड़े ठाकुर साहेब गरीब पंडित के भांजे को बुलाकर यह कहते हैं कि वह उनकी विधवा भतीजी को लेकर भाग जाये और सारी व्यवस्था वह कर देंगे, तो नायक इंकार कर देता है। वह कहता है कि कुरीतियों के खिलाफ वह धर्मयुद्ध लड़ रहा है और कोई अनुचित कार्य नहीं करेगा। वह सरेआम सबकी सहमति से विवाह करना चाहता है। इस तरह साधन की अपवित्रता से साध्य के कलंकित हो जाने की बात को प्रतिपादित किया गया है। इस तरह के शाश्वत मूल्यों की चेतना सामूहिक अवचेतन में अपना स्थान बना लेती है।” (चौकसे 6)

मानव के मन के सौन्दर्य का आधार उसके विचारों, उसके आचरण से ही निर्धारित होता है और उसे धरातल देते हैं उसके मनोवैज्ञानिक मूल्य। अपने अज्ञात-वास में ब्रह्मा का रूप धरे अर्जुन अपनी शिष्या उत्तरा को नृत्य की शिक्षा देते हैं, सांस्कृतिक सौन्दर्य की, ललित कलाओं महत्ता बताते हुए वह इनके द्वारा प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के विषय में कहते हैं, “कलाओं से सब कुछ प्राप्त हो

सकता है। यश भी, धन भी, काम भी। किन्तु समझना होगा कि अध्यात्म साधन में थोड़ी दूर चलने पर साधक को कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। यदि साधक उनसे ही संतुष्ट होकर उनमें रम जाये, तो उसका विकास नहीं होता। किन्तु उनका तिरस्कार कर यदि आगे बढ़ता है तो अंत में उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है। एक बात और समझ लो। किसी भी गंतव्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं, किन्तु प्रत्येक मार्ग स्वच्छ और पवित्र नहीं होता। सात्विक, स्वच्छ तथा पवित्र मार्ग कष्टसाध्य भी होता है और सुदीर्घ भी; किन्तु यात्रा सदा उसी मार्ग से करनी चाहिये।” कला की साधना से स्वर को शुद्ध करो, मन को भी शुद्ध करो, तन को भी शुद्ध करो, आत्मा को भी शुद्ध करो और चरित्र को भी शुद्ध करो।” (कोहली, महासमर 6,435)

जीवन का सौन्दर्य और उत्तम मनोवैज्ञानिक मूल्य कृपाचार्य के शब्दों के सत्य में हैं, “संसार में सब ही किसी न किसी प्रकार के फल के वृक्ष के नीचे बैठे हैं। सब जानते हैं कि उन्होंने एक दिन वहाँ से उठना ही है। संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक वह, जो उस वृक्ष के नीचे से उठने से पूर्व उसके सारे फल झाड़ कर अपनी गठरी में बांध लेना चाहते हैं। दूसरे वर्ग के लोग हैं जो अपनी आवश्यकता भर ही लेते हैं और उठ जाते हैं। चाहे उस समय वृक्ष फलों से लदा ही क्यों न हो, मुझे अब यह अनुभूति होने लगी है कि मेरी आवश्यकता भर का मेरे पास हो गया है। तो मैं व्यर्थ ही उस वृक्ष के नीचे बैठे रहना और झंझावत की धूल से मलिन होना अथवा वर्षा की बौछार से भीग कर अस्वस्थ होना पसंद नहीं करता। मुझे न तो ओरों की तुलना में अधिक चाहिए, न अधिकतम चाहिए। मुझे तो अपनी आवश्यकता भर ही चाहिए। अधिक से तो मुझे अजीर्ण ही होगा।” (कोहली, महासमर 6,138)

यही सत्य तो समझना है। और महासमर का कथानक अपने पूरी कथाक्रम में पात्रों, घटनाओं एवं चरित्रों के मनोविज्ञान से यही प्रेषित करने का प्रयास करता जाता है। इस अनवरत मूल्य विश्लेषण में प्रत्येक प्रसंग जीवन के दोनों पक्षों का दिग्दर्शन करता हुआ, अंततः सौन्दर्य की सत्त्यता को ही निर्देशित करता है। सच ही है कि हर व्यक्ति पर वांछित असर नहीं पड़ सकता। किन्तु इस वजह से प्रयास ही

नहीं किया जाये तो अनर्थ होगा। व्यक्ति को प्रकृति के माध्यम से ईश वाणी को सुनना ही होगा और उसके परमार्थी मनोविज्ञान को संजोकर उसका अनुकरण करने का गुण सीखना ही होगा। किन्हीं क्षणिक आवेग में आकर किये गये सैधांतिक-व्यावहारिक चुनावों से मानव आचरण की शुद्धता बनी नहीं रह सकती। इसलिए व्यक्ति को अपने मानवीय आचरणों के स्थायित्व के लिए न केवल उत्तम मूल्यों का चुनाव करना अपरिहार्य है, वरन उनपर दृढ़ता से, आस्थापूर्वक व्यवहार करना भी उतना ही आवश्यक है। बिना चिंतन-मनन के कोई मनोविज्ञान किसी निर्णय की अनुमति नहीं देता, इसी हेतु वह मूल्य जो धर्म की, न्याय की, पवित्रता की सुन्दरता से पूरित हो, जिनका चुनाव करने में कोई विवशता न हो, क्रिया प्रतिक्रिया मनोनुकूल लगे वही मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यात्मकता के द्योतक मूल्य बन जाते हैं। व्यक्ति को व्यक्तित्व से सज्जित करते, उसकी अस्मिता को प्राथमिकता देते, यह मूल्य ही मानव को महामानव का पद सौंपते हैं। और 'सरबत दा भला' का जीवन मन्त्र विश्व में आरोहित करते हैं।

\*\*\*\*\*

## अध्याय: 8

# जीवन मूल्य : महासमर एवं साहित्य

## उपसंहार

मानव जीवन, सृष्टि कृत एवं ईश्वर प्रदत्त अत्यंत दुर्लभ कृति है। इसके सत्यम, शिवम एवं सुन्दरम रूप को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयास किये जाते रहे हैं। जीवन की उपयोगिता और अनिवार्यता अपने उत्तम एवं विकसित रूपों में बनी रहे, इसके लिए साहित्य एवं समाज सदा प्रयत्नशील रहता है। मानव एक जिज्ञासु प्राणी है और सदा कुछ नया खोजने का प्रयास करता रहता है। कुछेक परिस्थितियों में कमोबेश देश, काल एवं स्थितियों में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रस्तुत शोध भी एक ऐसा प्रयास है, जिससे समाज एवं मानव व्यवहार का कल्याणकारी एवं विकासमय पथ प्रशस्त हो सके।

दो भिन्न आयामों की तरह ही जिन्दगी श्वेत-श्याम का संगम है। शोध के दौरान भी कुछ ऐसी ही अनुभूतियाँ हुईं। मूल्यों के सम्बन्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्यों का आभास हुआ। जीवन क्या है ? इसका कोई एक परिभाषित रूप देना क्रमशः थोड़ा मुश्किल है। जितने मुख हैं, उतने ही शब्द और विचार ! बल्कि उनसे भी कहीं अधिक। जीवन जितना विविध है, उतना ही विविध है उसका रूप। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों के परिपेक्ष्य में जीवन मूल्यों की मीमांसा करने का प्रयत्न करते हुए सम्बंधित जीवन सिद्धांतों के विषय में बहुत से विचारकों के कार्य का अध्ययन किया। और अपने शोध के कार्य में उनकी कही हुई सम्बंधित उक्तियों को आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर उद्धृत किया। एक बहुत बड़ा सौभाग्य रहा, डॉ. नरेंद्र कोहली से प्रत्यक्ष मुलाकात-साक्षात्कार का। उनसे मिल कर सोचने की दिशा को एक बिलकुल ही नितांत नई दृष्टि का आभास हुआ। उनसे मिलकर, इस बात को बहुत शिद्धत से महसूस किया, कि वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के विचार में कुछ वैयक्तिक पृथकता अवश्य होती है। विषय चाहे एक ही है, किन्तु उसे समझने के



रास्ते एक सकारात्मक और एक नकारात्मक दोनों में से कोई भी, हो सकते हैं। हाँ! यह सही है, कि यदि स्वयं को किसी एक सात्विक मार्ग का राही बनाना है तो स्वयं को ही उत्तम बनाने का प्रयास करना होगा। सिखाना नहीं, सीखना महत्वपूर्ण है। क्योंकि संस्कार किसी को सिखाने पर नहीं, स्वयं सीखने पर उपयोगी होते हैं। यह आस्था भी बलवती हुई कि संसार अच्छे लोगों से कभी रिक्त नहीं होता, बल्कि अच्छे लोगों के दम पर ही टिका रहता है। यह संसार वास्तव में उन्हीं लोगों के सत पर टिका है, जो अपने मूल्यों से कभी नहीं डिगते और कभी किसी स्वार्थ के आगे झुक कर समझौता नहीं करते। जीवन मूल्य केवल सैधांतिक धरातल पर करने वाला विषय नहीं, वरन क्रियातामक धरातल पर परखा जाने वाला वह मूल्यपरक आचरण है, जिससे जीवन को सम्पूर्णता मिलती है। जीवन अपनी आपाधापी से प्रतिक्षण मनुष्य को प्रभावित करता चलता है। न केवल सांसारिक युद्धों से बल्कि आंतरिक महासमर की भी अनवरत क्रिया-प्रतिक्रिया से मानव जूझता रहता है। इस युद्ध का जीवन पर्यंत कोई अंत नहीं। यह क्रिया ही तो जीवन की गति और निरंतर जीवन्तता की द्योतक है, सतत है, शाश्वत है, जिसका न कोई अंत है न कोई परिणाम। किन्तु यही अनवरत युद्ध जीने की दिशा अवश्य दिखाता है। श्वास लेने को पल भर ठहरा व्यक्ति विचार करता हुआ एकाएक ठिठक कर, समझ पाता है, कि अरे ! यह ही तो वह मूल्य है जिसके अनुसार उसे आचरण करना है। वह स्वयं को स्मरण कराता है, कि इन्हीं क्रियाओं प्रतिक्रियाओं में ही तो जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना है। अपने सुख-दुःख में यह मूल्य उसके सहायक सेतु बन कर मोक्ष के द्वार तक ले जाते हैं। और उसके कार्यों द्वारा परमार्थ के बांध बन कर समष्टि के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

इन्हीं के अनुरूप मूल्यों के कई भेदों का विश्लेषण जीवन की स्थितियों और चरित्रों की मनोस्थिति के परिपेक्ष्य में किया गया। इस विश्लेषण में धार्मिक, नैतिक, अध्यात्मिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, न्यायिक, भौतिक, मानवीय, नारी-सम्बन्धी, सौन्दर्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्य सम्मिलित किये। इनके विवेचन में प्रत्येक मूल्य का अन्ततोगत्वा एक ही परिणाम मिलता है—सर्व कल्याण एवं मानव हित का

समष्टि उद्देश्य। महासमर कथानक केवल पौराणिक कथा ही नहीं है। एक मानव के जीवंत रूप की भांति जीवन की विराटता में सेवा अथवा परहित की श्रेष्ठता ज्ञापित कर मानव हित की सर्वोच्च सत्ता को प्रदर्शित करने वाला ग्रन्थ हैं। परम्परा और आधुनिक वर्तमान के तुलनात्मक मूल्य-परक व्यवहारों का ऐतिहासिक धरातल पर विवेचन भी इसी मत का समर्थन करता है कि युग-काल कोई भी हो, मानव हित ही सृष्टि और प्रकृति के नियमों के अनुसार जीना है।

जैसा कि, शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य मूल्यों की स्थापना और कहीं-कहीं किन्हीं स्थितियों में पुनर्स्थापना है। वास्तव में जीवन बहुत दुरूह है। अतः सदैव सत्य एवं दैवी आचरण की अपेक्षा असंभव नहीं, तो पूर्णतः संभव भी नहीं हो सकती। किन्तु फिर भी मानव को महामानव बनने की ओर बढ़ते जाने की जिज्ञासा और सम्भावना, इस क्षेत्र में उसे अग्रसर करती ही है। धर्म-नैतिकता और अध्यात्म मानव के मनोबल को ललकारते रहते हैं, और उसकी सद्वृत्तियाँ उसे उत्तम पथ की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करती हैं। इन्हीं लक्ष्यों को समक्ष रखकर अपने कार्य को पूर्णतः देने का प्रयास किया है। और प्रसन्नता है, कि बहुत सीमा तक इसे प्राप्त किया जा सका। महासमर के पात्र और चरित्र कथानक में पिरोई घटनाओं और परिस्थितियों में जो आचरण करते हैं, उनमें मूल्यों की मीमांसा बहुत उत्कृष्टता से सामने आई है। स्थिति एक ही है, किन्तु पात्र दो-एक युधिष्ठिर और दूसरा दुर्योधन—कैसे होगा निर्णय—मूल्यपरक आचरण का? कहीं दुरूह दुविधाएं हैं ! तो कहीं सुविधा से देवत्व का आचरण अपने व्यवहार में दर्शाते युधिष्ठिर, मानवीय वृत्तियों का उच्च उदहारण देते हैं। शोध के द्वारा इस प्रकार पात्रों के तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक आचरण का बखूबी उल्लेख कर उनकी मनोस्थिति को समझने-समझाने का प्रयास किया गया है। देखा जाये तो देश काल चाहे परिवर्तित होते जाते हैं, किन्तु चेहरों और नाम के परिवर्तन के बावजूद स्थितियां कमोबेश एक सी ही रहती हैं। महासमर एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें वह घटनाएँ अपनी सभी संभावनाओं सहित उपस्थित हैं, जो वर्तमान में भी उतनी ही प्रासंगिक हैं। इस विश्लेषण पर पहुंचना अपने आप में एक अद्भुत अनुभव रहा।

यद्यपि महासमर उपन्यास एक पौराणिक गाथा पर आधारित है और कथानक का पूरा सार डॉ. नरेंद्र कोहली जी ने उसी के पात्रों और घटनाओं में गूँधा है। लेकिन शोध की प्रगति के साथ साथ यह तथ्य प्रमाणित होता गया कि समय की संवेदना एवं नाजुकता को देखते हुए वह स्थितियों की नब्ज टटोलना जानते हैं। पूरे उपन्यास में कहीं भी नहीं लगता कि महाभारत कथा में कोई फेरबदल की गयी है, और खूबी यह है कि यह भी नहीं लगता कि किसी प्राचीन ग्रन्थ का अवलोकन किया जा रहा है। अपने आस-पास के पात्रों में ही महासमर के पात्र घुले-मिले से लग कर अपनी सामयिक प्रासंगिकता को दर्शाते हैं। रचनाकार का महती प्रयास है, कि संस्कृति की जानकारी देते हुए वह पाठक को आज के परिदृश्य और उसके साथ उसकी वास्तविकता से अवगत कराते चलें। बहुत सुंदर बात है कि वह पूर्णतः सफल हुए हैं। उनके घटना के सन्दर्भों को वर्तमान से जोड़ते जाने का शिल्प, अद्भुत रूप से उद्वेलित करते हुए, आज की समस्याओं के दर्शन, और उसके उत्तर बताता चलता है। इस विश्लेषण से इन निष्कर्षों पर पहुंचना अपने आप में एक अन्यतम अनुभव रहा जिसने एक नवीन वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से परिचय कराया। उपन्यास के सौजन्य से कथाकार के लक्ष्य का साधू प्रयास 'मूल्यों की पुनर्स्थापना' पूर्ण आस्था से पूर्ण हुआ है।

## वैशिष्ट्य और प्रदेय का मूल्याङ्कन

'महासमर एवं मूल्यों' से सम्बंधित बहुत से साहित्य अथवा शोधपत्रों का अध्ययन एवं अवलोकन किया गया, और यही एक तथ्य बारम्बार उभर कर सामने आया कि समय कोई हो, काल कोई हो, स्थिति अथवा घटना जो कोई भी हो व्यक्ति या समाज किन्ही मान्य मूल्यों के अनुसार ही आचरण करता है। बिना मूल्यों अथवा सिद्धांतों के किसी आचरण का कोई आधार नहीं होता। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि किसी भी वैक्तिक अथवा सामाजिक आचरण की पृष्ठभूमि में उसके वैक्तिक मूल्य या विश्वास उसके वैयक्तिक व्यवहार पर प्रभावी हों। और जहाँ सामूहिक व्यवहार है, उन सामाजिक व्यवहारों के पीछे उस समुदाय विशेष के सामयिक

विश्वास प्रभावी हों। इनका मूल्याङ्कन करने के लिए उन विशेष स्थितियों, और करने वाले की मनःस्थितियों का विश्लेषण करना आवश्यक है। उसके बिना उसके मनोविज्ञान को समझा नहीं जा सकता था। तो यही तथ्य सत्यापित करने का प्रयास रहा कि मूल्य आचरण करने वाले के स्वभाव का दर्पण होते हैं— कभी कुछ साफ़ और कभी कुछ धुंधले, कहीं सदृति प्रेरित, कहीं विकृति प्रेरित ! यह भी व्यक्ति की अपनी मानसिकता पर ही निर्भर करता है कि वह किन प्रवृत्तियों को अपने आचरण में सम्मिलित करता है।

### शोधध्ययनआस्था एवं प्रयोजन की दृष्टि से—

साहित्यकार ने अपनी रचना महासमर उपन्यास में अपने मौलिक कथानक को ऐसे कहा है, कि कथा आज की ही सी लगती है। प्राचीन कथा लेने और मूल्यपरक दृष्टिकोण के बाद भी लेखक कहीं कोई उपदेश अथवा आदेश देता सा नहीं लगता। किन्तु कथा को कहने और प्रस्तुत करने का शिल्प, रचना को बेहद मार्मिक ढंग से मूल्यों की मीमांसा बना कर प्रस्तुत करता है। बिना मुखर प्रदर्शन के डॉ.कोहली अपने एक-एक शब्द से मूल्यपरक आचरण की ओर व्यक्ति को निर्देश देते हैं, और उसकी उपादेयता, उसकी उपयोगिता और अंततः जीवन के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के लक्ष्य की प्राप्ति का संकेत देते हैं। शोध के मध्य कई बार ऐसा सोचने को बाध्य हुई, कि अपना आचरण किस तरह का है ? कैसा होना चाहिए ? किस चरित्र के साथ स्वयं को तुला पर रखे ? क्या मानदंड हैं इस मापदंड के ? कैसे निर्णय होगा ? उपन्यास के बेहद जीवंत पात्र, बोलते से चरित्र, मूल्यों की परिभाषा बन कर बार-बार अपने उदाहरणों के साथ समक्ष उपस्थित होते रहे। ऐसा लगता है, जैसे बिना शब्दों के ही मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का महती प्रयास करते से हैं।

समाज के क्षरित होते मूल्यों को भी बहुत महत्वपूर्ण विधि से शोध में विवेचित करने का प्रयास किया गया है। आज का समय बहुत मिश्रित व्यवहारों का समय है। जो भी व्यवहार व्यक्ति अथवा समाज दर्शाता है, वह कितना वास्तविक है

और कितना मिथ्या ! इसकी जानकारी सही रूप में कर पाना बहुत कठिन है। महासमर के महत्वपूर्ण पात्र धृतराष्ट्र के व्यवहार का सत्य तो कभी भी उभर कर सामने नहीं आ पाता। कथानक में वह स्वयं स्वगत-भाषण करता है, कि व्यक्ति कितना ही कठोर-लोभी-मोहग्रस्त अथवा दुश्चतियों के अनुरूप आचरण करने वाला हो, किन्तु उसको प्रत्यक्ष में साधू-संगति में ही स्वयं को प्रकट करना चाहिए, जिससे उसका वास्तविक रूप कभी भी किसी के सामने उजागर न हो। यही है-आज की तस्वीर। दोहरे चरित्र के नकाब से ढका चेहरा लिए आज का व्यक्ति। व्यक्ति के व्यक्तित्व की वास्तविकता को समझना बहुत ही दुष्कर कार्य हो गया है। इसलिए उसके आचरण की मिथ्या दिखावट बेहद सूक्ष्मता से जांचनी होगी। गंधार के राजकुमार शकुनि दुर्योधन के मातुल के रूप में उसके हिमायती और सहायक हैं, किन्तु वह वास्तव में कुरु वंश को समाप्त करने के लिए कृतसंकल्प है। दुर्योधन का हित साधना यदि उनका उद्देश्य था, तो क्यों उसे युद्ध के भीषण परिणाम तक ले गये। चाहते तो उसको युद्ध और मृत्यु के कगार तक ले जाने को प्रेरित नहीं करते, वरन समझौते का कोई विकल्प निकाल सकते थे। उनका चरित्र आज के दोहरे मुखों वाले व्यक्तियों से बहुत साम्यता रखता सा है। क्षरित होते मूल्यों को उस काल की स्थितियों का अवलोकन करते हुए भी और आज के परिदृश्यों से भी देखते हुए एक ही धरातल पर कुछ परिवर्तित रूपों में समझा जा सकता है। व्यक्ति को आज अपने आस-पास घूमते शकुनि से सावधान रहना होगा। अपने मान्य विश्वासों एवं परम्परागत मूल्यों पर आस्था रखनी होगी। यदि समाज के लिए अपने जीवन को उपयोगी सिद्ध करना है तो निरंतर विचार और मनन के द्वारा स्वयं की चेतना को जाग्रत रखना होगा। आपके अपने सम्बन्धियों के रूप में 'धृतराष्ट्र' आपके अधिकारों को लील लेने को तैयार हैं, और दुर्योधन आपको, आपके जीवन के अधिकार से मुक्त करने को आतुर। अब सावधानी से 'कृष्ण' के सार्थक्य को न केवल खोजना होगा, वरन उसपर चलना भी होगा। महात्मा 'विदुर' के प्रयासों को समझकर अपने जीवन को बचाना भी होगा और अपने अधिकार के लिए अन्याय का प्रतिकार करना भी सीखना होगा। एक जीवन में यह सब कितनी बार होता है ?

और शायद सब के साथ ही ? यदि किसी से उसकी जीवन कथा पूछी जाये, तो कमोबेश सबकी कहानी कुछ पात्रों के नामों के अतिरिक्त लगभग समान से रास्तों पर चलती लगती है। उन सभी उच्च मूल्यों पर अपनी आस्था को दृढ़ करके उनपर चलना होगा-स्वयं भी और अन्यो को भी चलाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। कथानक के समस्त तर्कों ने यही सत्य प्रमाणिकता से सत्यापित किया है, कि मानव का प्रयोजन वास्तव में उत्कृष्ट और शुद्ध रूप से जीवन जीना है। तभी वह अपने शास्त्र-संगत पुरुषार्थ के चारों चरणों के अनुरूप उत्तम राह पर चल सकेगा। न अपनी आस्था को डिगने देना है, और न ही अपने सर्वार्थ किये मूल्यों को त्यागना है। तभी सफल जीवन का ध्येय पाने में पग उठेंगे।

‘महासमर’ उपन्यास में हर एक प्रवृत्ति के पात्र उपलब्ध हैं। महामुनि वेदव्यास अपने चरम सात्विक आचरण और ज्ञान के द्योतक हैं, तो विदुर सत-गुणों के अनुसार आचरण करने वाले महात्मा। पितामह भीष्म त्याग करने में चरम बिंदु को छूते हैं, तो युधिष्ठिर में धर्म का मर्म है। धृतराष्ट्र मोह और लोभ की प्रच्छन्न तस्वीर है, तो दुर्योधन लोभ-अहंकार का जीवंत उदाहरण। कर्ण महावीर होते हुए भी दृष्टि-भ्रम में है। और कुंती तेजस्विता की उदात्त महिमामयी तेजोपुन्ज। द्रौपदी में मर्यादा है तो प्रतिशोध भी, भीम सरलता के साथ जीवन के युद्ध में रत है। अर्जुन को श्री कृष्ण का सारथय उत्तम राह का अनुगामी बनाता है। तो नकुल सहदेव सम्मान करने वाले आदर्श भाई। श्री कृष्ण के तो कहने ही क्या ? महासमर में एक पात्र हैं वह भी ! किन्तु यह हम और आप सब जानते हैं कि वह क्या हैं ? लेखक ने श्री कृष्ण के चरित्र का चित्रण ऐसा किया है कि मद्भागवत गीता का कर्म- सिद्धांत एक-एक अक्षर समक्ष-साक्षात् उपस्थित हो गया है। जिस सत्य को अध्यायों में पढ़ने-समझने और विवेचना करने का प्रयास किया, उसके प्रभाव को अनुभूत करना अपने आप में एक अद्भुत अनुभव है, सौभाग्य से जिसे जाना है, शोधार्थी ने!

प्रकृति के दो भिन्न रूपों की तरह ही प्रवृत्तियों से प्रभावित आचरण के भी दो रूप हैं। एक देवत्व प्रेरित अर्थात् सतगुण से प्रेरित यथा धर्मराज युधिष्ठिर, और

अन्य दैत्य अर्थात् तम-गुण से प्रेरित अर्थात् दुर्योधन। कुछ व्यक्ति रजोगुणी भी होते हैं जो बीच का राह अपनाकर भौतिक समृद्धि और सात्विक वृत्ति को भी साथ ही साथ अपनाते हैं। ऐसे पात्रों में राजकुमार भीम और नकुल, सहदेव जैसे पात्र अपना आचरण प्रदर्शित करते हैं। किन्तु पूर्णतः देवत्व के आचरण का अनुसरण करने वाले पात्र स्वयं श्री कृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, महामुनि वेदव्यास एवं महात्मा विदुर हैं। जिनके लिए धर्म ही जीवन का प्रयोजन है और उसकी प्रेरणा भी। इन सभी पात्रों का अध्ययन विवेचन करते हुए, मूल्यों की विश्लेषणा में बहुत सहायता मिली और शास्त्र सम्मत दृष्टि से शोधार्थी द्वारा अपने मूल्यपरक कई चिंतन-रहस्यों पर से आवरण उठाने का कार्य सम्पन्न हो सका। इन पात्रों ने अध्यात्म के कई प्रश्नों को भी स्पष्ट देखने-समझने में सहायता की। और धर्म और नैतिकता के मर्म को समझने में भी शोध कई स्तरों में सफल हुआ।

मानव की उपभोक्तावादी वृत्तियां कितनी भी बलवती क्यों न हों किन्तु उसकी संकल्पनाएँ, उसकी प्रतिक्रियाएँ, उसका विकास, उसका आत्मबल, उसके जीवन में मूल्यों का स्थान कम नहीं कर सकता। अधिकांश सम्बन्धित साहित्य प्राप्त करने के पश्चात् बहुत नई दृष्टिकोणों के रूबरू हुई और नवीन विचारों से साक्षात्कार हुआ। वर्तमान संचार माध्यमों की भी बहुत सहायता मिली। सोशल मीडिया पर उपलब्ध ऑन—लाइन पुस्तकें एक बहुत उम्दा साधन सिद्ध हुईं।

सबसे बड़ी बात जो इस शोध ने सिखाई वह एक बहुमूल्य\_बल्कि अनमोल सिद्धांत है कि जीवन में मूल्य सिर्फ संज्ञा न होकर, क्रिया हो जाएँ तो ही जीवन की सार्थकता है तभी मानव-मानव होने की सर्वोच्चता को प्राप्त कर सकेगा।

## महासमर के उपन्यासकार डॉ. श्री नरेंद्र कोहली जी से साक्षात्कार के अनुभव

नई दिल्ली, 23 जून (2018) की शाम 4.00 बजे। उपन्यासकार महोदय डॉ.श्री.नरेंद्र कोहली जी से मिल कर उनको अपना और अपने शोध के विषय, 'नरेंद्र कोहली कृत उपन्यास 'महासमर' में जीवन मूल्य', का परिचय दिया। और प्रश्नों का सिलसिला आरम्भ किया।

**प्रश्न:** पीएच.डी. की उपयोगिता क्या है ? आपका अनुभव क्या है ?

**उत्तर:** 'क्या उपयोग है, पी.एच्.डी. की डिग्री का ? हाँ, यदि नौकरी आदि करनी हो तो इन डिग्रियों का महत्व जरूर है। अगर आपके पास डिग्री होगी, तो ओहदे से आप प्रोफेसर होंगे, असिस्टेंट प्रोफेसर होंगे। अतः नौकरी के लिए, कभी-कभी पैसों के लिए भी, इन डिग्रियों का महत्व जरूर है। किन्तु इसके अलावा यदि इसका कोई उपयोग है, तो वह है आत्म-विकास। पढ़ना और ज्ञान को बढ़ाना, अपने स्व के विकास का होना, यह अधिक आवश्यक है। मैं तो दिल्ली में रहते हुए भी, पी.एच्.डी. की कन्वोकेशन में, अपनी पी.एच्.डी. की डिग्री लेने नहीं गया, दूसरे दिन, एक प्रोफेसर थीं श्रीमती सिन्हा, उनका फ़ोन आया, 'दिमाग तो नहीं खराब हो गया, आये क्यों नहीं ? मैंने कहा, 'अरे डिग्री का क्या है, डाक से आ ही जायेगी। वहां मंच पर जा कर गाउन वगैरह पहन कर डिग्री लेने का क्या फन है। पर आप जब कुछ ऐसा करते हैं, तो लोग समझाते बहुत हैं। पागल हो? दिमाग खराब बहुत है ? आपको शायद मालूम होगा, अपनी उम्र के 55वें वर्ष में मैंने अपने अध्यापन कार्य से स्वैच्छिक अवकाश ले लिया था। मेरे प्रिंसिपल ने भी समझाया कि यदि तुम्हें लिखना है तो लिखो। इसके लिए नौकरी छोड़ने की क्या जरूरत है। क्लास नहीं लेनी न लो। पर पैसे ले लूँ, और माल न दूँ, ऐसा नहीं कर सकता था मैं। लोगों ने समझाया कि ग्रेड भी लागू हो गये हैं। पर मुझे विश्वास है, आपके लिए भगवान इतना इंतजाम कर देते हैं। लोगों ने बहुत समझाया। दुनिया समझाती बहुत है। सिरफिरा कहा, किन्तु मैं अपने निर्णय पर अडिग रहा। मुझे



खुशी है, इस उम्र में आके, 23 वर्ष हो चुके हैं, इतने वर्ष बिता के, मैं छाती ठोक के कह सकता हूँ, कि कुछ गलत नहीं हुआ, कभी मुझे अपने निर्णय पर अफ़सोस नहीं हुआ। मुझे विश्वास है, कि परमात्मा सबका इंतजाम खुद करता है। यह भी है, कि जितना काम मेरा, इन दस वर्षों में हुआ वह नौकरी के साथ नहीं हो सकता था। दिल्ली जैसे शहर में आने जाने में ही सारा समय लग जाता है। जो मैं करना चाहता हूँ, उसके लिए समय की ही तो आवश्यकता है। तो सब की अपनी स्थितियां हैं, सबका अपना स्वभाव है। मुझे जो उचित लगा वो मैंने किया, मैं ये नहीं कहता, जो मैंने किया, वही सब करें। जिसे जो ठीक लगता है वो- वो करे।

**प्रश्न:** आपके संपर्क में बहुत से लोग आते होंगे, जिन सब के अंदर ये कुशलताएँ नहीं होतीं, तो वह अपने समय का उपयोग तो ऐसे नहीं कर पाते ?'

**उत्तर:** तो वह न छोड़े नौकरी। मैंने कब कहा कि वह भी नौकरी न करें। कुछ लोग पैदा ही नौकरी करने के लिए होते हैं। वह 65 की उम्र में जब रिटायर होते हैं। तो उन्हें डिप्रेशन होने लगता है, कि हम क्या करेंगे, उनकी अपनी कोई जिन्दगी नहीं होती। वो बागबानी का काम भी नहीं कर सकते। वो सैर सपाटा भी नहीं कर सकते, वो पढ़ लिख भी नहीं सकते। वो सिर्फ एक मशीन की तरह जी सकते हैं। तो ठीक है, उनके भाग्य में वही है, वो वही कर सकते हैं। इसमें हम क्या कर सकते हैं ?

**प्रश्न:** आपने पौराणिक कथाओं को आधार बना कर कई उपन्यास लिखें हैं। पौराणिक कथा एवं कथानक में क्या अंतर है ?

**उत्तर:** कथा वो है, जैसे एक राजा था, एक रानी थी, राजा मर गया, रानी मर गयी और कथा समाप्त। 'ऐसे कथा बनती है। और कथानक वह है, जिसमें तर्क है, जो कथा के करण-कारण का हिसाब देता है, जैसे एक राजा था, एक रानी थी, राजा मर गया, उसके दुःख के कारण रानी भी मर गयी।' घटनाएँ और तर्क कथा का कथानक पिरोते हैं, और उसमें कार्य और कारण के सूत्र बांधते हैं। जब तक तारतम्य नहीं जोड़ेंगे तब तक कथा में प्रवाह नहीं आयेगा न !

**प्रश्न:** आजकल जब हम श्री राम अथवा श्री कृष्ण का या किसी और की कथा का जिक्र करते हैं, तो युवा उसे हास्यास्पद सा क्यों बना देते हैं ? हम झांकियों आदि के रूप में उनका स्वांग करते हैं ? हम क्यों नहीं अपनी संस्कृति को मान दे पाते ?

**उत्तर:** मैं तो आपकी बात से सहमत नहीं हूँ। कौन सा युवा है ? जो इसे हास्यास्पद बनायेगा ? बनाके तो दिखाए! इसी देश में लाखों लोग ऐसे हैं जो उनका सर काट लेंगे। हास्यास्पद का क्या मतलब है ? क्या हास्यास्पद है उसमें ? देखिये हर देश के अपने रीति रिवाज होते हैं। हिन्दुओं में शुरू से ही ये है कि राम हो, कृष्ण हो, शिव हों, आप किसी को माने। मैं ये मानता हूँ, मैं क्या ! समाज ये मानता है, कि बच्चे को अगर कृष्ण के रूप में सजाया जाये, तो बच्चा भी कृष्ण से प्रभावित होता है। एक तरह से संस्कार होता है। राम लीला करते हैं। मोहल्ले में करते हैं, कुछ अच्छी नहीं भी करते, मैं ये भी मानता हूँ। जिस स्तर के लोग हैं उस स्तर की बात करेंगे न ! अगर वो धोबी है मोहल्ले का, वह उसमें किसी का पार्ट कर रहा है उसमें, तो वह उसी स्तर का करेगा, तो वो उसी समाज के लिए है न। पर आप अपने स्तर के लिए, जो पुस्तकें हैं, उन्हें भी पढ़ ले। बाल्मीकि हो, तुलसीदास हों, इनको तो हम मानते हैं प्रमाणिक। और उसके बाद अगर आप क्रितिवास को लें, बंगला में वह प्रमाणिक माने जाते हैं, मगर मुझे उसमें बहुत सारी स्थितियां हास्यास्पद लगती हैं। उसी तरह से हर भाषा में अपनी-अपनी तरह, अपने स्तर से लोगों ने लिखा है। जैसे-जैसे आपका संस्कार होता जाता है। जैसे बचपन में हम कोई भी पुस्तक मिलती है, पढ़ लेते हैं। पर जैसे-जैसे हम प्रौढ़ होते हैं, वैसे-वैसे हमारी अपनी बुद्धि उसको अस्वीकार कर देती है। अब राम कथा में, सामान्य जन से यह पूछे कि, क्यों जनक ने यह शर्त रखी, कि अजगव धनुष परिचालित किया जाए, या तोड़ने की शर्त तो नहीं है उसमें। तो आपको कहानी सुनाई जायेगी, कि एक दिन सीता ने झाड़ू पौछा करते समय उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रख दिया था। तो जनक को लगा कि मेरी पुत्री इतनी बल शाली है, इसका पति तो इससे ज्यादा होना चाहिए। मेरा प्रश्न यह है, कि वह जनक, सम्राट सीरध्वज जनक,

जिसने सीता के विवाह में सैकड़ों दासियाँ साथ में दे दी थी, उस घर में सीता झाड़ू पोंछा करती थी ? मूर्खता है यह ! जिनको हम कहते हैं न किवन्दन्तियाँ या लोक कथाएं। जैसे पिछले दिनों यहाँ यूनिवर्सिटी के कोर्स में लगा दिया।...एक कोई रामानुजम है, जो ईसाई हो गया है, और आजकल अमरीका में है, उसने एक कविता में लिखा कि रावण ने छींक मारी और उससे सीता उत्पन्न हुई, और यह यूनिवर्सिटी के संस्कृति के इतिहास विभाग में पढ़ाया जा रहा है। फिर मैंने एक व्यंग लिखा कि सोनिया गांधी ने छींक मारी तो हमारे शिक्षा मंत्री पैदा हुए, और उसने छींक मारी तो अंसारी पैदा हुए। आप विज्ञान पढ़ा रहे हैं ! तो कहिये छींक मारने से बच्चा पैदा होता है कहीं ? तो आप को यह देखना होगा कि इस तरह की जो बातें करते हैं या तो उनका दिमाग अर्धविकसित हैं, या वो आपका मजाक उड़ाने के लिए ऐसी बातें कहते हैं। तो ऐसे लोग ही विरोधी बातें करते हैं। इसमें ऐसा नहीं है कि हमारी अगली पीढ़ी अपनी पौराणिक कहानियों को हास्यस्पद कहे। मेरा एक उपन्यास है वासुदेव ! यदि आपने पढ़ा हो, तो उसमें एक प्रसंग है, कि बलराम के समय गर्भ धारण करती है देवकी, और उसे प्रसव करती है रोहणी। तो योगमाया उस भ्रूण को उस गर्भ से इस गर्भ में स्थापित करती है। मेरा एक बेटा यु.एस.ए.में है। वह कम्प्यूटर इंजीनियर है। वह कहता है योग माया एक डॉ. है। मैंने उसमें इस तरह का विवरण दिया। अब लोग पूछते हैं, केवल विरोध के लिए ही पूछते हैं! कि आपके पास क्या प्रमाण है, कि उस समय सर्जरी होती थी ? मैं उनसे पूछता हूँ, आपके पास क्या प्रमाण है कि उस समय सर्जरी नहीं होती थी ? प्रमाण मेरे पास भी नहीं है आपके पास भी नहीं है। अब एक उदाहरण और देखिये ! महाभारत में जहाँ द्रौपदी का भाई या बहन शिखंडीनी को शिखंडी बनाया गया जहाँ, वो सारा प्रसंग पढ़ें। किसी भी सर्जन के पढ़ने के लायक है। कि क्या क्या दवाएं मली गयीं ? क्या क्या व्यायाम कराए गये? क्या क्या भोजन दिया गया ? और कैसे सर्जरी की गयी ? तो क्या वो बेवकूफ लोग थे ? आपने नहीं पढ़ा तो आपको नहीं पता। '

**प्रश्न:** ऐसे ही एक कहावत लोगों में प्रचलित है कि विदुर, धृतराष्ट्र, और पांडू का जन्म वेदव्यास की आँखों से हुआ ! इस पर आप क्या कहते हैं ?

उत्तर: किसने कहा कि विदुर, धृतराष्ट्र, एवं पांडू वेदव्यास की आँखों से उत्पन्न हुए ? दिक्कत यह है, कि मूल ग्रन्थ कोई पढ़ता नहीं, हवा में बातें पकड़ते हैं। देखिये समाज हर काल में बदलता रहता है। मुसलमानों में आज भी चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई बहनों में विवाह हो जाते हैं। सिवाए सगी बहिन के, मतलब माँ बाप दोनों वही होने चाहिए। सौतेले भाई बहन में भी विवाह हो जाता है। अब एक ही समय में एक समाज में एक चीज़ है दूसरे समाज में दूसरी चीज़ है। महाभारत में दो तीन चीज़ें इस तरह की हैं। -एक, ऋषि ये मानते हैं कि प्रकृति ने जो कुछ भी पैदा किया है, वो पवित्र है। मनुष्य का जन्म पवित्र है। कानीन पुत्र यानि कन्या जिस संतान को अपने पिता के घर में जन्म दे। कन्या से कानीन कहा जाता है। वह धर्मसंगत है। पति से उत्पन्न पुत्र, औरस पुत्र है, वो धर्मसंगत है। एक स्त्री की किसी पुरुष से संतान हुई हो वो क्षेत्र है, उसको क्षेत्रज कहा जायेगा। दत्तक पुत्र, अर्थात् गोद लिया पुत्र भी धर्म संगत है। उस स्त्री की सारी संतानें उसके पुरुष की होंगी। क्योंकि वह उसका स्वामी है। उन सबको धर्म संगत स्वीकार करता है। उसमें उसको कोई आपत्ति नहीं है। एक और है नियोग, अगर एक स्त्री को संतान की इच्छा है, और संतान उसके अपने पति से नहीं हो रही, तो और पुरुष संतान चाहे, तब स्त्री अथवा उसका पति किसी पुरुष को संतान हेतु नियुक्त करता है। वो उसको संतान देता है, लेकिन उसके बाद, उनमें कोई सम्बन्ध स्त्री पुरुष जैसा नहीं होता। यहाँ वेदव्यास को उसकी माँ सत्यवती बुलाती है, कि राज्य के लिए मेरी बहु को संतान दो। मुझे पौत्र चाहिए, नियोग के माध्यम से संतान दो। तो वो व्यक्ति जितना कुरूप बन सकता है, बन के आता है, स्त्री से प्रेम का या उसे लुभाने का, लगाव का कोई आशय नहीं है उसका। सिर्फ एक्ट करता है। उसके बाद उसका कोई लेना देना नहीं है। वो संतान भी धर्म संगत मानेंगे। किन्तु आज हम उसे नहीं मानेंगे, क्योंकि समाज बदल जाता है। सामाजिक विधान बदल जाता है। महाभारत में पांडू जो था वह एक तरह से निर्वीर्य था, संतान उत्पन्न नहीं कर सकता था, तो उसने अपनी पत्नी से नियुक्त पुरुष से पुत्र पैदा करने के लिए कहा। तो कुंती ने मन्त्र यानि मंत्रणा के द्वारा तीन पुत्र पैदा किये। जब पांडू ने फिर उसे चौथी बार कहा, तो कुंती

ने कहा कि मेरे पास तीन पुत्र हैं। अब यह व्यभिचार होगा क्योंकि तीन से अधिक धर्मसंगत नहीं है। उसने माद्री को वह मन्त्र दिया और उसके दो पुत्र उत्पन्न हुए। तो महाभारत में यह साफ़ है कि उस युग में ऐसी व्यवस्था थी। अब यह सब समय के अनुसार धर्मसंगत है। एक चीज़ का अंतर है कि ऋषि तो इस को स्वीकार करता है, क्योंकि ऋषि को तो उन्हें कुछ देना है नहीं। उसके पास सिर्फ ज्ञान है। जिसको मर्जी दे देगा। जो बच्चा आ जाये, वो उसका मानस पुत्र है। पर राजा को तो अपना राज्य अपने पुत्र को देना है। तो वह इसे स्वीकार नहीं करता। उसको अपना औरस पुत्र चाहिए। इसलिए व्यास की माँ सत्यवती हस्तिनापुर आकर यह नहीं कह सकी कि पराशर से मेरा पुत्र है व्यास। उसी प्रकार कुंती कर्ण के विषय में नहीं बता सकी। राज्य परिवार उसे स्वीकार नहीं करता। ऋषियों को कोई फर्क नहीं पड़ता। यह एक बहुत बड़ा अंतर है, उन दोनों के चिंतन में।

**प्रश्न:** कुंती और द्रौपदी के चरित्र आदि पर प्रश्न क्यों लगा दिया जाता है ?

**उत्तर:** जब आप पढ़ेंगे-लिखेंगे नहीं, जानेंगे नहीं। अपने आप को दुनिया का बुद्धिमान मान के सब सोचेंगे, तो वास्तविक ज्ञान का पता नहीं लगेगा। उस समय को तो समझ लो। उस समय के तर्क को तो समझ लो। आज के युग को उस पर आरोपित कर नहीं चला जायेगा। कल का युग आपके युग को बेवकूफों का युग कहेगा। ये समाजशास्त्र है। उसे पढ़ें कि समाज में किस तरह से चीज़ें बदलती आयीं।

**प्रश्न:** काल के अनुसार, बदलाव कहाँ और कैसे रूप लेता है ? आप किस ओर इंगित कर रहे हैं ? कुछ चीज़ें अब भी अस्तित्व में रहती हैं क्या ?

**उत्तर:** अब देखें ! बहुपत्नीत्व तो रहता ही है। लेकिन बहुपतित्व जो है, आज भी है दुनिया में। हिमालय के बीच, बस्तियों में है। विवेकानंद ने एक जगह लिखा कि, एक घर में वह गये। वहां चार पांच भाई थे। उन भाइयों की एक ही पत्नी थी। इसके दो कारण होते हैं, एक तो जमीन का बंटवारा न हो। तो एक ही स्त्री से दूसरा भाई भी पैदा कर लेगा संतान, तो ठीक है। लेकिन जो दूसरी चीज़ है वो है,

विवेकानन्द उस बड़े भाई को कहते हैं कि, वो जो तुम्हारे भाई की पत्नी है, तुमको शर्म नहीं आती, तुम भाई की पत्नी से वैसा ही व्यवहार कैसे करते हो ? तो वह बड़ा भाई हँसता है, 'अरे इतनी सुंदर, इतनी महिमामयी, इतनी गुणवंती स्त्री किसी एक की सम्पत्ति हो जाये ? उसको भी तो खुला मैदान मिलना चाहिए। अब यह चिंतन है, इसको आप माने या न मानें। पर ये रहा है, समाज में पहले भी और अभी भी बहुपतित्व का। और अब उसमें केवल द्रौपदी है, इसको बार बार कहना बेकार है। और ये द्रौपदी को नहीं, उसके बहाने पुरुषों को ही कहा जाता है, कि पुरुष ही इतना अत्याचारी था, कि एक स्त्री पर इस तरह से जुल्म करता था। एक महिला लेखिका ने एक उपन्यास लिखा उसमें द्रौपदी लड़ रही है कुंती से। सास बहु तो लड़ती ही हैं। उसमें द्रौपदी लड़ रही है। कुंती से कह रही है कि तुमने पांच पतियों की पत्नी बना कर मुझे पांचाली बना दिया। उस लेखिका को यह नहीं पता कि पांचाल एक देश का नाम है। वहाँ के लोगों को पांचाली कहा जाता है। मैंने इसका उदाहरण इसलिए दिया कि, इतनी अक्ल लेकर वो उपन्यास लिख रही है और द्रौपदी के पक्ष में लिख रही है।

**प्रश्न:** मैं जब आपके उपन्यास आदि पढ़ती हूँ, तो मेरी दृष्टि खुल जाती है। रहस्य तर्क से स्पष्ट हो जाते हैं। आजकल संचार माध्यमों (टी.वी.) में भी इतने अधिक धार्मिक-पौराणिक धारावाहिक चल रहे हैं, और उसमें इतने चमत्कार आदि दिखाए जाते हैं। क्या वह सब भी प्रमाणिक हैं ?'

**उत्तर:** उन्हें आप सब बम्बैया फिल्म मानें। शुद्ध मुखता है। नाटक हैं वे सब। मनोरंजन के उद्देश्य लेकर बनाये गये। कहानियाँ कहाँ से ली हैं ? किन ग्रंथों से ली हैं ? पता नहीं कहाँ से घटनाएँ पुरो कर डाल देते हैं। उन्हें खुद ही नहीं पता। आप उसे एक परी कथा के रूप में पढ़ जाइए।

**प्रश्न:** पर हमारे बच्चे तो वही देख रहे हैं। वही संस्कार, वही मूल्य सीख रहे हैं! फिर ?

**उत्तर:** तो उसमें बच्चों का दोष है या उन फिल्म वालों का ? अब मेरा बच्चा बाहर जाता है। सुनता है कि लोग गालियाँ देते हैं। तो मैं उन गाली देने वाले को तो

कुछ नहीं कह सकता। वह तो अपने भाई को गाली देते हैं, बेटे को देते हैं। मैं अपने बच्चे को समझाऊंगा कि ये भाषा तुमको नहीं बोलनी है। यह ठीक नहीं है। अपवित्र है। तो हमको यह खुद समझना होता है, अपने बच्चों को समझाना होता है कि हमारे बच्चे ये देखेंगे तो ये हो जायेंगे, तो दुनिया में किस-किस को रोकेंगे ? आजकल लोग दूसरे ढंग से चल रहे हैं—आज कल सुपरमैन, स्पाइडरमैन, अवेन्जर्स, हैरी पॉटर आदि परोस रहे हैं। वो एक पौराणिकता के नाम पर परोस रहे हैं। तो अपनी पौराणिकता हम अपने बच्चों को बताएं। हम अपने बच्चों को बताएं और दिखाएँ, मैंने देखी-पूरी रामायण, पूरी महाभारत, जो टी.वी. पर दिखाई गयी। बल्कि मैंने उसके हर एपिसोड पर लिखा भी। मुझसे यह आग्रह किया गया था। मेरा कहना है कि उनको कहो कि मूल ग्रन्थ पढ़ो और समझो। बात यह कि हमारी भाषा है संस्कृत। जो हमसे छिन गयी। हमको संस्कृत आती ही नहीं। तो उसको पढ़ें कैसे? अब जैसे हमारी पुस्तक है गीता, भगवतगीता। उस पर हजार टीकाएँ लिखी गयी। जिसको देखो वो टीका लिख रहा है। भाष्य लिख रहा है। उस पर भी इतनी गलत सलत लिखते हैं।--‘अब पंडित जी बताएँगे आपको कि कर्म कीजिये। आपको कर्म करने का अधिकार है। फल का अधिकार नहीं है। तो मैं पूछता हूँ कि क्यों हमको फल का अधिकार क्यों नहीं नहीं है ? फल का अधिकार नहीं है, तो आप कर्म करेंगे ही क्यों ? तो फिर कृष्ण क्या कह रहे हैं ? कृष्ण कह रहे हैं कि अब कर्म कौन सा करना है ? उसके चुनाव का अधिकार तुमको है। पर उसका फल जो होगा, उस का अधिकार प्रकृति के नियमों के अनुसार तुमको मिलेगा। उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं होगा। मेरा एक विद्यार्थी था वह कहता था, कि विज्ञान के नियम होते हैं। उसके विज्ञान के अनुसार किसी गेंद को दिवार पर मारिये, वह वापिस आ जायेगी। किन्तु शर्त यह है कि गेंद में हवा पूरी होनी चाहिए और दिवार ठोस होनी चाहिए। अब उसे रेत में मार के देखिये, या कीचड़ में मार के देखिये आपके ऊपर कीचड़ के छींटे पड़ेंगे। तो आपको देखना है कि कौन दिवार है? कौन रेत है ? कौन कीचड़ है ? तो जिस आदमी से आप व्यवहार करेंगे, आपको वैसा ही प्रतिफल मिलेगा। यह प्रकृति का नियम है। यही नियम कर्म और उसके फल के विषय में भी लागू होता है।

**प्रश्न:** आप जैसे स्पष्ट और आशावादी है। ऐसे और भी लोग होने चाहिए न। आपको ऐसा नहीं लगता है, कि आसपास का वातावरण जो है वह ऐसा ही हो जाये?

**उत्तर:** इसके लिए आप भगवान से प्रार्थना कीजिये।

**प्रश्न:** मैं सच ही ऐसा चाहती हूँ। क्या मूल्य परक सोच वाले वातावरण का आगमन होगा ?

**उत्तर:** सभी चाहते हैं। हम सब चाहते हैं कि अच्छी साफ-सुथरी सोच वाले, सात्विक सद्बुद्धि वाले और ज्ञानवान लोग अच्छी पुस्तकों को पढ़ने वाले लोग आस पास हों। पर आप कामना ही तो कर सकते हैं। अब उन्हें पैदा तो नहीं कर सकते न। अब मेरे कितने ही विद्यार्थी, लेखक और जैसे अब आप आये। उन से बात करता हूँ, उन्हें समझाता हूँ, कहता हूँ, कह सकता हूँ न ! उनपर थोप तो नहीं सकता। जिन्हें समझ आ जाये, ठीक है, जिन्हें न आये, उनका भगवान मालिक है। राम जी की इच्छा।’

**प्रश्न:** राम जी को पढ़ती हूँ, जैसे उन्होंने छोटे से छोटे व्यक्ति को अपनी सेना को संगठित करते समय मिलाया। वे कोई सैनिक नहीं थे, न ही उन्हें शस्त्रों का ज्ञान था। उन्होंने तो उन सबके लिए एक प्रशिक्षण केंद्र ही खोल लिया।

**उत्तर:** जिस भी देश में क्रांति हुई। उसका पहला नियम है कि एक बहुत बड़ा आदमी, आपकी तुलना में, जिसे भगवान् पैदा करता है, वहां होता है। कृष्ण कहते हैं कि जन्म के समय आपको मैंने यह स्वभाव दिया जो आपके पिछले हजारों जन्मों के फल के रूप में आपको मिला, वह स्वभाव आपको मिला। आपके कार्य सुनिश्चित हैं। आपको वो काम करना है। जैसे अर्जुन को कृष्ण कहते हैं, तेरी हड्डियों से कार्य कराऊंगा।’ जो जन्म हमें मिला है, उसमें हम सब बराबर हैं। बराबर इस अर्थ में कि सबके दो हाथ, दो पाँव, दो आँख आदि है, इसमें नहीं कि जो प्रतिभा ! ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा, उसके अंतर में है। हाँ तो, जो एक बहुत बड़ा आदमी पैदा होता



है, ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा के साथ, वह समाज के सब तबकों को, या वर्ग कहिये, साथ ले कर चलता है। जहाँ-जहाँ क्रांति हुई है, चाहे रूस में, फ्रांस में, चीन या भारत में कह लीजिये कि गाँधी के कहने पर सब चल पड़े। वहाँ कोई न कोई बड़ा आदमी जरूर आगे है। राम की ले लें कि एक गिलहरी भी है, जो कार्य में सहायक है, यद्यपि ये वास्तव में सच नहीं है, यह तो उदाहरण है। तो बड़े आदमी के साथ साथ, छोटे से छोटा जीव भी है, वह अपने तरह से अपनी क्षमता भर सहायता करता रहता है। अब जैसे मेरे एक प्रकाशक को मैंने फ़ोन किया कि भाई जो मेरी रायल्टी है, वो भेजो, क्योंकि इनकम टैक्स देने का समय आ रहा है। तो वह कहता है कि जो रायल्टी है, उसपर अठरह % जी एस टी लगेगा तो वो हमको देना है। यानि प्रकाशक देगा, तो वह बहुत ज्यादा हो जाता है। उसने कहा, अगर वह मुझे रायल्टी नकद दे देगा और रायल्टी कम दिखा देगा, तो उसे इतना टैक्स नहीं देना पड़ेगा। मैंने कहा मुझे ये नहीं करना है, अगर तुम्हें तकलीफ है तो तुम मुझे कम दे देना। मैंने तो ब्लैक में नहीं लेना। देश को धोखा नहीं देना। अब अगर टैक्स देना पड़े तो दो न। देश से चोरी क्यों। इतना कमाते हैं तो देश का भाग क्यों लें ? वास्तव में प्रकाशक टैक्स के नाम से डर गया है और बेईमानी पर उतर आया। देखिये कनेडी ने कहा था कि 'ये नहीं सोचे कि देश ने आपके लिए क्या किया। सोचें कि देश को आपने क्या दिया।' अब अगर देश का हर आदमी कहेगा। मुफ्त में बिजली दो, मुफ्त में पानी दो तो पैसा कहाँ से आयेगा। तो हम, जो भी छोटा मोटा कर सकें करना चाहिए। हम सब गिलहरियाँ हैं। ये देश सबका है। सब करें। देश सबसे बनता है। जैसे जापान के लिए कहते हैं कि एक व्यक्ति लंच के लिए 3 मिनट पहले उठ आया तो माफ़ी मांगी। हमारे यहाँ तो आधा घंटा पहले ही उठ जाते हैं।

**प्रश्न:** भारतीय समाज में संस्कृति की पैठ कहाँ तक देखते हैं आप ? कृष्ण बार बार युधिष्ठिर को धर्म का मर्म समझाते हुए राजा बनाना चाहते हैं। वह इतनी कोशिश कर रहे हैं कि धर्म के अनुसार राज बने। लेकिन आज हमारे देश में जो प्रशासक है, वह जो काम करता है, उसकी केवल आलोचना ही क्यों करते हैं, क्यों

नहीं उसका साथ देते ? वास्तव में राम राज्य की कल्पना नहीं है ? यदि हम सब गिलहरियाँ ही हैं तो क्यों अपना कार्य कर उसका साथ नहीं देते ? क्या हम सब आलोचना ही करते रहेंगे ?'

**उत्तर:** ये सब तो आपके सामने ही है। इसमें क्या समझाने वाला है ? आप अपना काम करिये। औरों का वोही देखेंगे। अब देखे संयोग से नरेंद्र मोदी इस समय हमारे प्रधान मंत्री हैं। उनके खर्च के लिए लोगों ने एक आर.टी.आई. डाल दी कि इनका खाने आदि का खर्च का क्या ब्यौरा है। तो पता लगा कि उनके खाने आदि का कोई खर्च वहां से नहीं होता। खाने का खर्च वह अपने वेतन से अपनी रसोई से करते हैं। उनकी यात्राओं के बारे में पता चला कि वह रात में सफ़र करते हैं। जिससे होटल में खाने और रात के रहने का खर्च बच सके। ऐसे आंकड़े सामने आये कि, उनकी अधिक यात्राओं की तुलना में पिछले प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह एवं अन्य नेताओं की कम यात्राओं में बहुत अधिक खर्च हुआ। तो यह एक आदमी है, जो स्वयं से देश के लिए कुछ कर रहा है। एक हमारे ओमप्रकाश कोहली जी हैं, जो दिल्ली यूनिवर्सिटी में थे, गुजरात के राज्यपाल हो गये। वहां एक परम्परा है कि, रोज राजभवन को फूलों से सजाया जाता था। उन्होंने जाते ही कहा, इसे बंद करो। और सजाना ही है, तो जो लोग रोज मुझे मिलने आते हैं, और साथ में फूलों के गुलदस्ते लाते हैं, उनसे भवन को सजा दो। तो ऐसे लोग भी हैं जो सोचते हैं कि ये सरकार का, जनता का या लोगों का पैसा है, इसे बचाएं और स्वयं से कुछ करें। पराया सुख नहीं बल्कि हम अपने दम पर कुछ करें। हमारे साथ एक विष्णुशास्त्री जी थे, जिनका अब देहांत हो गया है। वह, मैं एवं हमारे एक और साथी, लखनऊ के एक कार्यक्रम में गये। जिसे लखनऊ हिंदी साहित्य परिषद ने आयोजित किया था। हमें होटल पलाश में ठहराया गया था। वहां कार्यक्रम के पश्चात् शाम तीन बजे के बाद की हमारी वापिसी की गाड़ी थी। होटल का चेकआउट का समय 10 बजे था, हम नहाए-धोये, तैयार हुए, ब्रेकफास्ट किया और अपना सामान बांध कर, कमरे खाली कर सामान लॉबी में रख दिया। जिससे उस दिन का, तीन कमरों का, होटल खर्च हिंदी साहित्य अकादमी पर न पड़े। अब इसमें क्या बात थी। यदि हम

कुछ देर हजरतगंज में घूम आये और सामान होटल की लॉबी में रख दिया। तो यह कुछ छोटे-छोटे काम हम अपने देश के लिए कर सकते हैं। वरना अब तो ज्यादा लोग नोच-खसोट में लिप्त हैं। वे कहते हैं कि मुफ्त में बिजली मिल जाये, मुफ्त में सब कुछ मिल जाये ओर बस गलत तरीकों से धन एकत्र करने में लगे हैं। अब, जब आप अधर्म का पैसा कमाओगे और वही अपने बच्चों को दोगे, तो वह भी तो अधर्म में ही जायेगा। खुद बोतल खोल कर बैठे हैं, तो बच्चा भी तो वही करेगा। वह या सड़कों पर एक्सीडेंट में मारे जातें हैं, पी कर पड़े रहते हैं, या रेप कर जेल जाते हैं। मैंने देखा है कि बहुत जगहों पर जैसे पंजाब एवं बिहार आदि में धाराप्रवाह गालियों का प्रयोग उनकी भाषा का हिस्सा है। वे घरों में भी माँ-बहनों को गालियां देते हैं। उनकी भाषा का यही स्टाइल है। पर हमको तो ये समझाया गया, कि घर में हम भाई थे, तो अगर किसी ने कुत्ता या बंदर भी कह दिया तो यह गाली है। ये नहीं बोलना है, तो वहीं रोक लग गयी। आदत पड़ गयी। अब मेरा बेटा है। जब छोटा था तो, एक दिन मैंने देखा कि वह एक पेन से लिख रहा है, जो उसे मैंने नहीं ले दिया था। मैंने उससे पूछा कि ये पेन कहाँ से आया। तो कहने लगा कि स्कूल के ग्राउंड से मिला। मैंने कहा कि यह मैंने तुम्हें ले नहीं दिया, तुमने ख़रीदा नहीं। तो यह तुम्हारा नहीं हुआ। तो इसे वापिस करो। उसने कहा कि किसे दूँ, मैंने कहा स्कूल के लॉस्ट-फ़ौण्ड विभाग में जमा कर दो। किसी की चीज़ रखने को चोरी कहते हैं। वह बहुत तडपा कि आपने मुझे चोर कहा ! तो मैंने उसे समझाया कि, मैंने तुम्हें चोर नहीं कहा, इस काम को चोरी कहा है। वह समझ गया। तो इस तरह हम अपने बच्चों को संस्कार दे सकते हैं। लोग ऐसा कहते हैं कि बच्चों को संस्कार देना चाहिए, पर मुझे तो लगता है कि उनके माता पिता को संस्कारों की अधिक आवश्यकता है। अब दिक्कत यह है कि किसी को समझाओ तो वह बुरा मान जाता है, लड़ता है। पर इस उम्र तक आके मैंने तो सच बोलना है, कोई बुरा मानता है तो वह देखे।'

प्रश्न:वर्तमान सन्दर्भों में महाभारत एवं रामायण काल के अश्वमेघ एवं राजसुज्ञ यज्ञ का क्या रूप है ?

**उत्तर:** ये यज्ञ वास्तव में उस समय तीन कारणों से करवाए जाते थे-‘एक:तो यह कि एक सत्ता केंद्र में हो जो धर्म का ध्यान रखे और यह सुनिश्चित करे कि अन्य सब राज्य धर्मानुसार चलें। उन से यदि युद्ध भी लड़ा जाता था तो उन पर अधिकार जमाने के लिए नहीं। उदाहारण के लिए जैसे भीम ने जरासंध का वध किया, तो उसके राज्य पर अधिकार नहीं किया वरन उसके ही पुत्र को सिंहासन सौंप दिया कि वह धर्मानुसार राज्य करे। ऐसे ही राम ने जब किष्किन्धा को जीता या लंका को विजय किया तो स्वयं नहीं सिंहासन पर अधिकार किया वरन वहीं के उत्तराधिकारियों को सौंप दिया जिससे धर्म का राज्य स्थापित हो सके। यही केंद्र के सम्राट का कार्य था। अतः एक समृद्ध और ज्ञानवान सम्राट का होना आवश्यक है, जो अनुपातिक रीति से धार्मिक रीति से राज्य चलाने में सहयोग कर सके। ‘दूसरा: यदि कोई बाहरी आक्रमण हो तो छोटे राज्यों की सुरक्षा में केंद्र उसकी सहायता कर सके। जैसे सिकंदर आदि ने भारत पर आक्रमण किया। तो इस प्रकार के आक्रमण के समय सभी छोटी शक्तियां संगठित होकर सम्राट की सहायता से अपनी रक्षा करें। ‘तीसरा: पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक, किसी भी राज्य के व्यापारियों एवं प्रजाजनों को आने जाने की सुविधा रहे। अब यदि आज की तरह वीसा आदि की जरूरत होती तो काम कैसा अधिक और दुविधापूर्ण होता और धन भी अत्यधिक लग जाता। ‘हाँ इसके लिए सम्राट कर अदि लेते थे जिससे वह सेना आदि का प्रबंध कर सकें। और समय पर सबकी सहायता के लिए उपलब्ध रहें।’

**प्रश्न:** आज मीडिया का समय है, तो प्रशासक की अच्छी नीतियां और कार्यों को मीडिया जनता में क्यों नहीं प्रसारित करता ?जैसे आपने अभी कहा कि मोदी का रसोई का खर्च वह अपने वेतन से वहां करते या उनकी यात्रा के खर्च के विषय में?’

**उत्तर:** क्योंकि मीडिया बिका हुआ है। देश विरोधी ताकतें उसे धन देती हैं। महाभारत और रामायण काल में विपक्ष को वामदेव कहा जाता था। बड़ी बात यह थी कि देश की समृद्धि के लिए वे भी देश के पक्ष में हो जाते थे, सत्ता के विपक्ष में

नहीं। किन्तु आज विपक्ष में जो राजनैतिक दल बैठें वह देशद्रोही हो चुके हैं। वह राष्ट्र विरोधी ताकतों को बढ़ावा दे रहे हैं। ऐसे साधनों का उपयोग कर देश को क्षति पहुंचा रहे हैं।’

**प्रश्न:** वैदिक-हिन्दू संस्कृति एक जीवन शैली है, तो हिन्दू होना! इसे कट्टर क्यों कहा जाता है ?’

**उत्तर:** कट्टर क्या होता है ? मैं कट्टर हूँ। मैं मानता हूँ। कट्टर होने का मतलब है जिस सिद्धांत को मानते हैं उसे पूरी तरह माने। यह एक अजीब स्थिति है। मैं मुसलमान हूँ, सिख हूँ पर हिन्दू को हिन्दू नहीं कहना। वह कट्टर हैं। इसलिए वह कहेगा मैं इंसान हूँ। अरे उनसे पूछो कि क्या हिन्दू इन्सान नहीं होते ? ऐसा फैला दिया गया है कि, हिन्दू कहा तो सांप्रदायिक हैं। वास्तव में हम अपनी संस्कृति, अपने मूल्यों की अवहेलना करते हैं। और दूसरी सभ्यता को अभी तक सम्भाले बैठे हैं। मेरे एक परिचित हैं। पहली जनवरी को उन्होंने नव वर्ष की शुभकामनाओं का सन्देश भेजा। मैंने लिखा अंग्रेजी नव वर्ष कि बधाई। उन्हें शायद बुरा लगा हो। पर अपना वर्ष हम क्यों नहीं मनाते। बहुतों को तो पता ही नहीं है। मानसिक रूप से वे लोग इतने दरिद्र हो जाते हैं। आप देखें मेरी कक्षा ग्यारह तक की शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई। उच्च शिक्षा के दाखिले के लिए मैंने विषय भरा हिंदी। जबकि मेरे साइंस और गणित में बहुत अच्छे नम्बर आये थे। सबने कहा ये क्या कर रहे हो। पर मैंने तय कर लिया था कि मैंने लेखक बनना है। तो बस हिंदी सीखनी है। तो बहुत मेहनत से हिंदी सीखी। हाँ संस्कृत न सीख पाने का अब भी अफ़सोस अवश्य है। अपने मूल्यों पर गर्व होना चाहिए।’

**प्रश्न:** सर, आप इतने पात्र रचते हैं। उन सब को रचते समय कैसा विचार मन में आता है आपके। जब वे बोलते हैं या आप उनके संवाद कलमबद्ध कर रहे होते हैं तो आपकी मनःस्थिति कैसी होती है ?

**उत्तर:** ऐसा कहा जाता है कि योगी जब साधनारत होता है तो वह एकाग्र हो जाता है, उसे कहते हैं, ‘मधुमती भूमिका’ अर्थात् इसे एकाग्रता कहते हैं। ऐसे ही

जब लेखक पात्रों की रचना करता है तो वह भी ऐसे ही साधना रत हो कर परकाया प्रवेश कर लेता है। स्वयं को वही महसूस करने लगता है। यह ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा है। इसे मनोविज्ञान में पात्र में रच जाना ही कहेंगे। '

**प्रश्न:** आपने इतना सब लिखा है, आगे साहित्य को किस विषय से समृद्ध करेंगे ?

**उत्तर:** मेरे अंदर इतना कुछ है, और वह मैं लिखना चाहता हूँ। पर ईश इच्छा! वह क्या करवाता है मुझसे। मैं स्वयं के अंदर के भण्डार को संभाल के रखे हूँ, और इसे रीतने नहीं देना चाहता। '

**प्रश्न:** मैं एक शोध विद्यार्थी और प्राचार्य होने के नाते क्या करूँ कि मूल्य परक समाज के जागरण का हेतु बन सकूँ ?'

**उत्तर:** एक लेखक और प्राचार्य दोनों को सत्य को कहते लिखते रहना चाहिए, जो सुने, ग्रहण करे, उसकी इच्छा ! जो न ग्रहण करे, उसकी भी इच्छा ! अपना कार्य अवश्य उदारता और ईमानदारी से करते रहें।'

विषय बहुत थे कहने सुनने को। किन्तु समय काफी हो चुका था। मन में उनके मूल्यपरक विचारों और उनकी मनोस्थिति के विज्ञान को सहेजते हुए उठी। डॉ. कोहली का सादर धन्यवाद किया। अभिवादन कर के विदा ली।

\*\*\*\*\*

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

### आधार ग्रन्थ सूची

कोहली, नरेंद्र. *महासमर-1 बंधन*. वाणी प्रकाशन, 1988.

--- *महासमर-2 अधिकार*. वाणी प्रकाशन, 1990.

--- *महासमर-3 कर्म*. वाणी प्रकाशन, 1991.

--- *महासमर-4 धर्म*. वाणी प्रकाशन, 1993.

--- *महासमर-5 अंतराल*. वाणी प्रकाशन, 1995.

--- *महासमर-6 प्रछन्न*. वाणी प्रकाशन, 1997.

--- *महासमर-7 प्रत्यक्ष*. वाणी प्रकाशन, 1998.

--- *महासमर-8 निर्बंध*. वाणी प्रकाशन, 2000.

--- *महासमर-9 अनुषांगिक*. वाणी प्रकाशन, 2014.

### सहायक ग्रन्थ सूची

*आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहेब*. मनमोहन सहगल- अनुवादित, भुवन वाणी, 2011.

आहूजा, राम. *भारतीय समाज*. रावत पब्लिकेशन्स, 2000.

Amish, *Sita. Warrior of Mithila*. West land publications, 2017.

उपाध्याय, अयोध्या सिंह हरिऔध. *प्रियप्रवास*. वाणी प्रकाशन, 1914.

कोहली, नरेंद्र. *अभ्युदय-खंड-1-2*. वाणी प्रकाशन, 2013.

--- *तोड़ो कारा तोड़ो- भाग-1,2,3,4,5,6 निर्माण, साधना, परिवार्जक, निर्देश, सन्देश, प्रसार*. किताबघर प्रकाशन, 2002-2015.

--- *पञ्च अब्सर्ड उपन्यास*. डायमंड पाकेट बुक्स, 2003.

487 मंजु

--- *मतस्यगंधा*. वाणी प्रकाशन, 2011.

--- *मेरे साक्षात्कार*. किताबघर प्रकाशन, 2008.

--- *वसुदेव*. हिन्द पाकेट बुक्स, 2007.

--- *सैरंश्री*. वाणी प्रकाशन, 2009.

--- *हिडिम्बा*. वाणी प्रकाशन, 2012.

--- *जहाँ सत्य है वहीं विजय*. वाणी प्रकाशन, 2008.

--- *अभिज्ञान*. राजपाल एंड संस, 2016.

--- *कुंती*, वाणी प्रकाशन, 2012.

कान्त सुरेश. *नरेंद्र कोहली-विचार और व्यंग*. वाणी प्रकाशन, 2000.

किशोरे, श्यामानंद. *आधुनिक हिंदी काव्यों का शिल्प विधान*

*कबीर ग्रंथावली*.

गुप्त, मैथिलीशरण. *जयद्रथवध*. साहित्य सदन, 1990.

--- *साकेत*. लोकभारती प्रकाशन, 1931.

--- *भारत भारती*. साहित्य सदन, 1912.

चौधरी, गुंजेश्वर. *म्हाभार्तान्तग्रता विदुरनीतिः*. चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1997.

तुलसीदास. *रामचरितमानस*. गीता प्रेस, स०. 2072.

--- *दोहावली*. गीता प्रेस. स०. 2072.

देवी, महाश्वेता. *अक्लांत कौरव*. राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998.

दिनकर, रामधारी सिंह. *संस्कृति के चार अध्याय*. लोकभारती प्रकाशन, 1956.

--- *कुरुक्षेत्र*. राजपाल एंड संस, 2011.



- निर्वैर, दर्शन सिंह. *वाग्ज्योती*. विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, 2003.
- पाण्डेय, रामशकल. *मूल्य शिक्षण*. विनोद पुस्तक मंदिर, 1991.
- प्रसाद, जयशंकर. *कामायनी*. डायमंड पाकेट बुक्स, 1935.
- पंडित, श्रीनारायण. *हितोपदेश*. राजपाल एंड संस, 1992.
- भल्ला, संजीव कुमार. *मानवीय मूल्य और पेशेवर नैतिकता*. सत्य प्रकाशन, 2013.
- भारती, धर्मवीर. *अंधायुग*. किताब महल, 1954.
- मिश्र, केदारनाथ. *कैकयी*.
- मिश्रा, बलदेव प्रासाद. *साकेत संत*. 1946.
- *कौशल किशोर*. 1934.
- मेहता, नरेश. *संशय की एक रात*. लोकभारती प्रकाशन, 1996.
- राघव, रांगेय. *ययोधरा जीत गयी*. राजपाल एंड संस, 1976.
- राय, विवेकी. *नरेंद्र कोहली-अप्रतिम कथा यात्री*. वाणी प्रकाशन, 2003.
- राजपाल, हुकुमचंद. *आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य*. भारतीय संस्कृत भवन, 1970.
- सोनी, सुरेश. *हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत*. लोकहित प्रकाशन, 2009.
- श्रीमद् भगवद्गीता*. गीता प्रेस, स०. 2072.
- शर्मा, चरणदास. *तुलसीदास काव्य में नैतिक मूल्य*. भारतीय ग्रन्थ निकेतन, 1971.
- सरस्वती, स्वामी देवव्रत. *वेद स्वाध्याय*. वैदिक साहित्य प्रकाशन, 2011.
- सरवती, स्वामी दयानंद. *सत्यार्थ प्रकाश*. आर्य प्रकाशन, 1883.
- एस.एमोरी. *बोग्दुस*. *सोशियोलॉजी*.

489 मंजु

लाल, रामजी. *कबीर दर्शन*. हिंदी विभाग लखनऊ विश्व विद्यालय, 1962.

व्यास, वेद. *महाभारत खंड-1-6*. रामनारायण शास्त्री अनुवादित, गीता प्रेस, स०. 2075.

विवेकानंद. *शिक्षा*. रामकृष्ण मठ, 1943.

## शोध ग्रन्थ सूची

अवस्थी, अमृता. डॉ. नरेंद्र कोहली के उपन्यासों में निहित शैक्षिक तत्वों का विश्लेषण. देवी अहिल्या विश्व विद्यालय, 2008.

चौहान, राजेश नट्टू भाई. *रामायण और महाभारत की कथा वस्तु पर नरेंद्र कोहली के उपन्यास- एक अनुशीलन*. एम्.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा, 2010.

टी. हेमवती. *आधुनिक हिंदी मिथकीय उपन्यासों में मानवीय सम्बन्ध*. दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, चेन्नई, 2014.

डॉ. हेलन. *महासमर: एक अनुशीलनात्मक अध्ययन*. कोचीन विश्वविद्यालय, 2012.

पंड्या, शकुन्तला. *A Comparative Study of the Effectiveness of Various Strategies for the Development of Moral Values in Secondary School Students*. Rajasthan University, Jaipur, 1989.

पन्त, कैलाश चन्द्र. *अक्षरा पत्रिका- शोध पत्र संकलन*. मध्यप्रदेश राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, हिंदी भवन, 2008.

भारद्वाज, सरला. *संस्कृत साहित्य में मानवीय मूल्य*. (शोध पत्र संकलन). पंजाब हिंदी साहित्य अकादमी, 2013.

रजा, आर.एस. डॉ.नरेंद्र कोहली के उपन्यास: आधुनिकता के सन्दर्भ में. केरल विश्वविद्यालय, 1999.

शर्मा, रेखा. डॉ.नरेंद्र कोहली के कृष्ण कथा पर आधारित मिथकीय उपन्यासों में समसामयिक चेतना. मुम्बई विश्वविद्यालय, 2013.

वर्मा, ओम प्रकाश. *नरेंद्र कोहली के उपन्यासों में महाभारत की कथा का रचनात्मक प्रयोग*. राजस्थान विश्विद्यालय, 2011.

सिंह, योगेन्द्र प्रताप. *मीडिया बनाम साहित्य अंतर्संबंध*. कानपूर विश्विद्यालय, 2010.

सिंह, संजय प्रताप. *नरेंद्र कोहली के उपन्यासों में युग बोध*. डॉ.बाबा आंबेडकर मराठवाडा विश्विद्यालय, ओरंगाबाद, 2007.

सिंह, राजेन्द्र. *आगमित पत्रिका- साहित्य शोध वार्षिकी*. रूप कवैल प्रकाशन, 2015-2016.

## कोश

मिश्रा, हृदय नारायण. 'मूल्य मीमांसा.' <http://in.linkedin.com>. Accessed 31 August 2017.

मैनी, धर्मपाल. 'मानव मूल्य व्याख्या कोश.' किताबघर, 2012.

भूतहरि. *नीतिशतक- वैराग्यशतक, नीतिशतक, श्रृंगारशतक*.

<http://www.hindisahityadarpan.in>. Accessed 23 July 2016.

मुखर्जी, राधाकमल. *The Dimensions of Values, introduction*. राधा पब्लिकेशन्स, 2005.

*मनुस्मृति-सूक्तियां*. [www.vedicsanskriti.com](http://www.vedicsanskriti.com). Accessed 3 December 2017.

## पत्र-पत्रिकाएं

अहलुवालिया, विजय. 'धर्म और अध्यात्म: एक नई पहल'. अहा ! जिंदगी, मार्च 2017, पृ. 9 -12.

'आवरण कथा: श्रेष्ठता के सूत्र'. अहा ! जिंदगी, सितम्बर 2009, पृ. 20-30.

खान, शाहरुख, 'वुमन भास्कर- विशेष'. दैनिक भास्कर, 8 मार्च 2017.

491 मंजु

गुलेरी, माधवी शरण. 'दिल की नजर से देखें दुनिया'. अहा ! जिंदगी, जुलाई, 2011, पृ. 10.

चौकसे, जयप्रकाश. 'फिल्म समीक्षा'. दैनिक भास्कर, फरवरी, 2018, पृ. 6.

बर्मन, स्वप्ना. 'अभिव्यक्ति अभी नहीं तो कभी नहीं'. दैनिक भास्कर, सितम्बर, 2018, पृ.8.

भावना. 'समय की रेखा पर बदलती औरतें'. अहा ! जिंदगी, मार्च, 2012, पृ.22.

मेहता, विजय शंकर. 'जीने की राह'. दैनिक भास्कर, 13 जनवरी, 2018. पृ.8.

महाराज, बिरजू. 'ताल में दीखते हैं नन्द के लाल'. अहा ! जिंदगी, जुलाई, 2011, पृ. 5.

याज्ञनिक, कल्पेश. 'मानवीय मूल्य-असंभव के विरुद्ध'.

[www.dainikbhaskar.com](http://www.dainikbhaskar.com). Accessed 13 June 2016.

--- 'असंभव के विरुद्ध: में साधारण मनुष्य हूँ'. दैनिक भास्कर, 4 मार्च, 2017, पृ.6.

--- 'स्त्री शक्ति'. दैनिक भास्कर, 22 जनवरी, 2017, पृ.6.

राणोजी, राव साहेब. 'भयमुक्त हों हमारी प्रार्थनाएं'. अहा ! जिंदगी, मार्च, 2017, पृ.67-68.

रघुरामन, एन. 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 28 अप्रैल 2017, पृ.6.

--- रघुरामन, एन. 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 12 अगस्त, 2017, पृ. 6.

--- 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 14 अगस्त, 2017, पृ. 6.

--- 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 5 फरवरी, 2018, पृ. 6.

--- 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 18 जुलाई, 2018, पृ. 6.

--- 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 21 जुलाई, 2018, पृ. 6.

--- 'मैनेजमेंट फंडा'. दैनिक भास्कर, 18 सितम्बर, 2018, पृ. 6.

वैलेस, मार्जरी. 'प्यार के दरखत की छाँव.' अहा ! जिंदगी, जुलाई 2011, पृ. 8.

'संत फरीद का सपना'. अहा ! जिंदगी, मार्च 2017, पृ. 12.

श्रीवास्तव, अलोक. 'विश्वास का पथ और अंतःप्रज्ञा के तर्क'. अहा ! जिंदगी, अगस्त 2017, पृ. 8

साधना, अमृत. 'शांति का पथ'. दैनिक भास्कर, 8 जुलाई, 2018, पृ. 6.

मंजु अरोरा

(41400117)